गंगासिंध्वाद्यग्रहणं प्रकरणादिति चेन्न, अनंतरग्रहणप्रसंगात् । गंगादिग्रहणमिति चेन्न, पूर्वगाणां ग्रहणप्रसंगात् । नदीग्रहणात्सिद्धेरिति चेन्न, तस्योत्तरत्र द्विगुणाभिसंबंधनार्थत्वात् ।

यहां कोई शंका करता है कि सूत्रकारको गंगा, सिंधु आदिका ग्रहण नहीं करना चाहिये । क्योंकि प्रकरण चला आ रहा होनेसे नदियोंका ग्रहण स्वतः ही हो जाता है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि " अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा " । अव्यवहित पूर्ववर्त्ती पदार्थका ही विधि अथवा निषेध उत्तरवर्त्ती वाक्य द्वारा किया जाता है । इस परिभाषाके अनुसार अव्यवहित पूर्वमें कहीं गयी पश्चिमगामिनी सिन्धु, रोहितास्या आदि सात नदियोंके ही ग्रहण होनेका प्रसंग आ जावेगा । गंगा रोहित् आदि सात नदियां छूटी जाती हैं । अतः गंगा, सिन्धु, आदि पद व्यर्थरूपसे शंकित किया जा रहा ज्ञापन करता है कि पूर्व सूत्र और प्रपूर्व सूत्रमें कहीं जा चुकी सम्पूर्ण चौदह नदियों का ग्रहण कर लेना चाहिये । पुनः आक्षेपकार यदि यों कहे कि तब तो गंगा आदि ग्रहण करना ही पर्याप्त है, सिन्धु पद व्यर्थ पडता है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी नहीं कहना, क्योंकि गंगा आदि इतना ही कहनेपर पूर्वगामिनी सात नदियोंके ही ग्रहण हो जानेका प्रसंग होगा, संपूर्ण नदियां नहीं पकडी जा सकेंगी । फिर भी आक्षेपकार यों कहें कि नदियां तो प्रकरण प्राप्त हैं हीं, नदी ग्रहणके विना भी नदियोंकी प्रतीति हो सकती है । तथापि सूत्रकारने नदी शब्दका ग्रहण किया है । अतः सम्पूर्ण नदियोंकी प्रतिपत्ति हो जायगी । गंगा सिन्धु आदि ग्रहण करना पुनरपि व्यर्थ है । आचार्य कहते हैं कि यह तो आक्षेप नहीं करना । क्योंकि उस गंगा सिन्धु आदि पदके ग्रहण करनेका प्रयोजन तो उत्तरवर्त्ती परली ओरकी नदियोंमें द्विगुना द्विगुना सम्बन्ध कर देना है । शब्दोंकी अधिकतासे शिष्योंको अधिक अर्थकी ज्ञप्ति हो जाती है । भावार्थ—गंगा सिन्धुके परिवारसे रोहित्, रोहितास्या, प्रत्येकका परिवार दूना यानी अट्ठाईस अट्ठाईस हजार नदियां हैं और हरित्, हरिकान्ता, नदियोंका परिवार इससे भी दूना यानी छप्पन छप्पन हजार है । सीता सीतोदामें से प्रत्येकका परिवार एक लक्ष बारह हजार नदियां बैठता है, किन्तु त्रिलोकसार ग्रन्थ अनुसार चौरासी हजार माना गया है और नारी, नरकान्ता, नदियोंमें प्रत्येकका परिवार छप्पन हजार है । तथा सुवर्ण कूला रूप्यकूला नदियोंमें प्रत्येकका परिवार अट्ठाईस हजार है और रक्ता रक्तोदा नदियोंका परिवार चौदह, चौदह, हजार हैं । गंगा आदिक नदियोंकी परिवार नदियां परली ओर दूनी दूनी हैं । इतना ही कह देनेसे सिन्धुका परिवार भी गंगा नदीसे द्विगुना बन बैठेगा । अतः सिन्धुपद भी सार्थक है ।

सर्वथैवासंभाव्या गंगादयो नद्यः सूत्रिता इति कस्यचिदारेकां निराकर्तुं प्रक्रमते ।

कोई शंका करता है कि सूत्रकार महाराजने जिन गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंका सूत्रद्वारा निरूपण किया है वे नदियां सभी प्रकारोंसे असम्भव हैं । हजारों कोस चौडी उक्त नदियां वर्तमानमें दृष्टिगोचर नहीं हो रहीं हैं । उनका प्रभव करनेवाले ह्रद, कुण्ड, तोरणद्वार तथा उनके दोनों ओर

वेदिकायुक्त वनखण्ड आदि माने गये तो दूर दूर तक जाकर भी नहीं देखनेमें आ रहे हैं। इस प्रकार किसी एक स्थूलदृष्टिवाले शिष्यकी आशंकाका निराकरण करनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी प्रकरणको बांधते हैं।

अथ गंगादयः प्रोक्ताः सरिताः क्षेत्रमध्यगाः ।
पूर्वापरसमुद्रांतः प्रवेशिन्यो यथागमं ॥ १ ॥

सात क्षेत्रोंके मध्यमें होकर गमन करनेवाली और पूर्व समुद्र, पश्चिम समुद्रके भीतर या कोई कोई गंगा सिन्धु, रक्ता रक्तोदा, ये दक्षिण या उत्तरकी ओरके मध्यवर्ती समुद्रमें प्रवेश करनेवाली गंगा, सिन्धु, आदिक सम्पूर्ण नदियां आगममार्गका अतिक्रमण नहीं कर सूत्रकारने बहुत अच्छे ढंगसे कह दी हैं। अर्थात्—देशान्तरित पदार्थोंकी ज्ञप्तिके लिये आप्तोक्त आगम, पुस्तकें, नकशा ये प्रधान साधन हैं। सभी देश देशान्तरोंका या समुद्र, पर्वतोंका, कौन चक्कर लगाता फिरता है? सूर्य, चन्द्र, विमानोंके ऊपर क्या क्या रचना बनी हुई है? संसारमें कहां कहां कैसे कितने स्थान हैं? इन सम्पूर्ण रहस्योंको सर्वज्ञ सम्प्रदायसे चला आ रहा आगम ही प्रकाशित करता है। गंगा, सिन्धु आदिक चौदह नदियां और विदेह क्षेत्रकी बारह विभंगा नदियां तथा बत्तीस विदेह खण्डोंकी गंगा सिन्धु या रक्ता रक्तोदा द्वारा दो दो होकर हुयीं चौसठ नदियां, ये जम्बूद्वीपकी नब्बे मूल नदियां तथा सत्रह लाख बानवे हजार परिवार नदियां, इन सबका निर्णय आगम अनुसार कर लिया जाता है। जगतकी प्रक्रिया या देश, देशान्तर, समुद्र, नदी, पर्वत, खान, कूप, बावडी, समुद्रतल आदिको जाननेके लिये सबको आगमकी बहुभाग शरण लेनी पडती है। " न हि सर्वः सर्ववित् " तभी प्राणी तो विश्वके साक्षात्कर्त्ता सर्वज्ञ नहीं हैं।

परिवारनदीसंख्याविशेषसहिताः पृथक् ।
चतुर्दश चतुःसूत्र्या नासंभाव्याः कथंचन ॥ २ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने " गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्या हरिद्धरिकान्ता सीतासीतोदा नारीनरकान्ता सुवर्णरूप्यकूला रक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः, द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः, शेषास्त्वपरगाः, चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिंध्वादयो नद्यः " इन चारों सूत्रों करके जो पृथक् पृथक् परिवार नदियोंकी संख्या विशेषसे सहित हो रहीं चौदह नदियोंका वर्णन किया है, वह किसी भी प्रकारसे असम्भव नहीं है। अर्थात्—" सपरिवारा गंगासिन्ध्वादयश्चतुर्दश नद्यः सन्ति (प्रतिज्ञा) सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् (हेतु) सुखादिवत् " नदियोंके सद्भावके बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे परिवार सहित चौदह नदियोंकी सत्ता निर्णीत कर ली जाती है, जैसे कि दूसरी आत्माओंके सुख या समुद्रतल अथवा महान् पर्वतोंके नीचेकी मध्य भागस्थ मूल (जड) आदिका ज्ञान " बाधकासंभव " से कर

लिया जाता है। पर्वतको उखाड कर बीचला भाग कौन देखे ?। अपनी पूरी हवेलीके परिपूर्ण भागोंका देखना तो कष्टसाध्य हो रहा है। स्वशरीरके भीतरसे अवयव ही नहीं दीख रहे हैं। भावार्थ—गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंके परिवारसे सहित जम्बूद्वीपमें सम्पूर्ण नदियां सत्रहलाख बानवै हजार नव्वै १७९२०९० हैं। धातुकीखण्ड द्वीप और पुष्करार्धमें भी नदियोंका सद्भाव बाधवैधुर्यसे आगम अनुसार निश्चित हो जाता है।

संभाव्यंत एव हि गंगासिंध्वादयो महानद्यो यथागममायामविष्कंभावगाहैरपरैश्च विशेषैस्तदधिकरणस्य महत्त्वादिहास्ति कासांचिन्नदीनां सरय्वादीनां महाविस्ताराणामुपलंभात् कस्यचिद्बाधकस्यासंभवात्।

गंगा, सिन्धु, आदिक महानदियां अपनी अपनी लम्बाई, चौडाई, और गहराई तथा अन्य भी विशेषताओं करके सहित हो रहीं आगम अनुसार सम्भावित ही हो रही हैं। असम्भव नहीं हैं। क्योंकि उन नदियोंके अधिकरणभूत स्थान बहुत बडे महान् हैं। कितनी हीं नदियां तो वर्तमानमें देखे जा रहे हिन्द महासागर, पेसिफिक आदि समुद्रोंसे भी बडी हैं। वर्तमान परिदृष्ट देशोंमें यहां भी किन्हीं किन्हीं सरजू नदी, क्षुद्र गंगा, क्षुद्र सिन्धु, सुवर्णभद्र, यमुना, टाइम्स, मिशीसिनी, मिसौरी, पो, राइन, आदि नदियोंका महान् विस्तार देखा जाता है। इसी प्रकार छोटे कोसोंसे हजारों कोस चौडी और लाखों कोस लम्बी महागंगा आदि नदियां भी सम्भव जातीं हैं। किसी भी विचारशील व्यक्तिको उनके सद्भावमें बाधा देनेवाले प्रमाणका असम्भव है अथवा उन नदियोंमें बाधा देनेवाले किसी भी प्रत्यक्ष अनुमान या आगम प्रमाणकी सम्भावना नहीं है।

अथ कियद्विष्कंभो भरतो वर्ष इत्याह।

अब यहां किसीका प्रश्न है कि पहिला क्षेत्र भरत नामक वर्ष भला कितनी चौडाईको धार रहा है ? ऐसी पृच्छना होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट्चैकोन-विंशतिभागा योजनस्य ॥ २५ ॥

छब्बीस अधिक पांचसौ योजन और योजनके उन्नीस भागोंमेंसे छह भाग इतने विस्तार (चौडाई) को धारनेवाला भरतक्षेत्र है। अर्थात्—भरत क्षेत्रकी चौडाई पांचसौ छब्बीस छह बटे उन्नीस योजन है।

भरतविष्कंभस्योत्तरत्र वचनादिहावचनमिति चेन्न, जंबूद्वीपनवतिशतभागस्येयत्ताप्रति-पादनार्थत्वादेतत्सूत्रस्य तत्संख्यानयनोपायप्रतिपत्त्यर्थत्वात्।

कोई आक्षेप कर रहा है कि भरत क्षेत्रकी चौडाईका उत्तरवर्ती " भरतस्य विष्कंभो जंबूद्वीपस्य नवतिशतभागः " इस सूत्रमें कथन किया ही जावेगा। अतः यहां इस सूत्र द्वारा निरूपण करना व्यर्थ है। व्यर्थ सूत्रका उच्चारण नहीं करना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यह सूत्र तो उत्तरवर्ती सूत्र द्वारा कही गयी जम्बूद्वीपके एकसौ नब्बेवें भाग की इतने प्रमाण वाली शलाका प्रतिपादन करनेके लिये है। इस सूत्रका प्रयोजन केवल उस एकसौ नब्बेवें भाग संख्याके लानेके उपायकी प्रतिपत्ति करा देना है। अर्थात्—एक लाख योजन चौडे जम्बूद्वीपकी एकसौ नब्बे शलाकाओंमें एक शलाका भरत क्षेत्रको प्राप्त होती है। एक लाखमें एकसौ नब्बेका भाग देने पर पांचसौ छब्बीस छह बटे उन्नीस योजन संख्या आजाती है। उस संख्याकी प्रतिपत्ति इस सूत्र द्वारा कर लेनी चाहिये। " अस्मत् सिद्धान्तविद्यागुरवस्तु स्वल्पेऽप्याकाशे महत्याः भूमेरवगाहमङ्गीकृत्य न्यूनतरभूमिक्षेत्रप्रतिपादकमिदं सूत्रमित्याहुः "। मुझ टीकाकारके सिद्धांतविद्यागुरु पंडित गोपालदासजीका यह मंतव्य है कि " भरतस्य विष्कम्भो जंबूद्वीपस्य नवतिशतभागः " इस सूत्र करके आकाशकी नाप कर दी गयी है। भरत क्षेत्रका आकाश जम्बूद्वीपके एकसौ नब्बैवें भाग ही रहेगा, न्यून अधिक नहीं। हां, उतने ही आकाशमें न्यूनसे न्यून पांचसौ छब्बीस छह बटे उन्नीस योजनकी भूमि समा जायगी और उतने ही आकाशमें इससे दशों गुनी बडी भूमि भी समा सकती है। " ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः " इस सूत्रमें पडा हुआ " भूमयः " शब्द भी इसी सिद्धांतको पुष्ट करता है। एक हाथ लंबे चौडे आकाशमें पांच हाथकी लम्बी चौडी भूमि आसकती है। गुरुजीका यह विचार युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। संभव है कुछ दिनोंमें विज्ञान भी इसी तत्त्वका निर्णय करे, जब कि जैनसिद्धांत तो तभी युक्त समझा जाता है। अनन्त बादरस्कन्ध इस असंख्य प्रदेशी लोकमें धरे हैं। २९ अंक प्रमाण मनुष्य ढाई द्वीपमें निवास कर रहे हैं।

अतोन्ये वर्षधरादयः किंविस्तारा इत्याह।

इस भरत क्षेत्रसे अन्य पर्वत या क्षेत्र अथवा नदी आदिक भला कितनी, कितनी, चौडाईको धारण किये हुये हैं? ऐसी पृच्छा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांताः ॥ २६ ॥

उस भरतक्षेत्रसे द्विगुने द्विगुने विस्तारको प्राप्त हो रहे कुलाचल पर्वत और हैमवत आदिक क्षेत्र हैं। यह व्यवस्था विदेह क्षेत्रपर्यंत पर्वत या क्षेत्रोंकी समझ लेनी चाहिये।

वर्षधरशब्दस्य पूर्वनिपातस्तदानुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थः वर्णानामानुपूर्व्येण इति निरुक्तकारवचनस्यानल्पाच्तरत्वाभावेऽन्येषामपि यथाभिधानमानुपूर्व्येण पूर्वनिपातप्रतिपादनार्थत्वात् तथा प्रायः प्रयोगदर्शनात्।

यद्यपि वर्षधर और वर्ष शब्दका द्वन्द्व समास करनेपर अल्प अच् होनेके कारण वर्ष शब्दका पहिले निपात हो जाना चाहिये, तथापि उन पर्वत या क्षेत्रोंकी ठीक ठीक व्यवस्थित हो रही आनुपूर्वीकी प्रतिपत्ति करानेके लिये वर्षधर शब्दका पूर्वमें निपात कर प्रयोग किया गया है। व्याकरण शास्त्रमें " अल्पाच्तरं " इस सूत्रका अपवाद करनेके लिये " वर्णानामानुपूर्व्येण " यों निरुक्त या व्याकरणकी वार्त्तिकोंको बनानेवालेका वचन तो अन्य अधिक अच्वाले या अपूज्य भी पदोंका उच्चारण अनुसार आनुपूर्व्यकरके पूर्वनिपातकी प्रतिपत्तिको करानेके लिये है। तिस प्रकार अनेक स्थलोंपर बहुतसे पदोंका प्रयोग करना देखा जाता है। अर्थात्—द्वन्द्व समासमें अल्प अच्वाले पदोंका पूर्वमें निपात करा देनेवाला " अल्पाच्तरम् " यह सूत्र है। इसके अपवादमें " वर्णानामानुपूर्व्येण " यह वार्त्तिक है। " ब्राम्हणक्षत्रियविट्शूद्राः " इस पदमें ब्राह्मण आदि वर्णोंका आनुपूर्वी करके जैसे पद प्रयोग होजाता है, उसी प्रकार अन्य भी ग्रामोंकी परिपाटी या तिथियोंके अनुक्रम देश, परिमाण, पर्वत, आदिकोंकी आनुपूर्वी अनुसार पद प्रयोग कर दिया जाता है " [illegible], पुण्यपापे, स्पर्शनरसनाघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि, ऊर्ध्वमध्याधोलोकाः, अवग्रहेहावायधारणाः, रत्नशर्कराबालुकाः " आदि पदोंमें अल्प अचोंका या क्वचित् पूज्योंका भी लक्ष्य नहीं रखकर आनुपूर्वी अनुसार आगे पीछे पद बोल दिये गये हैं। इसी प्रकार यहां भी कहे जाचुके भरत क्षेत्रके परली ओर हिमवान् पर्वत है, तत् पश्चात् हैमवत क्षेत्र है, अतः सूत्रकारने " वर्षधरवर्षाः " यों रचना क्रम अनुसार वाचक पदोंका प्रयोग किया है। भरतका वर्णन कर चुकनेपर इसके पश्चात् हिमवान् पर्वत, पुनः हैमवत क्षेत्र, यों पर्वत और क्षेत्रोंका क्रम है।

विदेहांतवचनं मर्यादार्थं तेन भरतविष्कंभाद्द्विगुणविष्कंभो हिमवान् वर्षधरः, ततो हैमवतो वर्षः, ततो महाहिमवान् वर्षधरः, ततो हरिवर्षः, ततो निषधो वर्षधरस्ततोऽपि विदेहो वर्ष इत्युक्तं भवति।

इस सूत्रमें विदेहपर्यन्त यह कथन करना तो मर्यादाको बांधनेके लिये है। तिस कथन करके इस प्रकार कह दिया जाता है कि भरत क्षेत्रकी चौडाईसे दूनी चौडाईवाला दस सौ बावन बारह बटे उन्नीस योजनका हिमवान् पर्वत है। उस हिमवान्से द्विगुना दो हजार एकसौ पांच और पांच बटे उन्नीस योजन चौडा हैमवत क्षेत्र है। उस हैमवत क्षेत्रसे महाहिमवान् पर्वत चार हजार दो सौ दस और दस बटे उन्नीस योजन चौडा है। उस महाहिमवान् पर्वतसे हरिवर्ष क्षेत्र आठ हजार चार सौ इक्कीस और एक बटे उन्नीस योजन दूनी चौडाईको लिये हुये है। उस हरिवर्षसे निषध पर्वत द्विगुना यानी सौलह हजार आठ सौ ब्यालीस और दो बटे उन्नीस योजन चौडा है। उस निषध पर्वतसे भी दूना चौडा तेतीस हजार छहसौ चौरासी और चार बटे उन्नीस योजन चौडा विदेह क्षेत्र है। पूरे जंबूद्वीपमेंसे भरत क्षेत्रको एक, हिमवान् पर्वतको दो, हैमवत क्षेत्रको चार, महाहिमवान् पर्वतको आठ, हरिक्षेत्रको सोलह, निषधको बत्तीस और विदेहको चौसठ शलाकायें, नीलको बत्तीस, रम्यकको सोलह,

रुक्मीको आठ, हैरण्यवत क्षेत्रको चार, शिखरी पर्वतको दो, और ऐरावत क्षेत्रको एक, यों सातों क्षेत्र छःऊ पर्वतोंके एकसौ नब्बे शलाकायें प्राप्त हैं। जंबूद्वीपके एक लाख योजन चौडे क्षेत्रमें एकसौ नब्बेका भाग देकर पुनः अपनी अपनी प्राप्त शलाकाओंसे गुणा कर देने पर पर्वत और क्षेत्रोंकी उक्त चौडाई निकल आती है।

परे वर्षधरादयः किं विस्तारा इत्याह।

विदेह क्षेत्रसे परली ओरके पर्वत आदिक क्यों जी, कितने विस्तारके धारी हैं? इस प्रकार प्रतिपित्सा होने पर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २७ ॥

उत्तरवर्ती ऐरावत आदिक नील पर्यंत क्षेत्र या पर्वत तो दक्षिणवर्ती भरत आदि क्षेत्र और हिमवान् आदि पर्वतोंके समान समझ लेने चाहिये। ह्रद, कमल, नदी, कुण्ड आदि अकृत्रिम पदार्थोंकी रचना भी तुल्य है।

निषधेन तुल्यो नीलो वर्षधरः, हरिणा रम्यको वर्षः, महाहिमवता रुक्मीवर्षधरः, हैमवतेन हैरण्यवतो वर्षः, हिमवता शिखरी वर्षधरः, भरतेन दक्षिणेनोत्तर ऐरावत इति योज्यं।

निषध पर्वतके समान नील पर्वत है, हरिक्षेत्रके समान रम्यक वर्ष है, महाहिमवानके समान रुक्मी पर्वत भी चार हजार दो सौ दस और दस बटे उन्नीस योजन चौडा है। हैमवत क्षेत्रसे हैरण्यवत वर्ष तुल्यताको रखता है। शिखरी पर्वत हिमवान् पर्वतके सम है और दक्षिण दिशावर्ती भरतके समान उत्तरदिशाका ऐरावत क्षेत्र है। गंगा, सिन्धु, के साथ रक्ता, रक्तोदाकी, पद्मके साथ पुण्डरीक ह्रदकी तथा अन्य नदी, कमल, आदिकोंकी, तुल्यताकी योजना इसी प्रकार कर लेनी चाहिये।

अथ भरतैरावतयोरनवस्थितत्वप्रतिपत्त्यर्थमाह।

अब इसके पश्चात् श्री उमास्वामी महाराज भरत और ऐरावत क्षेत्रके (में) अनवस्थितपनेकी प्रतिपत्ति करानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २८ ॥

दुःषम दुःषमा आदि या सुषमसुषमा आदि छह समयोंको धार रहे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक व्यवहार कालों करके भरत और ऐरावत दो क्षेत्रोंके (में) वृद्धि और ह्रास हो जाते हैं।

तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यसिद्धेर्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासयोगः अधिकरणनिर्देशो वा, तत्रस्थानां हि मनुष्यादीनामनुभवायुःप्रमाणादिकृतौ वृद्धिह्रासौ षट्कालाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां।

तत्रानुभवादिभिरुत्सर्पणशीला उत्सर्पिणी तैरेवावसर्पणशीलावसर्पिणी । षट्कालाः पुनरुत्सर्पिण्यां दुःषमदुःषमादयोऽवसर्पिण्यां सुषमसुषमादयः प्रतिपत्तव्याः ।

उसमें स्थित हो जानेके कारण उसके वाचक शब्द द्वारा कहे जानेकी सिद्धि है, इस कारण भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके वृद्धि और ह्रासका योग बतला दिया है । अर्थात्—" पर्वतदाह " इस पद अनुसार पहाडमें ठहर रहीं वनस्पतियोंका अरणि निर्मथन (बासों या अन्य विशेष काठकी रगड) द्वारा दाह हो जानेपर पर्वत जल रहा है, यों कह दिया जाता है । यह उस पर्वतमें ठहरनेवाले वृक्ष, वल्ली, पत्ते, आदि आधेयोंका पर्वत शब्दसे कथन हैं । इसी प्रकार भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंकी या भरत, ऐरावत, क्षेत्रवर्ति आकाशकी हीनता, या अधिकता, तो सम्भव नहीं है । अतः उसमें स्थित हो रहे कतिपय पदार्थोंकी वृद्धि या हानिका हो जाना समझ लेना चाहिये अथवा "भरतैरावतयोः" यह पद षष्ठी विभक्तिका द्विवचन नहीं समझा जाय, किन्तु सप्तमी विभक्तिका द्विवचन मान लिया जाय । ऐसी दशा होनेपर उनमें स्थित हो रहे मनुष्य, तिर्यंच, पशु, पक्षी, आदि जीवोंके अनुभव, आयुष्यपरिमाण, शरीरकी [illegible] ह्रास ये छह समयवाले उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी कालों करके होते रहते हैं । अर्थात्—ऋतुपरिवर्तन, शीतकी अधिकता, सूर्यका प्रचण्ड प्रताप, नियत वनस्पतियोंका फलना फूलना आदि कार्य जैसे द्रव्य परिवर्तन स्वरूप कतिपय व्यवहार कालों द्वारा सम्पादित हो जाते हैं, उसी प्रकार अनेक अन्तरंगकारण और उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, इन व्यवहार कालोंको निमित्त पाकर जीवोंके अनुभव आदिकी वृद्धि, हानियां हो जातीं हैं । उन कालोंमें अनुभव, आयुष्य, आदि करके ऊपरको सरकना (वृद्धि) स्वभाववाली उत्सर्पिणी है और उन हीं अनुभव आदि करके नीचेको सरकना (हानि) स्वभाववाली अवसर्पिणी है । फिर उत्सर्पिणीमें छह काल दुःषमदुःषमा आदिक हैं और अवसर्पिणीमें सुषमसुषमा आदिक छह काल समझ लेने चाहिये । सुषमसुषमा चार कोटाकोटी सागर तक चलता है । उस समय यहां उत्तम भोगभूमिकी रचना हो जाती है । पीछे क्रमसे हानि होते हुये तीन कोटाकोटी अद्धा सागरका सुषमा काल प्रवर्तता है । उसकी आदिमें मनुष्य हरिवर्षके मनुष्योंके समान मध्यम भोगभूमिवाले समझे जाते हैं । पश्चात् क्रमसे अनुभव आदिकी हानि होते हुये दो कोटाकोटी सागर स्थितिवाला जघन्य भोग भूमिकी रचनासे युक्त सुषमदुःषमा काल चालू होजाता है । उसके अनन्तर क्रमसे हीनता होनेपर बियालीस हजार वर्ष कमती एक कोटाकोटी सागर पर्यंत कर्मभूमिका दुःषमसुषमा काल विदेह समान रचनावाला प्रवर्तता है । विदेहमें क्रमसे हानि नहीं है । समान काल रहता है । पश्चात् क्रमसे न्यूनता होते हुये इक्कीस हजार वर्षतक कर्मभूमिका दुःषमा काल वर्तता है । पुनः अनुभव आदिकी न्यूनता होते होते दुःषमदुःषमा काल इक्कीस हजार वर्षका प्रवर्तता है । यह अवसर्पिणीकी दशा बता दी है । उत्सर्पिणीमें सुख आदिकी क्रमसे बढती हुई इससे विपरीत व्यवस्थाको आगम अनुसार समझ लेना चाहिये ।

अथ भरतैरावताभ्यामपरा भूमयोवस्थिता एवेत्यावेदयति ।

अब श्री उमास्वामी महाराज भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्रसे भिन्न पडी हुई भूमियां अवस्थित हैं । इस सिद्धान्तका विज्ञापन कराते हैं ।

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २९ ॥

उन भरत क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्रोंसे शेष बच रहीं अन्य भूमियां अवस्थित एकसी रहती हैं । उन भूमियोंमें उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, कालोंका परिवर्तन नहीं है ।

तत्स्थप्राणिनामनुभवादिभिर्वृद्धिह्रासाभावात् । षट्समययोरुत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरसंभवादेकैककालत्वादवस्थिता एव ताभ्यामपरा भूमयोऽवगंतव्याः । तदेवं—

उन हैमवत, हैरण्यवत आदि क्षेत्रोंकी भूमियोंमें ठहर रहे प्राणियोंके अनुभव, आयुष्य आदि करके बढने और घटनेका अभाव हो जानेसे वे भूमियां अवस्थित कही जातीं हैं । दुःषमदुःषमा आदि या सुषमसुषमा आदि छह समयोंको धारनेवाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीका असम्भव हो जानेसे सदा यथायोग्य एक एक ही कालकी वर्तना होनेके कारण उन भरत ऐरावतोंसे भिन्न हो रहीं शेष भूमियां अवस्थित ही समझ लेनीं चाहिये और तिस कारण इस प्रकार होनेपर:—

वर्षवर्षधराबाध्यविष्कंभकथनं कृतं ।
सूत्रत्रयेण भूमीनां स्थितिभेदो द्वयेन तु ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने पच्चीसवें, छब्बीसवें, सत्ताईसवें, तीन सूत्रों करके क्षेत्र और पर्वतोंकी चौडाईका बाधा रहित कथन कर दिया है और अट्ठाईसवें, उन्तीसवें, इन दोनों सूत्रों करके तो भरत, ऐरावत, और उनसे न्यारे क्षेत्र या पर्वतोंमें स्थितियोंके भेदका निर्बाध निरूपण कर दिया है ।

न हि भरतादिवर्षाणां हिमवदादिवर्षधराणां च सूत्रत्रयेण विष्कंभस्य कथनं बाध्यते प्रत्यक्षानुमानयोस्तदविषयत्वेन तद्बाधकत्वायोगात् प्रवचनैकदेशस्य च तद्बाधकस्याभावात् आगमांतरस्य च तद्बाधकस्याप्रमाणत्वात् ।

श्री उमास्वामी महाराज द्वारा " भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशति भागा योजनस्य, तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांताः, उत्तरा दक्षिणतुल्याः " इन तीनों सूत्रों करके भरत हैमवत, आदि क्षेत्रोंकी और हिमवान् महाहिमवान् आदि पर्वतोंकी चौडाईका किया जा चुका निरूपण फिर किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं हो जाता है । क्योंकि उन सूत्रोंके प्रतिपाद्य अर्थको नहीं विषय करनेवाले होनेके कारण इन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंको उस प्रतिपाद्य अर्थके बाधकपनका अयोग है । जो प्रमाण जिस विषयमें नहीं प्रवर्तता है वह उस विषयका साधक या बाधक नहीं हो सकता है । व्याकरणको पढा हुआ पण्डित विचारा वैद्यक प्रयोगोंका खण्डन या मण्डन नहीं

कर सकता है। तथा तीसरे आगम प्रमाणके एक देशको तो उस तीन सूत्रों द्वारा कहे गये प्रमेयका बाधकपना नहीं है। क्योंकि समीचीन शास्त्रोंके प्रकरण तो इन ही उक्त सिद्धान्तोंकी पुष्टि करते हैं। हां, उस प्रमेयके बाधक माने जा रहे अन्य कुरान, वर्ल्ड जौगरफी, सिद्धान्तशिरोमणि, प्राकृतिकभूगोल, ऐटलस, आदि न्यारे आगमोंको तो प्रमाणपना व्यवस्थित नहीं है। अर्थात्—अप्रमाण आगम किसी समीचीन आगम द्वारा प्रतिपाद्य विषयका बाधक नहीं होता है। स्वयं अंधा भला दूसरे सूझतोंको क्या मार्ग बतायगा? किसी नकटे द्वारा भगवद्दर्शनका प्रलोभ देनेपर स्वकीय नासिका छेद कर देना अनुचित है। नासिकाकी प्रतिष्ठाके समान इन सर्वज्ञ आम्नात आगमोंको ही प्रामाण्य मिलता रहा है। और परिशेषमें भी इन्हींको प्रामाण्य प्राप्त होगा। दिग्भ्रमी पुरुष मध्यमें भलें ही कुछका कुछ समझ बैठे।

तत एव सूत्रद्वयेन भरतैरावतयोस्तदपरभूमिषु च स्थितेर्भेदस्य वृद्धिह्रासयोगाभ्यां विहितस्य प्रकथनं न बाध्यते, तथाऽसंभवात् अन्यथाभावावेदकप्रमाणाभावाच्चेति पर्याप्तं प्रपंचेन।

तिस ही कारणसे यानी प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाणों करके बाधित नहीं होनेके कारण श्री उमास्वामी महाराज करके "भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्, ताभ्याम-परा भूमयोऽवस्थिताः" इन दो सूत्रों द्वारा भरत ऐरावतोंमें और उनसे न्यारी भूमियोंमें वृद्धि ह्रासोंके योग तथा वृद्धि ह्रासोंके अयोगसे किये गये स्थितिके भेदका बढिया कथन किया जाना किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं होता है। क्योंकि तिस प्रकार बाधक प्रमाणोंका असम्भव होजानेसे और क्षेत्रोंकी स्थितिके दूसरे प्रकारोंसे सद्भावका आवेदन करनेवाले ज्ञानोंकी प्रमाणताका अभाव होजानेसे सूत्रकारका सुंदर निरूपण निर्बाध ठहर जाता है। यों इस जिनागमकी प्रमाणताको हम कई बार कह चुके हैं। अतः यहां विस्तार कथन करनेसे पूरा पडो। विचारशील विद्वानोंके प्रति अल्प कथन ही तुष्टिकर है।

अथ भरतैरावताभ्यामपरा भूमयः किंस्थितय इत्याह।

इसके अनन्तर भरत और ऐरावतसे निराली होरहीं भूमियां या उन भूमिओंमें स्थित होरहे मनुष्य, तिर्यंच, भला कितनी स्थितिको धार रहे हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर अग्रिम सूत्र कहा जाता है।

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैव-कुरवकाः ॥ ३० ॥

एक, दो, तीन, पल्योपमस्थितियोंको धारनेवाले हैमवतक और हारिवर्षक तथा दैवकुरुवक हैं। अर्थात्—हैमवत क्षेत्रमें रहनेवाले जघन्य भोग भूमियां मनुष्य और पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट आयु दो अद्धापल्य है। देवकुरुमें निवास कर रहे उत्तम भोगभूमियां मनुष्य तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है। इनकी जघन्य आयु तो एक समय अधिक एक कोटि पूर्व वर्ष और एक समय अधिक एक पल्य तथा एक समय अधिक दो पल्य यथाक्रमसे समझ लेना।

हैमवतादिभ्यो भवार्थे वुञ्, हैमवतकादीनां द्वन्द्वे सति हैमवतकस्यानुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थः पूर्वनिपातः। एकादीनां हैमवतकादिभिर्यथासंख्यं संबंधः, तेनैकपल्योपमस्थितयो हैमवतका, द्विपल्योपमस्थितयो हारिवर्षकाः, त्रिपल्योपमस्थितयो दैवकुरवका इत्युक्तं भवति।

हैमवत, हरिवर्ष, देवकुरु, इस प्रकार शब्दोंसे तत्र भव इस अर्थमें वुञ् प्रत्यय कर पुनः वु को अक और ञित्पनेसे पूर्व अच्को वृद्धि करते हुये हैमवतक, हारिवर्षक, दैवकुरुवक, शब्दोंको साधु बना लेना चाहिये। इन हैमवतक आदि शब्दोंका इतरेतर योग द्वन्द्व समास करनेपर हैमवतक शब्दका ठीक आनुपूर्व्यकी प्रतिपत्ति करानेके लिये पूर्वमें निपतन हो जाता है। एक, दो, आदि पदोंका हैमवतक, आदिके साथ यथासंख्य सम्बन्ध कर लेना। ऐसा सम्बन्ध कर लेनेसे सूत्र द्वारा यों कहा जा चुका समझा जाता है कि एक पल्योपम स्थितिको धार रहे हैमवत क्षेत्र निवासी भोगभूमियां जीव हैं, दो पल्योपम स्थितिको धार रहे हारिवर्षक हैं और देवकुरु निवासी भोगभूमियोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है।

विदेहादुत्तराः कथमित्याह।

विदेह क्षेत्रसे उत्तरवर्त्ती परली ओरके भोगभूमियोंकी किस प्रकार स्थितियां हैं? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

तथोत्तराः ॥ ३१ ॥

तिस ही प्रकार उत्तर देशवर्त्ती जीवोंकी स्थितियोंको समझ लेना चाहिये। अर्थात्—पांच मेरु सम्बन्धी पांच हैरण्यवत क्षेत्रोंमें भोगभूमियोंकी स्थिति एक पल्योपम है। वहां सर्वदा सुषमदुःषमा काल अवस्थित रहता है। पांच मेरु सम्बन्धी रम्यक क्षेत्रोंमें भोगभूमियां दो पल्यकी आयुको धारनेवाले हैं। यहां सर्वदा सुषमाकाल तदवस्थ रहता है तथा पांच उत्तरकुरुओंमें तीन पल्योपमकी स्थिति है। यहां सर्वदा सुषमसुषमा काल वर्तता रहता है। यों जम्बूद्वीपके उत्तर प्रान्तमें जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भोगभूमियां तदवस्थ हैं।

हैरण्यवतकरम्यकोत्तरकुरवका एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकादिवदित्यर्थः।

इस सूत्रका यह अर्थ है कि हैमवतक आदिके समान ही परली ओरके जीवोंकी स्थिति है। हैमवतकोंके समान हैरण्यवतक जीवोंकी स्थिति एक पल्योपम है। हरिवर्षमें रहनेवाले मनुष्य, तिर्यचोंके समान रम्यक निवासियोंकी दो पल्योपम आयुःस्थिति है। दैवकुरुवकोंके समान उत्तरकुरुस्थायी मनुष्य तिर्यच तो तीन पल्योपम स्थितिको धार रहे हैं। अर्थात्—भोगभूमियोंमें विकलत्रय और लब्ध्यपर्याप्तक जीव नहीं पाये जाते हैं। हां, पांचों कायके स्थावर जीव वहां विद्यमान हैं। उत्कृष्ट स्थिति बाईस हजार वर्ष, सात हजार वर्ष, तीन दिन, तीन हजार वर्ष, दस हजार वर्ष, यथाक्रमसे पृथ्वी,

जल, तेज, वायु, वनस्पतिकायिक जीवोंकी है, इनकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त भी वहां पायी जाती है। जैसे कि उत्तरकुरुमें जघन्य आयु एक समय अधिक दो पल्य और उत्कृष्ट पूरे तीन पल्यकी है ये भोगभूमियां मनुष्य या तिर्यंच दोनों स्त्री और पुरुषका युगल होकर उपजते हैं। पहिले युगलकी स्त्रियां छींकसे और पुरुष केवल जंभाई लेनेसे पूर्ण आयुके अन्तमें मर जाते हैं, विद्युत्के समान उनका शरीर विघट जाता है। नवीन युगल सात दिनतक अपने अंगूठेका पान करते हुये ऊपरको मुख करके लोटते रहते हैं। पीछे सात दिनतक भूमिमें रेंगते रहते हैं। तीसरे सप्ताहमें अव्यक्त मधुर भाषण करते हुये गिरते पडते पावोंसे चलते हैं। चौथे सप्ताहमें पांवोंको जमाकर चल लेते हैं। पांचवे सप्ताहमें कलागुणोंको धार लेते हैं। छठे सप्ताहमें तरुण अवस्थाको प्राप्त होकर भोगोंको भोगते हैं और सातवें सप्ताह करके सम्यक्त्व ग्रहणकी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। जघन्य भोगभूमियां मनुष्योंका शरीर दो हजार धनुष ऊंचा है। एक दिन बीचमें देकर दूसरे दिन एक बार आमले बराबर भोजन करते हैं। मध्यम भोगभूमियां मनुष्योंका शरीर चार हजार धनुष ऊंचा है। दो दिन बीचमें देकर तीसरे दिन एक बार बहेडे समान आहार लेते हैं। यह आहार अतीव गरिष्ठ होता है, जैसे कि चक्रवर्त्ती या नारायण, प्रतिनारायणके भोजनको साधारण मनुष्य नहीं पचा सकता है, भोगभूमियोंका आहारयोग्य द्रव्य उससे भी कहीं अत्यधिक गरिष्ठ होता है। उत्तम भोगभूमियां मनुष्योंका शरीर छह हजार धनुष यानी तीन कोस ऊंचा है और आठवें भक्त यानी तीन दिन बीचमें देकर चौथे दिन छोटे बेर तुल्य एक बार आहार लेते हैं। कर्म भूमिके मनुष्योंकी अपेक्षा जैसे हाथी, घोडे, बैल, आदिका शरीर जिस क्रमसे बढा हुआ है, उसी प्रकार वहां भी तिर्यंचोंका शरीर मनुष्य शरीरसे बडा है। हां, गेंहू, चने, जौ, आदिमें कोई विशेष अंतर नहीं है। यों देश भेदसे इनमें थोडा बहुत अब भी अंतर पाया जाता है। जो वनस्पतियां बीज अनुसार उपजती हैं वे गेहूं, चना, आम, नीबू, अनार, आदि भोगभूमियोंमें अवश्य पायीं जातीं हैं। भले ही उनका उपयोग नहीं होय। आज कल भी तो लाखों वनस्पतियां वनमें यों ही नष्ट होजाती हैं। बीज संतान उनकी बनी रहती है। भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंमें भोगभूमियोंके समय भी बीजांकुर न्यायसे अनादि कालीन उक्त वनस्पतियां अवश्य थीं। हां, कर्मभूमियोंके वृक्षोंके तारतम्य अनुसार भोगभूमिमें भी मनुष्योंकी अपेक्षा वृक्ष महान् हैं। वनस्पतिकायिक कल्पवृक्ष भी हैं। दश प्रकारके पृथ्वी विकार कल्पवृक्ष जघन्य भोगभूमिमें दश कोस उंचे हैं। मध्यम भोगभूमिमें बीस कोस ऊंचे और उत्तम भोगभूमिमें तीस कोस ऊंचे वृक्ष हैं। उन कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुये भोगोंको भोगभूमियां जीव सदा भोगते रहते हैं। मद्यांग जातिके वृक्षोंसे वे मद्यको प्राप्त कर लेते हैं, जैसे कि ताड वृक्षोंसे भील ताडीको प्राप्त कर लेते हैं। यहां मद्यका अर्थ सुरा (शराब) नहीं है, किंतु दूध, दही, घी, इक्षुरस, आम्ररस, आदिकीसी सुगंधियोंको धार रहा पीने योग्य द्रवद्रव्य है। कामशक्तिका जनक होनेसे उसको उपचारसे मद्य कह दिया जाता है। वादित्रांग जातिके कल्पवृक्षोंसे मृदंग, ढोल, घंटा, वीणा आदि फल फल रहे बाजे प्राप्त होजाते हैं। तीसरे भूषणांग जातिके कल्पवृक्षोंसे भोग भूमियां फल फल रहे कडे,

करधौनी, हार, कुंडल, अंगूठी आदि अलंकारोंको लेकर पहन लेते हैं। चौथे माल्यांग कल्प वृक्षोंसे चंपा, चमेली, केवडा, जुही, गुलाब, आदिकी फलती, फूलती मालाओं या पुष्पोंको तोडकर व्यवहारमें लाते हैं। पांचवें ज्योतिरंग कल्पवृक्षोंसे ऐसे चमकीले पदार्थोंको प्राप्त कर लेते हैं जिनसे कि सूर्य, चंद्रमा, शुक्र आदि विमानोंकी कांति भी छिप जाती है। इस ही कारण तीनों भोग भूमियोंमें अभिभूत सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिष्कमंडलका दर्शन नहीं होपाता है, जैसे कि दिनमें तारामंडल नहीं दीखता है। छठे दीपांग जातिके कल्पवृक्षोंसे चमकदार फले हुये लाल, हरे, पीले, दीपोंको तोड लाकर वे अपने घरमें धर लेते हैं। सातवें गृहांग जातिके कल्पवृक्ष तो रत्नमय कोठियां, कोट, महल, कमरा, आदि रूप करके परिणमते हुये फल जाते हैं। आठवें भोजनांग कल्पवृक्ष तो छह रस युक्त अमृतमय दिव्य आहार रूप होकर फलते हैं। नौवें भाजनांग कल्पवृक्ष सोने, चांदी, रत्नोंके बने हुये कलश, थाली, कटोरा, डेग, आदि रूप फल जाते हैं तथा दशवें वस्त्रांग, जातिके कल्पवृक्षोंसे अनेक प्रकारके सुन्दर वस्त्रोंको वे प्राप्त कर लेते हैं। ये पार्थिव कल्पवृक्ष इन पांचों भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें भोगभूमि सम्बन्धी व्यवहार कालको निमित्त पाकर उपज जाते हैं। कर्मभूमि सम्बन्धी व्यवहार कालकी प्रवृत्ति होनेपर विनश जाते हैं। किन्तु स्वर्ग, हैमवतक, देवकुरु, हरिवर्ष, सूर्यविमान, श्रीदेवी-गृह, भवनवासी या व्यंतरोंके भवन आदिमें ये कल्पवृक्ष सर्वदा बने रहते है। आजकल भी प्रायः सभी भोगोपभोगोंके उपयोगी पदार्थ इन्हीं एकेन्द्रिय वृक्ष या खानोंसे उपजते हैं। भूषण या प्रकाशके उपयोगी सुवर्ण, रत्न, आदि पदार्थ तो खानोंसे प्राप्त कर लिये जाते हैं। खानोंसे मट्टी, पत्थर, कंकड, लोहेको लाकर सुन्दर, गृह, किले, कोठियां, महल, बना दिये जाते हैं। वृक्षोंकी लकडीसे किवाड बन जाते हैं। पुष्प या माला अथवा भोजन तो प्रायः वृक्ष या बेलोंसे ही प्राप्त किये जाते हैं। अन्तर इतना ही है कि कार्तिक मासमें गेंहू बो देनेपर हमको वैसाखमें फलकर छह या पांच महीने पश्चात् खेतसे गेंहू प्राप्त होता है और उस उस जातिके कल्पवृक्षोंसे अन्तर्मुहूर्त्तमें ही नियत अभिलाषित वस्तुकी इच्छा अनुसार प्राप्ति हो जाती है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। कदाचित् किसी किसी व्यक्तिकी इच्छाओं अनुसार तत्क्षण मलस्राव (मूतना हगना) जंभाई लेना मद (नशा) हो जाना आदि क्रियायें हो जाती हैं। जगत्के सम्पूर्ण कार्य अपने अपने कारणों द्वारा सम्पादित हो रहे हैं। अन्तर इतना ही है कि कोई कार्य विलम्बसाध्य हैं। तथा पुण्यशालियोंके अनेक कार्य क्षिप्र हो जाते हैं। वर्तमान कर्मभूमिमें भी उत्पाद प्रक्रियाका तारतम्य देखा जाता है। हथिनी अठारह महीनेमें प्रसव करती है। गर्भधारणके तेरहमास पीछे उटिनी बच्चाको जनती हैं। घोडी बारह महीनेमें, भैंस दश महीनेमें, गायें या स्त्रियां नौ मासमें अपत्यको उपजाती हैं। छिरिया छह महीनेमें कुतिया तीन महीनेमें व्याय जाती हैं। गर्भ स्थितिके पश्चात् मुर्गी दश दिन पीछे अण्डा देना प्रारम्भ कर देती है। कबूतरी गर्भस्थितिके सात दिन पश्चात् प्रसूता हो जाती है। भिन्न भिन्न ऋतु या न्यारी न्यारी देशपरिस्थिति अथवा विज्ञान प्रयोगप्रक्रिया द्वारा शीतोष्णता अनुसार

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

उक्त काल मर्यादामें न्यूनता, अधिकता भी हो जाती है। विज्ञानप्रक्रिया द्वारा कबूतरी, मुर्गी, आदिका प्रसव शीघ्र भी करा दिया जा सकता है। पदार्थोंमें अचिंत्य निमित्त नैमित्तिक शक्तियां भरी हुई हैं। वर्षोंके कार्य महीनोंमें और महिनोंके कार्य दिनोंमें तथा दिनोंके कार्य घण्टोंमें उपज जाते हैं। इस हीनताके तारतम्य अनुसार कल्पवृक्षोंसे भी उसी प्रकार उचित भोगोपभोगके योग्य पदार्थोंकी प्राप्ति होजाती है। कल्पवृक्ष चाहे जो भी सभी पदार्थोंको नहीं दे सकते हैं। आमके पेडपर अमरूद नहीं फलते हैं। इसी प्रकार पुत्र, गाय, घोडा, हाथी, मक्खी, चींटी, या चरखा, खात, कूडा, समाचारपत्र, पुस्तकें, अस्त्र, शस्त्र, आदि पदार्थोंको वे दस १० जातिके कल्पवृक्ष नहीं दे सकते हैं। क्योंकि पुत्र आदिके उपजानेकी उन कल्पवृक्षोंमें निमित्त नैमित्तिक शक्तियां या उपादान, उपादेय, व्यवस्थायें नहीं हैं। जब कि जगत्में पौरुषार्थिक या प्राकृतिक नियम अनुसार कार्योत्पत्तिमें अनेक विचित्रतायें दृष्टिगोचर होरहीं हैं। छकडों या बैलगाडियों द्वारा जो मार्ग महीनोंमें परिपूर्ण किया जाता था रेलगाडियों या विमानों द्वारा वह मार्ग दिनों या घंटोंमें गमन कर लिया जाता है। मिनिटों या सैकिंडोंमें हजारों कोस दूर समाचार पहुंचा दिये जाते हैं। गुलाब शीघ्र उपजा लिया जाता है। उसका फूल दस गुना बडा कर लिया है। प्रयोगों द्वारा नीबकी कटुता न्यून कर दी जा सकती है। साङ्कर्य यानी कलम लगा देनेसे आम, लुकाट, सन्तरों आदिकी दशायें परिवर्त्तित हो जाती हैं। दुर्बल मनुष्य अतिशीघ्र सबल और बलवान् जीव प्रयोगों या औषधियों द्वारा शीघ्र निर्बल किया जा सकता है। तथा भूमियां ऋतुयें या फलने, फूलने, के व्यवहारकाल उपादान द्रव्य आदिके अनुसार प्राकृतिक नियमोंमें विलक्षणतायें हैं। बीज बोये जानेसे पचास वर्ष पीछे खिरनीका वृक्ष फलता है। अखरोट कदाचित् इससे भी अधिक समय ले लेता है। इमली, कटहर बपन होनेके पश्चात् बीस, पचीस, वर्षमें फलित होते हैं। आम्रफल पांच, छह वर्षके वृक्षपर ही आ जाते हैं। बीज डालनेके दो वर्ष पीछे आडू या आडू बुखारे ये वृक्षपर लग जाते हैं। अरण्ड एक वर्षमें फल जाता है। बोये पीछे ग्यारह महीनेमें अरहर पक कर आ जाती है। गेंहू पांच महीनेमें, बाजरा मका तीन महीनेमें, समा चावल दो महीनेमें फल दे देता है। भूमिमें बोये जानेके पश्चात् पोदीना पन्द्रह दिनमें, मेंथी तीन दिनमें और सणी एक दिनमें नवीन पत्ते दे देती हैं। इसी प्रकार कल्प वृक्षोंसे कुछ मिनिटोंमें ही नियत पदार्थ उपज जाते हैं। ताडवृक्षकी छाल ताना बाना पुरे हुये वस्त्रके समान है। कई वृक्षोंपर कटोरा कटोरी सरीखे पत्ते या फल लग जाते हैं। तोरईका बाजा बजाया जा सकता है। लौकातुम्बी तो बीन, सितार, तम्बूरा, आदिमें उपयोगी हो रहे हैं। भांग, महुआ, ताडी, अंगूर, अफीम डोंडा आदि वृक्ष मदकारक पदार्थोंके उत्पादक हैं। गेंहू, चावल, आम, अमरूद, केला आदि भोक्तव्य पदार्थोंके वृक्ष प्रसिद्ध ही हैं। बहुभाग वस्त्र कार्पास वृक्षोंके फलोंसे बनाये जाते हैं। दीपकके उपयोगी पदार्थ तो तिल, सरसोंके, वृक्षोंसे या पार्थिव खानोंसे ही प्राप्त होते हैं। पुद्गलोंकी रगडसे चमकनेवाली बिजली बन जाती है। बात यह है कि गम्भीर दृष्टिसे विचारनेपर कल्पवृक्षोंसे

नियत वस्तुओंकी अवधिका सिद्धान्त हुआ हो जाता है। विशेषज्ञ पुरुष इसको अनेक अन्य युक्तियों द्वारा भी समझ समझा सकते हैं। अनेक स्थलोंपर मेरे लेखोंमें पुनरुक्त दोष आ गया है। किन्तु मन्द बुद्धिवाले श्रोताओंको समझानेकी अपेक्षा वह दोष गणनीय नहीं है। प्रतिभाशाली विद्वानोंके लिये महर्षियोंके ग्रन्थों या स्वकीय ऊहापोह द्वारा विशेष सन्तोष प्राप्त हो सकेगा। कोई कोई बात तो मूल सूत्रमें और वार्त्तिकमें तथा उस वार्त्तिकके विवरणमें यों तीन बार एवं इनकी देश भाषा कर देनेपर तीनों बार इस प्रकार स्वतः बिना प्रयत्नके छह बार आ गई है। युक्तियों द्वारा मन्दबुद्धि शिष्योंको समझानेका उद्देश्य कर पुनरपि एकाध बार वही मन्तव्य पुनः पुनः पुनरुक्त हो जाता है तथा विशेष व्याख्यान करते करते क्वचित् जैनसिद्धान्त जैनन्याय और जैन व्याकरणसे भी मेरा प्रमादवश या अज्ञानवश स्खलन हो जाना सम्भव है। तथापि देशभाषा करनेमें बुद्धिपूर्वक कषाय ईर्ष्या, निह्नव, मिथ्याभिनिवेश, नहीं होनेसे स्वकीय संवेदना अनुसार कोई त्रुटि नहीं रक्खी गयी है। "सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः" इस वाक्यका केवल प्रथमा, द्वितीया, विभक्तिका अर्थ करते हुये कोई पण्डित यदि "धर्मके ईश्वर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रोंको धर्म जानते हैं।" इस प्रकार अर्थ कर देवे तो ऐसी दशामें त्रुटि नहीं रह सकती है, जैसे कि ग्रामीण फूअर स्त्री द्वारा पेट भरनेके लिये बनायी गयी केवल मोटी रोटीमें कोई त्रुटि नहीं निकाली जाती है। किन्तु नोंनके या मीठे कचौडी, सकलपारे, सेव, लड्डू, गूझा, घेवर, इमर्ती, गुलाबजामुन अथवा अनेक प्रकारकी तरकारियां आदि भोज्य पदार्थोंमें कई त्रुटियोंकी समालोचना की जाती है। सभी प्राणियोंको सन्तोषके छोटे बडे उपाय प्राप्त हो ही जाते हैं। मुझे भी नीरक्षीरकी विवेचक हो रही हंस प्रकृतिको धारनेवाले उदात्त, गम्भीर, सज्जन विद्वानोंसे सन्तोष प्राप्तिका सौभाग्य मिला हुआ है। समझा जायगा जब कि त्रुटियोंपर लक्ष्य नहीं देते हुये वे प्रमेयका सुधार कर अध्ययन करेंगे। "विधते स न हि कश्चिदुपायः सर्वलोकपरितोषकरो यः। सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः" यह किसी कविका वाक्य सर्वांगसुन्दर है। प्रकरणमें यही कहना है कि अनेक निमित्त कारण तो वर्षोंमें कार्योंको करते हैं, कितने ही कारण महिनों, दिनों, घण्टोंमें ही कार्यको बना देते हैं। आकाशमें अदृश्य उपादान कारणोंसे झट मेघ, बिजली, बादल, बन जाते हैं, उपादान कारणके विना जगत्का कोई भी कार्य नहीं उपजता है। शब्द, बिजली आदिके भी उपादान कारण हैं। भले ही वे दीखें नहीं, यह हमारी निर्बलता है। कार्य कारण पद्धतिका कोई दोष नहीं है। अक्षीण महानस, ऋद्धिधारी मुनियोंके लिये जिस पात्रसे भिक्षा दी जाती है, उस भाजनसे चक्रवर्त्तीकी सेना भी भोजन कर ले तो उस दिन उस पात्रका अन्न नहीं निवट पाता है। यहां भी लाखों मन अदृश्य उपादान कारण विद्यमान हैं। अंकुरके विना बीज और बीज विना अंकुर नहीं उपजता है। बिचारा भोगभूमि या स्वर्ग तो क्या मोक्षमें भी यदि अंकुर पाया जायगा तो उसका बाप बीज वहां प्रथमसे ही मानना पडेगा। हां, विलम्ब या शीघ्रताका अन्तर पड सकता है, कर्मभूमिके अपुण्यशाली

जीवोंको जो पदार्थ वर्तमान वृक्ष या खानोंद्वारा वर्षों अथवा महीनोंमें प्राप्त (नसीब) होते हैं, किन्तु ये भोगभूमियोंके वृक्ष अन्तर्मुहूर्त्तमें ही उन अधिक सुन्दर अभीष्ट पदार्थ रूप फल जाते हैं। यहां भी आमके वृक्षसे अमरूद या अनार नहीं मिल सकते हैं। उसी प्रकार भोगभूमिमें भी वादित्रांग वृक्षोंसे भोजन या वस्त्र प्राप्त नहीं हो सकते हैं। उपादान उपादेय शक्तिका या निमित्त नैमित्तिक भाव का कहीं भी अतिक्रमण नहीं हो सकता है, भोगभूमियोंमें अमृत रसके समान स्वादवाली चार अंगुल ऊंची और मुखकी वायुसे ही टूट जाय ऐसी कोमल घास उपजती रहती है। गाय, भैंस, आदि पशु उस घासको चरते हैं, वहांकी भूमियां बडी सुन्दर बनी हुई हैं। कहीं कहीं सिढ़ीदार बावडी, सरोवर, नदियां, और क्रीडापर्वत भी विद्यमान हैं। नदीके किनारोंपर रत्नचूर्ण मिश्रित वालुके ढेर लग रहे हैं। जैसे कि आजकल भी क्वचित् वालूमें भुड भुड या चांदीके कण, माणिक रेती आदि पायी जाती हैं। मांस भक्षण नहीं करनेवाले और परस्परमें अविरोध रखते हुये वहां पंचेंद्रियतिर्यंच जीव भी हैं। चूहे, सर्प, नौला, उल्लू, बगला आदि तिर्यंच और विकलत्रय जीव अथवा असंज्ञी जीव या नपुंसक पंचेंद्रिय एवं जलचरत्रस ये भोगभूमिमें नहीं पाये जाते हैं। सभी मनुष्य तिर्यंच विनीत, मन्दकषाय, मधुरभाषी, कलाकुशल, अमायाचारशील आदिसे संयुक्त हैं। इष्टवियोग अनिष्टसंयोग, स्वेद, ईर्षा, मात्सर्य, अनाचार, उन्माद, शरीरमल, पसीना चिन्ता, रोग, जरा, कृपणता, भय, आदिसे रहित हैं। सर्वथा अष्टादश दोषोंसे रहित तो जिनेंद्र ही हैं। फिर भी आजकलके मनुष्य तिर्यंचों समान तीव्र रोग, चिन्ता, भय, क्षुधा, जरा, नहीं होनेसे देव या भोगभूमियां निर्जर, निर्भय, नीरोग, कह दिये जाते हैं। कर्मभूमिमें मनुष्य तिर्यंच या व्रतियोंको दान देनेसे या अनुमोदना करनेसे जीवोंकी उत्पत्ति भोगभूमिमें होती है। भरत और ऐरावतसे अतिरिक्त अन्य देवस्थानों या क्षेत्रोंमें तथा ढाई द्वीपके बाहर असंख्यात द्वीपोंमें सदा एकसा प्रवर्तन रहता है। हां, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें विशेषतया इनके आर्य खण्डोंमें कर्मभूमिसे भोगभूमि और भोगभूमि कालसे कर्मभूमि कालकी परावृत्ति होती रहती है। भरत, ऐरावत, सम्बन्धी विजयार्ध पर्वत और म्लेच्छ खंडोंमें चौथे कालके आदि, अंत, सदृश काल वर्तता है। मोक्षमार्ग चालू नहीं है। आर्य खंडमें सुषमसुषमा कालकी प्रवृत्ति होनेपर म्लेच्छ खंडोंमें शरीर पांचसौ धनुष और आयु कोटिपूर्व वर्ष है। तथा आर्य खंडोंमें दुःषमदुःषमा कालकी प्रवृत्ति होनेपर विजयार्ध और म्लेच्छ खंडोंमें शरीर सात हाथ और आयुः एक सौ बीस वर्ष होजाती है। जघन्य आयुः अन्तर्मुहूर्त है। श्वासके अठारहवें भागवाला अन्तर्मुहूर्त नहीं लेना। इससे बडा अन्तर्मुहूर्त पकडना। क्योंकि इन विजयार्ध और म्लेच्छ खंडोंमें लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य नहीं हैं। बीस कोटाकोटी अद्धासागरके कल्प कालमें अठारह कोटा कोटी सागर तो भोगभूमि काल है और केवल दो कोटा कोटी सागर कर्मभूमि रचनाका काल है। कर्मभूमिका प्रारम्भ होते ही ये पार्थिव कल्पवृक्ष नष्ट होजाते हैं। भोगभूमिके प्रारम्भमें पुनः उपज जाते हैं, जैसे कि यहां इस कालमें भी कितने ही पर्वत उपजते विनसते रहते हैं। किन्तु बीजसे उपजने वाले वृक्षोंकी संतान नहीं

नष्ट होती है। क्योंकि कारणके विना कार्य नहीं उत्पन्न होसकता है। हां, मनुष्योंकी आयु अवगाहना आदिके समान वृक्षोंकी आयु या अवगाहना न्यून अधिक होती रहती है, जैसे कि भोगभूमियां मनुष्य तीन, दो, एक, कोस ऊंचे या हाथी छह, पांच, चार कोस ऊंचे अथवा वृक्ष तीस, बीस, दश कोस होते हैं, उसी प्रकार घटते, घटते, हुये इस समय मनुष्य साढे तीन हाथ, हाथी दस हाथ, वृक्ष बीस पचास, हाथ, ऊंचे रह गये हैं। हां, किसी पदार्थमें घटी, बढीका तारतम्य अधिक है और किसीमें न्यून है। गेंहू, चावलों, आदिके वृक्षोंमें उस त्रैराशिकके अनुसार हानि या वृद्धि नहीं होती है। थोडा अंतर अवश्य पड जाता है। चतुर्निकाय देवोंके या अन्यत्र स्थानोंपर पार्थिव कल्पवृक्षोंके अतिरिक्त वनस्पति कायिक कल्पवृक्ष भी पाये जाते हैं। अलम् विस्तरेण।

विदेहेषु किंकाला मनुष्या इत्याह।

कोई विद्यार्थी प्रश्न करता है कि विदेह क्षेत्रोंमें कितने आयुष्य कालको धारने वाले मनुष्य निवास करते हैं? ऐसी विनीत शिष्यकी तत्त्वबुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३२ ॥

पांचों महाविदेहोंमें अथवा पांच मेरु सम्बन्धी एक सौ साठ्ठ विदेहोंमें लौकिक गणना अनुसार संख्या करने योग्य आयुष्य कालतक जीवित रहने वाले मनुष्य निवास करते हैं।

संख्येयः कालो येषां ते संख्येयकालाः संवत्सरादिगणनाविषयत्वात्तत्कालस्य।

जिन मनुष्योंका जीवन काल संख्या करने योग्य है, वे मनुष्य "संख्येयकाल" हैं। क्योंकि वर्ष, दिन, मास, आदि करके गिनी गयी गणनाका विषय हो रहा वह काल है। भावार्थ—विदेह क्षेत्रोंमें सर्वदा अवसर्पिणीके तीसरे काल सुषमदुःषमाके अन्त समान काल व्यवस्थित रहता है। मनुष्योंके शरीर पांच सौ धनुष ऊंचे हैं। नित्य एक बार भोजन करते हैं। जघन्य रूपसे मनुष्योंकी आयुः अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्ट रूपसे वे एक कोटि पूर्व वर्षतक जीवित रहते हैं। चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्गोंका एक पूर्व होता है। ऐसे करोड पूर्वतक विदेह क्षेत्रवासी मनुष्य जीवते हैं। हाथी, घोडे, भैंसा, बैल आदिकी आयुओंको इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। विदेह क्षेत्रमें द्रव्य रूपसे जैन धर्मका विनाश नहीं होता है। सदा जैन धर्मकी प्रवृत्ति बनी रहती है। भावोंमें भले ही मिथ्यात्व हो जाय।

अथ प्रकारांतरेण भरतविष्कंभप्रतिपत्त्यर्थमाह।

अब श्री उमास्वामी महाराज दूसरे प्रकारसे भरत क्षेत्रकी चौडाईको प्रतिपादन करनेके लिये अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

भरतस्य विष्कंभो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥ ३३ ॥

भरत क्षेत्रकी दक्षिण, उत्तर, चौडाई जम्बूद्वीपके एक सौ नब्बैवें भाग परिमाण है। अर्थात्–प्रथम स्थानको एक नग (अदत) मानकर उससे परली ओरके सात स्थानोंतक दूना दूना विस्तार किया जाय। पुनः सातवें स्थानसे छह स्थानोंतक आधा आधा विस्तार किया जाय, ऐसी दशामें ये सम्पूर्ण नग (डाग) एक सौ नब्बे हो जाते हैं। अतः सम्पूर्ण जम्बूद्वीपमेंसे भरत क्षेत्रकी चौडाई एक सौ नब्बैवें भाग आ जाती है।

नवत्याधिकं शतं नवतिशतं नवतिशतेन लब्धो भागो नवतिशतभागः। अत्र तृतीयांत-पूर्वादुत्तरपदे लोपश्चेत्यनेन वृत्तिर्दध्योदनादिवत्। स पुनर्नवतिशतभागो जंबूद्वीपस्य पंचयोजन शतानि षड्विंशानि षट्चैकान्नविंशतिभागा योजनस्येत्युक्तं वेदितव्यं। पुनर्भरतविष्कंभवचनं प्रकारांतरप्रतिपत्त्यर्थमुत्तरार्थं वा। तदेवं—

नवतिसे अधिक शत यों मध्यम पद लोपी समास कर " नवतिशत " यह पद बना लिया जाता है। एक सौ नब्बै भाजक द्वारा प्राप्त हुये भागको नवतिशतभाग कहते हैं। यहां " तृतीयांत-पूर्वादुत्तरपदे लोपश्च " इस सूत्र करके समासवृत्ति हो जाती है। जैसे कि " दध्ना उपसिक्तमोदनं दध्योदनं ,, " गुडेन सक्ताः धानाः गुडधानाः, घृतेन संयुक्तो घटः घृतघटः " इत्यादि स्थलोंपर मध्यम पदोंका लोप करते हुये सामर्थ्य प्राप्त कर तत्पुरुष समास कर दिया जाता है। उसी प्रकार " नवत्या " इस तृतीयान्त पदके पूर्व वृत्ति होनेपर उत्तरवर्ती शत पदके परे रहते समास होजाता है और अधिक इस पदका लोप होजाता है। फिर वह एक लाख योजन चौडे जंबूद्वीपका एकसौ नब्बैमां भाग तो पांचसौ छब्बीस पूरे योजन और योजनके छह उन्नीसवें भाग हैं। इस बातको पूर्व सूत्र द्वारा कहा जा चुका समझ लेना चाहिये। जब कि " भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य " इस सूत्र द्वारा भरतका विस्तार कहा ही जा चुका था। अब जो फिर भरतका विष्कंभ कहा जारहा है वह शिष्यबुद्धि वैशद्यार्थ अन्य प्रकार करके प्रतिपत्ति करानेके लिये है, अथवा उत्तरवर्ती " द्विर्धातकी खण्डे, पुष्करार्धे च " सूत्रों करके जो प्रमेय कहा जायगा उसका अभिसंबंध करनेके लिये यह सूत्र कहा गया है। भावार्थ—जंबूद्वीपमें चौरासी शलाकायें पर्वतोंकी और एकसौ छह शलाकायें क्षेत्रोंकी यों एकसौ नब्बै भाग हैं। धातकी खण्डमें दो मेरुसम्बन्धी बारह कुलाचल और चौदह क्षेत्र हैं। सभी कुलाचल और दो इष्वाकार पर्वतोंसे घिरे हुये स्थानसे अवशिष्ट स्थलमें चौदह क्षेत्रोपयोगी दो सौ बारहका भाग देनेसे एक भरतक्षेत्रका स्थान निकलता है। यों ही पुष्करार्धके भरतका क्षेत्र जान लेना। इसी संबंधको जतानेके लिये इस सूत्रका निर्माण किया है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर:—

तत्क्षेत्रवासिनां नृणामायुषः स्थितिरीरिता ।
सूत्रत्रयेण विष्कंभो भरतस्यैकसूत्रतः ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने " एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरुवकाः, तथोत्तराः, विदेहेषु संख्येयकालाः " इन तीनों सूत्रों करके उन क्षेत्रोंमें निवास करनेवाले मनुष्योंके जीवित कालकी स्थितिको कह दिया है और " भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः " इस एक सूत्रसे भरतकी चौडाई कह दी गयी है ।

तन्नृणामित्युपलक्षणात्तिरश्चामपि स्थितिरुक्तेति गम्यते ।

जैसे " काकेभ्यो दधि रक्ष्यतां " यहां काकपद सभी दधिके उपघातकोंका उपलक्षण है, यानी काकपदसे दहीको बिगाडनेवाले अन्य पशु, पक्षी, छोकरा आदि सर्व ही पकड लिये जाते हैं । उसी प्रकार उक्त वार्त्तिकमें कहे गये " नृणां " यानी उन क्षेत्रनिवासी मनुष्यों यह पद उपलक्षण है । इस कारण वहांके पंचेंद्रिय तिर्यंचोंकी स्थिति भी उन ही तीन सूत्रों द्वारा कह दी गयी, यों समझ लिया जाता है ।

धातकीखंडे भरतादिविष्कंभाः कथम् प्रमीयत इत्याह ।

धातकी खण्ड द्वीपमें भरत आदि क्षेत्रोंकी चौडाई भला किस प्रकार अच्छी नापी जाती है ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

द्विर्धातकीखण्डे ॥ ३४ ॥

दूसरे द्वीप धातकी खण्डमें क्षेत्र, पर्वत, कमल, ह्रद, नदियां आदिक संख्या द्वारा जम्बूद्वीपकी अपेक्षा दो दो होकर दुगुने नापे जाते हैं । अर्थात्—दो मेरु सम्बन्धी क्षेत्र पर्वतादिकी संख्या दूनी है तथा चौडाई भी दुगुनीसे कथमपि न्यून नहीं है ।

ननु च जंबूद्वीपानंतरं लवणोदो वक्तव्यस्तदुल्लंघने प्रयोजनाभावादिति चेन्न, जंबूद्वीप-भरतादिद्विगुणधातकीखंडभरतादिप्रतिपादनार्थत्वात्, लवणोदवचनस्य सामर्थ्यलब्धत्वाच्च । महीतलमूलयोर्दशयोजनसहस्रविस्तारो लवणोदः ।

यहां श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति कोई शिष्य अनुनय करता है कि कृपासागर सूत्रकार महाराजजीको तेतीसवें सूत्रतक जम्बूद्वीपका वर्णन करनेके पश्चात् चौंतीसमें सूत्रमें लवणसमुद्रका निरूपण करना चाहिये था । उस लवणसमुद्रके वर्णनको उल्लंघन करनेमें उनका कोई विशेष प्रयोजन नहीं सधता है, जिससे कि धातकी खण्डका वर्णन झट मध्यमें आ कूदे । अब ग्रन्थकार कहते हैं कि यह

तो नहीं कहना। क्योंकि जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरत आदि क्षेत्र या पर्वत, नदी, कुण्ड, आदिकोंसे संख्यामें दुगुने धातकी खण्ड सम्बन्धी भरत, हिमवान्, गंगा, गंगाकुण्ड, आदि हैं। इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिये धातकी खण्डका वर्णन सप्रयोजन है। दूसरी बात यह है कि " तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " इस नीतिके अनुसार जम्बूद्वीप और धातकी खण्डकी वर्णना कर देनेसे लवणसमुद्रका निरूपण तो बिना कहे ही पूर्वापर अभिधानकी सामर्थ्यसे ही स्वतः लब्ध हो जाता है। सर्वज्ञ सम्प्रदायका अतिक्रमण नहीं कर आम्नायसे प्राप्त हो रहे आगमों द्वारा या गुरुपरिपाटी द्वारा लवण समुद्रका स्वरूप इस प्रकार समझ लेना चाहिये कि सम्भूमितलपर एक लाख योजन चौडे जम्बूद्वीपका परिक्षेप करनेवाले कंकण समान लवण समुद्रकी चौडाई दो लाख योजन है। गायोंके जल पीनेके घाट समान क्रमसे गहरा होता हुआ उरलीपार, परली पार दोनों ओरसे पिचानवै हजार योजन तिरछा चलकर हजार योजन गहराई रखता हुआ बत्रा पृथ्वीके ऊपर और चित्रा पृथ्वीके अधस्तलमें लवण समुद्र नीचे दश हजार योजन चौडा हो गया है। " पुण्णदिणे अमवासे सोलसकारससहस्स जल उदयो, वासं मुहभूमीए दसम सहस्सा य वे लक्खा " इस गाथा अनुसार चित्राके उपरिम भूमितलसे सदा ग्यारह हजार योजन जलकी ऊंचाईको धारने वाले लवण समुद्रका क्रमसे बढता हुआ जल पूर्णिमाको सोलह हजार योजनतक ऊंचा उठ जाता है। वहां ऊपर जलतलकी चौडाई दस हजार योजन है। अतः लवण समुद्ररूपी कंकणको कहींसे भी काट कर यदि तिरछा देखा जाय तो उसका कटा हुआ आकार सर्वत्र मृदंग सरिखा मिलेगा। लवण समुद्रके अतिरिक्त और किसी भी समुद्रका जल चित्राके समतलसे ऊंचा उठा हुआ नहीं है। हां, वेदीके परें उरले परले द्वीपसे पोखरियाके समान क्रमसे तिरछा निम्न होरहा हजार योजन जल उनमें भरा हुआ है। लवण समुद्र सम्बन्धी सूर्य चंद्रमा या इतर ज्योतिष्कमण्डलका लवण जलमें ही संचार होता रहता है मछलियोंके समान देवों और देवविमानों या चैतन्य, चैत्यालय, आदि पदार्थोंको हानि नहीं पहुंचती है। जैसे कि वायु समुद्रमें डूब रहे अस्मदादिकोंको वायु द्वारा कोई क्षति नहीं पहुंच पाती है। ज्योतिष्क विमानोंके कचित् स्थलोंमें प्रयोगों द्वारा जलका अवरोध भी कर दिया जाता है। समुद्रमें चरने वाले मछली, मगर, आदि जीवोंके शरीरोंमें भी तो जलावरोधके निमित्त विद्यमान हैं। हम लोग भी फैली हुई वायुका यथायोग्य न्यूनाधिक प्रवेश या अवाञ्छनीय अप्रवेश कर लेते हैं।

तन्मध्ये दिक्षु पातालानि योजनशतसहस्रावगाहानि, विदिक्षु क्षुद्रपातालानि दशयोजन सहस्रावगाहानि, तदंतरे क्षुद्रपातालानां योजनसहस्रावगाहानां सहस्रं।

उस लवण समुद्रके ठीक मध्यमें चारों दिशाओंमें चार पाताल बने हुये हैं, जो कि जंबूद्वीपकी रत्नवेदिकासे पिचानव्वै हजार योजन तिरछा चालकर रत्नप्रभा भूमिके कुठिया या कूआ समान बिवर हैं। इन चारोंकी गहराई एक लाख योजन है। इन गोल पातालोंकी अधस्तल और उपरितलमें चौडाई दश हजार तथा मध्यमें एक लाख योजन है। ऊंची खडी कर दी गयी ढोलक या पखवाजकासा

इनका आकार है। इनकी पांचसौ योजन चौडी भींतें और तल वज्रमय हैं। मध्यलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण दृश्य, अखंड, अवयवी, पदार्थोंमेंसे ये ही पाताल चित्रा पृथ्वीके नीचे तक चले गये हैं। वज्रा, वैडूर्य, यहांतक कि लोकके अन्त तक फैल रही रत्नप्रभाके सोलह हजार योजन मोटे पूरे खर पृथ्वीभाग और चौरासी हजार योजन मोटे पंकबहुलभागतक ये पाताल घुस गये हैं। उन महापातालोंके तिहाई नीचले तेतीस हजार तीनसौ तेतीस और एक बटे तीन योजन भागमें वायु भरा हुआ है। बिचले तीसरे भागमें वायु और जल ठस रहे हैं। ऊपरले त्रिभागमें जल है। कतिपय निमित्तों द्वारा वायुका संक्षोभ हो जानेसे समुद्र जलकी वृद्धि हो जाती है। इन चार महा पातालोंके ठीक मध्य विदिशाओंमें चार क्षुद्र पाताल दश हजार योजन गहरे अन्य भी हैं। जो कि मुख और मूलमें हजार योजन तथा मध्यमें दश हजार योजन चौडे हो रहे मुरज समान हैं। इनमें भी निचले त्रिभागमें वायु और बिचले त्रिभागमें जल, वायु मिलकर दोनों तथा उपरिम त्रिभागमें केवल जल भर रहे हैं। उन दिशा, विदिशाओंमें बन रहे पातालोंके आठों अन्तरोंमें हजार योजन गहराईको धार रहे अति क्षुद्र पातालोंकी सहस्र संख्या और भी समझ लेनी चाहिये। इन हजार पातालों (बडवानलों) की मध्यमें चौडाई हजार योजन और मुख या मूलमें पांचसौ योजन चौडाई है। इनके तीन त्रिभागोंमें भी यथाक्रम नीचेकी ओरसे वात और जल, वायु, तथा जल भर रहे हैं। जो कि समुद्रके जलकी वृद्धि या हानिमें सहायक हैं। ये सम्पूर्ण पाताल अनादि अनिधन हैं।

दिक्षु वेलंधरनागाधिपतिनगराणि चत्वारि द्वादशयोजनसहस्रायामविष्कंभो गौतमद्वीप-श्चेति श्रूयते।

जम्बूद्वीपके अन्तिम भाग हो रही रत्नवेदिकासे तिरछे बियालीस हजार योजन चलकर चारों दिशाओंमें समुद्रकी वेलाको धारनेवाले नागकुमाराधिपति भवनवासी देवोंके चार नगर बने हुये हैं। जिनमें निवास करनेवाले हजारों भवनवासी देव स्वकीय नियोग अनुसार लवणसमुद्रकी अभ्यन्तर वेला, बाह्यवेला, और अग्रजलको वहांका वहीं नियत स्थानोंपर रोक कर धार रहे हैं। उचित हानि, या वृद्धिके सिवाय उठे हुये जलको इधर उधर नहीं गिरने, फैलने, उछलने देते हैं। यद्यपि निश्चयनय अनुसार सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपको धार रहे हैं। जलकी बूंद या कटोराका पानी यों भी कुछ ऊपर उठा हुआ रह सकता है। तथापि व्यवहार नय अनुसार कतिपय बादर पदार्थोंके अवलम्ब हो रहे यथा व्यवस्थित पदार्थोंका आचार्य महाराजने निरूपण कर दिया है। रत्नवेदिकासे तिरछे बारह हजार योजन चलकर बारह हजार योजन लंबा चौडा गोल " गौतम " नामका द्वीप लवण-समुद्रमें विद्यमान है, जिसमें लवणसमुद्रके अधिपति गौतम देवका निवास है। लवण समुद्रके तटसे पिचानबे हजार योजन चलकर समुद्रकी गहराई हजार योजन होगई है। अतः पिचानवै प्रदेशोंपर एक प्रदेश गहरा, पिचानबे हाथ चलकर एक हाथ गहरा, पिचानबे कोस तिरछा चलकर एक कोस गहरा, इस क्रमसे समुद्रकी गहराई मिलती चली जायगी। नीचे जाकर मध्यमें दश हजारकी चौडाईपर

हजार योजनकी गहराई है। इससे अधिक गहराई कहीं नहीं है। लवण समुद्रमें जंबूद्वीपकी और चोबीस और धातकी द्वीपकी और चोबीस यों कुभोगभूमियोंके अडतालीस द्वीप अन्य भी बने हुये हैं। मागध आदि भी कई द्वीपोंकी रचना है, इत्यादिक करणानुयोग सम्बन्धी सिद्धान्त तो सर्वज्ञ आम्नात शास्त्रों द्वारा या साम्प्रदायिक ऋषियों द्वारा सुना जा रहा है। इस आर्ष सिद्धान्तमें किन्हीं प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाधा नहीं उपस्थित होती है। बाधकासम्भवसे अतीन्द्रिय पदार्थोंकी भी निर्विवाद, अविसम्वादिनी, सिद्धि हो जाती है।

ननु च पूर्वपूर्वपरिक्षेपिद्वीपसमुद्रप्रकाशकेन [illegible] लवणोदो ज्ञायते सामान्यत एव। तद्विशेषास्तु कथमनुक्ता इहावसीयंत इति न शंकनीयं, सामान्यगतौ विशेषसद्भावगतेः सामान्यस्य स्वविशेषाविनाभावित्वात् संक्षेपतः सूत्राणां प्रवृत्तेः सूत्रैस्तद्विशेषानभिधानं जंबूद्वीपादिविशेषानाभिधानवत्। वार्तिककारादयस्त्वर्थाविरोधेन तद्विशेषान् सूत्रसामर्थ्यालब्धानाचक्षाणा नोत्सूत्रवादितां लभंते 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणम्' इति वचनात्।

यहां किसीका शंका अनुसार आक्षेप है कि इस तृतीय अध्यायके सातवें, आठवें, सूत्र अनुसार पूर्वका परिक्षेप करनेवाले असंख्य द्वीप समुद्रोंका प्रकाश किया जा चुका है, उनमें जंबूद्वीपका परिक्षेप करनेवाला लवणसमुद्र तो सामान्यरूपसे विना कहे सामर्थ्यसे ही जान लिया जाता है। किन्तु उस लवणसमुद्रके पाताल, क्षुद्रपाताल, द्वीप, कुभोगभूमि ये विशेष तो यहां सूत्रोंद्वारा नहीं कहे गये हैं, फिर बिना कहे ही उन विशेषोंका निर्णय कैसे कर लिया जाता है? बताओ। ग्रंथकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि सामान्य रूपसे ज्ञप्ति होचुकने पर उसके विशेष अंशोंके सद्भावकी भी परिच्छित्ति होजाती है। कारण कि सामान्य अर्थ अपने विशेष अर्थोंके साथ अविनाभाव रखने वाले होते हैं। "निर्विशेषं हि सामान्यम् भवेत् खरविषाणवत्"। कोई मनुष्यसामान्य या घोडा सामान्य अपने उचित विशेषोंसे रीता होकर अकेला अबाधि नहीं देखा गया है। जैन सिद्धांतमें पदार्थको सामान्य विशेषात्मक स्वीकार किया गया है। हां, शब्दोंके संक्षेपसे सूत्रोंकी प्रवृत्ति होती है। अतः अनेक छोटे छोटे विशेष अर्थोंके प्रतिपादक सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने लवण समुद्रके उन विशेषोंका कंठोक्त निरूपण उसी प्रकार नहीं किया है, जैसे कि जंबूद्वीपके भद्रसाल, देवारण्य, भूतारण्य, आदि वनों, विजयार्ध यमकादि, वृषभाचल, गजदंत, वेदाढ्य आदि पर्यंतों, या उन्मग्नजला, निमग्नजला, विभंगा आदि नदियों तथा अन्य अन्य शाल्मली वृक्ष, वेदी, पाण्डुक शिला, म्लेच्छ खण्ड, खण्डप्रपातगुहा आदिका सूत्रों द्वारा पृथक् पृथक् निरूपण नहीं किया गया है। अर्थात्—यों सभी विशेषोंका सूत्रों द्वारा निरूपण करने पर मूल सूत्रग्रन्थका अत्यधिक विस्तार होजायगा। फिर टीकाग्रन्थ किस रोगकी औषधि है? बताओ तो सही। इस तत्त्वार्थसूत्रकी समीचीन टीकाओं या त्रिलोक-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सार, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, आदि ग्रंथोंकी रचना करने वाले आचार्योंके वचन भी प्रमाण हैं। सिद्धांत अर्थके अविरोध करके सूत्रोंकी सामर्थ्यसे विना कहे ही प्राप्त होचुके उन उन विशेष अर्थोंका व्याख्यान कर रहे वार्तिककार श्री अकलंक देव, श्री विद्यानन्द स्वामी अथवा अन्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती, श्री वीरनन्दी सिद्धांतचक्रवर्ती, आदि प्रकाण्ड विद्वान् तो उत्सूत्रवादीपन दोषको नहीं प्राप्त होजाते हैं। अर्थात्—जो परमागम सूत्र सिद्धांतोंका उल्लंघन कर मनमानी झूंटी सांची गप्पोंको हांकते हैं वे उत्सूत्र भाषी हैं। किन्तु श्री अकलंक देव, श्री नेमिचन्द्र महाराज आदि आचार्य तो गुरुपरिपाटी अनुसार उन्हीं सिद्धांत सूत्रोंका स्वकीय ग्रंथोंमें व्याख्यान करते हैं। लोकमें प्रसिद्ध होरहा यह वचन है कि व्याख्यान कर देनेसे परिज्ञात सामान्य अर्थके विशेषोंकी प्रतिपत्ति होजाती है, संदेह कर देनेसे वह सामान्य रूपसे सिद्धांतित कर दिया गया लक्षण कोई कुलक्षण या लक्षणाभाव नहीं होजाता है। हां, यह लक्ष्य रखा जाय कि वह अतीन्द्रिय पदार्थोंका निरूपण दृष्ट, इष्ट, और पूर्वापार प्रकरणोंसे अविरुद्ध होना चाहिये। कोई भी विचारशील विद्वान् सर्वज्ञधारासे चले आरहे प्रमेयका प्रतिपादन करदे वह उत्सूत्रभाषीपन दोषका पात्र कालत्रयमें भी नहीं होसकता है।

ननु च धातकीखंडे द्वौ भरतौ द्वौ हिमवंतावित्यादिद्रव्याभ्यावृत्तौ द्विरित्यत्र सुजसंभव इति चेन्न, मीयंत इति क्रियाध्याहारात् द्विस्तावानिति यथा, तेन धातकीखंडे भरतादिवर्षो-हिमवदादिवर्षधरश्च ह्रदादिश्च द्विर्मीयत इति सूत्रितं भवति।

यहां कोई पण्डित दूसरे प्रकारकी शंका उठाता है कि धातकी खण्डमें दो भरत क्षेत्र हैं। दो हिमवान् पर्वत हैं, दो हैमवत क्षेत्र हैं, दो महाहिमवान् पर्वत हैं, इत्यादि रूपसे द्रव्यकी अभ्यावृत्ति करनेपर द्विर् इस पदमें सुच् प्रत्यय करनेका असम्भव है। क्योंकि " द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् " इस सूत्र अनुसार क्रियाकी अभ्यावृत्ति गिननेमें सुच् प्रत्यय हो सकता है। भरत हिमवान् आदि द्रव्योंके बार बार गिननेमें सुच्प्रत्ययका विधायक कोई व्याकरणका सूत्र नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि " मीयंते " यानी नापे जा रहे हैं, इस क्रियाका अध्याहार अर्थात् उपरिष्टात् उपस्कार कर लेनेसे उसी सूत्र द्वारा सुच्प्रत्यय कर लिया जाता है, जैसे कि यह प्रासाद (हवेली) उस परिमाणवाला दो बार है। इस वाक्यमें " नापा जाता है " इस क्रियाका अध्याहार कर दो बार उतना नापा जाता है। यों द्विस्तावान् पदमें सुच् प्रत्ययकी घटना हो जाती है। उसी प्रकार " द्विर्धातकीखण्डे " यहां भी संख्यावाची द्वि शब्दसे क्रियाकी पुनरावृत्ति गिननेमें सुच्प्रत्यय तद्धितवृत्तिमें कर लिया जाता है। तिस करके धातकी खण्डमें भरत, हैमवत, आदिक क्षेत्र हिमवान्, महाहिमवान्, आदि पर्वत तथा ह्रद, नदी, मेरु, आदि दो, दो होकर संख्या द्वारा नापे जाते हैं, यह सूत्र द्वारा अर्थ उक्त हो जाता है।

कियान् पुनर्धातकीखण्डे भरतस्य विष्कंभ इत्युच्यते—षट्षष्टिशतानि चतुर्दशानि योजनानामेकान्नत्रिंशच्च भागशतं योजनस्याभ्यंतरविष्कंभः। सैकाशीतिपंचशताधिकद्वादश-

सहस्राणि षट्त्रिंशच्च भागा योजनस्य मध्यविष्कंभः । सप्तचत्वारिंशत्पंचशताधिकाष्टादश-सहस्राणि योजनानां पंचपंचाशच्च भागशतं योजनस्य बाह्यविष्कंभः ।

कोई जिज्ञासु पूछता है कि श्री विद्यानन्द स्वामिन् महाराज ! यह बताओ कि धातकी खण्डमें भरत क्षेत्रकी चौडाई भला कितनी है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर ग्रन्थकार करके यों उत्तर कहा जाता है कि छह हजार छह सौ चौदह पूरे योजन और एक योजनके दो सौ बारह भागोंमें एक सौ उन्तीस भाग इतना धातकी खण्डके भरतका अभ्यन्तर विष्कंभ है। बारह हजार पांच सौ इक्यासी योजन और योजनके छत्तीस बटे दो सौ बारह भाग धातकी खण्डके भरतकी मध्यम चौडाई है तथा अठारह हजार पांच सौ सैंतालीस और एक सौ पचपन बटे दो सौ बारह योजन धातकी खण्डके भरतका बाह्य विष्कंभ है। भावार्थ—धातकी खण्डका भीतरला व्यास पांच लाख है। वही लवण समुद्रका अन्तिम व्यास है। मध्यम व्यास नौ लाख और धातकी खण्डकी बाह्य सूची तेरह लाख योजन की है। " विक्खंभवग्गदहगुणकरणी वट्टस्स परिरयो होइ " स्थूलपरिधि व्याससे तिगुनी समझी जाती है। किन्तु सूक्ष्म परिधि तो व्यासके वर्गको दश गुना करनेपर पुनः उसका वर्गमूल निकाला जाय तब ठीक बैठती है। पांच लाखके वर्गके दश गुने पचीस खर्व संख्याका वर्गमूल निकालनेपर पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उन्तालीस (१५८११३९) योजन धातकी खण्डकी अभ्यन्तर परिधि बैठती है। इक्यासी खर्व (८१००००००००००) का वर्गमूल निकालनेपर अट्ठाईस लाख छियालिस हजार पचास (२८४६०५०) योजन धातकी खण्डकी मध्यम परिधि आती है। धातकी खण्डके बाह्य व्यास तेरह लाखके वर्गके दश गुने एक नील उन्हत्तर खर्व (१६९००००००००००) का वर्गमूल निकाला जाय तो इकतालीस लाख दश हजार नौ सौ इकसठ (४११०९६१) योजन धातकी खण्डकी बाह्य परिधि आ जाती है। जम्बूद्वीपमें जैसे पर्वत या क्षेत्रोंका विन्यास है वैसा धातकी खण्डमें नहीं है। पूरे पहियाके समान धातकी खण्डमें अरोंके स्थानपर पर्वत पडे हुये हैं। और (अरविवर) रीते स्थानोंपर भरत आदि क्षेत्र रचे हुये हैं। जम्बूद्वीपमें हिमवान्, महाहिमवान्, आदि पर्वतोंकी जितनी चौडाई है, उससे ठीक दूनी धातकी खण्डके हिमवान् आदि पर्वतोंकी चौडाई है। धातकी खण्डमें भी हिमवान् आदि पर्वत भींतके समान नीचे ऊपर एकसे और लवण समुद्रके अन्तिम भागसे प्रारम्भ कर कालोदधि समुद्रके आदि भागतक समान एकसी चौडाईको लिये हुये लम्बे पडे हुये हैं। पूर्व धातकी खण्ड और पश्चिम धातकी खण्ड ये दो विभाग करनेके लिये धातकी खण्डके दक्षिण और उत्तर प्रान्तमें हजार योजन चौडे चार सौ योजन ऊंचे चार लाख योजन लम्बे ऐसे दो इष्वाकार पर्वत पडे हुये हैं। जम्बूद्वीपके पर्वतोंसे धातकी खण्डके हिमवान् आदि पर्वतोंकी चौडाई ठीक दूनी है और पर्वतोंकी संख्या भी दूनी है। प्रत्युत दो इष्वाकार पर्वत और भी अधिक हैं। जम्बूद्वीपमें छह पर्वत हैं तो धातकी खण्डमें दो इष्वाकारों सहित चौदह पर्वत हैं। जम्बूद्वीपमें हिमवान् आदि पर्वतोंने दक्षिण, उत्तर, चवालीस हजार दो सौ दस और दस बटे उन्नीस योजन आकाशको घेर रक्खा है। छहों पर्वतोंकी शलाकायें चौरासी हैं। एक सौ नव्वै शलाकाओंके लिये

जम्बूद्वीपमें एक लाख योजन क्षेत्र मिले तो चौरासी शलाकाओंमें कितना क्षेत्र घिर जायगा ! यों त्रैराशिक करनेपर पर्वतोंसे अवरुद्ध हुआ उक्त संख्यावाला क्षेत्र निकल आता है । धातकी खण्डके संख्यामें और चौडाईमें दुगुने पर्वतोंसे रुके हुये क्षेत्रको निकालनेके लिये जम्बूद्वीपके उक्त पर्वतावरुद्ध क्षेत्रको चौगुना कर देनेपर एक लाख छिहत्तर हजार आठ सौ बियालीस और दो बटे उन्नीस योजन क्षेत्र निकलता है । इसमें दो इष्वाकार पर्वतोंकी दो हजार योजन चौडाईको मिला देनेपर धातकी खण्डमें पर्वतोंसे घिरा हुआ एक लाख अठत्तर हजार आठ सौ बियालीस (१७८८४२) योजन क्षेत्र हुआ। अंश (बटे) संख्याकी विवक्षा नहीं है। जम्बूद्वीपमें सातों क्षेत्रोंकी एक सौ छह शलाकायें हैं। इनसे दूनी दो सौ बारह शलाकायें धातकी खण्डमें क्षेत्रोंकी हैं । क्योंकि क्षेत्रोंकी दूनी यानी चौदह संख्या है । उन अभ्यंतर, मध्य और बाह्य तीन प्रकारकी धातकी खण्ड द्वीपसम्बन्धी परिधियोंमेंसे पर्वत रुद्ध क्षेत्रको घटाकर शेष बचे क्षेत्रमें दो सौ बारहका भाग देनेपर और भरतके लिये नियत एक शलाकासे गुणाकर देनेपर धातकी खण्डके भरतकी भीतरली, बिचली, और बाहरी, चौडाईका क्षेत्र निकल आता है। भीतरली परिधि १५८११३९ में से १७८८४२ को घटाकर बचे हुये १४०२२९७ में २१२ का भाग देनेपर छह हजार छह सौ चौदह और एक सौ उन्तीस बटे दो सौ बारह योजन धातकी खण्डके भरतकी भीतरी चौडाई निकल आती है। इसी प्रकार भरतकी मध्यम परिधि और बाह्य परिधिको निकाल लेना चाहिये। ऐसी दशामें धातकी खण्डका भरत आदिमें छह हजार छह सौ चौदह योजनसे क्रम क्रम कर बढता हुआ अन्तमें अठारह हजार पांच सौ सेतालीस योजन चौडा हो गया है और चार लाख योजन लम्बा पडा है । जम्बूद्वीपके भरतसे यह सैकडों गुणा बडा है । " बाहिरसूईवग्गं अब्भंतरसूइवग्गपरिहीणं, जम्बूवासविभत्ते तत्तियमेत्ताणि खंडाणि " इस गाथा अनुसार जम्बूद्वीपसे धातकी खण्ड एक सौ चवालीस गुने क्षेत्रफलको धार रहा है ।

वर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणविस्तार आविदेहात् । वर्षधराद्वर्षधर आनिषधात् । उत्तरा दक्षिणतुल्या इति च विज्ञेयं । भरतैरावतविभाजिनौ च दक्षिणोत्तरायतौ लवणोदकालोदस्पर्शिनौ लवणोदादक्षिणोत्तराविष्वाकारगिरी प्रतिपत्तव्यौ । धातकीखंडवलयपूर्वापरविभागमध्यगौ मेरू च ।

धातकी खण्डमें पहिले भरत क्षेत्रसे अगले, अगले वर्ष चौगुने, चौगुने विस्तारवाले हैं । विदेह पर्यन्त यही दशा है । क्योंकि पहिले क्षेत्रसे दूसरेकी, दूसरेसे तीसरे की, तीसरेसे चौथेकी, शलाकायें चौगुनी, चौगुनी, हैं । हां, लंबाई सर्व क्षेत्र या पर्वतोंकी एकसी चार लाख है। इसी प्रकार पहिले हिमवान् पर्वतसे अगले अगले पर्वतोंकी चौडाई निषधपर्वतपर्यन्त चौगुनी, चौगुनी, है। तथा उत्तर दिशा सम्बन्धी क्षेत्र या पर्वत तो दक्षिण दिशावर्ती कहे जा चुके इन पर्वत और क्षेत्रोंके समान है, यह भी समझ लेना चाहिये । चार लाखकी लंबाई विदेह क्षेत्रकी मध्यम या बाह्य परिधिकी अपेक्षा चौडाई समझी जायगी । धातकी खण्डमें पूर्व मेरु सम्बन्धी भरत और पश्चिम मेरु सम्बन्धी ऐरावत अथवा पूर्व मेरु सम्बन्धी ऐरावत और पश्चिममेरु सम्बन्धी भरतका विभाग करने वाले इष्वाकार पर्वत पडे हुये

समझ लेने चाहिये। सुवर्णमय इन पर्वतोंका आकार ऋजु (सीधे) लंबे बाणके समान है। अतः इनका नाम अन्वर्थ है। ये धातकी खण्डमें दक्षिण और उत्तर दिशाओंकी ओर लंबे पडे हुये हैं। भीतर लवण समुद्र और बाहर कालोदधि समुद्रको छूरहे हैं। पहिला इष्वाकार लवणसमुद्रसे दक्षिणकी ओर और दूसरा लवणसमुद्रसे उत्तरकी ओर पसर रहा है। इन इष्वाकारोंसे धातकीखण्डस्वरूप कंकणके पूर्व धातकी खण्ड और पश्चिम धातकी खण्ड द्वीप यों विभाग होजाते हैं और उन दोनों विभागोंके मध्यमें दो मेरु पर्वत प्राप्त होरहे हैं। जोकि जंबूद्वीपके सुदर्शन मेरुसे कुछ छोटे हैं। चौरासी हजार योजन ऊंचे हैं। जंबूद्वीपमें जहां जंबूवृक्ष है, उसी प्रकार धातुकी खण्डमें धातकी वृक्ष है। धातकी खण्डका परिक्षेप करनेवाला आठ लाख योजन चौडा कालोदधि समुद्र है। कालोदधिमें भी बाह्य तट और अभ्यन्तर तटसे पांच सौ, साडे पांचसौ, और छह सौ, योजन चलकर अडतालीस अंतरद्वीप हैं। उनमें कुभोगभूमिकी रचना है।

अथ पुष्करार्धे कथं भरतादिर्मीयते तद्विष्कंभाश्चेत्याह।

इसके पश्चात् किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि दयानिधे यह बताओ कि पुष्करार्ध द्वीपमें भरत आदिक भला किस प्रकार नापे जारहे हैं? और उनकी चौडाई आदिकी क्या व्यवस्था है? यों प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

पुष्करार्धे च ॥ ३५ ॥

संपूर्ण पुष्करमें नहीं किंतु पुष्कर द्वीपके भीतरले आधे भागमें भरत आदिक दो बार संख्या-द्वारा गिने जाते हैं। अर्थात्—जंबूद्वीपके भरत आदि या हिमवान् आदिकी अपेक्षा पुष्करार्धमें दो बार यानी दो भरत, दो हिमवान्, यों क्षेत्र, पर्वत, नदी, ह्रद, मेरु, कुण्ड आदि हैं।

संख्याभ्यावृत्त्यनुवर्तनार्थश्चशब्दः। धातकीखण्डवत्पुष्करार्धे च भरतादयो द्विर्मीयंते। तत्रैकान्नाशीत्युत्तरपंचशताधिकैकचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि सत्रिसप्तभागशतं च भरतस्याभ्यंतरविष्कंभः, द्वादशपंचशतोत्तराणि त्रिपंचाशद्योजनसहस्राणि नवनवत्यधिकं च भागशतं योजनस्य मध्यविष्कंभः, षट्चत्वारिंशच्चतुःशतोत्तरपंचषष्टिसहस्राणि त्रयोदश च भागा योजनस्य बाह्यविष्कंभः।

" द्विर्धातकीखण्डे " इस पूर्व सूत्रसे " द्विर् " इस संख्याकी अभ्यावृत्तिका अनुवर्तनके लिये यहां सूत्रमें च शब्द किया गया है। धातकी खण्डके समान पुष्करार्धमें भी जम्बूद्वीपकी अपेक्षा भरत आदि दो बार गिने जाते हैं। इस पुष्करार्ध द्वीपमें भरत क्षेत्रकी भीतरली चौडाई इकतालीस हजार पांच सौ उनासी और एक सौ तिहत्तर बटे दो सौ बारह योजन है। पुष्करद्वीपके भरतकी त्रेपन हजार पांच सौ बारह और एक सौ निन्यानवे बटे दो सौ बारह योजन मझिली चौडाई है तथा

पैंसठ हजार चार सौ छियालीस और तेरह बटे दो सौ बारह योजन पुष्करके भरतकी बाहरली चौडाई है। भावार्थ—कालोदधि समुद्रसे बाहरली ओर चुपटी हुई पुष्करार्धकी भीतरली परिधि इक्यानवे लाख सत्तर हजार छह सौ पांच (९१७०६०५) योजन है और पुष्करार्धको सैंतीस लाख व्यासवाले मध्यदेशकी " विक्खंभवग्गादहगुणकरणी वट्टस्स परिरयो होदि " इस नियम अनुसार एक करोड सत्रह लाख चार सौ सत्ताईस (११७००४२७) योजन परिधि होती है। पैंतालीस लाखवाले पुष्करार्ध द्वीपकी बाहरली परिधि एक [illegible] (१४२३०२४९) योजन है। एक अंकके बटे हुये भागोंका यहां लक्ष्य नहीं रक्खा गया है। धातकी खण्डके बारहऊ कुलाचलोंसे पुष्करार्धके बारहऊ कुलाचलोंकी चौडाई दूनी दूनी है। किन्तु इष्वाकार पर्वत दोनों द्वीपोंके एकसे एक एक हजार योजन चौडे हैं। अतः पुष्करार्धमें चौदह पर्वतोंसे रुका हुआ क्षेत्र तीन लाख पचपन हजार छह सौ चौरासी (३५५६८४) योजन है। उन तीनों प्रकारकी परिधियोंमेंसे पर्वत रुद्ध क्षेत्रको न्यून कर पुनः चौदह क्षेत्रोंकी दो सौ बारह शलाकाओंसे भाजित कर पश्चात् भरतकी एक शलाकासे गुणा कर देनेपर पुष्करार्धके भरतकी भीतरी, बिचली और बाहरी चौडाई निकल आती है। अतः इकतालीस हजार पांच सौ उनासी योजनसे क्रमवार बढता हुआ पैंसठ हजार चार सौ छियालीस योजन चौडा हो रहा और आठ लाख योजन लम्बा यह पुष्करार्धका भरत क्षेत्र उस जम्बूद्वीपके भरतसे हजारों गुणा बडा बैठता है। हां, जम्बूद्वीपका हिमवान् पर्वत दस सौ बावन और बारह बटे उन्नीस योजन चौडा तथा चौंतीस हजार नौ सौ बत्तीस और एक बटे उन्नीस योजन लम्बा है। किन्तु पुष्करार्धका एक हिमवान् पर्वत इससे चौगुना चार हजार दो सौ दश और दश बटे उन्नीस योजन चौडा तथा आठ लाख योजन लम्बा है। हां, जम्बूद्वीपके कुलाचल, वक्षार, नदी, ह्रद आदिकी गहराई और ऊंचाईके समान ही धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीपोंके कुलाचलों आदिकी गहराई या ऊंचाई है। यों जम्बूद्वीपके हिमवान् और पुष्करार्धके हिमवान् पर्वतका अन्तर स्पष्ट समझ लिया जाता है। भलें ही ढाई द्वीपमें छोटेसे जम्बूद्वीपको पूरा एक और बिचारे पुष्करार्धको आधा गिन लो, " नाम बडे दर्शन थोडे "।

वर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणविस्तार आविदेहात्। वर्षधराद्वर्षधरश्चा निषधात्। मानुषोत्तरशैलेन विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसंज्ञा, पुष्करद्वीपस्यार्धं हि पुष्करार्धमिति प्रोक्तं। अत्र धातकीखंडवद्वर्षधराश्चक्षारवदवस्थितास्तदंतरालवद्वर्षाः। कालोदमानुषोत्तरशैलस्पर्शिनाविष्वाकारगिरी दक्षिणोत्तरौ पूर्ववद्वेदितव्यौ पुष्करार्धवलयपूर्वापरविभागमध्यवर्तिनौ मेरू चेति प्रपंचः सर्वस्य विद्यानन्दमहोदये प्रतिपादितोवगंतव्यः तदेवं–

पहिले क्षेत्रसे अगला क्षेत्र चौगुना चौडा है। विदेहपर्यन्त यह व्यवस्था समझना चाहिये और निषधपर्वतपर्यन्त पहिले वर्षधर कुलाचलसे अगिला वर्षधर पर्वत चौगुना चौडा है तथा उत्तर दक्षिणवर्ती रचना तुल्य है। अर्थात्–पुष्करार्धके भरतसे हैमवत क्षेत्रकी चौडाई चौगुनी है और हिमवानसे

महाहिमवानकी चौडाई चौगुनी हैं, यह दशा विदेह और निषध या नीलपर्वततक है। परली ओर आधी आधी चौडाई होती चली गयी है। जंबूद्वीपमें तो भरत क्षेत्रसे हिमवान् पर्वतकी दूनी चौडाई थी। किन्तु पुष्करार्धके हिमवान पर्वत यथानिकट केवल दशवां भाग चौडा है, यानी दशमी गुणी हानिको लिये हुये है। धातकी खण्ड और पुष्करार्धके इष्वाकार और मन्दर मेरु उतने ही एकसे परिमाणवाले हैं। जंबूद्वीपमें जहां जंबूवृक्ष है, उसी रचनाके अनुसार पुष्करार्ध द्वीपमें परिवारसहित पृथ्वीकाय कमल अकृत्रिम बना हुआ है। इस ही कारण इस द्वीपका नाम पुष्करार्धद्वीप रूढ हो रहा है। पुष्कर द्वीपके ठीक बीचमें कंकणके समान गोल सत्रह सौ इक्कीस (१७२१) योजन ऊंचा इससे चौथाई चार सौ सत्रातीस योजन गहरा दश सौ बाईस (१०२२) योजन मूलमें चौडा सात सौ तेईस (७२३) योजन मध्यमें चौडा और चार सौ चौवीस (४२४) योजन ऊपर चौडा मानुषोत्तर पर्वत पडा हुआ है। पुष्करार्ध द्वीपकी ओर भींतके समान एकसा उठ रहा है और परली ओर क्रमक्रमसे घटता हुआ शिखाऊ घुनक या पीलपायेके समान ∧ खडा हुआ है। इस मानुषोत्तर पर्वत करके आधा विभाग प्राप्त हो जानेसे इस द्वीपकी " पुष्करार्ध " संज्ञा यथार्थनामा है। कारण कि पुष्कर द्वीपका आधा ही पुष्करार्ध है, यों निरुक्तिद्वारा अच्छा कह दिया गया है। यहां पुष्करार्ध द्वीपमें भी धातकीखंडके समान वर्षधर पर्वत तो पहियेमें अरोंके समान अवस्थित हैं और अरोंके अन्तराल समान क्षेत्रमें भरत आदि वर्ष व्यवस्थित हैं। इस पुष्करार्धमें भीतरकी ओर कालोदधि समुद्र और परली ओर मानुषोत्तर पर्वतको स्पर्श कर रहे आठ लाख योजन दक्षिण उत्तर लम्बे पूर्वोक्त धातकी खण्डके चार लाख योजन लम्बे इष्वाकारोंके समान दो इष्वाकार पर्वत समझ लेने चाहिये। इनसे पुष्करार्धवलयके दो विभाग हो जाते हैं। पूर्व दिशा सम्बन्धी विभागके और पश्चिम दिशा सम्बन्धी विभागके मध्यमें वर्त रहे दो मेरु पर्वत हैं। मेरुओंपर चारों वन, पाण्डुकशिला, अकृत्रिम चैत्यालय आदिकोंका वर्णन अधिक मनोहारी है। पुण्यवान् जीवोंको उन चैत्यालयोंके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त होता है। पुष्करार्धमें गंगा, विजयार्ध, विभंगा, विदेह क्षेत्र, उत्तम भोगभूमियां आदिकी बडी सुन्दर रचना है। मानुषोत्तरमें पुष्करार्ध सम्बन्धी नदियोंके निकलनेके द्वार हैं। उनमेंसे निकलकर परले पुष्करार्धमें बहकर नदियां पुष्कर समुद्रमें मिल जाती हैं। इन सबका विस्तारसे प्रतिपादन हमने विद्यानन्द महोदय नामक महान् ग्रन्थमें कर दिया है। विस्तार रुचिवाले विद्वानों करके सम्पूर्ण विस्तृत रचनाकी वहांसे प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये। न्याय विषयकी प्रधानता होनेसे इस श्लोकवार्तिकमें आगमगम्य कतिपय सिद्धान्त विषयोंका ऊहापोह पूर्वक विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर—जो निर्णीत हुआ उसको आगेकी वार्त्तिकमें सुनो।

जम्बूद्वीपगवर्षादिविष्कंभादिरशेषतः।
सदा द्विर्धातकीखंडे पुष्करार्धे च मीयते ॥ १ ॥

जम्बूद्वीपमें प्राप्त हो रहे क्षेत्र, पर्वत, आदिकोंकी चौडाई आदिक तो परिपूर्ण रूपसे धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीपमें गणना द्वारा दो बार सदा नापी जाती है। वार्तिकमें पडा हुआ सदा शब्द तो जम्बूद्वीप, धातकीखण्डकी उक्त रचनाओंको अनादिनिधन घोषित कर रहा है। शेष मध्यलोक या ऊर्ध्वलोक, अधोलोककी, रचनायें भी अनादि, अनन्त हैं।

एकैनैकेन सूत्रेणोक्तं यथोदितसूत्रवचनात्।

मध्यवर्ती छोटेसे जम्बूद्वीपका वर्णन पचीस सूत्रों द्वारा किया गया है। किन्तु " बाहिरसूईवग्गं अब्भन्तरसूइवग्गपरिहीणं, जम्बूवासविभत्ते तत्तियमेत्ताणि खंडाणि " इस नियम अनुसार जम्बूद्वीपसे एक सौ चवालीस गुने धातकीखण्डका और जम्बूद्वीपसे ग्यारह सौ चौरासी गुने पुष्करार्ध द्वीपका निरूपण श्री उमास्वामी महाराजने एक एक सूत्र करके ही परिभाषित कर दिया है। अर्थात्—नामके भूखे और शरीरसे बडे महाशय सदासे ही छोटे और मझले पदार्थोंके मालको हडप लेते चले आये हैं। इस लोकदक्ष स्वार्थी पुरुषोंकी नीति अनुसार जम्बूद्वीपके लिये महामना श्री उमास्वामी महाराज द्वारा दिये गये अमृतमय पचीस सूत्रोंके बहुभाग प्रमेयको बडे पेटवाले धातकीखन्ड और पुष्करार्ध द्वीपने भी झपट लिया है और अपने लिये प्राप्त हुये सूत्रोंका बांट रत्तीभर भी इन्होंने किसीको नहीं दिया है। "संसृतौ व्यवहारस्तु न हि मायाविवर्जितः"। छोटोंका न्याय बडे करें। किन्तु बडोंका न्याय फिर कौन करें। वे न्यायरहित ही बचे रहते हैं। सच बात तो यह है कि समुद्रका जलपिण्ड छोटी छोटी बूंदो द्वारा ही निष्पन्न हुआ है। लोकमें बडप्पनकी स्पर्धा रखनेवाले पुरुषोंको छोटे छोटे पुरुषोंने ही वैसा बडा दिया है प्रकरणमें यह कहना है कि यथायोग्य पूर्ववर्ती पचीस सूत्रोंके निरूपणसे इन दो द्वीपोंकी ख्याति करनेमें बडे सहायता प्राप्त हो रही है।

कस्मात् पुनः पुष्करार्धनिरूपणमेव कृतमित्याह।

क्योंजी, फिर यह बताओ कि किस कारणसे पुष्कर द्वीपके आधेका ही निरूपण किया गया है। पूरे पुष्कर द्वीपमें क्यों नहीं भरत आदिकोंकी संख्या दूनी कही गयी है? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३६ ॥

पुष्कर द्वीपके ठीक बीचमें पडे हुये मानुषोत्तर पर्वतसे पहिले पहिले ही मनुष्य हैं। मानुषोत्तरके परली ओर मनुष्य नहीं हैं। अतः पुष्करार्धतक ही इस मनुष्य लोकसे मोक्षमार्ग व्यवस्था चालू रहती है। मानुषोत्तर पर्वतसे परली ओर विद्याधर या ऋद्धि प्राप्त मनुष्य भी सिवाय उपपाद और समुद्घात अवस्थाके बाहर नहीं पाये जा सकते हैं। तिर्यक्लोक या अधोलोक या ऊर्ध्वलोकसे आकर मनुष्य लोकमें जन्म लेनेवाले जीवके विग्रह गतिमें पहिले समय मनुष्य आयुका उदय है। यह उपपाद

अवस्था है। मनुष्य लोकका मनुष्य जीव बाहर जाकर मारणान्तिक समुद्घात या केवली समुद्घात करते हुये नृलोकसे बाहर भी चला जाता है। अन्यदा नहीं।

न परतो यस्मादित्यभिसंबंधः। मनुष्यलोको हि प्रतिपादयितुमुपक्रांतः स चेयानेव।

जिस मानुषोत्तर पर्वतसे परली ओर मनुष्य नहीं हैं, द्वीपोंमें केवल तिर्यंच ही पाये जाते हैं, उन द्वीपोंमें जघन्य भोगभूमिकीसी रचना है। हां, सबसे परली ओरका आधा द्वीप और पूरा स्वयम्भूरण समुद्र तथा त्रसनाली तक चारों कोने, यहां कर्मभूमि की रचना है। स्वयम्भूरमण द्वीपके उत्तरार्ध स्थल भागमें पांचवे गुणस्थानको धारने वाले भी असंख्याते तिर्यंच यहां पाये जाते हैं। चूंकि इस प्रकरणमें मनुष्य लोककी प्रतिपत्ति करानेके लिये उपक्रम चलाया गया है। अतः वह मनुष्य लोक तो पुष्करार्ध द्वीपपर्यंत पैंतालीस लाख योजन परिमाणवाला इतना ही है।

यद्येवं किंप्रकारा मनुष्यास्तत्रेत्याह।

कोई प्रश्न करता है कि यदि इसी ढंगसे मनुष्य लोककी व्यवस्था है तो बताओ उस ढाई द्वीपमें रहनेवाले मनुष्य कितने प्रकारके हैं? ऐसी बुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३७ ॥

आर्य और म्लेच्छ यों दो प्रकारके मनुष्य हैं। भावार्थ—यद्यपि संमूर्च्छन मनुष्य भी इन पर्याप्त मनुष्योंसे असंख्यातें गुणे अधिक इस जगत्में हैं। तथापि भूमिपर गमन करनेवाले या आकाशमें उडनेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा मानुषोत्तर पर्वतका उल्लंघन जो नहीं कर सकें ऐसे जीवोंकी विवक्षा अनुसार उक्त दो भेद ही मनुष्योंके किये हैं। संमूर्छन मनुष्य भी यदि देवों द्वारा पकड कर ले जाये जांय तो मानुषोत्तर पर्वतका उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। संमूर्छन मनुष्य तो इन पर्याप्त मनुष्योंके आश्रित होकर ही ठहरते हैं। अतः आर्य खण्डमें उपजी हुई कतिपय स्त्रियोंके निरूपणके समान ये गतार्थ हो जाते हैं। वस्तुतः यह पर्याप्त मनुष्योंका ही सूत्रण है। जिस प्रकार बिजलीके प्रवाह (करेन्ट) वाले तारको सर्वाङ्ग छूते हुये परली ओर मनुष्यका जाना नहीं हो सकता है, उसी प्रकार बलात्कारसे मानुषोत्तरके परली ओर जानेपर मनुष्य शरीर फट कर, टूट फूटकर, वहीं गिर पडेगा। आगे नहीं जा सकेगा।

एतदेव प्ररूपयति।

इस ही सूत्रकारके अभीष्ट सिद्धान्तको श्री विद्यानन्द स्वामी वार्त्तिक द्वारा कहे देते हैं।

प्राङ्मानुषोत्तराद्यस्मान्मनुष्याः परतश्च न।
आर्या म्लेच्छाश्च ते ज्ञेयास्तादृक्कर्मबलोद्भवाः॥ १ ॥

जिस कारणसे कि मानुषोत्तर पर्वतसे पहिले पहिले ही ढाई द्वीपमें मनुष्य हैं, किन्तु मानुषोत्तरके परली ओर मनुष्य नहीं हैं। तिस प्रकारके कर्मकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुये वे मनुष्य आर्य और म्लेच्छ समझ लेने चाहिये।

उच्चैर्गोत्रोदयादेरार्या, नीचैर्गोत्रादेश्च म्लेच्छाः।

तिस तिस प्रकारके पौद्गलिक कर्मों अनुसार आर्य अथवा म्लेच्छ मनुष्य उपज जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि संतान क्रमसे चले आ रहे उच्च आचरणके सम्पादक उच्चगोत्रका उदय हो जानेसे अथवा क्षेत्र, जाति, कर्म, आदिकी व्यवस्था अनुसार या गुणसेव्यता, भोगभूमि सम्बन्धी मनुष्य शरीर, आदि कारणोंसे आर्य मनुष्य हो जाते हैं। तथा नीच आचरणके सम्पादक नीच गोत्रका उदय, कुभोगभूमि या म्लेच्छ खण्डोंमें उत्पत्ति, नीच क्रियायें निर्लज्ज भाषण आदि निमित्तोंसे म्लेच्छ मनुष्य हो जाते हैं। भावार्थ—सर्वत्र अन्तरंग बहिरंग कारणोंसे ही प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति हो रही है। यद्यपि धोबी, नाई, लुहार, कुम्हार, आदिक शिल्पकर्मा आर्योंके शूद्र होनेके कारण नीच गोत्रका उदय माना गया है। तथा म्लेच्छ खण्डोंके मनुष्योंको भी संयमकी प्राप्ति हो सकनेके कारण उच्चगोत्रका उदय मानना पडेगा। क्योंकि " देसे तादियकसाआ णीचं एमेव मणुस सामण्णे " पांचवें गुणस्थानमें नीच गोत्रकी उदयव्युच्छित्ति हो जाती है तथापि बहुभाग आर्य मनुष्योंकी अपेक्षा उच्चगोत्रका उदय और बहुभाग म्लेच्छोंकी अपेक्षा नीच गोत्रका उदय मानना पडता है। राजवार्त्तिकमें नाऊ, धोबी, कुम्हार, को आर्योंमें गिना है और लब्धिसार ग्रन्थमें सकलसंयम लब्धिको धारनेवाले स्वामियोंके भेदका निरूपण करते समय " तत्तो पडिवज्ज गया अज्जमिलेच्छे मिलेच्छ अज्जेय। कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि संखं वा " इस गाथाकी टीकामें यों लिखा है कि " म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं संभवतीति नाशंकितव्यं, दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सहजातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात् अथवा तत्कान्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ व्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् "। म्लेच्छ भूमिमें उत्पन्न हुये मनुष्योंके सकल संयमका ग्रहण कैसे सम्भवता है ? यह आशंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि दिग्विजय करते समय चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमें चले आये और चक्रवर्ती, मण्डलेश्वर, आदिके साथ जिनका वैवाहिक सम्बन्ध हो गया है, अपनी या उनकी कन्यायें ले लीं, दे दीं, गई हैं, ऐसे म्लेच्छ राजाओंके संयमलब्धिकी प्राप्ति हो जानेका कोई विरोध नहीं है अथवा चक्रवर्ती आदिके साथ परिणाई गई कन्याओंके गर्भोंमें उत्पन्न हुये इन म्लेच्छ नामधारी मनुष्योंके सकलसंयम सम्भव जाता है। तिस प्रकारकी जातिवाले म्लेच्छ मनुष्योंकी दीक्षा योग्यतामें कोई प्रतिषेध नहीं है। सागारधर्मामृतमें " शूद्रोप्युपस्कराचार वपुःशुध्याऽस्तु तादृशः, जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् "। लिखा है श्री समन्तभद्राचार्यने " सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्, देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् " यों

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें घोषित किया है। श्री रविषेणाचार्यने पद्मपुराणमें " न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम्, व्रतस्थमपि चांडालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः " लिखा है। श्री अकलंकदेवने राजवार्तिकमें दशों प्रकारके सम्यग्दर्शनको धारनेवाले जीवोंको " दर्शनार्य " कहा है। ऐसी दशामें शूद्र या तिर्यंच अथवा म्लेच्छ भी आर्योंमें गिने जा सकते हैं। किन्तु सम्पूर्ण तिर्यंचोंके भले ही वे उत्तम भोगभूमियां क्यों न हो, श्री गोम्मटसारमें नीच गोत्रका ही उदय माना गया है। शूद्रोंके भी नीच गोत्रका उदय है। साथमें " जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः, येषां स्युस्ते त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः " यह सिद्धांत भी जागरूक है। सर्वथा म्लेच्छोंकेसे व्यवहारमें लवलीन होरहे यवन, खुरपल्टा, कसाई, चर्मकार, आदिको क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य कहा जा रहा है। शूद्र, श्रावक या तिर्यंच श्रावकको अल्प सावद्य कर्मा आर्योंमें गिनाया है। ऐसी पर्यालोचना करनेपर यह प्रतीत होजाता है कि आर्योंके उच्चगोत्रका उदय और म्लेच्छोंके नीचगोत्रका उदय मानना बाहुल्यकी अपेक्षा स्वरूप कथन मात्र है। लक्षण नहीं है। विशेषज्ञ विद्वान् इस पर और भी अधिक विचार कर सकेंगे।

प्राप्तर्द्धीतरभेदेन तत्रार्या द्विविधाः स्मृताः।
सद्गुणैरर्यमाणात्वाद्गुणवद्भिश्च मानवैः ॥ २ ॥
तत्र प्राप्तर्द्धयः सप्तविधार्धीमधिसंसृताः।
बुद्ध्यादिसप्तधा नाना विशेषास्तद्विशेषतः ॥ ३ ॥

उन मनुष्योंमें आर्य मनुष्य तो ऋद्धि प्राप्त और इतर यानी " जो ऋद्धि प्राप्त नहीं हैं " इन दो भेदों करके दो प्रकारके आम्नाय द्वारा माने गये हैं। आर्यशब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है कि समीचीन गुणों करके अथवा गुणवान् मनुष्यों करके जो सेवित होरहे हैं, इस कारण वे सेवनीय पुरुष आर्य मनुष्य कहे जाते हैं। उन आर्योंमें ऋद्धियोंको प्राप्त होचुके मनुष्य तो सात प्रकारकी ऋद्धियों पर अधिकार करते हुये ऋद्धियोंसे संगत होरहे हैं। अपने अपने उन भेद प्रभेदोंसे अनेक विकल्पोंको धार रहीं वे ऋद्धियां बुद्धि ऋद्धि, तप ऋद्धि, आदि सात प्रकार है।

ऋद्धिप्राप्तार्याः सप्तविधाः सप्तविधर्धीमास्रता हि ते। सप्तविधर्धिः पुनर्बुध्यादिस्तथाहि-बुद्धितपोविक्रियौषधरसबलाक्षीणर्द्धयः सप्त प्रज्ञापिताः नाना विशेषाश्च प्राप्तर्धयो भवंत्यार्यास्तद्विशेषात्। बुद्धिविशेषर्धिप्राप्ता हि बीजबुध्यादयः, तपोविशेषर्धिप्राप्तास्तप्ततपःप्रभृतयः, विक्रियाविशेषर्धिप्राप्ता एकत्वविक्रियादिसमर्थाः, औषधविशेषर्धिप्राप्ताः जल्लौषधिप्राप्तादयः, रसर्धिप्राप्ताः क्षीरस्रावित्वप्रभृतयः, बलविशेषर्धिप्राप्ता मनोबलत्वप्रभृतयः, अक्षीणविशेषर्धिप्राप्ताः पुनरक्षीणमहालयादय इति। अन्ये त्वाहुः ऋद्धिप्राप्तार्या अष्टविधाः बुद्धिक्रियाविक्रियातपोबलौषधरस-क्षेत्रभेदादिति। ते कुतः संभाव्या इत्याह।

जब कि वे ऋद्धियोंको प्राप्त होचुके आर्य सात प्रकारकी ऋद्धियोंके आश्रय होरहे हैं, इस ही कारण सात प्रकारवाले माने गये हैं सात प्रकारकी बुद्धि आदिक ऋद्धियां तो फिर यह हैं। उन हीको ग्रंथकार दिखलाते हैं। बुद्धिऋद्धि, तपऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, औषधऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि, अक्षीणऋद्धि, ये नाना प्रभेदवाली सात ऋद्धियां अच्छी जतायीं गयीं हैं। उन ऋद्धियोंकी विशेषतासे आर्य ऋद्धिको प्राप्त कर चुके होजाते हैं। बुद्धिऋद्धिके विशेष भेद हो रहीं बीजऋद्धि, कोष्ठऋद्धि, आदिको प्राप्त हो रहे आर्य हैं। इस कारण वे बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारी, संभिन्नश्रोता, आदि माने जाते हैं तथा तपोऋद्धिके विकल्प हो रहीं उग्रतप, दीप्ततप, तप्तऋद्धि आदिको प्राप्त हुये आर्य तप्ततपाः, महाघोरतपाः, उग्रतपाः, आदिक कहे जाते हैं और विक्रियाके विशेष हो रहीं ऋद्धियोंको प्राप्त हुये आर्य एकत्वविक्रिया, अणिमा, महिमा, गरिमा, आदि क्रियाओंको करनेमें समर्थ हो रहे स्मरण किये गये हैं एवं औषध ऋद्धिके विशेष अंशोंको प्राप्त हो चुके आर्य जल्लौषधिप्राप्त, मलौषधिप्राप्त, दृष्टिविष, आदि गाये गये हैं। रस ऋद्धिको प्राप्त हो रहे आर्य तो क्षीरास्रवी, मध्वास्रवी, आदिक हैं। मनोबली, वचनबली, आदिक आर्य जिनागममें बलके विशेष हो रहीं ऋद्धियोंको प्राप्त हुये समझे गये हैं। अक्षीण ऋद्धिके विकल्प होरहीं ऋद्धियोंको प्राप्त कर चुके आर्य मुनि फिर अक्षीण महालय आदिक बोले गये हैं। इस प्रकार ऋद्धि प्राप्त आर्योंके सात भेद हैं। दूसरे श्री अकलंक देव प्रभृति आचार्य ऋद्धि प्राप्त आर्योंको आठ प्रकार स्वीकार करते हैं। वे आठ प्रकार बुद्धिऋद्धि, क्रियाऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, तपऋद्धि, बलऋद्धि, औषधऋद्धि, रसऋद्धि, क्षेत्रऋद्धि इन आठ भेद वाली ऋद्धियोंके धारनेसे होजाते हैं। अर्थात्—उन सातोंका इन आठोंसे अविरोध है। क्रियाऋद्धिका विक्रिया ऋद्धिमें ही अंतर्भाव कर लिया जाता है। अक्षीण ऋद्धि और क्षेत्रऋद्धिका अभिप्राय एक ही है। प्रवक्ताओंकी वचनभंगी अनुसार भेद करनेमें शब्दकृत अंतर भले ही पड जाय, अर्थमें कोई अंतर नहीं है। चाहे अनुमानके प्रतिज्ञा, हेतु ये दो अवयव मान लिये जांय अथवा पक्ष, साध्य, हेतु, ये तीन अंग मान लिये जाय एक ही तात्पर्य बैठता है। यहां किसीका प्रश्न है कि वे ऋद्धियां या ऋद्धिधारी आर्य भला किस प्रमाणसे निर्णीत होकर संभावना करने योग्य हैं? प्रत्यक्ष प्रमाणसे अत्र, अधुना, ऋद्धिधारी मनुष्योंके दर्शन होना दुर्लभ है। एक बात यह भी पूंछनी है कि अष्ट महानिमित्तका ज्ञान अणु शरीर बना लेना, मेरुसे भी बडा शरीर बना लेना छोटेसे स्थानमें असंख्य जीवोंका निर्बाध बैठ जाना इत्यादिक ऋद्धियोंकी शक्तियां कैसे समझ ली जांय? यों जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान वचनको कहते हैं।

संभाव्यंते च ते हेतुर्विशेषवशवर्तिनः।
केचित्प्रकृष्यमाणात्मविशेषत्वात्प्रमाणवत् ॥ ४ ॥

वे ऋद्धिको प्राप्त हुये कितने ही एक आर्य (पक्ष) अपने अपने विशेष हेतुओंकी अधीनतासे वर्त रहे संते संभावित होरहे हैं (साध्य) तारतम्य मुद्रा अनुसार प्रकर्षको प्राप्त होरहे अपने अपने विशेष

स्वरूपोंका धारक होनेसे (हेतु) लम्बाई, चौडाई, मोटाई, रूप विशेषताओंको धारनेवाले परिमाणके समान (अन्वयदृष्टान्त) अथवा प्रमाण ज्ञानके समान । अर्थात्—जैसे परपदार्थोंकी अपेक्षा न्यून होते होते और आत्म विशुद्धिके बढते बढते जैसे ज्ञानमें प्रमाणता बढती जाती है, उसी प्रकार जीवोंमें ऋद्धि शक्तियां भी बढतीं जाती हैं। थोडे थोडे ज्योतिषविद्या, भूशास्त्र, स्वरशास्त्रके, जाननेवाले आजकल भी पाये जाते हैं । एक विद्यार्थी पहिली बार अष्टसहस्रीको छह महीनेमें पढता है । पुनः पाठको विचारता हुआ पन्द्रह दिनमें हृदयंगत कर लेता है । पश्चात् परिशीलन करता हुआ चार ही दिनमें पूरे अष्टसहस्री ग्रन्थका अनुगम कर लेता है । यों अभ्यास करते हुये वह छात्र परीक्षा कालमें अष्टसहस्रीके प्रमेयको अन्तर्मुहूर्त्तमें ही अनुगत कर लेता है । कबूतर, बिच्छूके मल, मूत्रमें, कितनी ही लाभदायक शक्तियां हैं । इन अवस्थामें या अधिक खानेपर शरीर फूल जाता है । चिन्ता, शोक, अवस्थामें शरीर कृष हो जाता है । शारीरिक वायुको वशकर प्राणायाम द्वारा कतिपय चमत्कार दिखा दिये जाते हैं । आकाश या जलमें मनुष्यका चलना बन सकता है । अनेक जीवोंका वशमें कर लेना कोई अशक्य नहीं है । कई साधुओंकी घोर तपस्या प्रसिद्ध है। मांत्रिक, तांत्रिक, पुरुषोंके देखने मात्रसे कतिपय विष उतर जाते है। हां, उत्कट तपस्यावोंको आचरनेवाले आर्य मुनियोंके उक्त ऋद्धियां अत्यधिक रूपसे बढ जाती हैं । जो अतिशय क्रम क्रमसे बढ रहा है । वह आकाशमें परिमाणके समान पूर्ण प्रकर्षताको भी प्राप्त कर लेता है । जब कि जड पदार्थ ही विज्ञान प्रयोग अनुसार अनेक चमत्कारोंको कर रहे हैं, तो अनन्तशक्तिवाले आत्माकी ऋद्धियोंके साधनेमें कोई संशय नहीं रह जाता है ।

यथा परिमाणमापरमाणोः प्रकृष्यमाणस्वरूपमाकाशे परमप्रकर्षपर्यंतप्राप्तं सिद्ध्यत्तदंतराले अनेकधा परिमाणप्रकर्षं साधयति तथा सर्वजघन्यज्ञानादिगुणर्धिविशेषादारभ्यर्धिविशेषः प्रकृष्यमाणस्वरूपं परमप्रकर्षपर्यंतमाप्लवन्नंतरालर्धिविशेषप्रकर्षं साधयतीति संभाव्यंते सर्वे बुध्यतिशयर्धिविशेषादयः परमागमप्रसिद्धाश्चेति न किंचिदनुपपन्नं। के पुनरसंप्राप्तर्धय इत्यावेदयति ।

जैसे कि प्रत्येक द्रव्यमें पाये जा रहे प्रदेशवत्त्व गुणका विवर्त लम्बाई, चौडाई मोटाई, रूप परिमाणसे जैसे एक प्रदेशी परमाणुसे प्रारम्भ कर अपने अपने शनैः शनैः बढ रहें स्वरूपको धार रहा सीमापर्यन्त पहुंचकर आकाशमें परमप्रकर्षको प्राप्त हो चुका सिद्ध हो जाता है और उसके अन्तरालमें पाये जानेवाले अनेक प्रकार परिमाणोंके प्रकर्षको साध देता है । अर्थात—सबसे छोटा परिमाण परमाणुका है और आकाशका सबसे बडा नाप है। बिचले घट, गंगानदी, जम्बूद्वीप, स्वयंभूरमण समुद्र, लोकाकाश ये मध्यम परिमाणवाले हैं । उस ही प्रकार सबसे छोटे लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीवके जघन्यज्ञान, अत्यल्प कायबल, आदि गुणस्वरूप ऋद्धि विशेषोंसे प्रारम्भ कर बुद्धि, बल, आदि ऋद्धियोंके विशेष भला अपने बढ रहे स्वरूपके परम प्रकर्ष पर्यन्त प्राप्त हो रहे सन्ते अन्तरालवर्ती ऋद्धिविशेषोंके प्रकर्षको साध देते हैं । इस ढंगसे सभी बुद्धिका अतिशय रूप विशेष ऋद्धि या

विक्रिया विशेष ऋद्धि, बल ऋद्धि, आदिको धारनेवाले आर्य मनुष्य सम्भावित हो रहे हैं। यों अनुमानसे ऋद्धिधारी मनुष्योंकी सिद्धि हो रही है। तथा सर्वज्ञ आम्नायसे प्राप्त हुये सर्वोत्कृष्ट आगम प्रमाण द्वारा भी ऋद्धिप्राप्त आर्य प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार कोई भी ऋद्धि या ऋद्धिधारियोंकी अनुपपत्ति नहीं है। यहां कोई पुनः प्रश्न उठाता है कि ऋद्धिप्राप्त आर्य मनुष्योंको हम निर्णीत कर चुके हैं। अब महाराज फिर यह समझाइये कि वे ऋद्धियोंकी भले प्रकार प्राप्तिसे रहित हो रहे आर्य भला कौनसे मनुष्य हैं? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्त्तिक द्वारा समाधानका विज्ञापन करते हैं।

असंप्राप्तर्धयः क्षेत्राद्यार्या बहुविधाः स्थिताः।
क्षेत्राद्यपेक्षया तेषां तथा निर्णीतियोगतः ॥ ५ ॥

ऋद्धियोंकी सम्प्राप्तिसे रीते हो रहे दूसरे आर्य तो क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, इत्यादिक बहुत भेद, प्रभेदवाले व्यवस्थित हो रहे हैं। क्षेत्र, कर्म, आदिकी अपेक्षा करके उन मनुष्योंका तिस प्रकार क्षेत्रसे आर्य, जातिसे आर्य, आदि स्वरूपोंकरके निर्णय हो जानेका योग मिल रहा है।

क्षेत्रार्या, जात्यार्याः, कर्मार्याश्चारित्रार्या, दर्शनार्याश्चेत्यनेकविधाः क्षेत्राद्यपेक्षया अनृद्धिप्राप्तार्याः प्रत्येतव्या तथा प्रतीतियोगात्।

क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य, दर्शनार्य, इस ढंगसे क्षेत्र आदिककी अपेक्षा करके अनेक विकल्पवाले ऋद्धि प्राप्तिसे शून्य हो रहे आर्य समझ लेने चाहिये। क्योंकि तिस प्रकारकी प्रतीतियोंका योग पाया जा रहा है। अर्थात्—इस आर्यखण्डमें काशी देश, अवधप्रान्त, विहार प्रदेश, आदिमें जन्म लेकर बस रहे मनुष्य तो क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य हैं। इक्ष्वाकुवंश, नाथवंश आदि कुलोंमें उत्पन्न हुये पुरुष जाति अपेक्षा आर्य हैं। पाप कर्मा, अल्प पापकर्मा और निष्पापकर्मा, की अपेक्षा कर्मार्योंके तीन भेद हैं। यों—अध्ययन, अध्यापन, असि, मषी, आदि कर्मोंके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णवाले मनुष्य या श्रावक, मुनि, भी कर्म आर्य हैं। चारित्र पालनेकी अपेक्षा ग्यारहवें, बारहवें, गुणस्थानवर्त्ती मनुष्य अथवा अन्य भी चारित्रवान् पुरुष चारित्र आर्य हैं। दश प्रकारके सम्यग्दर्शनको धारनेवाले दर्शन आर्य हैं।

के पुनर्म्लेच्छा इत्याह।

आर्योंकी प्रतिपत्ति हो चुकनेपर कोई शिष्य पूंछता है कि फिर म्लेच्छ मनुष्य कौनसे हैं? यों जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिक द्वारा समाधान वचनको कहते हैं।

तथान्तर्द्वीपजा म्लेच्छाः परे स्युः कर्मभूमिजाः।
आद्याः षण्णवतिः ख्याता वार्धिद्वयतटद्वयोः ॥ ६ ॥

तथा अंतर्द्वीपोंमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ हैं और उनसे न्यारे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये तिस प्रकारके दूसरे म्लेच्छ मनुष्य हैं। आदिमें कहे गये अंतर्द्वीपवासी म्लेच्छ तो लवण, कालोदधि, दोनों समुद्रोंके भीतरले, बाहरले, उभय तटोंपर बने हुये छियानवें अंतर्द्वीपोंमें निवास कर रहे बखाने गये हैं।

म्लेच्छा द्विविधाः अंतर्द्वीपजाः कर्मभूमिजाश्च। तत्राद्यास्तावल्लवणोदस्योभयोरष्टचत्वारिंशत् तथा कालोदस्य इति षण्णवतिः।

म्लेच्छ दो प्रकारके हैं। एक अंतर्द्वीपोंमें उत्पन्न हुये और दूसरे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ हैं। उन दोनों भेदोंमें आदिमें कहे गये मनुष्य तो लवणसमुद्रके दोनों तटोंपर अडतालीस द्वीप और तिस ही प्रकार कालोदधि समुद्रके दोनों तटोंपर जलमें उभर रहे अडतालीस द्वीप यों छियानवै द्वीपोंमें निवास कर रहे हैं। एक एक द्वीपमें लाखों म्लेच्छ निवास करते हैं। भावार्थ—जंबूद्वीपकी वेदीसे तिरछा चलकर आठ दिशा, विदिशाओंमें लवण समुद्रमें भीतर आठ अंतरद्वीप हैं और उनके बीच बीचमें आठ न्यारे द्वीप हैं एवं हिमवान् पर्वतके दोनों ओर, शिखरी पर्वतके दोनों ओर, दो विजयार्धोंके दोनों ओर, यों आठ द्वीप अन्य भी हैं। लवण समुद्रके बाहरले पसवाडेमें भी इसी प्रकार चौवीस द्वीप बन रहे हैं। दिशाओंमें बने हुये द्वीप तो रत्नवेदिकासे तिरछे पांचसौ योजन समुद्रमें घुसकर सौ योजन विस्तारवाले हैं तथा विदिशा और अंतरालोंमें बने हुये द्वीप तो जंबूद्वीपकी वेदीसे तिरछा साढे पांच सौ योजन जानेपर पचास योजन विस्तारवाले हैं। पर्वतोंके अंतमें जो द्वीप माने गये हैं वे छह सौ योजन समुद्रमें उरलीपार और परलीपारसे घुसकर पचीस योजन विस्तारवाले निर्मित हैं। इसी प्रकार कालोदधि समुद्रमें भी अडतालीस द्वीप बने हुये हैं। अंतर इतना ही है कि धातकीखंडके हिमवान् पर्वत और उसके निकटवर्ती विजयार्ध दोनोंकी रेखाओंके अनुसार कालोदधिमें एक अंतरद्वीप है। इस ही रेखा अनुसार परली ओर एक द्वीप है यही दशा शिखरीपर्वत और उसके विजयार्धके संबंधमें लगा लेना चाहिये। इन अंतर द्वीपोंमें पूंछवाले, सींगवाले, गूंगे आदि कई विकृत आकृतिओंको धार रहे म्लेच्छ मनुष्य निवास करते हैं। ये द्वीप जलतलसे एक योजन ऊंचे उठे हुये हैं। इन द्वीपोंको कुभोगभूमिमें भी कह दिया जाता है।

ते च केचिद्भोगभूमिसमप्रणिधयः परे कर्मभूमिसमप्रणिधयः श्रूयमाणाः कीदृगायुरुत्सेधवृत्तय इत्याचष्टे।

तथा वे म्लेच्छ कोई कोई तो द्वीपवर्तिनी भोगभूमियोंकी समान रेखा अनुसार निकटवर्ती होरहे हैं और कोई दूसरे अंतर्द्वीपवासी म्लेच्छ जो कि कर्मभूमियोंके निकटसमकोटीपर बने हुये अंतर्द्वीपोंमें निवास कर रहे सुने जा रहे हैं। किसीका प्रश्न है कि भला उनकी आयु या शरीरकी ऊंचाई तथा प्रवृत्तियां किस प्रकारकी है? ऐसी प्रतिपित्सा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिक द्वारा समाधान वचनका व्याख्यान करते हैं।

भोगभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयोभोगभूमिभिः ।
समप्रणिधयः कर्मभूमिवत्कर्मभूमिभिः ॥ ७ ॥

भोगभूमियोंकी समरेखापर निकटवर्ती बन रहे अन्तर्द्वीपोंमें निवास करनेवाले म्लेच्छ तो भोगभूमिवाले जीवोंके समान आयुष्य, ऊंचाई और प्रवृत्तिको धार रहे हैं तथा कर्मभूमियोंकी निकटवर्तिनी समरेखापर लवणसमुद्र या कालोदधिमें बने हुये अन्तर्द्वीपोंमें निवास कर रहे म्लेच्छोंकी आयु या शरीरकी ऊंचाई तथा भोजनादिकी प्रवृत्तियां कर्मभूमिवाले जीवोंकी आयु, ऊंचाई, और प्रवृत्तियोंके समान है। किन्तु कर्मभूमिके समान उन म्लेच्छोंमें देशव्रत या महाव्रत नहीं पाये जाते हैं।

भोगभूमिभिः समानप्रणिधयोतर्द्वीपजा म्लेच्छा भोगभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयः प्रतिपत्तव्याः, कर्मभूमिभिः समप्रणिधयः कर्मभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयस्तथा निमित्तसद्भावात्।

भोगभूमियोंकी समाननिकटतावाले अन्तर्द्वीपोंमें उपजे हुये म्लेच्छ तो उन उन भोगभूमियोंके जीवोंकी आयु, ऊंचाई, प्रवृत्तिके समान आयुष्य उच्चता, प्रवृत्तियोंको धार रहे समझ लेने चाहियें। और कर्मभूमियोंकी समप्रणिधिवाले म्लेच्छ तो उस कर्मभूमिमें नियत हो रही आयु, ऊंचाई, प्रवृत्तियोंके अनुसार आयु, शरीरोत्सेध, और प्रवृत्तियोंको धार रहे हैं। क्योंकि तिस प्रकारके निमित्त कारणों का सद्भाव है। कारणके विना किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। जैसे पुण्य, पाप, उन भोगभूमि या कर्मभूमिमें जन्म ले चुके मनुष्योंके हैं, उस ही प्रकारके कुछ न्यूनाधिक पुण्य, पाप, उन उन भूमियोंके निकटवर्ती अन्तरद्वीपोंके निवासी म्लेच्छ मनुष्योंमें भी पाये जाते हैं। जैसा कारण होगा वैसा कार्य बन जायगा, यह निर्णीत सिद्धान्त है।

अथ के कर्मभूमिजा म्लेच्छा इत्याह।

अब इसके अनन्तर कोई प्रश्न पूछता है कि दोनों प्रकारके आर्योंको मैं समझ चुका हूं, दो प्रकारके म्लेच्छोंमें अन्तर द्वीपके म्लेच्छोंकी प्रतिपत्ति भी की जा चुकी है। अब महाराज, यह बतलाओ कि दूसरे प्रकारके कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ भला कौन है? इस प्रकारकी जिज्ञासा होनेपर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः ।
स्युः परे च तदाचारपालनाद्बहुधा जनाः ॥ ८ ॥

और वे दूसरे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ तो यवन, शबर, पुलिन्द, किरात, बखर, आदिक प्रसिद्ध ही हैं, जो कि बहुत प्रकारके चाण्डाल आदि मनुष्य उन म्लेच्छोंके आचारको पालनेसे म्लेच्छ ही समझे जाते हैं। अर्थात्—जिन जातियोंमें मद्य, मांस, आदिक कुकर्मोंसे घृणा नहीं है, धर्म,

अधर्म, या भक्ष्य, अभक्ष्यका, विवेक नही है, वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं है, धर्मको व्रत समझ कर नहीं पालते हैं, उन जातियोंके मनुष्य भले ही क्षेत्र आर्य क्यों न होंय, म्लेच्छोंमें ही परिगणित किये जाते हैं।

कुतः पुनरेवमार्यम्लेच्छव्यवस्थेत्याह।

महाराज, फिर यह बताओ कि जगत्में मनुष्योंके इस प्रकार आर्यपन या म्लेच्छपनकी व्यवस्था भला किस कारणसे नियत हो रही है ? यों जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज समाधान वचनको कहते हैं।

संप्रदायाव्यवच्छेदादार्यम्लेच्छव्यवस्थितिः।
संतानेन विनिश्चेया तद्विद्भिर्व्यवहारिभिः ॥ ९ ॥
स्वयं संवेद्यमाना च गुणदोषनिबंधना।
कथंचिदनुमेया च तत्कार्यस्य विनिश्चयात् ॥ १० ॥

सन्तानक्रम अनुसार उन आर्य या म्लेच्छ पुरुषोंको जाननेवाले व्यवहारी मनुष्यों करके सम्प्रदायका नहीं टूटना होनेसे आर्य और म्लेच्छ मनुष्योंकी व्यवस्थाका संतान प्रतिसंतान रूप करके विशेषतया निर्णय कर लेना चाहिये। यों वृद्धपरम्परासे चले आ रहे आप्तवाक्यों द्वारा मनुष्योंमें आर्यपन या म्लेच्छपनका नियत बना रहना जान लिया जाता है तथा प्रत्यक्ष द्वारा भी गुण और दोषोंको कारण मानकर हुई आर्यव्यवस्था या म्लेच्छव्यवस्थाका स्वयं सम्वेदन किया जा रहा है। जिन पुरुषोंमें धर्मकर्मविचार, असि, मषी, आदि प्रवृत्तियां, गुरुविनय, पापभीरुता, आदि गुण हैं, वे आर्य मनुष्योंके यहां अपनी अपनी आत्मामें आर्य मनुष्य अनुभवे जा रहे हैं। धर्म कर्मको स्वीकार नहीं करना, आस्तिकोंकी निन्दा, मद्य मांस आदिका सेवन आदि दोष जिन मनुष्योंमें हैं, वे जातियां स्वयं अपनेको म्लेच्छरूपसे सम्वेदन कर रही हैं। तथा उन आर्य मनुष्य और म्लेच्छ मनुष्योंके अव्यभिचारी कार्योंका विशेषतया निश्चय हो जानेसे आर्यम्लेच्छव्यवस्था किसी ढंगसे अनुमान द्वारा भी जानी जा सकती है। यों आगमप्रमाण प्रत्यक्षप्रमाण या अनुमान प्रमाणसे जगत्में आर्य, म्लेच्छव्यवस्था नियत हो रही ज्ञात कर ली जाती है। जब कि आम्रफल, चावल, गेंहू, घोडा, बैल, कबूतर, आदिकी निकृष्ट और प्रकृष्ट जातियोंका परिचय हो रहा है तो विशेषज्ञों करके आर्य, म्लेच्छ व्यवस्थाका निर्णय भी सुलभ है। यदि दूर देशके मनुष्य या मायाचारी मनुष्यके आर्यत्व अथवा म्लेच्छत्वका किसी व्यक्तिको निर्णय नहीं होय तो यह उस व्यक्तिकी प्रज्ञाका दोष है। आर्यत्व, म्लेच्छत्व, परिणतिओंमें कोई त्रुटि नहीं है। अनुभवगम्य या प्रत्यक्षज्ञानगम्य अनेक सूक्ष्म विषयोंमें अल्पज्ञोंको अज्ञान या भ्रान्ति हो जाती है।

न संप्रदायाव्यवच्छेदोऽसिद्धस्तद्विदां नास्तिकसंप्रदायाव्यवच्छेदवत्, नाप्यप्रमाणं सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्तद्वत्। ततः संतानेनार्यम्लेच्छव्यवस्थितिस्तद्विद्भिर्निश्चेतव्या। नास्तिकसंतानव्यवस्थितिवत्। सर्वः सर्वदार्यत्वम्लेच्छत्वशून्यो मनुष्यसंतान इत्यत्रापि संप्रदायाव्यवच्छेद एव नास्तिकानां शरणं प्रत्यक्षानुमानस्य च तत्राव्यापारात्। यथा चाहं नास्तिकस्तथा सर्वे पूर्वकालवर्तिनो नास्तिका जात्यादिव्यवस्थानिराकरणपरा इत्यपि संप्रदायादेवाविच्छिन्नादवगंतव्यं नान्यथा। अयमेव संप्रदायः प्रमाणं न पुनरार्यम्लेच्छव्यवस्थितिप्रतिपादक इति मनोरथमात्रं प्रतीत्यभावात्।

आम्नायका ज्ञान रखनेवाले पुरुषोंके यहां धाराप्रवाह रूपसे चली आ रही सम्प्रदायका नहीं टूटना असिद्ध नहीं है, जैसे कि नास्तिकपनेकी सम्प्रदायका व्यवच्छेद नहीं होना असिद्ध नहीं है। अर्थात्—जो नास्तिकजन सभी मनुष्योंमें आर्यपन और म्लेच्छत्वको स्वीकार नहीं कर रहे, यों बखानते हैं कि हम सम्पूर्ण मनुष्योंको एकसा मानते हैं, जाति, कुल, कुलीनता, कोई वस्तु नहीं है। पुरुषापंक्तिसे हमारे यहां ऐसा ही नास्तिकपनेका प्रवाद चला आ रहा है। उन नास्तिकोंके यहां भी अपनी इष्ट सम्प्रदायका नहीं टूटना अभिप्रेत किया गया है। उसीको दृष्टान्त बनाकर श्री विद्यानन्द आचार्यने सम्प्रदाय अनुसार आर्यपन और म्लेच्छपनकी व्यवस्थाको साध दिया है। तथा वह आर्यपन और म्लेच्छपनकी सम्प्रदायका अव्यवच्छेद (पक्ष) अप्रमाण भी नहीं है (साध्य), बाधकोंके असम्भव होनेका अच्छा निश्चय हो चुकनेसे (हेतु) जैसे कि नास्तिकोंने अपने नास्तिकपनके सम्प्रदायकी अटूटको अप्रमाण नहीं माना है (अन्वयदृष्टान्त)। अथवा वास्तविक रूपसे विचार करनेपर नास्तिकपनके सम्प्रदायका नहीं टूटना अप्रमाण भी है और उसके बाधकप्रमाणोंका सद्भाव भी निर्णीत हो रहा है। ऐसी दशामें नास्तिक सम्प्रदायका अव्यवच्छेद व्यतिरेकदृष्टान्त माना जा सकता है। सम्प्रदायाव्यवच्छेदरूप तिस निर्दोष हेतुसे मातापिताओंकी सन्तान द्वारा आर्यम्लेच्छव्यवस्थाका उस उस सम्प्रदायके जाननेवाले पुरुषाओं करके निर्णय कर लेना चाहिये, जैसे कि नास्तिकपिता, पितामह, प्रपितामह, आदिकी सन्तान द्वारा नास्तिकपनकी व्यवस्था उनके यहां निर्णीत हो रही है। जो कोई नास्तिक यों कह रहे हैं कि मनुष्योंकी आगे पीछे यहां वहांकी सम्पूर्ण सन्तानें सदासे ही आर्यपन म्लेच्छपनसे शून्य हैं, ग्रन्थकार कहते हैं कि यों इस सिद्धान्तके करनेमें भी तो नास्तिकोंको सम्प्रदायके अव्यवच्छेदका ही शरण लेना पडेगा। तभी पुरुषाओंसे चली आ रही किम्वदन्ती अनुसार वे सम्पूर्ण मनुष्योंमें आर्यम्लेच्छरहितपनेका ज्ञान कर सकेंगे। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण और अनुमानप्रमाणका उस आर्यपन या म्लेच्छपनकी शून्यताको जाननेमें व्यापार नहीं है। वह नास्तिक यदि अनुमान भी बनायगा तो सम्प्रदायकी सामर्थ्यके भरोसेपर ही यों बन सकता है कि जिस प्रकार कि मैं नास्तिक हूं उसी प्रकार पूर्वकालोंमें वर्तनेवाले सम्पूर्ण मनुष्य भी जाति, क्षेत्र, कुल, आदिकी व्यवस्थाके निराकरणमें तत्पर हो रहे

नास्तिक ही थे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी तो अविच्छिन्न हो रही सम्प्रदायसे ही नास्तिकको समझना पडेगा, अन्य प्रकारोंसे वह पूर्वकालवर्ती या क्षेत्रान्तरवर्ती अथवा चाहे किसी भी कर्ममें लग रहे मनुष्योंके नास्तिकपनका निर्णय कथमपि नहीं कर सकता है। नास्तिकवादी यदि ढिंढोरा पीटकर यों ही आग्रह करता फिरे कि यह मेरा सम्प्रदाय ही प्रमाण है, किन्तु फिर सनातन या स्याद्वादियोंका आर्यम्लेच्छ व्यवस्थाको प्रतिपादन कर रहा सम्प्रदाय तो प्रमाण नहीं है, आचार्य कहते हैं कि यह नास्तिकका केवल मनोरथ ही है। इसमें यथार्थता अणुमात्र भी नहीं है। क्योंकि नास्तिकके सम्प्रदाय में प्रमाणपन और आर्यम्लेच्छप्रतिपादक आम्नायमें अप्रमाणपनकी व्यवस्थाको करानेवाली प्रतीतियोंका अभाव है।

जातमात्रस्य जंतोरार्येतरभावशून्यस्य प्रतीतेः प्रमाणं तद्भावाभावविषयः संप्रदाय इति चेन्न, तस्याप्यार्येतरभावप्रसिद्धेरन्यथा व्यवहारविरोधात्। कल्पनारोपितस्तद्व्यवहार इति चेत्, तन्निर्बीजायाः कल्पनाया एवासंभवात् क्वचित्कस्य चित्तत्त्वतः प्रसिद्धस्याऽन्यत्रारोपो हि कल्पना दृष्टा विकल्पमात्रम्वा गत्यंतराभावात् उभयथा चार्येतरभावकल्पनायां वास्तवी तद्भावसिद्धिः।

नास्तिक पण्डित कह रहा है कि बुद्धिमान् या वृद्ध पुरुषोंकी तो बात ही क्या है, केवल थोडे दिनोंके उत्पन्न हुये मनुष्य या पशुपक्षियों तकको आर्यपन और उससे न्यारे म्लेच्छपनकी रहितपनकी अपनेमें और अन्य प्राणियोंमें प्रतीति हो रही है। इस कारण उस आर्यपन म्लेच्छपन परिणतिके अभावको विषय कर रहा हम नास्तिकोंका सम्प्रदाय तो प्रमाण है। तुम आस्तिकोंका सम्प्रदाय प्रमाण नहीं है। अर्थात्——अन्धश्रद्धावाले अतिवृद्धपुरुष भले ही आर्यपन म्लेच्छपनको कहें जावें, किन्तु यावत् प्राणियोंमें आर्यपन, म्लेच्छपन, स्वजाति, कुलीनता, उच्चवर्णपना, नीच वर्णपना आदिकी प्रतीति नहीं हो रही है। आर्योंके शरीरमें कोई दूध नहीं भरा है और म्लेच्छ या चाण्डालोंकी देहमें कीच नहीं भर गई है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस उत्पन्न हुये प्राणिमात्रको भी आर्यपन और उससे न्यारे म्लेच्छपनकी प्रसिद्धि हो रही है। अन्यथा आर्यव्यवहार या म्लेच्छव्यवहारका विरोध हो जायगा। देखो, चमार, कोरियोंके छोकरा भी अपनेमें नीचगोत्रका अनुभव कर रहा है, जब कि उच्च आचरणवाले त्रैवर्णिक पुरुष अपनेमें संतान क्रमसे चली आ रही उच्चगोत्र व्यवस्थाका सम्वेदन किये जा रहे हैं। कुलीनताका प्रभाव आता है, पर आता है। यदि नास्तिकवादी यों कहे कि वह आर्यपन म्लेच्छपनका व्यवहार तो झूंठी कल्पनाओंसे आरोपा गया है। वास्तविक परिणामोंकी भित्तिपर अवलम्बित नहीं है, यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि उस व्यवहारकी बीजरहित कल्पनाका ही असम्भव है। उत्पादक वस्तुभूत बीजका सहारा पकडकर ही कल्पना की जा सकती है। कल्पनाका लक्षण यह है कि कहीं न कहीं स्थलपर वास्तविक रूपसे प्रसिद्ध हो रहे किसी न किसी पदार्थका अन्य पदार्थमें आरोप कर लेना ही कल्पना करना देखा गया है,

जैसे कि सत्य होरहे सिंहपशुकी मिट्टीके खिलौनेमें या शूरवीर पुरुषमें कल्पना कर ली जाती है । अथवा विकल्पज्ञान करनेको भी कल्पना कह सकते हैं जैसे कि जहां जहां धूम होता है, वहां अग्नि होनी चाहिये, दिनमें नहीं खाते जो मोटे शरीरवाले होंगे वे जीव रातको अवश्य खाते होंगे, यह चंचल बालक अग्नि है, बोझ ढोनेवाला मनुष्य बैल है, सिद्ध परमात्मा शरीररहित होंगे, प्रत्येक उद्योगी मनुष्यको कुछ न कुछ धुन चढी रहती है, इत्यादि विकल्पोंका उठाना भी कल्पना है । उक्त दो लक्षणोंके अतिरिक्त तीसरा कोई उपाय कल्पनाका नहीं है। अतः दोनों प्रकारसे आर्यपन और म्लेच्छपनकी कल्पना करनेमें नास्तिकके यहां वास्तविक उस आर्यपन या म्लेच्छपनकी सिद्धि होजाती है । कोई खटका नहीं रहा ।

प्रधानाद्वैतादिकल्पनानामपि हि निर्बीजानामनुपपत्तिरेव सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थस्य प्रधानत्वेन नराधिपादौ प्रसिद्धेनाध्यारोपस्य प्रधानकल्पनात्वात् । कचिच्चैकत्वस्याद्वैतस्य प्रमाणतः सिद्धस्य सर्ववस्तुष्वध्यारोपणस्याद्वैतकल्पनात्वादन्यथा तदसंभवात् ।

नास्तिक यदि यों आक्षेप करें कि जब सभी कल्पनायें वस्तुभूत परिणतियोंके अनुसार वास्तविक सिद्ध होजायंगी तब तो सांख्यमतियोंके यहां निर्णीत किये गये प्रधानकी कल्पना भी यथार्थ बन बैठेगी । वेदांतियोंने ब्रह्माद्वैतको स्वीकार किया है । जैनोंने उसको ब्रह्माद्वैतकी कल्पना करना ठहराया है । ऐसी दशामें वह ब्रह्माद्वैत भी वस्तुभूत बन बैठेगा । इसी प्रकार ईश्वर, अल्लाह, ईसा या नरसिंह, गजानन, बुद्ध, आकाशपुष्प आदि की कल्पनायें भी परमार्थ बन जायेंगी । सत्य झूंठका विवेक उठ जायगा । कोई भी मतानुयायी अन्य मतावलम्बीका खंडन नहीं कर सकेगा, ऐसा आक्षेप उत्पन्न होय, इसके प्रथम ही ग्रंथकार बहुत अच्छा सिद्धांतसमाधान करे देते हैं कि प्रकृति, ब्रह्माद्वैत, ज्ञानाद्वैत, ईश्वरकर्तृत्व, आदिक कल्पनाओंकी भी विना बीजके सिद्धि नहीं हो पाती है । कारण कि सांख्योंने " सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः " सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, इनकी समानताको लिये हुये जो अवस्था है उसको प्रकृति माना है । प्रकृति कहो चाहे प्रधान कहो एक ही अर्थ है । वह प्रधानपना राजा, सभापति, जज आदिमें वास्तविक प्रसिद्ध होरहा है । सांख्योंने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणकी साम्य अवस्थामें उसका अध्यारोप कर प्रधानकी कल्पना कर ली है । इसी प्रकार किसी एक आकाश या सुदर्शन मेरु अथवा अन्य किसी अकेले अनुपम पदार्थमें अद्वैतस्वरूप एकत्व की प्रमाणोंसे सिद्धि की जाचुकी है । ब्रह्माद्वैतवादियोंने उस प्रमाणसिद्ध एकत्वका संपूर्ण वस्तुओंमें अध्यारोप कर अद्वैत की कल्पना उठाली है। क्योंकि अन्य प्रकारोंसे उस कल्पनाका असंभव है । भावार्थ—कतिपय पदार्थोंका कर्त्तापन मनुष्य या पशुओंमें देखा जाता है। नैयायिकोंने शुद्ध आत्मामें यावत् कार्योंका कर्त्तापन झूंठमूठ गढलिया है। अल्लाह या ईसा भी कोई विशेष पुरुष हुये हैं, उनके भक्तोंने उनमें मोक्षदायकत्व, व्यापकत्व, जगत्कर्तृत्व आदिक धर्म मनमाने गढ लिये हैं। मनुष्यके धड और हाथीके शिरका योग होकर एक जीवका अनेक दिनोंतक जीवित रहना असम्भव है । फिर भी प्राकृत सिद्धान्तोंका नहीं विचार करनेवाले गणेशभक्तोंने वास्तविक

मनुष्यका धड और दूसरे वास्तविक गजमस्तककी भित्तिपर एक गजाननकी कल्पना कर ली है। इसी प्रकार मनुष्य और सिंहका योग बनाकर नरसिंह अवतार कल्पित किया गया है। वृक्षपर आकाशमें लटक रहा या आकाशमें उछल रहा आकाशका फूल कल्पित हो जाता है। घी का घडा रुपयोंका वस्त्र, ये सब कल्पनायें वास्तविक परिणतियोंके अनुसार कहींसे कहीं आरोप दी गयी हैं। मण्डूकशिखा, कच्छपरोम, आदिक सर्वथा असम्भव माने जा रहे पदार्थोंकी कल्पनायें भी जब वस्तु भित्तिपर उठी हुयीं साध दी गयीं हैं तो प्रधान, ब्रह्माद्वैत, सन्निकर्षप्रमाणता, निर्गुणमोक्ष, क्षणिकवाद, कूटस्थता आदिक कुछ सम्भव और कुछ असम्भव हो रहे पदार्थोंकी कल्पना तो सुलभतया बीजभित्तिसहित साधी जा सकती है तथा परिपूर्ण रूपसे वस्तुभूत परिणतिओं अनुसार सम्भव रही आर्यत्व, म्लेच्छत्व, उच्चगोत्रता, नीचगोत्रता आदिकी कल्पना तो अतीव सुलभतासे समझायीं जा सकतीं हैं। मनुष्यपन, पशुपन, या सदाचार, असदाचार, अथवा अपराध, अनपराधका विवेक रखनेवालोंके सन्मुख आर्यपन म्लेच्छपनका निर्णय सुकर है।

कथं वा क्वचित्संप्रदायात् पारमार्थिकीं व्यवस्थामाचक्षाणो मनुष्येष्वेवार्येतरभावव्यवस्थां काल्पनिकीमाचक्षीत ? प्रमाणांतराविषयत्वादिति चेत् न, आर्यम्लेच्छव्यवस्थाया गुणदोषनिबंधनायाः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामिति प्रसिद्धेरेतत् । तथाहि-इष्टवक्तृप्रामाण्यनिमित्तेभ्यो हि मनुष्याणां आर्यत्वव्यवस्थितिः सम्यग्दर्शनादिगुणनिबंधना म्लेच्छव्यवस्थितिश्च मिथ्यात्वादिदोषनिबंधना स्वसंवेदनसिद्धा स्वरूपवत्। संतानांतरवर्तिनी तु सा व्यापारव्यवहाराकारविशेषस्य कार्यस्य विनिश्चयादनुमेया चेति न प्रमाणांतरागोचरा प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रसिद्धायां च गुणनिबंधनायामार्यत्वव्यवस्थायां कासुचित् मनुष्यव्यक्तिषु युगादावव्यवच्छिन्नसंतानास्तथाभूतगुणैर्यर्याणा जात्यार्याः प्रसिद्धा भवंति क्षेत्रार्यवत् तथा म्लेच्छाः।

एक बात यह भी है कि नास्तिकपन, मनुष्यपन, पशुपन, आदिमें कहीं न कहीं सम्प्रदायसे वास्तविक व्यवस्थाको बखान रहा यह नास्तिक भला मनुष्योंमें ही आर्यपन म्लेच्छपनकी व्यवस्थाको क्यों कल्पनानिर्मित कहेगा ? बताओ। सम्प्रदाय अनुसार मानी गयी व्यवस्थाको या तो सर्वत्र कल्पित कहे अथवा कहीं भी कल्पित नहीं कहे। कहीं कुछ और कहीं कुछ, यों "अर्धजरतीय" न्यायका अनुसरण उचित नहीं है। यदि नास्तिक यों कहे कि आर्य, म्लेच्छव्यवस्था तो किन्हीं अन्य प्रमाणोंका विषय नहीं है, इस कारण कल्पित है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि गुणोंको कारण मानकर हुयी आर्यव्यवस्थाकी और दोषोंके निमित्त कारणपनसे हुई म्लेच्छव्यवस्थाकी इन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे यों वक्ष्यमाण प्रकार अनुसार प्रसिद्धि हो रही है। उसीको ग्रन्थकार स्पष्ट कर दिखलाते हैं कि अपने निज आत्माकी ऊर्ध्वतासामान्य द्वारा पूर्वकालोंसे चली आ रही संतानमें वर्त रही मनुष्योंकी आर्य-

पनेकी व्यवस्था तो सम्यग्दर्शन, क्षमा, ब्रह्मचर्य, आदि गुणोंको कारण मानकर हुई स्वकीय सम्वेदनसे प्रतीत हो रही है और म्लेच्छमनुष्योंके अपनी अपनी संतानमें वर्त रही म्लेच्छपनकी व्यवस्थिति इन मिथ्यात्व, हिंसा, निर्लज्जता, आदि दोषोंके निमित्तसे हो रही अपने स्वसम्वेदन प्रत्यक्षों द्वारा प्रसिद्ध हो रही है, जैसे कि अपने अपने आत्मसद्भावका सम्पूर्ण मनुष्योंको स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। हां, स्वकीय आत्मासे न्यारे अन्य आत्मा रूप संतानोंमें वर्त रही वह आर्यपन या म्लेच्छपनकी व्यवस्था तो आर्यपन, म्लेच्छपनके कार्य हो रहे विशेष व्यापार, विशेषवचन प्रवृत्तियां, या विशेषआकारोंका विशेषतया निश्चय हो जानेसे अनुमान करने योग्य है। इस कारण वह आर्य, म्लेच्छपनकी व्यवस्था अन्य प्रमाणोंका अविषय नहीं है, जैसा कि तुमने पहिले आक्षेप किया था। किन्तु अपनी अपनी आत्मायें स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा और परकीय आत्माओंमें अनुमान द्वारा आर्य, म्लेच्छ, व्यवस्थाको हमने साध दिया है। जब कि किन्हीं किन्हीं सज्जन सदाचारी व्रती मनुष्य व्यक्तियोंमें गुणोंको कारण मानकर आर्यपन व्यवस्थाकी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों करके प्रसिद्धि हो चुकी है, ऐसा हो जानेपर कर्मभूमिकी आदिमें नहीं टूटी हुयी संतानवाले मनुष्य तिस प्रकारके वस्तुभूत गुणों करके सेवित किये जा रहे जात्यार्य प्रसिद्ध हो जाते हैं, जैसे कि क्षेत्र या कर्म आदिकी अपेक्षा आर्य मनुष्य प्रसिद्ध हो रहे हैं। अर्थात्—भोगभूमियोंके मनुष्य आर्य हैं, उन्हींकी संतान, प्रतिसंतान नहीं टूटती हुई कर्मभूमि कालमें भी चली आ रही है। जाति या कुलोंके नाम भले ही परिवर्तित हो जांय, इक्ष्वाकुवंश, सोमवंश, नाथवंश ये संज्ञायें इस युगकी अपेक्षासे हैं, तो भी इनकी संतानधारा अटूट है। अतः तिस प्रकार सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकरके जुष्ट हो रहे मनुष्य आर्य हैं। क्षेत्र आर्य, कर्म आर्य, चारित्र आर्य, इनके समान ही कुलपरम्परासे चले आ रहे जात्यार्योंकी भी सिद्धि कर लेनी चाहिये। तिस ही प्रकार कुलपरम्परा अनुसार अविच्छिन्न संतानवाले मनुष्य मिथ्यात्व, हिंसा, आदि दोषों करके सेवित हो रहे म्लेच्छ प्रसिद्ध हो रहे हैं, म्लेच्छोंको स्वयं अपनी आत्मामें म्लेच्छपन का स्वसम्मेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। हां, उनके पुत्र, मित्र, या देशान्तरीय अन्य म्लेच्छोंके म्लेच्छपन का शरीर व्यापार, वचनप्रवृत्तियां आदि करके अनुमान कर लिया जाता है। आर्योंको दूसरेके म्लेच्छ पनका या म्लेच्छमनुष्योंको दूसरोंके आर्यपनका भी अनुमान हो जाता है। भले ही कोई ऐंदू या अभिमानी पुरुष अपनेको बडा मानता रहे, किन्तु समय समयपर गुण और दोषोंका ठीक ठीक विवेक तो बालक, बालिकाओं, तक को हो जाता है। पण्डितपन या मूर्खपन, नीरोगता, सरोगता, बलवत्ता, निर्बलता, सदाचार कदाचारके समान आर्यपन म्लेच्छपनका भी संज्ञी जीवोंको परिज्ञान हो सकता है कोई कठीन समस्या पाले नहीं पड गयी है।

नित्यसर्वगतामूर्तस्वभावा सर्वथा तु या।
जातिर्ब्राह्मण्यचांडाल्यप्रभृतिः कैश्चिदीर्यते ॥ ११ ॥

सा न सिद्धा प्रमाणेन बाध्यमाना कदाचन ।

बात यह है कि क्षेत्र आर्य या कर्म आर्य अथवा चारित्र आर्य मनुष्योंकी सिद्धि करना सरल है । हां, जात्यार्योंकी इस युक्तिप्रधान जगत्में सिद्धि करा देना श्रमसाध्य है । कारण कि प्रायः संपूर्ण मनुष्य जन्मपरम्पराको तो स्वीकार कर लेते हैं । विष्णु या ब्रह्माके द्वारा वर्ण आदि सृष्टिको माननेवाले अथवा चाहे जितनी आत्माओंकी सृष्टि या प्रलयको कर देने वाले अल्लाहके अनुयायी मोहमदियोंकी संपूर्ण युक्तियां निर्बल (पोच) पड गयी हैं । परिशेषमें चार्वाक, साइन्सवेत्ता, यवन, पौराणिक बौद्ध इन सबको गर्भज मनुष्य, पशु, पक्षियोंकी सृष्टि संतानरूपसे अनादिकालीन माननी पडेगी । हां, कतिपय आधुनिक पंडित संतानक्रमसे चले आरहे जीवाचरणका आत्माओंमें संस्कार पड जाना नहीं स्वीकार करते हैं । कोई कोई तो तत्कालीन सदाचार, असदाचारसे झटिति आर्यसे म्लेच्छ और म्लेच्छसे आर्य होजाना अंगीकृत कर लेते हैं । कोई तो जाति, कुल, व्यवस्थाको स्वीकार ही नहीं करते हैं । किन्तु यह बात जगत् प्रसिद्ध है कि विशेष जातिके आमसे भिन्न प्रकारका आम्रफल उपजता है । सांकर्य (कलम लगा देनेसे) हो जानेसे अन्तर पड जाता है। बढिया घोडेमें भी पितृवंश, मातृवंशका लक्ष्य रखा जाता है। कषायों या क्षमाकी वासनायें बहुत दिनोंतक बस जाती हैं । इसी प्रकार इक्ष्वाकु वंश, पद्मावतीपुरवाल, अग्रवाल, खण्डेलवाल आदि जातियोंकी अपेक्षा संतानक्रमसे चले आ रहे आर्य पनका नियामक हेतु जन्मक्रम और कर्मक्रम दोनों ही मानने चाहिये । श्री विद्यानन्द आचार्य वैशेषिकोंकी मानी हुई जातिका प्रत्याख्यान करते हैं कि किन्हीं वैशेषिक या नैयायिकोंकरके सर्वथा नित्य, सर्वव्यापक, अमूर्तस्वभाववाली जो ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व, वैश्यत्व आदि जातियां कही जा रही हैं, वे तो कदाचित् भी सिद्ध नहीं हो सकती हैं ? क्योंकि प्रमाणोंसे वे बाधाको प्राप्त हो रही हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, कोई भी प्रमाण उन जातियोंको विषय नहीं करता है, जिनका कि स्वरूप वैशेषिकोंने नित्यपन, व्यापकत्व, और अमूर्तत्व मान रक्खा है ।

ब्राह्मणत्वादिजातिः सर्वगता सर्वत्र स्वप्रत्ययहेतुत्वादाकाशवत् सत्तावद्वा, तथा नित्या सर्वदोत्पादकविनाशककारणरहितत्वात् तद्वदेव इत्येके । तेत्र प्रष्टव्याः,सा सर्वगता सती व्यक्त्यंतराले कस्मात्स्वप्रत्ययं नोत्पादयतीति ? स्वव्यंजकविशेषाभावादनभिव्यक्तत्वादिति चेन्न, तदभिव्यक्तेः साकल्येन करणे क्वचिदुपलंभे सर्वत्रोपलंभप्रसंगात्, देशतः करणे सावयवत्वप्रसक्तेः ।

वैशेषिकका मन्तव्य है कि ब्राह्मणत्व, वैश्यत्व, चाण्डालत्व, आदिक जातियां (पक्ष) सर्वत्र व्यापक हैं (साध्य), क्योंकि सभी व्यक्तिस्थलोंपर अपने अपने ज्ञानके उत्पादका हेतुपना उन जातियोंमें वर्त रहा है (हेतु) आकाशके समान, अथवा सत्ताजातिके समान (अन्वयदृष्टांत)। तथा ब्राह्मणत्व आदि जातियां (पक्ष) नित्य हैं (साध्य) उत्पत्ति करानेवाले और जातियोंका विनाश

करनेवाले कारणोंका सदा रहितपना होनेसे (हेतु) उन ही आकाश या सत्ताके समान (अन्वय दृष्टान्त) । तीसरा अनुमान जातिके अमूर्तपन स्वभावको साधनेके लिये यों बना सकते हैं कि जाति अमूर्त है (प्रतिज्ञा) परिमाण गुणका अभाव होनेसे (हेतु) क्रियाके समान (अन्वयदृष्टान्त), आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कोई एक पण्डित कह रहे हैं । वे पण्डित यहां यों पूछने योग्य हैं कि सर्वव्यापक हो रही सती वह जाति भला व्यक्तियोंके अन्तरालमें किस कारणसे स्वकीय ज्ञानको नहीं उपजा पाती है ? बताओ। यदि वैशेषिक यों कहे कि अन्तरालमें अपने प्रकट करनेवाले आश्रय हो रहे व्यक्तिविशेषोंका अभाव हो जानेसे वह जाति वहां अभिव्यक्त नहीं है, तिस कारण मध्यवर्त्ती अन्तरालमें विद्यमान हो रही भी जाति स्वकीयज्ञानकी उत्पादक (उत्पादिका) नहीं है । अर्थात्— एक ब्राह्मण मनुष्य व्याकरण पढ रहा है। दूसरा ब्राह्मण व्यक्ति एक कोश दूरपर भोजन कर रहा है। उन दोनों व्यक्तियोंमें ब्राह्मणत्व जाति है और मध्यदेशवर्त्ती अन्तरालमें भी वह व्यापक ब्राह्मणत्व-जाति तिष्ठ रही है । परन्तु अप्रकट होनेसे ब्राह्मणपनकी झप्ति नहीं करा पाती है। किन्तु जहां ब्राह्मण पुरुष व्यक्तियां विद्यमान हैं, वहां प्रकट हो रही ब्राह्मणत्व जाति स्वज्ञानको करा देती है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि सकलरूपसे उस जातिकी व्यक्तिविशेषों द्वारा अभिव्यक्तिके कर देनेपर यदि कहीं एक स्थलपर जातिका उपलम्भ होगा तो सम्पूर्ण रूपसे प्रकट हो चुकी जातिके सर्वत्र (अन्तरालमें) भी उपलम्भ हो जानेका प्रसंग आवेगा । यदि व्यंजक कारणों द्वारा एक एक देशसे जातिकी अभिव्यक्ति करना अभीष्ट किया जायगा तब तो जातिको अवयव सहितपनेका प्रसंग आता है । जातिके अनेक अवयव होनेपर ही तो कहीं प्रकटता अन्यत्र कहीं अप्रकटता सम्भव सकेगी । अन्यथा नहीं। किन्तु जातिको नित्य, निरवयव, व्यापक, अखण्ड, अमूर्त, माननेवाले वैशेषिक पण्डित जातिका सावयवपना तो अभीष्ट नहीं करेंगे । उनको अपसिद्धान्त दोष लग जानेका भय बना हुआ है ।

ननु च कात्स्न्र्येनाभिव्यक्तावपि जातेर्न सर्वत्रोपलंभः सामग्र्यभावात्, स्वव्यक्तिदेश एव हि तदुपलंभसामग्री प्रतीता इन्द्रियमनआकाशादिवत् न च व्यक्त्यंतराले सास्तीति केचित् । तदप्यसंगतं, घटादेरेवं सर्वगतत्वप्रसक्तेः । शक्यं हि वक्तुं घटादीनां सर्वगतत्वेपि न सर्वत्रोपलंभः सामग्र्यभावात् कपालादिदेश एव हि तदुपलंभसामग्री न च सा सर्वत्रास्तीति कपालादेरप्यवयविनः सर्वगतत्वेपि न सर्वत्रोपलंभः स्वावयवोपलंभसामग्र्यभावादित्येवमनंतशः परमाणूनामनवयवित्वादसर्वगतत्वे सर्वत्रोपलंभाभावात्पर्यनुयोगनिवृत्तिरिति । यदि पुनर्घटादेः सर्वगतत्वकल्पनाया प्रत्यक्षविरोधः प्रतिनियतसंस्थानस्य प्रत्यक्षत्वात् अनुमानविरोधश्च । न सर्वगतो घटादिः सावयवत्वात् मूर्तिमत्त्वात् परमाणुवत् इत्यनुमानादसर्वगतत्वसिद्धेरिति मतं, तदा जातिसर्वगतत्वकल्पनायामपि स एव प्रत्यक्षादिविरोधः सादृश्यलक्षणाया एव जातेरसर्व-

गतायाः प्रतिनियतव्यक्तिगतायाः प्रत्यक्षत्वात् । तथा न जातिः सर्वगता प्रतिनियतव्यक्तिपरिणामत्वाद्विशेषवदित्यनुमानाज्जातेरसर्वगतत्वसिद्धेः । कुतः पुनः सादृश्यलक्षणं सामान्यं सिद्धमिति चेत् ।

यहां वैशेषिक अपने मतका अवधारण करते हैं कि जातिकी पूर्णरूपसे अभिव्यक्ति होनेपर भी उस जातिका सर्वत्र उपलम्भ नहीं होसकता है। क्योंकि अंतराल देशोंमें उपलम्भकी सामग्रीका अभाव है । उन जातियोंको उपलम्भकी सामग्री अपने अपने आधार होरहे व्यक्तिस्वरूप देश ही प्रतीत होरहे हैं । जैसे कि बहिरंग इन्द्रियां या अंतरंग इन्द्रिय मन अथवा आकाश आदिक उपलंभ सामग्री हैं । किन्तु व्यक्तियोंके अंतरालमें वह व्यक्तियां स्वरूप सामग्री नहीं है । इस कारण अंतरालमें जातिका प्रत्यक्ष नहीं होपाता है। इस प्रकार कोई वैशेषिक कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं उनका वह कहना भी संगतिशून्य है । क्योंकि इस प्रकार तो घट, पट, आदिके भी सर्वगतपनेका प्रसंग आजावेगा। हम बहुत अच्छे ढंगसे यों कह सकते हैं कि घट, पुस्तक आदिकोंका सर्वगतपना होते हुये भी सर्वत्र उपलंभ यों नहीं होपाता है कि वहां उपलंभ होनेकी सामग्री नहीं है । कपाल, तंतु, पत्र आदि देश ही उन घट, पट, पुस्तक आदिकोंके उपलंभ होजानेकी सामग्री हैं। किन्तु वह सामग्री तो सर्वत्र नहीं है । जिस प्रकार कपाल आत्मक अवयवोंसे बने हुये अवयवी घटका व्यापकपना आपादित कर दिया गया है, इस ही प्रकार कपालिकास्वरूप अवयवोंसे बनाये गये कपालरूपी अवयवी या तंतु संबंधी अवयवोंसे बने लंबे तंतु आदि अवयवियोंके सर्वगत होते हुये भी उनका सर्वत्र उपलंभ नहीं होता है । क्योंकि अपने अपने अवयवस्वरूप उपलम्भ सामग्रीका वहां वहां अभाव हो रहा है । इस प्रकार और भी उत्तर उत्तर अवयवोंके व्यापकत्वकी आपत्ति दी जा सकती है । हां, पंचाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, द्वयणुक, अवयवियोंके व्यापकत्वका आपादन करते हुये अन्तमें जाकर अनन्ती, अनन्ती, परमाणुओंको निरवयव होनेसे असर्वगतपना माननेपर उन परमाणुओंका सर्वत्र उपलम्भ नहीं होनेसे पर्यनुयोगकी निवृत्ति हो सकेगी । द्वयणुकतक तो सर्वगतपने या सर्वत्र उपलम्भ होनेका आपादन अवश्य कर दिया जायगा, जो कि वैशेषिकोंको इष्ट नहीं है। यदि फिर वैशेषिक यों कहे कि घट, वस्त्र, आदिके सर्वत्र व्यापकपनकी कल्पना करनेका प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही विरोध ठन जाता है । क्योंकि प्रतिनियत हो रहे अल्पदेशवृत्तिपनेकी रचना या आकृतिको धारनेवाले घट आदिका बाल, वृद्ध, कीट, पतंगों, तकको प्रत्यक्ष हो रहा है । तथा घट, आदि पदार्थोंके व्यापकपनको साधनेमें अनुमान प्रमाणसे भी विरोध आता है । देखिये, घट, आदिक (पक्ष) सर्वत्र वर्त रहे होंय ऐसे व्यापक नहीं है (साध्य), क्योंकि वे अल्प परिमाणवाले स्वनिर्मापक अवयवोंसे सहित हैं (पहिला हेतु)। अपकृष्ट परिमाणस्वरूप मूर्तिके आश्रय हैं (दूसरा हेतु) । परमाणुके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमानसे घट आदिकके अव्यापकपनकी सिद्धि हो रही है। यों वैशेषिकोंका मन्तव्य होनेपर आचार्य कहते हैं कि तब तो जातिके सर्वगतपनकी कल्पना करनेमें भी वैशेषिकोंको वही प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विरोध आवेगा। हां " सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् " जातिके इस सिद्धांतलक्षण अनुसार प्रतिनियत व्यक्तियोंमें प्राप्त होरही असर्वगत और सादृशस्वरूप ही जातिका प्रत्यक्ष होरहा है। अनेक मनुष्योंमें चाहे वे चांडाल या म्लेच्छ ही क्यों न होय, ब्राह्मण, क्षत्रिय, मनुष्योंका सादृश्य वर्त रहा है। संपूर्ण घोडे समान हैं, चाहे पांच रुपयेका टटुआ हो अथवा भले ही पांच हजार रुपयोंका बढिया घोडा होय, सबमें अश्वस्वरूप करके सादृश्य वर्त रहा है। मुखमें चंद्रकी सदृशता या गवय (रोझ) में गायकी सदृशता दूसरी वस्तु है। जातिस्वरूप सादृश्य तो एक ही जातिकी अनेक व्यक्तियोंसे अभिन्न होरहा है। यद्यपि गवय निरूपित गोनिष्ठ सादृश्य भी गोसे अभिन्न है और गोनिरूपित गवयनिष्ठ सादृश्य गवयसे अभिन्न है। सदृश वस्तुओंसे निराली कोई तीसरी जातिका सादृश्य वहां दीखता नहीं है। तथापि आरोपित सादृश्यसे जातिस्वरूप सादृश्य निराला ही है, जो कि समान जाति वाली व्यक्तियोंमें ही ठहरेगा। जब कि अव्यापक होरहीं घट, पुस्तक, गो, आदि व्यक्तियोंका आबाल, गोपालतकको प्रत्यक्ष होरहा है, ऐसी दशामें व्यक्तियोंसे अभिन्न होरही जातिको अव्यापक मानना ही युक्तिपूर्ण है। तैसा होनेपर जाति (पक्ष) सर्वगत नहीं है (साध्य) प्रत्येक नियत होरहीं व्यक्तियोंका परिणाम होनेसे (हेतु) विशेष पदार्थके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमानसे जातिके अव्यापकपनकी सिद्धि होजाती है। यदि यहां कोई वैशेषिक यों प्रश्न करे कि फिर वह सादृश्यस्वरूप सामान्य भला किस प्रमाणसे सिद्ध कर दिया गया है? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्त्तिकको कहते हैं।

सिद्धं सादृश्यसामान्यसमाना इति तद्ग्रहात्।
कुतश्चित्सदृशेष्वेव मनुष्येषु गवादिवत् ॥ १२ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, व्रात्य, पतित, म्लेच्छ, भोगभूमियां, कुभोगभूमियां, लब्ध्यपर्याप्तक, इन संपूर्ण मनुष्योंमें सदृशपरिणाम स्वरूप सादृश्य माना जा रहा सामान्य प्रसिद्ध है (प्रतिज्ञा) किसी न किसी अंतरंग परिणतिस्वरूप कारण से " सदृशोंमें ही ये समान है " " ये सदृश हैं " इस रूपसे उन पदार्थोंका ज्ञान द्वारा परिग्रहण होनेसे (हेतु) गौ, अश्व आदिके समान (अन्वयदृष्टांत)। भावार्थ—जैसे खंड, मुंड, आदि अनेक प्रकारकी गायोंमें यह इसके समान है, यह इसकी सजाति है, यों परिग्रहण होरहा होनेसे सदृशपरिणामरूप गोत्वसामान्य प्रसिद्ध है, उसी प्रकार मनुष्योंमें जाति द्वारा सभी मनुष्य समान हैं, यह प्रतिपत्ति होरही है। अतः सदृशपरिणामरूप मनुष्यत्वजाति सिद्ध होजाती है। अन्यथा व्यक्तियोंको जातिसे भिन्न माननेपर अनवस्था दोष आवेगा। वैशेषिकोंके " नित्यत्वे सति व्यापकत्वे च सति गोसमवेतं गोत्वं " और " गवेतरासमवेतत्वे सति सकलगोसमवेतत्वं गोत्वं " ये सब लक्षण अविचारितरम्य हैं। सदृशपना पदार्थोंकी एक परिणति है, वही जाति है। पदार्थोंके तादात्म्य स्वरूपसे निराला कोई न्यारी जातिका बोझ उन पदार्थोंपर लदा हुआ नहीं है, जैसे

कि धोबीकी गधैयापर कपडोंकी लादी लदी रहती है। वास्तविक रूपसे परपदार्थ कालत्रयमें अपना नहीं होसकता है, इति निर्णीयते स्वयं ग्रंथकारः।

स एव मनुष्य इति प्रत्ययाश्च समाना इति तद्ग्रहोस्ति यतः सादृश्यसामान्यं सिध्येदिति चेत् न, सदृशे मनुष्यादौ स एवायमिति प्रत्ययस्योपचरितैकत्वविषयत्वात्। द्विविधं हि एकत्वं मुख्यमुपचरितं च, मुख्यमूर्ध्वतासामान्यमुपचरितं तिर्यक् सामान्यं सादृश्यमिति सुनिश्चितमन्यत्र।

कोई नैयायिक कटाक्ष करता है कि अनेक मनुष्योंको देखनेपर यह वही मनुष्य है, यह दूसरा भी मनुष्य ही है, यह तीसरा भी वही मनुष्य है, इस प्रकार एकत्वका परिचायक परिज्ञान हो रहा है। अतः "यह मनुष्य उसके समान है, अमुक मनुष्य तिस मनुष्यके समान था" इस प्रकार सादृश्यको जाननेवाला ग्रहण नहीं हो रहा है, जिससे कि जैनोंका अभीष्ट सादृश्य परिणामरूप सामान्य सिद्ध हो जाता। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि यह तो मन्दबुद्धि भी समझ सकता है कि सदृश हो रहे दूसरे, तीसरे, चौथे, मनुष्य आदिमें यह वही मनुष्य है, यह दूसरा भी वही मनुष्य है, इस प्रकार हो रहे ज्ञान तो उपचरित एकत्वको विषय करते हैं। एक ही व्यक्तिमें यह वही है, यह प्रत्यभिज्ञान मुख्य एकत्वको विषय करता है। अनेक व्यक्तियोंमें हुआ एकत्व प्रत्यभिज्ञान प्रमाणाभास होगा अथवा उपचरित एकत्वको विषय करनेवाला होगा। तीसरा कोई उपाय नहीं। देखो, एकत्व दो प्रकारका माना गया है। पहिला मुख्य एकत्व है, दूसरा उपचरित एकत्व है। "परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं" एक द्रव्यकी अनेक कालोंमें होनेवाली नाना अवस्थाओंमें व्यापनेवाला परिणाम ऊर्ध्वतासामान्य है। जैसे कि देवदत्तकी बाल, युवा वृद्ध अवस्थाओं या जन्मान्तरोंकी पूर्वोत्तरपर्यायोंमें जो सनान परिणाम है, वह ऊर्ध्वतासामान्य है। इस ऊर्ध्वता-सामान्यको विषय करनेवाले ज्ञानका गोचर मुख्य एकत्व है और अनेक व्यक्तियोंमें एक काल पाये जानेवाले तिर्यक् सामान्यको जाननेवाले ज्ञानका विषय हो रहा सादृश्य तो उपचरित एकत्व है, इस सिद्धान्तका हम अन्य अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमें बहुत अच्छा निर्णय कर चुके हैं।

सा पुनर्ब्राह्मणत्वादिजातिर्नैकांततो नित्या शक्या व्यवस्थापयितुमनित्यव्यक्तितादात्म्यात्, सर्वथा तस्यास्तदतादात्म्ये वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषानुषंगात्। नाप्येकांतेनामूर्ता मूर्ततादात्म्यविरोधात्। ततः स्यान्नित्या जातिर्नित्यसादृश्यरूपत्वात्, स्यादनित्या नश्वरसादृश्यस्वभावत्वात्, स्यात्सर्वगता सर्वपदार्थान्वयित्वात्, स्यादसर्वगता प्रतिनियतपदार्थाश्रयत्वात्, स्यान्मूर्तिमती मूर्तिमद्द्रव्यपरिणामत्वात्, स्यादमूर्ता गगनाद्यमूर्तद्रव्यपरिणामात्मिकेति नित्यसर्वगतामूर्तस्वभावा सर्वथा ब्राह्मणत्वादिजातिरयुक्ता प्रमाणेन बाध्यमानत्वात् इति सूक्तं। तदेवं—

वैशेषिकोंने ब्राह्मणत्व, शूद्रत्व आदि जातियोंको सर्वथा नित्य मान लिया है। किन्तु वे ब्राह्मणत्व आदि जातियोंको फिर एकान्तरूपसे नित्यपनकी व्यवस्थाको करानेके लिये समर्थ नहीं हो सकते हैं। अनित्य व्यक्तियोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध बन रहा होनेसे, वे जातियां सर्वथा नित्य नहीं कही जा सकती हैं। यदि वैशेषिक उन ब्राह्मणत्व आदि जातियोंका उन ब्राह्मण आदि व्यक्तियोंके साथ सभी प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारसे तादात्म्य सम्बन्ध अभीष्ट नहीं करेंगे तब तो वृत्ति, विकल्प, अनवस्था आदि दोषोंकी प्राप्तिका प्रसंग होगा। भावार्थ—एक जातिकी अनेक देशस्थ व्यक्तियोंमें यदि पूर्ण रूपसे वृत्ति मानी जायगी तब तो प्रत्येक व्यक्तियोंमें ठहरनेवाली जातियां वैशेषिकोंको अनेक माननी पडेंगी। यदि एक जातिका अनेक व्यक्तियोंमें एक एक देशसे वर्तना माना जायगा, जैसे कि आकाश वर्तरहा है, तब तो जातिको अवयवसहितपना प्राप्त होगा। उन अवयवोंमें भी जातीकी एकदेश या सर्व देशसे वृत्ति मानते मानते वही पर्यनुयोग चलेगा। यों अनवस्था दोष खडा हो जाता है। तथा घटकी उत्पत्ति होनेवाले देशमें प्रथमसे सामान्य था तो वहां घटके विना वह घटत्वसामान्य भला किस आधारपर बैठा हुआ था? आश्रयके विना सामान्य ठहर नहीं सकता है। "अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वमिहोच्यते" नित्य द्रव्योंके अतिरिक्त सभी पदार्थ आश्रित माने गये हैं। घटकी उत्पत्ति हो रहे स्थलमें सामान्य अन्य स्थानसे आ नहीं सकता है। क्योंकि वैशेषिकोंने सामान्यको क्रियारहित स्वीकार किया है। पूर्व आधारको यह छोड भी क्यों देगा? इसी प्रकार घटके फूट जानेपर घटत्व सामान्य कहां चला जाता है? बताओ। भला सर्वथा एक सामान्य प्रत्येक व्यक्तियोंमें परिसमाप्त कैसे होगा? तुम ही विचारो। भिन्न पडे हुये समवाय द्वारा भिन्न पडी हुई जाति भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें नहीं चुपक सकती है। यों वैशेषिकोंके ऊपर कतिपय दोष आते हैं। अतः जातिको सर्वथा नित्य नहीं मान बैठना चाहिये। तथा जाति एकान्त रूपसे अमूर्त माननेपर घट, पट, आदि मूर्त द्रव्योंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध होनेका विरोध हो जायगा। मूर्तोंके साथ तादात्म्य रख रहा पदार्थ मूर्त समझा जाता है। तिस कारणसे स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार यों निर्णय कर लो कि जाति कथंचिद् नित्य है। (प्रतिज्ञा) क्योंकि कथंचिद् नित्य माने जा रहे पदार्थोंका तदात्मक सादृश्य रूप वह है। नित्य माने जा रहे सम्पूर्ण द्रव्य या कथंचिद् नित्य मानी जा रही सूर्यविमान, कुलाचल, अकृत्रिम प्रतिमायें आदिक नित्य पर्यायोंमें वर्त रहा सादृश्यरूप सामान्य कथंचित् नित्य ही है। साथमें वह जाति (पक्ष) कथंचित् अनित्य भी है (साध्य), नाश होनेवाले सादृश्यरूप स्वभाव होनेसे (हेतु) अर्थात्—घट, पट, आदि नाशशील पदार्थोंका सादृश्य कथंचित् अनित्य है। इसी प्रकार वह जाति कथंचित् सर्वव्यापक भी है। क्योंकि सत्ता, वस्तुत्व आदि जातियोंके समान वह जाति सम्पूर्ण पदार्थोंमें अन्वित हो रही है। और वह जाति कथंचित् असर्वगत है। क्योंकि न्यारे न्यारे देशोंमें वर्त रहे प्रति नियत पदार्थोंके आश्रित हो रही है। तथैव घट, पट, संसारी जीव, आदि मूर्त द्रव्योंका परिणाम होनेसे वह जाति कथंचित् मूर्तिवाली है। आकाश, शुद्ध आत्मा, कालद्रव्य,

आदि अमूर्तद्रव्योंका परिणाम स्वरूप हो रही वह जाति कथंचित् अमूर्त भी है । इस प्रकार जातिके कथंचित् नित्यत्व, अनित्यत्व, या कथंचित् सर्वगतत्व, असर्वगतत्व अथवा कथंचित् मूर्तत्व, अमूर्तत्वका विवेचन कर दिया है । वैशेषिकोंका ब्राह्मणत्व आदि जातिको सर्वथा नित्यस्वभाव, सर्वगतस्वभाव और अमूर्तस्वभाव मानना युक्तिरहित है। क्योंकि ऐसा माननेमें अनेक प्रमाणोंकरके बाधायें उपस्थित की जा रही हैं। इस कारण हमने उक्त ढाई वार्तिकोंमें बहुत अच्छा जातिका विचार कर समीचीन सिद्धान्त कह दिया है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर जो हुआ सो सुनो ।

सार्धद्विद्वीपविष्कंभप्रभृति प्रतिपादितं ।
समनुष्यं चतुष्टय्या सूत्राणामिति गम्यते ॥ १३ ॥

तीसरे पुष्करद्वीपके आधे भागसहित जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप इन दो द्वीपों यानी ढाई द्वीपके विष्कम्भ आदिका मनुष्योंसहित श्री उमास्वामी महाराजने सूत्रोंकी चतुष्टयीकरके प्रतिपादन कर दिया है, यह समझ लिया जाता है । अर्थात्—द्विर्धातकीखण्डे, पुष्करार्धे च, प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः, आर्या म्लेच्छाश्च, इन चार सूत्रोंकरके मूलग्रन्थकारने ढाई द्वीप और मनुष्योंका प्रबोध करा दिया है, यों माना जाय ।

काः पुनः कर्मभूमयः काश्च भोगभूमय इत्याह ।

कृपानिधान गुरुवर्य, अब यह बताओ कि फिर कर्मभूमियां कौनसी हैं ? और भोगभूमियोंके स्थान कौन हैं ? यों प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं ।

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।

पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमियां हैं । हां, विदेहोंके मध्यमें वर्त रही पांच देवकुरुओं और पांच उत्तरकुरुओंको छोड देना चाहिये । क्योंकि वे उत्तम भोगभूमियां मानी गयी हैं ।

कर्मभूमय इति विशेषणानुपपत्तिः सर्वत्र कर्मणो व्यापारादिति चेन्न वा, प्रकृष्टगुणानुभवनकर्मोपार्जितनिर्जराधिष्ठानोपपत्तेः षट्कर्मदर्शनाच्च । अन्यत्रशब्दः परिवर्जनार्थः । शेषास्ता भोगभूमय इति सामर्थ्यादभ्युपगम्यत इत्यावेदयति ।

कोई शंका करता है कि लोकमें सम्पूर्ण स्थलोंपर जब आठ प्रकारके कर्मोंका बन्ध और उनके फलोंका अनुभवरूप व्यापार व्याप रहा है, सिद्धलोकमें भी एकेंद्रिय जीव कर्मोंका उपार्जन कर रहे हैं, भोगभूमियोंमें आदिके चार गुणस्थानों अनुसार कर्म उपार्जन हो रहा है, देव या

नारकियोंकी भी यही दशा है, स्थावर लोकमें कर्मफलचेतनाका व्यापार चमक रहा है, तो फिर इन पंद्रह स्थलोंको ही कर्मभूमियां कहना यह विशेषण तो युक्तिसिद्ध नहीं बन पाता है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि परिहारविशुद्धि, उत्कृष्ट देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान या उत्कृष्ट ऋद्धियां, उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन, चारित्र आदि प्रकृष्ट गुणोंका अनुभव या उपार्जित कर्मोंकी निर्जराके अधिष्ठान ये पंद्रह क्षेत्र ही बन रहे हैं। अथवा " न वा प्रकृष्टशुभाशुभकर्मोपार्जननिर्जराधिष्ठानोपपत्तेः " यों पाठ माननेपर यह अर्थ हुआ कि उक्त शंका उठाना उचित नहीं है। क्योंकि जो सर्वार्थसिद्धि विमानके प्रापक या तीर्थकरत्व अथवा महती ऋद्धियोंके संपादक असाधारण प्रकृष्ट शुभकर्म हैं, उनका उपार्जन इन कर्मभूमियोंमें ही किया जाता है और सातमें नरकको प्राप्त करा देनेवाले जो तीव्र पापकर्म हैं, उन कर्मोंका संचय भी इन ही कर्मभूमियोंमें होसकता है। तथा प्रत्येक कार्यमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी अपेक्षा है। अतः ये कर्मभूमियां रूप पंद्रह क्षेत्र ही सर्वोत्कृष्ट पुण्यकर्म और सबसे बडे पापकर्मके उपार्जन स्थल हैं। संसारभ्रमणको न्यून करनेवाली निर्जरा या मोक्षतत्त्वकी प्राप्ति भी इन ही स्थलोंसे होती है। दूसरी एक बात यह भी है कि क्षत्रिय उपयोगी असिकर्म और वैश्यवर्णके उपयोगी मषिकर्म, वणिक्कर्म, कृषिकर्म, तथा शूद्र उपयोगी विद्याकर्म, शिल्पकर्म इनका इन कर्मभूमियोंमें ही अनुष्ठान करना देखा जाता है। ब्राह्मण वर्णके उपयोगी यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और ग्रहण ये छह कर्म इन कर्मभूमियोंमें प्रवर्त रहे हैं। मुनिजन अपने छह सामायिक आदि आवश्यक कर्मोंको, श्रावकजन देवपूजा आदि षट् आवश्यकोंको पंद्रह कर्मभूमियोंमें पालते हैं। इस सूत्रमें अन्यत्र शब्दका अर्थ परित्याग करना है। अतः परिशेष न्यायसे भरत, ऐरावत, और देवकुरु, उत्तरकुरुवर्जित विदेहसे अतिरिक्त ढाई द्वीपमें शेष रही वे भूमियें भोगभूमियें हैं, यह बात कहे विना ही सामर्थ्यसे जान ली जाती है। इस बातका निवेदन ग्रंथकार अग्रिम वार्तिकों द्वारा करे देते हैं।

भरताद्या विदेहांताः प्रख्याताः कर्मभूमयः।
देवोत्तरकुरूंस्त्यक्त्वा ताः शेषा भोगभूमयः ॥ १ ॥
सामर्थ्यादवसीयंते सूत्रेस्मिन्नागता (न श्रुता) अपि।
समुद्रद्वितयं यद्वत्पूर्वसूत्रोक्तशक्तितः ॥ २ ॥

भरतको आद्य स्थानमें धर कर विदेह क्षेत्रपर्यंत कर्मभूमियें बढिया ढंगसे वखानी गयी हैं। विदेहक्षेत्रके मध्यभागमें वर्त रहे देवकुरु, उत्तरकुरू, स्थानोंको छोडकरके विदेहक्षेत्रका ग्रहण करना चाहिये। भरताद्या में आदि शब्दको व्यवस्थावाची मानकर आद्य शब्दसे ऐरावतका ही ग्रहण करना चाहिये। पांच मेरुसम्बन्धी पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेहोंको छोडकर शेष ढाई द्वीपकी

वे भूमियें भोगभूमियां हैं। ये भोगभूमियां श्री उमास्वामी महाराजने पूर्वसूत्रोंमें या इस सूत्रमें यद्यपि कंठोक्त नहीं कही हैं, तो भी सामर्थ्यसे अर्थापत्तिप्रमाण करके निर्णीत कर ली जाती हैं, जिस प्रकार कि पूर्वसूत्रमें कहे जाचुके प्रमेयकी सामर्थ्यसे दोनों लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्रका निर्णय कर लिया जाता है।

सार्धद्वीपद्वयप्रतिपादनसूत्रे वचनसामर्थ्यादश्रूयमाणस्यापि समुद्रद्वितयस्य यथावसायो जंबूद्वीपलवणोदादिद्वीपसमुद्राणां पूर्वपूर्वपरिक्षेपित्ववचनात् तथास्मिन् सूत्रेनुक्तानामपि भोगभूमीनाम् निश्चयः स्यात्। भरतैरावतविदेहा देवकुरूत्तरकुरुभिर्वर्जिताः कर्मभूमय इति वचनसामर्थ्यात् देवकुरूत्तरकुरवः शेषाश्च हैमवतहरिरम्यकहैरण्यवताख्या भूमयः कर्मभूमिविलक्षणत्वाद्भोगभूमय इत्यवसीयंते।

ढाई द्वीपोंका प्रतिपादन करनेवाले उक्त सूत्रोंमें लवण समुद्र और कालोदधि समुद्रोंका वर्णन सूत्रों द्वारा नहीं सुना गया है। फिर भी सूत्रकारके गम्भीर वचनोंकी सामर्थ्यसे जिस प्रकार अश्रूयमाण दोनों समुद्रोंका निर्णय कर लिया जाता है, क्योंकि पहिले तो जम्बूद्वीप, लवणोद आदि असंख्यात द्वीप समुद्रोंका वर्णन किया गया है। पश्चात् सूत्र द्वारा पूर्व पूर्वके द्वीप, समुद्रोंका पिछले पिछले द्वीप समुद्रों करके घेरा डाले रहना कहा गया है, अतः विना कहे ही जम्बूद्वीपके परिक्षेपी लवण समुद्र और धातकीखण्डके परिक्षेपी कालोदधि समुद्रका निश्चय कर लिया है, उसी प्रकार इस सूत्रमें कण्ठोक्त नहीं भी कहीं गयीं भोगभूमियोंका निश्चय कर लिया जाता है। भरत, ऐरावत, विदेह, ये देवकुरुओं और उत्तरकुरु भागोंसे वर्जित हो रहे कर्मभूमि स्थान हैं। इस प्रकार इस सूत्रके कथनकी सामर्थ्यसे पांच मेरुसम्बन्धी पांच देवकुरुयें, पांच उत्तर कुरुयें और पांच मेरुसम्बन्धी उक्त तीन क्षेत्रोंसे शेष रहीं पांच हैमवत, पांच हरि, पांच रम्यक, पांच हैरण्यवत, संज्ञावाली भूमियां भोगभूमियें यों निर्णीत कर ली जाती हैं। क्योंकि ये कर्मभूमियोंसे विलक्षण हैं। यद्यपि कर्मभूमिसे विलक्षणपना स्वर्ग, नरक, स्थावरलोक, सिद्धालय, आदिमें भी विद्यमान है। फिर भी पर्युदास पक्ष अनुसार भूमिपना, मनुष्यक्षेत्रत्व आदि विशेषणोंका अन्तर्गर्भ होनेसे उक्त हेतु व्यभिचारदोषकरके ग्रसित नहीं है। यों पांच मेरुसम्बन्धी पन्द्रह कर्मभूमियां और पांच पांच देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरि, रम्यक, हैरण्यवत, इन नामोंसे तीस भोगभूमियां विन्यस्त हैं। छियानवें अन्तर्द्वीपोंको कुभोगभूमियोंमें गिनाया जा चुका है। किन्हीं जैन विद्वानोंका मन्तव्य है कि दिशाओंमें वर्तनेवाले समुद्रद्वयस्थ अन्तरद्वीप या कर्मभूमियोंके निकटवर्ती अन्तरद्वीप कर्मभूमि सदृश हैं। किन्तु इस मतमें अपना विशेष आदर नहीं है। कारण कि प्रकृष्ट पुण्य, पापोंका, अनुष्ठान, मोक्षमार्ग, देशव्रत, महाव्रत, आदिका परिपालन नहीं होनेसे कतिपय अन्तर्द्वीपोंको कर्मभूमि कहनेमें जी हिचकिचाता है। अधिकसे अधिक इनके चौथा गुणस्थान हो सकता है। छियानवे अन्तरद्वीपोंमें उपजे म्लेच्छमनुष्य विचारे भूषण, वस्त्र,

रहित हो रहे और गुहा या वृक्षमें निवास करते सन्ते एक टांगवाले, सींगवाले, पूंछवाले आदि या अश्वमुख, सिंहमुख, महिषमुख, आदि अवस्थावाले शरीरोंको धार रहे, सदा भोगोंको भोगते रहते हैं। एक पल्य अपनी आयुःप्रमाण पर्यन्त अपने समान पत्नीके साथ निराबाध भोगोंको भोग कर अन्तमें मरकर स्वर्गमें वाहनजातिके देव हो जाते हैं। अथवा ज्योतिषी, व्यंतर अथवा भवनवासी होकर पुनः दुर्गतिके दुःखोंको भोगते हुये संसारमें भ्रमण करते हैं। यों भोगभूमियोंके लक्षणकी घटना हो जानेसे अन्तर्द्वीपवासी म्लेच्छोंको कुभोगभूमियां कह देना जच जाता है। मानुषोत्तरपर्वतसे परली ओर आधे अन्तिम द्वीपतक एकेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही हैं। ये स्थान भी कुत्सित भोगभूमियां कहे जाते हैं। जघन्य भोगभूमिज भी यहां जा सकते हैं। इन तिर्यंचोंकी भी असंख्यात वर्षकी आयु है। एक कोश ऊंचा शरीर है। इनको आदिके चार गुणस्थानतक हो सकते हैं। सभी भोगभूमियां मरकर कषायोंका आवेग कुछ न्यून होनेसे देवगतिको प्राप्त करते हैं। हां, स्वयंप्रभ पर्वतसे परली ओर आधे स्वयम्भूरमण द्वीप और पूरे स्वयंभूरमण समुद्र तथा चारों कोने कर्मभूमियां हैं। इनमें स्थलनिवासी तिर्यंच पांचवें गुणस्थानवर्ती भी असंख्याते पाये जाते हैं। यहां प्रकरणमें ढाई द्वीपसम्बन्धी कर्मभूमियोंका सूत्रद्वारा और ढाई द्वीपसम्बन्धी भोगभूमियोंका अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा परिज्ञान करा दिया गया है।

अथ तन्निवासिनां नृणां के परावरे स्थिती भवत इत्याह ।

भली भांति तृप्त हो चुके शिष्यका दूसरे प्रकारका प्रश्न है कि गुरु महाराज, यह बताओ कि उन ढाई द्वीपोंमें निवास करनेवाले मनुष्योंकी उत्कृष्टस्थिति और जघन्यस्थिति क्या होती है? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

नृस्थितीपरावरे त्रिपल्योपमांतर्मुहूर्ते ॥ ३९ ॥

मनुष्योंकी उत्कृष्टस्थिति तीन अद्धामल्योपम है, जो कि उत्तम भोगभूमियां मनुष्योंके संभव रही है और जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त है, जो कि श्वासके अठारहवें भाग काल की लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंमें पायी जाती है। अडतालीस मिनटके मुहूर्तमें तीन हजार सातसौ तिहत्तर ३७७३ श्वास माने गये हैं। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य श्वासके अठारह भागतक जीवित रहता है॥श्वासका अर्थ मनुष्योंके पोंचेमें वात, पित्त, कफकी, चल रही नाडीकी एक बार गतिका कालपरिमाण है। मुख या नाकसे निकल रही प्राणवायुको श्वास माननेपर जन्म, मरणका गणित ठीक नहीं बैठता है। श्वास गतिसे नाडीकी गतिका काल कुछ न्यून, अधिक दुगुना बैठ जाता है। उत्कृष्ट स्थिति भोगभूमिके मनुष्य की है और जघन्यस्थिति सम्मूर्छन जन्मवाले लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यकी है।

यथासंख्यमभिसंबध्यत्रिपल्योपमा परा नृस्थितिरंतर्मुहूर्तावरा इति । मध्यमा नृस्थितिः केत्याह ।

सूत्रमें पर और अवरके साथ त्रिपल्योपम और अन्तर्मुहूर्तका यथासंख्यरूपसे सम्बन्ध कर लेना चाहिये। यों यथाक्रम अनुसार दोनोंका सम्बन्ध करने पर मनुष्योंकी तीन पल्योपम उत्कृष्ट स्थिति और मनुष्योंकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त यों समझ ली जाती है। मनुष्योंकी मध्यमस्थितियां कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्त्तिकको कहते हैं।

परावरे विनिर्दिष्टे मनुष्याणामिह स्थिती।
त्रिपल्योपमसंख्यांतर्मुहूर्त्तगणने बलात् ॥ १ ॥
मध्यमा स्थितिरेतेषां विविधा विनिवेदिता।
स्वोपात्तायुर्विशेषाणां भावात्सूत्रेत्र तादृशां ॥ २ ॥

इस सूत्रमें मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम संख्यावाली और जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त नामक गणनावाली विशेषरूपसे कह दी गयी है। विना कहे ही आदि, अन्त, स्थितियोंकी सामर्थ्यसे इन मनुष्योंकी नानाप्रकार मध्यमस्थितियां तो अर्थापत्तिद्वारा श्री उमास्वामी महाराजकरके इस सूत्रमें विशेषतया निवेदन कर दी गयी समझ लेनी चाहिये। क्योंकि पूर्वजन्मसम्बन्धी अपनी अपनी कषायोंके अनुसार इन मनुष्योंके निज उपार्जित विशेष विशेषस्थितिको लिये हुये तिस तिस ढंगके आयुष्य कर्मोंका सद्भाव है। अर्थात्—पूर्वजन्मोंमें विशुद्ध परिणामोंसे उपार्जी गयी मनुष्य आयुके अनुसार जीवोंका एक समय अधिक कोटीपूर्ववर्षसे प्रारम्भ कर तीन पल्यकी आयुवालोंका भोग-भूमियोंमें जन्म होता है। और संक्लेश परिणामों अनुसार नाडीगतिके अठारहवें भाग जघन्य आयुः स्थितिसे प्रारम्भ कर कोटि पूर्व वर्षतककी आयुवाले जीवोंका कर्मभूमि मनुष्योंमें उपजना होता है। अतः एक समय अधिक अन्तर्मुहूर्तसे प्रारम्भ कर एक समय कम तीन पल्यतककी असंख्यात प्रकार मध्यम स्थितियां तो सूत्र उच्चारण किये विना ही " तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " इस नियम अनुसार गम्यमान हो जाती हैं। एयादीया गणना बीयादीया हवंति संखेज्जा, तीयादीणं णियमा-कदित्ति सण्णा मुणेदव्वा " इस गाथा अनुसार एक आदिको गणना कहते हैं। और दो आदिको संख्या कहते हैं। असंख्यात या अनन्त भी संख्याविशेष हैं। पल्य एक असंख्यातासंख्यात नामकी संख्याका मध्यम भेद है। चूंकि ढाई सागरके समयप्रमाण असंख्याते द्वीप समुद्र हैं और दश कोटा-कोटी पल्योंका एक सागर होता है। तथापि सम्पूर्ण द्वीपसमुद्रोंसे जघन्य, मध्यम, उत्तम भोगभूमियोंके मनुष्योंके आयुष्य समय अत्यधिक हैं। क्योंकि द्वीपसमुद्रोंकी गणना तो उद्धार पल्योंकी पचीस कोटा-कोटी संख्यासे है। किन्तु उद्धारपल्यसे सौ वर्षके असंख्यात समयों गुना एक अद्धापल्य होता है। भोगभूमियोंकी स्थिति अद्धापल्यसे गिनायी गयी है। जघन्य युक्तासंख्यात—समयपरिमित आवलीसे संख्यात गुना मुहूर्त्त काल होता है। जो कि प्रतरावलीकालका असंख्यातवां भाग है। मनुष्योंकी

जिनदृष्ट संख्यात–आवलीप्रमाण जघन्य स्थिति समझनी चाहिये। कोटिपूर्व वर्षकी स्थिति भी संख्यात आवलियां हैं। प्रतरावलिका असंख्यातवां भाग यह मध्यमस्थिति है।

तिरश्चां के परावरे स्थिती स्यातामित्याह।

पुनः जिज्ञासुका प्रश्न है कि मनुष्योंकी स्थिति समझ ली, तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति क्या होगी? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको कहते हैं।

तिर्यग्योनिजानां च ॥ ४० ॥

तिर्यग्गति नामकर्मके अनुसार तिर्यंच योनियोंमें जन्म लेनेवाले जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम और जघन्य भवस्थिति नाडीगतिके अठारहवें भागप्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।

त्रिपल्योपमांतर्मुहूर्ते इति वर्तते, पृथग्योगकरणं यथासंख्यनिवृत्यर्थं। एकयोगकरणे हि नृतिर्यक्स्थिती इति निर्देशे नृस्थितिः परा त्रिपल्योपमा, तिर्यक्स्थितिरवरान्तर्मुहूर्तेति यथासंख्यमभिसंबंधः प्रसज्यते। ततस्तन्निवृत्तिः पृथग्योगकरणात्।

" नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते " इस सूत्रसे " त्रिपल्योपमा " और " अन्तर्मुहूर्त " शब्दकी अनुवृत्ति कर ली जाती है स्थिति और परा, अपराका प्रकरण चल ही रहा है। अतः तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है। जो कि उत्तम भोगभूमियोंके तिर्यंचोंके पायी जाती है। तिर्यंचोंकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्तकी लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंचोंके सम्भव रही है। पूर्वसूत्रके साथ इस सूत्रका एकयोग नहीं कर पृथक् पृथक् योगविभाग करते हुये श्री उमास्वामी महाराज करके दो सूत्रोंका कथन करना तो संख्या अनुसार यथाक्रमसे होजानेवाले अनिष्टप्रसंगकी निवृत्तिके लिये है। कारण कि यदि दोनों सूत्रोंको मिलाकर " नृतिर्यक्स्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते " यों जोडकर दिया जायगा तो मनुष्य और तिर्यंचोंकी स्थिति को लघुतापूर्वक कथन करने पर इस प्रकार यथा संख्यसे दोनों ओर पर और अवरके सम्बन्ध होजानेका प्रसंग होजावेगा कि मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम है और तिर्यंचोंकी जघन्यस्थिति अंतर्मुहूर्त है। किन्तु केवल इतना ही अर्थ तो सूत्रकारको अभीष्ट नहीं था। अतः न्यारे दो सूत्र बनाकर तिस योगका पृथक्भाग कर देनेसे उस अनिष्टप्रसंगकी निवृत्ति होजाती है।

तिर्यङ्नामकर्मोदयापादितजन्म तिर्यग्योनिस्तत्र जातास्तिर्यग्योनिजाः एकेंद्रियविकलेंद्रियपंचेंद्रियविकल्पात्त्रिविधाः तेषां च यथागमं मध्यमा स्थितिः सामर्थ्यलभ्या प्रतिपत्तव्या परावरास्थितिवत्।

जिन संसारी जीवोंका जन्म लेना नामकर्मके भेद होरहे गतिनाम कर्मकी उत्तरप्रकृति मानी गयी तिर्यग्गति संज्ञक नामकर्मके उदय होने पर सम्पादित होरहा है, वह जन्म तिर्यग्योनि कहा जाता

है। उस तिर्यग्योनिमें उत्पन्न हुये जीव तिर्यग्योनिज हैं। तिर्यंचोंके स्थूलरूपसे एक स्पर्शन इन्द्रियवाले और दो इन्द्रिय तीन इन्द्रियें या चार इन्द्रियां, यों विकल होरही इन्द्रियोंको धारने वाले तथा पांचों इन्द्रियोंको धारनेवाले यों तीन प्रकार हैं। इस सूत्रमें तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिको कह दिया गया है। पर, अपर, स्थितियोंके कह देनेसे विना कहे ही सामर्थ्य द्वारा लब्ध होगई मध्यमा स्थितिकी प्रतिपत्तिको आगम अनुसार कर लेना चाहिये। जैसे कि कई प्रकारके तिर्यंचोंकी जघन्य या उत्कृष्टस्थितियोंको सर्वज्ञोक्त आम्नाय द्वारा निर्णीत कर लिया जाता है। अर्थात्—मृदु पृथ्वीकायिक जीवोंकी उत्कृष्टस्थिति बारह हजार वर्ष है। पर्वत, रत्न, कंकण, आदि कठिन पृथ्वीकायिक जीवोंकी परा स्थिति बाईस हजार वर्षकी है। जलकायिक जीवोंकी सात हजार, तेजस्कायिक जीवोंकी तीन दिन, वायुकायिक जीवोंकी तीन हजार वर्ष, और वनस्पतिकायिक जीवोंकी दस हजार वर्ष उत्कृष्ट स्थिति है। शंख, सीप, आदि द्वीन्द्रियोंकी बारह वर्ष, त्रीन्द्रियोंकी उनंचास दिन, मक्खी बर्र आदि चतुरिन्द्रिय जीवोंकी छह मास उत्कृष्ट स्थिति है। पंचेंन्द्रिय तिर्यंचोंमें जलचर मत्स्य, मकर, आदि जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कोटिपूर्व वर्ष है। सर्पट चलनेवाले गोह, नौला, बिषखपरा, आदिक जीव नौ पूर्वाङ्गतक जीवित रह सकते हैं। सर्पोंकी उत्कृष्ट आयु बियालीस हजार वर्ष है। पक्षियोंकी उत्कृष्ट आयु बहत्तर हजार वर्ष है। भोगभूमियोंमें पाये जा रहे पक्षियोंमें यह आयु सम्भवती है। चार पांववाले पशुओंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी है। सम्पूर्ण तिर्यंचोंकी जघन्य आयु श्वासके अठारहवें भागप्रमाण अन्तर्मुहूर्त है, जो कि कर्मभूमियोंके तिर्यंचोंमें ही पायी जाती है। यहां विशेष इतना ही कहना है कि पत्थरका कोयला, मिट्टी, कंकड, रत्न, आदि सचित्त पृथ्वीकी सरसों प्रमाण डेलीमें असंख्याते पृथिवीकायिक जीव हैं। यही दशा जलकी बूंद या अग्निका टुकडा अथवा वायुके स्वल्प भागमें भी लगा लेना। यदि कितने ही दिनोंतक अग्नि जलती रहे तो भी उसका जीव तीन दिनसे ज्यादा ठहर नहीं सकता है। असंख्य जीव वहां क्रमसे जन्म लेते और मरते रहते हैं। तेल, लकडी, विद्युत्प्रवाह, आदिसे जो चमकती हुई अग्नि ज्वालायें उपजतीं हैं, उन अग्निकायके जीवोंकी स्वल्पकाल स्थिति प्रसिद्ध ही है। क्योंकि अग्निज्वालास्वरूप अनेक शरीरोंका अग्निकायिक जीवोंकी मृत्युके पश्चात् का जल आदि पर्यायोंमें परिवर्तन हो जाता है। मधु मक्खियों या बर्रोंके छत्ता कई वर्षोंतक बने रहते हैं। उनमें मक्खियां भी पायी जाती हैं। ये उन मक्खियोंकी धारावाहिकसंतान हैं। एक मक्खी या बर्र छह महीनेसे अधिक जीवित नहीं रह सकती है। समुदित मक्खियोंकी संतान, प्रतिसंतानों, करके हुये मतिज्ञानों करके ये कार्य भी हो जाते हैं कि मक्खियां कुछ दिनके लिये पहाडोंपर या अन्य उचित स्थानोंपर चली जाती हैं। महीनों बाद उस स्थानपर लौट आती हैं। यद्यपि चौ इन्द्रिय जीवोंके मनसे होनेवाला विचार आत्मक श्रुतज्ञान नहीं है। फिर भी जितना कुछ मतिज्ञान है, उसके द्वारा घूम फिर कर अपने स्थानपर लौट आना या अपने बच्चोंके शरीर उपयोगी सम्मूर्छन पदार्थोंको ढूंढ कर ले आना,

अपने या बच्चोंके उपयोगी घरका निर्माण करना, शीत, उष्ण, मेघबाधाओंसे या घातकमनुष्य, पशु, पक्षियोंके उपद्रवसे बचाकर उचित स्थलमें गृह बनाना, खाद्यपदार्थोंका संग्रह कर रखना, आदि अनेक कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करना ज्ञानका कार्य है। यों ग्रन्थकारने तिर्यंचोंकी एक एक प्रकार उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तथा असंख्य प्रकारोंकी मध्यम स्थितियोंको साध दिया है।

किमर्थमिहोक्ते तिरश्चां परावरे स्थिती प्रकरणाभावेपीत्यादर्शयति।

इस तृतीय अध्यायके अन्तमें आर्य या म्लेच्छ मनुष्योंका प्रकरण आ जानेसे पूर्व सूत्रद्वारा मनुष्योंकी जघन्य उत्कृष्ट आयुका निरूपण कर देना उचित है। किन्तु तिर्यंचोंका प्रकरण नहीं होते हुये भी श्री उमास्वामी महाराजने यहां तिर्यंचोंकी जघन्य-उत्कृष्टस्थितिको किस लिये कह दिया है? इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तरवार्तिक द्वारा समाधान वचनको दर्पणवत् दिखलाते हैं।

ते तिर्यग्योनिजानां च संक्षेपार्थमिहोदिते।
स्थिती प्रकरणाभावेप्येषां सूत्रेण सूरिभिः ॥ १ ॥

प्रकरण नहीं होनेपर भी श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्रकरके इन तिर्यग्योनिमें जन्म लेने वाले जीवोंकी उन जघन्य उत्कृष्ट स्थितियोंका निरूपण संक्षेपके लिये कर दिया है। अर्थात्-नारकियों और देवोंकी स्थितिके निरूपण अवसरपर चौथे अध्यायमें यदि तिर्यंचोंकी आयुको कहा जाता तो "तिर्यग्योनिजनां स्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते" इतना लंगूरकी लांगूलतुल्य लम्बा सूत्र बनाना पडता। अक्षरों और प्रतिपत्तिका गौरव हो जाता। किन्तु यहांपर "तिर्यग्योनिजानां च" इतने स्वल्प सर्षपसमान सूत्रसे ही समीहित अर्थकी सिद्धि होगई है। कर्मभूमि या भोगभूमि स्थानोंमें मनुष्योंके समान तिर्यंच भी निवास करते हैं। अतः मनुष्योंके साथ तिर्यंचोंका भी प्रकरण है। मनुष्योंकी संगति नारकियोंसे सर्वथा नहीं है। हां, देवोंके साथ क्वचित् कदाचित् सम्मेलन हो जाता है। किन्तु मनुष्योंका तिर्यंचोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः मनुष्योंका वर्णन करते समय तिर्यंचोंका प्रकरण भी झटिति उपस्थित हो जाता है।

नन्वसंख्येयेष्वपि द्वीपसमुद्रेषु दृष्टेषु सार्धद्वीपद्वयप्रपंचं निरूपयतः सूत्रकारस्य किं चेतसि स्थितमित्याह।

यहां कोई वावदूक पण्डित आशंका करता है कि पचीस कोटाकोटि उद्धार पल्योंके समय प्रमाण नव असंख्यातें द्वीपसमुद्र इस तिर्यक् लोकमें देखे जा रहे हैं, तो उन सभीमेंसे केवल ढाई द्वीपोंको ही विस्तारसहित निरूपण कर रहे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजके चित्तमें कौनसी बात

व्यवस्थित हो गयी है ! बताओ। या तो हजारों, लाखों, सभी द्वीपोंका थोडा थोडा निरूपण करना चाहिये था। अथवा सातवें, आठवें सूत्रों करके सामान्य कथन कर तृतीय अध्यायको पूरा कर देना था। नौवें सूत्रसे प्रारम्भ कर चालीसवें सूत्रतक ढाई द्वीपकी ही स्तुति गाना तो उचित नहीं दीखता है। ढाई द्वीपसे बाहर भी असंख्य द्वीप समुद्रोंमें बडी बडी सुन्दर मनोहारी रचनायें हैं। ढाई द्वीपसे बाहर मनुष्य और तेरह द्वीपके बाहर सर्व साधारण अकृत्रिम जिनचैत्यालयोंके नहीं होनेसे उन असंख्य द्वीपोंकी अवज्ञा नहीं की जा सकती है। व्यन्तरोंके अकृत्रिम नगरोंमें तो वहां भी चैत्यालय हैं। इस आक्षेपका उत्तर देनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्त्तिकको कहते हैं।

सार्धद्वीपद्वये क्षेत्रविभागादिनिरूपणं।
अध्यायेस्मिन्नसंख्येयेष्वपि द्वीपेषु यत्कृतं ॥ २ ॥
मनुष्यलोकसंख्या या जिज्ञासविषया मुनेः।
तेन निर्णीयते सद्भिरन्यत्र तदभावतः ॥ ३ ॥

असंख्याते द्वीपोंके होनेपर भी इस तृतीय अध्यायमें श्री उमास्वामी महाराजने जो ढाई द्वीपोंमें ही क्षेत्र विभाग, पर्वत, नदी, आदिका निरूपण किया है, उससे अर्थापत्ति द्वारा सज्जन विद्वानों करके निर्णय कर लिया जाता है कि जो मनुष्यलोककी संख्या है, वही सूत्रकार मुनिकी जिज्ञासाका विषय है। क्योंकि ढाई द्वीपसे अतिरिक्त अन्य द्वीपोंमें उस मनुष्यलोककी संख्याका अभाव है। अर्थात्—असंख्य द्वीपोंमेंसे ठीक भीतरले ढाई द्वीपोमें ही उत्कृष्टरूपसे द्विरूप वर्गधाराकी पंचम कृतिके घनस्वरूप ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ यों उन्तीस अंक प्रमाण पर्याप्तमनुष्य पाये जाते हैं। अन्य द्वीपोंमें मनुष्य नहीं हैं। शिष्यके मनुष्यलोककी जिज्ञासा अनुसार सूत्रकारको नृलोकका व्याख्यान करना पडा है। अन्य कोई पक्षपात या अवज्ञा करनेका अभिप्राय नहीं है।

ननु च जीवतत्त्वप्ररूपणे प्रकृते किं निरर्थकं द्वीपसमुद्रविशेषनिरूपणमित्याशंकां निवारयति।

पुनः किसीकी सकटाक्ष आशंका है कि पहिले ही अध्यायसे प्रारम्भ कर पूरे दूसरेमें और तीसरे अध्यायके कुछ भागमें जीवतत्त्वका प्ररूपण करना जब प्रकरणप्राप्त हो रहा है, तो फिर बीचमें ही व्यर्थ विशेषद्वीपों और विशेषसमुद्रोंका निरूपण सूत्रकारने क्यों कर दिया है ? निरर्थक बातोंको सुननेके लिये किसी प्रेक्षावान्के पास अवसर नहीं है। निरर्थक बातोंसे बुद्धिमें परिश्रम उपजता है। पापप्रसंग भी हो जाता है। संवर और निर्जराके प्रस्ताव टल जाते हैं। इस प्रकार की गयी आशंकाके निवारणको ग्रन्थकार अग्रिमवार्त्तिक करके करते हैं।

न च द्वीपसमुद्रादिविशेषाणां प्ररूपणं ।
निःप्रयोजनमाशंक्यं मनुष्याधारनिश्चयात् ॥ ४ ॥

द्वीप समुद्र, नदी, ह्रद, आदि विशेषोंका प्ररूपण करना प्रयोजनरहित है, यह आशंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि इससे मनुष्योंके आधारभूत स्थलोंका निर्णय हो जाता है। सम्पूर्ण संसारियोंमें मनुष्योंकी गणना उच्चकोटिके जीवोंमें है। श्री अरहन्तपरमेष्ठी या उत्कृष्ट श्रोता, वक्ता, अथवा वादी, प्रतिवादी, ये सब मनुष्य ही तो हैं। अतः जीवोंका वर्णन करते समय मनुष्य और उनके अधिकरण हो रहे ढाई द्वीप और दो समुद्रोंका निरूपण करना व्यर्थ नहीं है। ज्ञान या ध्यानके उपयोगी प्रकरणोंको अवश्य सुनना, समझना चाहिये। यही ज्ञान विचारआक्रान्त होकर ध्यान बन बैठता है और स्वसंवेद्य सुखका उत्पादक हो रहा संवर, निर्जराका संपादक हो जाता है।

कानि पुनर्निमित्तानि तद्द्वीपसमुद्रविशेषेषूत्पद्यमानानां मनुष्याणामित्याह ।

यहां किसीकी जिज्ञासा है कि उन ढाई द्वीपविशेषों या लवणोद, कालोद, दो समुद्रविशेषोंमें उपज रहे मनुष्योंके फिर निमित्तकारण कौन हैं ? अर्थात्—किन कारणोंसे मनुष्य इन ढाई द्वीपोंमें उपज जाते हैं ? अन्यत्र क्यों नहीं उपजते हैं ? इसके उत्तरमें श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्त्तिकको कहते हैं।

नानाक्षेत्रविपाकीनि कर्माण्युत्पत्तिहेतवः ।
संत्येव तद्विशेषेषु पुद्गलादिविपाकिवत् ॥ ५ ॥

जैसे कि पुद्गल या जीव आदिमें विपाकको करने वाले पुद्गलविपाकी कर्म, जीवविपाकी कर्म, और भवविपाकी कर्म हैं, उसी प्रकार उन विशेषद्वीप या समुद्रविशेषोंमें उत्पत्ति होजानेके कारण अनेक क्षेत्रविपाकी कर्म भी संसारी आत्माके साथ बंधनबद्ध होरहे हैं।

यथा पुद्गलेषु शरीरादिलक्षणेषु विपचनशीलानि पुद्गलविपाकीनि कर्माणि शरीरनामादीनि, यथा च भवविपाकीनि नरकायुरादीनि, जीवविपाकीनि च सद्वेद्यादीनि, तथा तत्रोत्पत्तौ मनुष्याणामन्येषां च प्राणिनां हेतवः संति तद्भानाक्षेत्रेषु विपचनशीलानि क्षेत्रविपाकीन्यपि कर्माणि संति तत्र तत्रोत्पत्तौ तेषां हेतव इति तदाधारविशेषाः सर्वे निरूपणीया एव।

जिस प्रकार शरीर, उपांग, हड्डी, रक्त, आदि स्वरूप पुद्गलोंमें विपाक होनेकी टेवको रखनेवाले शरीर नामकर्म, आदिक पुद्गलविपाकी ६२ बासठ कर्म हैं। " देहादी फासंता पण्णासा णिमिणतावजुगलं च, थिर सुह पत्तेय दुगं अगुरुतियं पोग्गलविवाई "। और जिस प्रकार नरक आयु, तिर्यगायु, आदि चार कर्मप्रकृतियां भवविपाकी हैं और सद्वेदनीय आदिक अठत्तर कर्मप्रकृतियां जीवविपाकी

हैं। "आऊणि भवविवाई खेत्तविवाई य आणुपुव्वीओ। अठत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा"। ये तीन जातिकी प्रकृतियां मनुष्योंके या अन्यजीवोंके तिस प्रकार वहां उपजनेमें प्रेरक निमित्त कारण होजाती हैं, उसीके समान अनेकक्षेत्रोंमें विपाक होनेकी टेवको धारनेवाले चौथी जातिके चार आनुपूर्व्य क्षेत्र-विपाकी कर्म भी उन उन स्थलों पर उन जीवोंके जन्म लेकर उत्पत्ति होनेमें प्रेरक हेतु हो जाते हैं। अर्थात्— जिन जीवोंके जिस जातिके कर्मका सद्भाव पाया जावेगा, तदनुसार उन उन द्वीप या समुद्रोंमें जीवका जन्म हो जायेगा। इस कारण उन जीवोंके संपूर्ण आधार विशेषोंका निरूपण करना आवश्यक ही पड गया है।

तदप्ररूपणे जीवतत्त्वं न स्यात् प्ररूपितं।
विशेषेणेति तज्ज्ञानश्रद्धाने न प्रसिध्यतः॥ ६॥
तन्निबंधनमक्षुण्णं चारित्रं च तथा क्व नु।
मुक्तिमार्गोपदेशो नो शेषतत्त्वविशेषवाक्॥ ७॥

यदि उन क्षेत्रोंका निरूपण नहीं किया जायगा तो विशेषरूपकरके श्री उमास्वामी महाराज द्वारा जीवतत्त्वका निरूपण करना नहीं समझा जायगा। ऐसी दशामें उस जीवतत्त्वका ज्ञान करना और जीवतत्त्वका श्रद्धान करना ये दो रत्न कभी भी प्रसिद्ध नहीं होसकते हैं। और तिस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्रसिद्धि नहीं होनेपर उन दो को कारण मान कर होने वाला तीसरा रत्न निर्दोष या पूर्णचारित्र तो भला कहां प्रसिद्ध हो सकता है? और यों तीनों रत्नोंके नहीं प्रसिद्ध होने पर विचारा आर्षसूत्र द्वारा मोक्षमार्गका उपदेश देना भी कहां बना? जीवको मूलभित्ति मानकर शेष छह तत्त्वोंका निरूपण किया जाता है। जीवतत्त्वकी प्ररूपणा हुये विना शेष अजीव आदि तत्त्वोंका विशेषरूपसे कथन करना नहीं बन पावेगा। अतः मोक्षमार्ग माने गये रत्नत्रयके विषय हो रहे जीवादि तत्त्वोंकी समीचीनप्रतिपत्ति करानेके लिये उन जीवोंके आधारस्थानोंका निरूपण करना सूत्रकारका उचित कर्तव्य है।

तेषां हि द्वीपसमुद्रविशेषाणामप्ररूपणे मनुष्याधाराणां नारकतिर्यग्देवाधाराणामप्यप्ररूपणप्रसंगान्न विशेषेण जीवतत्त्वं निरूपितं स्यात्, तन्निरूपणाभावे च न तद्विज्ञानं श्रद्धानं च सिध्येत्, तदसिद्धौ श्रद्धानज्ञाननिबंधनमक्षुण्णं चारित्रं च क्व नु संभाव्यते? मुक्तिमार्गश्च कैवं? शेषाजीवादितत्त्ववचनं च नैवं स्यात्। ततो मुक्तिमार्गोपदेशमिच्छता सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्यभ्युपगंतव्यानि। तदन्यतमापाये युक्तिमार्गानुपपत्तेः, तानि चाभ्युपगच्छता तद्विषयभावमनुभवत् जीवतत्त्वमजीवादितत्त्ववत् प्रतिपत्तव्यं। तत्प्रतिपद्यमाने च तद्विशेषा आधारादयः प्रतिपत्तव्याः। इति युक्तं द्वीपसमुद्रादिसन्निवेशादिविशेषप्ररूपणमध्यायेऽस्मिन्। अत्रापरः प्राह—

कारण कि मनुष्योंके आधार हो रहे उन ढाई द्वीपविशेषों या दो समुद्रविशेषोंका निरूपण यदि नहीं किया जायगा, तब तो नारकी जीवोंके आधार हो रहे नरकस्थान तिर्यंच प्राणियोंके आधारभूत तिर्यक् लोक और देवोंके आधारस्थानोंके भी निरूपण नहीं करनेका प्रसंग आ जावेगा। और ऐसा होनेसे विशेषरूपसे जीवतत्त्वका निरूपण कर दिया गया नहीं समझा जायगा। तथा विशेषरूपसे उस जीवतत्त्वका निरूपण नहीं करनेपर उस जीवतत्त्वमें विज्ञान या श्रद्धान होना नहीं सिद्ध हो पायेंगे। उन विज्ञान और श्रद्धानकी नहीं सिद्धि होनेपर श्रद्धान और ज्ञानको कारण मान कर हुआ परिपूर्ण चारित्र भला कहां सम्भावित किया जावेगा ? और इस अन्धकारसदृश असिद्धियोंकी काली रातमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग कहां बना ? जीवतत्त्वसे अवशिष्ट अजीव, आदि छह तत्त्वोंका परिभाषण भी इस प्रकारकी दशामें नहीं बन पाता है। तिस कारणसे मोक्षमार्गके उपदेशकी इच्छा रखनेवाले विद्वान्को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, आदि स्वीकार करने पड़ेंगे। उन तीनोंमेंसे एकका भी विश्लेष हो जानेपर मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि नहीं हो सकती है। और उन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रोंको स्वीकार कर रहे विद्वान्करके उस रत्नत्रयके विषयपनका अनुभव कर रहे जीवतत्त्वकी अजीव, आस्रव, आदि तत्त्वोंके समान प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये और यों उस जीवतत्त्वकी प्रतिपत्ति करते सन्ते पण्डितको उस जीवके विशेष हो रहे आधार आदि और आधारोंकी लम्बाई, चौडाई, आदिकी प्रतिपत्ति कर लेना आवश्यक पड जाता है। इस कारण इस तृतीय अध्यायमें द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी, आदिकी रचना, चौडाई, उनमें रहनेवाले जीवोंकी आयु, आदिका विशेषरूपसे सूत्रकारने प्ररूपण किया है, यह युक्तिपूर्ण है। यहां तक तीसरे अध्यायके प्रमेयका विवरण हो चुका है। अब यहां कोई दूसरा सृष्टिकर्तावादी विद्वान् अपने मतको बहुत बढिया समझता हुआ कह रहा है, उसको भी सुनलो।

ननु द्वीपादयो धीमद्धेतुकाः संतु सूत्रिताः।
सन्निवेशविशेषत्वसिद्धेर्घटवदित्यसत् ॥ ८ ॥
हेतोरीश्वरदेहेनानेकांतादिति केचन।
तत्रापरे तु मन्यंते निर्देहेश्वरवादिनः ॥ ९ ॥
निमित्तकारणं तेषां नेश्वरस्तत्र सिध्यति।
निर्देहत्वाद्यथा मुक्तः पुरुषः सम्मतं स्वयं ॥ १० ॥

वैशेषिक अपने पक्षका अनुमान प्रमाण द्वारा अवधारण कराता है कि श्री उमास्वामी महाराज करके उक्त सूत्रों द्वारा कहे जा चुके द्वीप, समुद्र, पृथिवियें, पर्वत, शरीर, इन्द्रियें, आदिक पदार्थ

(पक्ष) किसी बुद्धिमान् कर्त्तास्वरूप हेतु करके बनाये गये समझे जाओ (साध्य) विशेष प्रकारकी रचना बन रही होनेसे (हेतु) घटके समान (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि यों वैशेषिकका मन्तव्य प्रशस्त नहीं है। क्योंकि उक्त अनुमानके हेतुका ईश्वरके शरीरकरके व्यभिचार हो जाता है। पौराणिक विद्वानोंने ईश्वरका शरीर स्वीकार किया है। किन्तु उस शरीरका निमित्त कारण ईश्वर नहीं पडता है। अतः हेतुके ठहर जानेसे ईश्वरदेहमें साध्यका अभाव हो जानेपर सन्निवेशविशेषत्व हेतु व्यभिचारी हो जाता है। यदि ईश्वरकरके अपने शरीरका निर्माण भी अन्य अन्य शरीरोंद्वारा स्वीकार किया जायगा तो अनवस्था दोष आ जावेगा। ईश्वर अपने शरीरोंको बनाते बनाते उपक्षीणशक्तिक हो जायगा। यों ईश्वरशरीर करके व्यभिचार दे चुकनेपर उस प्रकरणमें ईश्वरके देहको नहीं कहनेवाले कोई दूसरे वादी तो यों मान बैठे हैं कि ईश्वरके देह ही नहीं है, शरीररहित ही ईश्वर सम्पूर्णकार्योंका निमित्तकारण हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि उन वादियोंके यहां उन तनु तरु आदि कार्योंमें ईश्वर निमित्तकारण सिद्ध नहीं हो पाता है (प्रतिज्ञा), देहरहित होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वयं आपका भले प्रकार माना जा चुका मुक्त आत्मा सृष्टिका निमित्तकारण नहीं है (अन्वयदृष्टान्त)। अतः द्वीप, समुद्र, आदि सब अकृत्रिम है। अनादि अनिधन हैं।

विवादाध्यासिता द्वीपादयो बुद्धिमत्कारणकाः सन्निवेशविशेषत्वात् घटवदिति कश्चित्। तदसत्। हेतोरीश्वरशरीरेण विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकं इत्यागमप्रसिद्धेनानेकांतादिति। अपरे नेश्वरस्य शरीरमस्ति यतो हेतोर्व्यभिचारश्चोद्यत इति मन्यंते तेषां " अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः, स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महांतं " इत्यागमं प्रमाणयतां नेश्वरस्तत्र निमित्तकारणं सिध्यति निर्देहत्वात् स्वयं संमतमुक्तात्मवत्।

किसी पौराणिक विद्वान्का अनुमान है कि द्वीप, समुद्र, आदि ये कृत्रिम हैं या अकृत्रिम हैं ? यों विवादमें निर्णयार्थ प्राप्त हो रहे द्वीप, पर्वत, आदिक (पक्ष) किसी बुद्धिमान् कारण करके बनाये गये कार्य हैं (साध्य)। सन्निवेश यानी रचनाविशेष होनेसे (हेतु) घटके समान (अन्वयदृष्टान्त) यहांतक कोई कह रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि उसका कहना असत्यार्थ है। क्योंकि ईश्वरके तुम्हारे इस आगम द्वारा प्रसिद्ध हो रहे शरीरकरके सन्निवेशविशेषत्व हेतुका व्यभिचार हो जाता है। तुम्हारा माना हुआ वह आगम इस प्रकार है। शुक्ल यजुर्वेद संहिता १८ वां अध्याय उनीसवां मंत्र है कि ईश्वरके सब ओरसे चक्षुयें हैं, सम्पूर्ण ओर उसका मुख विद्यमान है, सब ओरसे उसकी बाहुयें हैं, वितर्कणा पूर्वक कहा जाता है कि अखिल ओरसे उसके पांव हैं। जिस प्राणी के जे जे चक्षुः, मुख आदि हैं वे सब उस उस उपाधिवाले परमेश्वरके ही हैं। यों सर्वत्र चक्षु आदि घटित होजाते हैं। पुण्य, पापोंके, अनुसार परमाणुओं करके वह एक ही देव

आकाश और भूमि सबको अन्य साधनोंके विना बना रहा है। पंचभूतरूप उपादान अवयवों करके संगत करा देता है। यहां कोई दूसरे नैयायिक विद्वान् यों मान बैठे हैं कि ईश्वरके कोई शरीर नहीं हैं, जिससे कि हमारे हेतुका व्यभिचार दोष बलात्कारसे प्रेरा जाता है। वे इस अपने आगमको प्रमाण कर रहे हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्के तृतीय अध्यायमें १९ वां श्लोक है कि वह ईश्वर हाथों से रहित हो रहा ही चाहे जिस छोटे या बडे पदार्थको पकड सकता है। पांवोंसे रहित होरहा बडे वेगसे दौड सकता है। आंखोंके विना सबको देख लेता है, कानोंके विना संपूर्ण शब्दोंको सुन लेता है, वह सबको जानता है, उस ईश्वरका परिज्ञान करनेवाला कोई नहीं है। योगीपुरुष उसको सबका अग्रवर्ती प्रधानपुरुष कहते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि उक्त आगमको प्रमाण माननेवाले उन नैयायिकोंके यहां माना गया शरीररहित ईश्वर भी उन द्वीप, समुद्र, आदिकी रचनामें निमित्तकारण सिद्ध नहीं होपाता है। क्योंकि ईश्वर देहरहित है। जो जो देहरहित है वह वह द्वीप, आदिका निमित्तकारण नहीं, जैसे कि नैयायिकोंका स्वयंसंमत होरहा मुक्तात्मा निर्देह होनेसे द्वीप आदिका निमित्तकारक नहीं है।

ननु च मुक्तात्मनामज्ञत्वान्न जगदुत्पत्तौ निमित्तत्वं ईश्वरस्य तु निर्देहस्यापि नित्यज्ञानत्वात्तन्निमित्तकारणत्वमेवेति चेत्–

पुनः नैयायिकका अवधारण है कि भो महाराज, मुक्त आत्मा तो ज्ञानरहित अज्ञ हैं। क्योंकि मोक्ष अवस्थामें बुद्धि, सुख आदि गुणोंका विनाश होजाता है। अतः मुक्त आत्मा विचारा जगत् की उत्पत्तिका निमित्तकारण नहीं होसकता है। हां, ईश्वर तो देहरहित होता हुआ भी नित्य ज्ञानका अधिकरण होनेसे इस जगत्का निमित्तकारण हो ही जाता है। कर्त्ताके निकट ज्ञान होनेकी आवश्यकता है। पोंगा शरीर अकिंचित्कर है। इस कारण यों अवधारण प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द स्वामीकी अग्रिमवार्तिक को सुनो—

नित्यज्ञानत्वतो हेतुरीश्वरो जगतामिति।
न युक्तमन्वयासत्त्वाद्व्यतिरेकाप्रसिद्धितः ॥ १ ॥

ईश्वर (पक्ष) तीनों जगत्के निर्माणका हेतु है (साध्य) क्योंकि उसका ज्ञान नित्य है (हेतु) नित्यज्ञानवाला ईश्वर जगत्को बना लेता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंका कथन युक्तिपूर्ण नहीं। क्योंकि इस अनुमानमें अन्वयदृष्टांतका सद्भाव नहीं है। अन्वयदृष्टान्तके विना साध्यके साथ हेतुकी व्याप्ति भला कहां निर्णीत की जावेगी ? आप नैयायिकोंके सिद्धान्त अनुसार एक ही व्यक्ति नित्य ज्ञानवान है, और वही जगत्का निर्माता है। उसीको तुमने पक्ष बना रखा है। ऐसी दशामें अन्वयदृष्टान्तका सद्भाव नहीं सम्भवनेसे व्यतिरेककी भी असिद्धि हो जाती है। कारण कि अन्वयकी भित्तिपर व्यतिरेककी सामर्थ्य बहुत बढ जाती है। अर्थात्—यदि दृष्टान्तके विना ही चाहे जिस हेतुसे अन्ट सन्ट किसी भी साध्यकी सिद्धि कर लोगे, तब तो तुम्हारा टूटा लाख रुपयोंका

सिद्ध हो जावेगा, इसके लिये यों अनुमान बनाया जा सकता है । मदीयोऽश्वको लाक्षिकः विलक्षणगतिमत्त्वात्, खंजत्वाद् वा । विलक्षण लंगडी, लूली, गति, अनुसार चलनेवाला होनेसे मेरा ढंगडा टट्टू बहुमूल्य है ।

ननु नित्यज्ञानत्वादित्येतस्य हेतोरन्वयासत्त्वेपि न व्यतिरेकासत्त्वं जगदकारणस्यास्मदादेर्नित्यज्ञानत्वाभावादिति न मंतव्यं, ज्ञानसंतानापेक्षयास्मदादेरपि नित्यज्ञानत्वात् । न हि ज्ञानसामान्यरहितोस्मदादिः संभवति, विरोधात् । यदि पुनर्ज्ञानविशेषापेक्षया नित्यज्ञानत्वं हेतुस्तदा न सिद्ध इत्याह—

नैयायिक अपने मतका अवधारण करते हुये कहते हैं कि यद्यपि हमारे " नित्यज्ञानत्वात् " इस हेतुके किसी दृष्टान्तमें अन्वयका सद्भाव नहीं है । क्योंकि ईश्वरके अतिरिक्त किसी भी व्यक्तिमें नित्य ज्ञानसे सहितपना नहीं पाया जाता है । तथापि हमारे हेतुके व्यतिरेकका असद्भाव नहीं कहा जा सकता है । " प्राणादिमत्त्व आदि " अनेक केवलव्यतिरेकी हेतुओंमें अन्वय नहीं होनेपर भी व्यतिरेक बडी प्रसन्नतासे सुखपूर्वक मिल जाता है । देखिये, जगत्का निर्माण करनेमें कारण नहीं बन रहे हम आदि अनेक संसारीजीवोंके नित्यज्ञानवान्पनेका अभाव है । इस ढंगसे साध्यके नहीं होनेपर हेतुके नहीं ठहरनेसे अस्मदादिक ही व्यतिरेकदृष्टान्त ठहर जाते हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये । क्योंकि हम आदिक अनेक जीवोंके भी ज्ञानसंतान अपेक्षा करके नित्यज्ञान सहितपना विद्यमान है । हम आदिक जीव सोते, जागते, बैठते, उठते, मरते, जन्मते, कदाचित् भी सामान्यज्ञानसे रहित नहीं सम्भवते हैं । आत्माका ज्ञान रहितपनेके साथ विरोध है । विग्रहगति, मत्त, मूर्च्छित, गर्भ, अण्डज, या मरणदशामें भी आत्माके ज्ञान पाया जाता है । अन्यथा लक्षणके नष्ट हो जानेसे लक्ष्य आत्मा जड बन बैठेगा । बहुत कहनेसे क्या फल है । आत्मा नष्ट ही हो जावेगा । शीतकाल या हिम आदिका सन्निधान होनेपर अग्निमें स्वल्प उष्णता भले ही रह जाय, किन्तु उष्णताका सर्वथा अभाव हो जानेपर वह अग्निपर्याय ही नहीं स्थिर रह सकती है । अतः अनादिकालसे अनन्तकालतक धाराप्रवाह चले आ रहे नित्य ज्ञानसे सहित अस्मदादिक संसारी जीव तुम्हारे यहां सृष्टिकर्त्ता नहीं माने गये हैं । अतः जो जगत्निर्माता नहीं वह नित्यज्ञानवान् नहीं, इस व्यतिरेकमें व्यभिचार आ जानेसे तुम नैयायिकोंका नित्यज्ञानत्व हेतु केवलव्यतिरेकी नहीं सिद्ध हो सका है । यदि फिर आप धाराप्रवाहरूप नित्यताको नहीं पकडकर ईश्वरमें विशेष व्यक्तिरूप ज्ञानकी अपेक्षासे नित्यज्ञानसहितपना हेतु करोगे तब व्यतिरेकदृष्टान्त तो बन गया । किन्तु ईश्वरके ज्ञानका नित्यपना सिद्ध नहीं हो पाता है । इसी बातको ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा कहते हैं ।

बोधो न वेधसो नित्यो बोधत्वादन्यबोधवत् ।
इति हेतोरसिद्धत्वान्न वेधाः कारणं भुवः ॥ १२ ॥

विधाता माने गये ईश्वरका ज्ञान (पक्ष) नित्य नहीं है (साध्य) ज्ञान होनेसे (हेतु) अन्य जीवोंके ज्ञान समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस प्रकार पक्षमें नहीं वर्त रहे नित्यज्ञानत्व हेतुका असिद्धहेत्वाभासपना हो जानेसे पृथ्वी, पर्वत, द्वीप, आदिका निमित्तकारण ईश्वर नहीं सध पाता है ।

बोधत्वं च स्यादीश्वरबोधस्य नित्यत्वं च स्याद्विरोधाभावादस्मादृशविशेषत्वादीश्वरस्य विशिष्टबोधोपपत्तेः अन्यथा सर्वज्ञत्वसिद्धिविरोधात् इति कश्चित् । सोप्ययुक्तवादी, तद्बोधस्य प्रमाणत्वे ततोऽपरस्य फलज्ञानस्यानित्यस्य तत्र प्रसिद्धेरफलस्य प्रमाणस्यासम्भवात् । तस्य फलत्वे नित्यत्वविरोधात् । फलं हि प्रमाणकार्यं तत्कथं नित्यं युक्तं ? प्रमाणफलात्मकमीश्वर-ज्ञानमेकमित्यपि व्याहतं, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् तस्य स्वजननासंभवात् ।

यहां कोई नैयायिक यों प्रतिकूल तर्क उठता है कि ईश्वरके ज्ञानमें ज्ञानपना रहे और नित्य-त्वाभाव साध्य नहीं रहे । अर्थात्—नित्यपना भी बना रहे, कोई विरोध नहीं पडता है । कारण कि अस्मद् आदि अल्पज्ञ जीवोंसे विलक्षण ईश्वर है । हमारे अनित्य ज्ञानसे उस ईश्वरका ज्ञान नित्य होता हुआ विशिष्ट सिद्ध होरहा है । अन्यथा यानी हम लोगोंकी अपेक्षा ईश्वरमें यदि विशेष अतिशय नहीं माने जाकर दूसरे सामान्य ढंगोंको अपनाया जायगा । तब तो सर्वज्ञपनकी सिद्धिका विरोध होजायगा कारण कि हम लोग सर्वज्ञ नहीं हैं । वैसा ही अल्पज्ञ ईश्वर होना चाहिये । किन्तु जैनजन परमात्माका सर्वज्ञपना इष्ट करते हैं । उसीके समान ईश्वरके ज्ञानको नित्य भी अभीष्ट कर लिया जाय । अतः बोधत्व हेतुसे ईश्वरका ज्ञान अनित्य नहीं सधा, तब तो हमारे नित्यज्ञानत्व हेतुसे वह जगत्का हेतु सध गया, इस प्रकार कोई ईश्वरवादी कह रहा है । ग्रंथकार कहते हैं कि वह भी युक्तिशून्य बोलने की ठेव को रखनेवाला है, क्योंकि प्रमाके करण होरहे प्रमाणोंका फल अवश्य होना चाहिये । अब बताओ, वह ईश्वरका ज्ञान विचारा प्रमाणस्वरूप है ? या फलआत्मक है ? उस ईश्वरके नित्यज्ञानको यदि प्रमाण माना जायगा तो उससे न्यारे दूसरे अनित्य होरहे फलज्ञानकी उस ईश्वरमें प्रसिद्धि होजा-यगी । फलसे रहित होरहे प्रमाणज्ञानका असंभव है । द्वितीय पक्ष अनुसार यदि उसी एक ज्ञानको फल मान लोगे तो उस ज्ञानके नित्यपनका विरोध होगा । फल तो कारकोंका कार्य होरहा अनित्य हुआ करता है । भला प्रमाणके कार्य होरहे उस फलको नित्य कहना किस प्रकार युक्त होसकता है ? तुम ही विचार करो । तुम्हारा यह कहना भी व्याघात दोषयुक्त है कि ईश्वरका एक ही ज्ञान प्रमाण आत्मक है और फलस्वरूप भी है । स्याद्वादियोंके यहां एक धर्मीमें प्रमाणत्व, प्रमेयत्व, प्रमातृत्व, प्रमाफलत्व आदि कतिपय धर्म अक्षुण्ण ठहर जाते हैं । किंतु तुम एकान्तवादियोंके यहां करणत्व और फलत्वका विरोध है । तुम्हारे यहां ईश्वरज्ञानमें प्रमाणता माननेपर फलत्व नष्ट हो जाता है । और फलपना माननेपर करणपना नष्ट हो जाता है । " नैकं स्वस्मात्प्रजायते " अपनी आत्मामें अपनी उत्पत्तिरूप क्रियाका विरोध है । हां, ज्ञप्तिक्रियाका विरोध नहीं है । अतः उस प्रमाणआत्मक ईश्वरज्ञानसे स्वका उपजनारूप—फलक

असम्भव है। स्वयं अपनेसे अपनेमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस सिद्धान्तको हम स्याद्वादी भी अनेक युक्तियोंसे परिपुष्ट समझते हुये मानते हैं।

यदि पुनरीशस्य प्रमाणभूतं ज्ञानं नित्यं, फलभूतं त्वनित्यमिति मतं, तदा ज्ञानद्वयपरिकल्पनायां प्रयोजनं वाच्यं। तस्याशरीरस्य स्रष्टुः सदा सर्वज्ञत्वसिद्धिः प्रयोजनमिति चेन्न, अज्ञानरूपाया एव सन्निकर्षादिसामग्र्याः प्रमाणत्वाभ्युपगमेपि सदा सर्वार्थज्ञानस्यानित्यस्य तत्फलस्य कल्पनात् सदा सर्वज्ञत्वसिद्धेर्व्यवस्थापनात्।

यदि फिर वैशेषिक अपना मत यों कहे कि ईश्वरके दो ज्ञान हैं। प्रमाण हो रहा ज्ञान तो नित्य है और ईश्वरका ज्ञान फलभूत हो रहा अनित्य है, यों मन्तव्य होय तब तो आचार्य कहते हैं कि तुम वैशेषिकोंको ईश्वरके दो ज्ञानोंकी प्रकल्पना करनेमें प्रयोजन कहना चाहिये। केवल एक ज्ञानवाले ईश्वरके ऊपर व्यर्थमें दो ज्ञानोंका बोझ लादना अनुचित है। यदि वैशेषिक यों कहें कि शरीररहित हो रहे उस सर्जनेवाले ईश्वरको सर्वदा सर्वज्ञपना सिद्ध होता रहे यही दो ज्ञानोंकी कल्पनाका फल है। एक करणज्ञान दूसरे फलज्ञानके स्वीकार कर लेनेसे ईश्वरका सर्वज्ञपना सदा रक्षित रह जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तुम्हारे यहां मानी गयी अज्ञानस्वरूप सन्निकर्ष, इन्द्रियां, आदि सामग्रीको ही प्रमाणपना स्वीकार करनेपर भी सदा सर्व अर्थको विषय करनेवाले और उस सामग्रीके फलस्वरूप अनित्य ईश्वरज्ञानकी कल्पना कर लेनेसे सर्वदा ईश्वरके सर्वज्ञपन की सिद्धिकी व्यवस्था हो जावेगी। भावार्थ—ईश्वरज्ञान एक ही माना जायगा। सन्निकर्ष आकाश, काल, आदिसे उसकी सर्वदा उत्पत्ति होते रहनेसे सर्वज्ञपना साध लिया जाय, कोई क्षति नहीं पडती है। कूटस्थ हो रहे पदार्थोंकी अपेक्षा सर्वदा अर्थक्रिया करते हुये उपज रहे पदार्थ परमार्थभूत समझे जाते हैं। हम जैनोंके यहां भी आकाश कालाणु, केवलज्ञानावरण कर्मोंका क्षय, आदि जड कारणोंसे परमात्माके सतत केवलज्ञानकी धाराप्रवाहसे उत्पत्ति होते रहनेपर परमात्माके सर्वज्ञता परिपूर्ण बनी रहती मानी गयी है।

नन्वशरीरस्येंद्रियसन्निकर्षाभाववदंतःकरणसन्निकर्षस्याप्यभावात् सन्निकर्षादिसामग्रीविरहे ततो अनादिसर्वार्थविषयं नित्यज्ञानमेव तस्य प्रमाणमिति चेन्न, आत्मार्थसन्निकर्षस्य प्रमाणत्वोपगमात्। महेश्वरस्य हि सकृत्सर्वार्थसन्निकर्षमात्रात्सर्वार्थज्ञानोत्पत्तिरिष्यते कैश्चित् ततो न नित्यज्ञानत्वं सिद्धं, येन न जगन्निमित्तमीश्वरो निर्देहत्वात् मुक्तात्मवदित्यनुमानं प्रतिहन्येत।

नैयायिक विद्वान् आक्षेप करते हैं कि शरीररहित ईश्वरके जब बहिरंग इन्द्रियां या अन्तरंग इन्द्रिय नहीं हैं तो इन्द्रिय सन्निकर्षस्वरूप सामग्री न होनेसे और अन्तरंग इंद्रिय कहे गये मनके साथ भी पदार्थोंका सन्निकर्ष नहीं होनेसे सन्निकर्ष, परामर्श, आदि सामग्रीका विरह है, ऐसा होनेपर ईश्वरमें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। तिस कारण अनादिकालसे सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय कर

रहा नित्यज्ञान ही उस ईश्वरका प्रमाण है। ईश्वरज्ञानको अनित्य माननेपर अनेक झगडे उठ बैठेंगे। श्री विद्यानन्द स्वामी समझाते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तुम्हारे यहां आत्मा और अर्थके सन्निकर्षको प्रमाणपना स्वीकार किया गया है। कहीं सुवर्ण आदिमें आत्मा, मन, इन्द्रिय, अर्थ, चारोंका सन्निकर्ष होकर ज्ञान उपजता माना है। किसी सुख आदिका मन अर्थ और आत्माके त्रय सन्निकर्षसे ही ज्ञान उपज जाता है। कचित् अर्थ और आत्माके द्वये सन्निकर्षसे ही ज्ञानोत्पत्ति मानी गयी है। तुम्हारे यहां प्रमितिके करण स्वीकार किये गये सन्निकर्षको प्रमाण इष्ट कर लिया है। व्यापक और नित्य हो रहे महेश्वरका एक बार ही सम्पूर्ण अर्थोंके साथ सन्निकर्ष हो जानेसे सम्पूर्ण अर्थोंके ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाना किन्हीं नैयायिक विद्वानोंने अभीष्ट कर ली है। तिस कारण ईश्वर का ज्ञान नित्य नहीं सिद्ध हो सका, जिससे कि ईश्वर (पक्ष) जगत्का निमित्त कारण नहीं है (साध्य) शरीररहित होनेसे (हेतु) मुक्त आत्माके समान (अन्वयदृष्टान्त), यह हमारा अनुमान प्रतिघातको प्राप्त हो जाता। भावार्थ—नैयायिकोंने देहरहित भी ईश्वरको नित्यज्ञानकी सामर्थ्यद्वारा जगत्निर्माता माना था। किन्तु ईश्वरका ज्ञान उनके बूते नित्य नहीं सिद्ध हो सका। अतः निर्देहत्व हेतुसे ईश्वरमें जगत् निमित्तपनके अभावको साधनेवाला हमारा अनुमान अप्रतिहत है। नित्यज्ञानसे रहित कोई भी जीव देहरहित होता हुआ मुक्तआत्माके समान जगत्का निर्माता नहीं है।

कालादेरशरीरस्य कार्योत्पत्तिनिमित्तता।
सिद्धेति व्यभिचारित्वं निर्देहत्वस्य चेन्मतं ॥ १३ ॥
न तस्य पुरुषत्वेन विशिष्टस्य प्रयोगतः।
कालादेरशरीरत्वेश्वरत्वाव्यभिचारतः ॥ १४ ॥

नैयायिक कहते हैं कि शरीररहित भी आकाश, काल अदृष्ट आदिको यावत् कार्योंकी उत्पत्ति में निमित्तकारणपना सिद्ध है। इस कारण तुम जैनोंका निर्देहत्व हेतु व्यभिचारहेत्वाभास दोषसे सहित है, ऐसा मन्तव्य होनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यों नहीं कहना। क्योंकि वह केवल "निर्देहत्व" इतना ही हेतुका शरीर नहीं है। किन्तु पुरुषपने करके विशिष्ट हो रहे उस निर्देहत्व हेतुका प्रयोग किया गया है। अतः काल आदिकसे व्यभिचार दोष नहीं है। क्योंकि कालादिकमें अशरीरत्व है। किन्तु विशिष्टपुरुष (ईश्वर) पना नहीं है। कालादिकमें शरीररहित ईश्वरपनका व्यवहार नहीं होता है। अतः कालादिमें हेतुका पूरा शरीरघटित नहीं होनेसे व्यभिचारदोष नहीं फटक पाता है।

देहान्निष्क्रांतो निर्देहः पुरुषविशेषो महेश्वरस्तत्त्वनिर्देहपुरुषत्वं ततः पुरुषत्वे सति निर्देहत्वादिति पुरुषत्वेन विशिष्टस्य निर्देहत्वस्य प्रयोगान्न कालादिना सर्वकार्योत्पत्तिनिमित्तेनाशरीरेण व्यभिचारित्वं यतोऽप्रतिहतमिदमनुमानं न स्यादशरीरेश्वरजगन्निमित्तत्वाभावसाधनं। किं च—

हमारे निर्देहत्व हेतुके पेटमें ही पुरुषविशेषपना घुसा है। जैसे कि अज्ञानी कह देनेसे पर्युदासवृत्ति करके जीव उसके पेटमें घुसा हुआ है। अज्ञानी कोई डेल नहीं होता है। देहसे जो निष्क्रांत होरहा है वह विशेषपुरुष महेश्वर निर्देह है " निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पंचम्याः " इससे वहां तत्पुरुष समास होजाता है। उस निर्देह पुरुषके भावको निर्देहपुरुषत्व कहते हैं। " भावे त्वतलौ " भावमें त्व प्रत्यय कर दिया गया है। तिस कारण " पुरुषत्वे सति निर्देहत्वात् " पुरुष होते हुये निर्देहपना इतना हेतु बना है। इस पुरुषत्व करके विशिष्ट होरहे निर्देहत्व हेतुका प्रयोग कर देनेसे सर्व कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त माने जारहे किन्तु शरीररहित जड काल, आकाश, आदि करके हेतुका व्यभिचार दोष नहीं आता है। जिससे कि हम जैनोंका यह अशरीर ईश्वरमें जगत्के निमित्तपनके अभावको साधनेवाला अनुमान अप्रतिहत (अकाट्य) नहीं होजाय। अर्थात्—हमारा अनुमान निर्दोष है। दूसरी बात एक यह भी है, उसको अगली वार्तिकसे सुनो।

जगतां नेश्वरो हेतुरज्ञत्वादन्यजंतुवत्।
न ज्ञोसावशरीरत्वान्मुक्तवत्सोन्यथा सवित् ॥ १५ ॥

ईश्वर (पक्ष) तीनों जगत्का निर्माणकर्त्ता हेतु नहीं है (साध्य) अज्ञ होनेसे (हेतु) अन्य जंतुओंके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमानका हेतु पक्षमें ठहर जाता है। अतः असिद्ध हेत्वाभास नहीं है। देखिये, वह ईश्वर (पक्ष) ज्ञाता नहीं है (साध्य) शरीररहित होनेसे (हेतु) मुक्त आत्माके समान, अन्यथा यानी शरीररहित भी ईश्वरको यदि ज्ञायक मान लिया जायगा तो वह मुक्त आत्मा भी ज्ञानी बन बैठेगा। अर्थात्—वैशेषिकोंने मोक्ष अवस्थामें आत्माके बुद्धि आदि नौ विशेष गुणोंका अत्यन्त उच्छेद इष्ट कर लिया है। " नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदो मुक्तिः "। कोई विद्वान् यों भी बखानते हैं " एकविंशतिदुःखध्वंसो मोक्षः "। छह इन्द्रियां, ६ छह इन्द्रियोंके विषय १२ और ६ इन्द्रियोंके ज्ञान १८ सुख १९ दुःख २० और शरीर २१ यों इक्कीस दुःखोंका मुक्ति अवस्थामें विनाश होजाता है। यद्यपि घट, डेल आदि पदार्थोंमें आत्मसंबंधी नौ विशेष गुण या इक्कीस दुःख नहीं हैं। अतः घट आदिको भी मुक्तपनेका अतिप्रसंग यों नहीं होसकता है कि मोक्ष अवस्थामें गुणोंका या दुःखों का ध्वंस उपजना चाहिये। प्रतियोगियोंका प्रथम सद्भाव होने पर तो पुनः उनका ध्वंस हो सकता है। किन्तु घट आदिमें ज्ञान आदि गुणों या दुःखोंका प्रथमसे ही अत्यन्ताभाव है। अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है। जैनोंके यहां भी इस अतिप्रसंगके निवारणार्थ कर्मोंके ध्वंसको मोक्ष मानते हुये इसी उपायका अवलम्बन लिया जा रहा है। तभी डेल, घडा, आदिमें मुक्तपनका अतिप्रसंग टल सका है। आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकोंके यहां मुक्ति अवस्थामें आत्मा शरीररहित होता संता ज्ञानरहित भी हो जाता है। इसी मुक्तदृष्टान्तके अनुसार शरीररहित होनेसे अज्ञ बन गये ईश्वरकरके जगत्का निर्माण

नहीं हो सकना साध दिया जाता है। यहां इतना और समझ लेना चाहिये कि ज्ञेय और ज्ञानवान्में अन्तर है। " जानाति इति ज्ञः " जो आत्मा निज ज्ञानपरिणतिके साथ तदात्मक हो रहा सन्ता जानता है, वह ज्ञ है। वैशेषिक और नैयायिक विद्वान् तो गुण और गुणीका भेद मानते हैं। उनके यहां " ज्ञ " शब्द ही अलीक है। वे दण्डवान् पुरुषः के समान ज्ञानवान् आत्मा यों कह सकते हैं। आत्माका गांठका निजस्वरूप ज्ञान नहीं है। ऐसी दशामें केवल ईश्वर या मुक्त आत्मायें ही नहीं, किन्तु सभी जीवोंकी आत्मायें अज्ञ ठहरती हैं। जो मूल स्वरूपसे अज्ञ है आकाशके समान वह ज्ञानके योगसे भी " ज्ञ " नहीं हो सकता है। अतः आचार्योंकी ओरसे कहा गया अज्ञपना हेतु साभिप्राय है।

एतेनानित्यज्ञानत्वेपीश्वरस्य ज्ञात्वा जगन्निमित्तत्वसिद्धेर्न मुक्तात्मवत्तदनिमित्तत्वमित्येतन्निरस्तमशरीरस्य, तन्मते सर्वथाप्यज्ञत्वात्। तस्य ज्ञत्वे मुक्तात्मनोपि ज्ञत्वप्रसंगाद्विशेषाभावात्।

इस उक्त कथन करके वैशेषिकोंके इस कथनका भी निराकरण किया जा चुका समझ लो कि अनित्य ज्ञानसे युक्त हो रहे भी ईश्वरको कारणोंका परिज्ञान कर जगत्का निमित्तपना सिद्ध हो जाता है। इस कारण मुक्त आत्माके समान ईश्वरको उस जगत्का अनिमित्तपना नहीं है। अर्थात्—मुक्त आत्मा तो सर्वथा ज्ञानसे रहित है। किन्तु ईश्वर अनित्यज्ञानसे युक्त है। अतः जगत्का निमित्तकारण हो सकता है। इस वैशेषिकोंके मतका निराकरण यों हो जाता है कि उनके मतमें शरीररहित आत्माको सभी प्रकारोंसे अज्ञ माना गया है। यदि अशरीर भी उस ईश्वरको ज्ञ माना जायगा तब तो मुक्त आत्माको ज्ञ-पनेका प्रसंग होगा। क्योंकि ईश्वर और मुक्त आत्मामें विशेषाधायक अन्तरका अभाव है।

सदेहबुद्धिमद्धेतुर्दृष्टांतोपि घटः कथं।
निर्देहबुद्धिमद्धेतौ साध्ये जगति युज्यते॥ १६॥

जगत्में निमित्तकारण माने गये देहरहित बुद्धिमान्को साध्य करते संते भला देहसहित बुद्धिमान्, कुलालको अपना हेतु मानकर उपजा घट दृष्टान्त भी किस प्रकारसे युक्त हो सकता है? अर्थात्—साध्यकोटिमें देहरहित बुद्धिमान् है और घटदृष्टान्तकी सामर्थ्यसे देहसहित बुद्धिमान् निमित्तकारण सध जायगा। ऐसी दशामें हेतुके विरुद्धहेत्वाभास हो जानेकी सम्भावना है।

धीमद्धेतुत्वसामान्यं साध्यं चेन्निर्विशेषकं।
नानाधीमन्निमित्तत्वसिद्धेः स्यात् सिद्धसाधनम्॥ १७॥
नानात्मपरिणामाख्यभावकर्मनिमित्तकं।
सिद्धं हीदं जगत्तस्य तद्भोग्यत्वप्रसिद्धितः॥ १८॥

वैशेषिक यदि विशेषोंसे रहित केवल बुद्धिमान् हेतुसे जन्यपन सामान्यको साध्य करेंगे तब तो जगत्का निमित्तपना नानाबुद्धिमानोंको सध जायगा। ऐसी दशामें वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष लगा। अर्थात्—धूम हेतु द्वारा जैसे तृणसम्बन्धी पत्तोंसम्बन्धी और घास या घौकी आग इत्यादि विशेषताओंको नहीं कर कोरे अग्निसामान्यको साधा जाता है, उसी प्रकार जगत्का निर्माण कर्त्ता सामान्यरूपसे बुद्धिमान् साधा जाता है। सर्वज्ञता, अल्पज्ञता, बहुज्ञता, मतिज्ञानीपन, प्रत्यक्ष-ज्ञानीपन आदि विशेषताओंको नहीं खोला गया है। यों मान लेनेसे वैशेषिकोंके ऊपर आये हुये पूर्व कटाक्षोंका तो निराकरण हो जाता है। किन्तु हम, शरीर, इन्द्रिय आदि कार्यजगत्के निर्माणकर्ता अनेक आत्माओंकी सिद्धि बन बैठती है हम स्याद्वादियोंके यहां वृक्ष, फल, फूल, आदिको पौद्गलिक नामकर्मकी प्रेरणा अनुसार बनानेवाले उनमें निवास कर रहे जीव ही माने गये हैं। देवदत्तकी आत्मा देवदत्तके शरीरको बना लेती है। चींटीकी आत्मा चींटीके शरीर, अवयव, इन्द्रियां, रक्त, धातु, मल आदिको बना लेती है। पौद्गलिक अदृष्ट या अन्यपदार्थ भी भले ही उपादान कारण या निमित्त कारण हो जांय, गर्भमें ही पत्नीके शरीरको बनानेमें पतिका अदृष्ट निमित्त होजाय, किन्तु कर्त्ता स्वरूप निमित्त कारण वे वे जीव ही पडते हैं। अतः हमारे माने हुये सिद्धांतको ही तुम अनुमान द्वारा साध रहे हो, तुम पर यह सिद्धसाधन दोष हुआ। यह जगत् (पक्ष) अनेक आत्माओंके नैमित्तिक परि-णामों नामक भावकर्मको निमित्त मानकर उपजा सिद्ध होरहा है (साध्य) क्योंकि उस जगत्को उन अनेक आत्माओंके भोग्यपनकी प्रसिद्धि होरही है (हेतु) वैशेषिकोंने भी संपूर्ण कार्योंके प्रति साक्षात् या परंपरया अदृष्टको निमित्तकारण अभीष्ट किया ही है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, सभी जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा स्वोपार्जित कर्मोंकी सामर्थ्य अनुसार अंतरंग, बहिरंग, अनेक कार्योंको बना लेते हैं। दीमक अच्छा घर बना लेती है, चिडिया उत्तम घोंसला बना लेती है, चौ इन्द्रिय जीव घरघुली मिट्टीका सुंदर घर बना लेती है। महलोंके समान इन घरोंमें भी द्वार, बच्चोंके स्थान, सोने, बैठनेके स्थल, खाद्य सामग्रीके एकत्रित करनेके स्थान, विपत्तियोंसे बचे रहनेके उपाय ये सब क्षुद्र कीटों द्वारा बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक निजपुरुषार्थ द्वारा बना लिये जाते हैं। ज्ञान या ज्ञानी सभी कार्योंको बना डालता है। हिताहितप्राप्तिपरिहार कर लेता है। आत्मा अपनी पर्याप्ति शक्तिद्वारा शरीर, इन्द्रिय, आदिको बना लेता है। काल, आकाश, आदिको निमित्त पाकर और भावकर्मोंको प्रेरक निमित्त पाकर यह आत्मा अनेक चमत्कारक कार्योंको बातकी बातमें बना डालता है। इसमें कृतकृत्य ईश्वरको घसीटनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। संपूर्ण जगत्को अनेक बुद्धिमान् बना डालते हैं, जैसे कि प्रत्येक पुरुष व्यक्ति अपने अपने मूत्र, मल, रेचन, भोजन, गमन, आदि कार्योंको बना लेता है, अथवा प्रत्येक गृहस्थ अपनी गृहस्थ उचित क्रियाओंका स्वयं विधाता है। सिपाई या राजा अपने कर्त्तव्योंको पाल रहे हैं। उसी प्रकार अनेक कार्योंका पिण्ड होरहा यह जगत् भी अनेक आत्माओं करके ही बना लिया जाता है। प्रायः सभी कार्य पदार्थ किसी न किसीके अदृष्ट द्वारा बनाये जाकर साक्षात् या परंपरया भोग्य बने हुये हैं।

न हि धीमद्धेतुत्वमात्रं जगतां पर्यायार्थादेशाद्भ्युपगच्छतः स्याद्वादिनोऽपसिद्धांतः, सिद्धांतेपि नानाप्राणिपरिणामाख्यभावकर्मनिमित्तजगद्व्यवस्थितेः अन्यथा जगतस्तदुपभोग्यत्वविरोधात् ।

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे तीनों या संपूर्ण जगत्के सामान्यरूप करके हेतु होरहे नाना बुद्धिमानोंके स्वीकार करते हुये स्याद्वादी पण्डितके यहां कोई अपसिद्धांत दोष नहीं है। अर्थात्—बुद्धिमान् जीवोंको जगत्का कारण मान लेनेसे स्याद्वादीका अपने सिद्धांतसे स्खलन नहीं होजाता है। क्योंकि जैनसिद्धांतमें भी अनेक प्राणियोंके परिणामसंज्ञक भावकर्मोंको निमित्त पाकर जगत् निर्माणकी व्यवस्था की गई है। अन्यथा यानी अनेक प्राणियोंको निमित्त नहीं मानकर यदि जगत्के कारण को दूसरे ढंगका माना जायगा तो जगत्को उन प्राणियोंके उपभोग करने योग्यपनका विरोध होजावेगा। बात यह है कि आत्माके पुद्गलस्वरूप कर्मोंको निमित्त पाकर हुये परिणाम भी चेतन आत्मक भावकर्म हैं। क्योंकि क्रोध, गति, वेद, उत्साह आदि भावकर्मोंका उपादानकारण आत्मा ही तो है। अतः आत्मा चाहे स्वपुरुषार्थसे अथवा भले ही स्वकीयपरिणाम होरहे भावकर्मोंसे कार्योंको करे, उन सर्व कार्योंका यथायोग्य भोग कर लेता है। "कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः सामानाधिकरण्यात्"। जो ही कर्ता है वही भोक्ता है। एक स्त्री यदि दश मनुष्योंकी रसोई बनाती है तो भले ही वह दशवें भागका उपभोग करती है। फिर भी गृहस्थसम्बन्धी कर्त्तव्य या प्रेमप्राप्ति, यशः आदिका आनंद पूरा ले लेती है। कुम्हार हजारों घडोंको बनाता है, सूचीकार (दर्जी) सैकडों कपडोंको सीवता है। सुनार दूसरोंके वास्ते भूषणोंको रचता है। ये सब शिल्पकार उनका पारिश्रमिक व्यय यानी मूल्य प्राप्त कर उन कार्योंको भोग लेते हैं। कोई निःस्वार्थ देशसेवक या परोपकारी साधु अथवा औषधदानी वैद्य यदि अनेक कार्योंका संपादन कर रहे हैं तो उनको भी निःस्वार्थसेवा, स्वकर्त्तव्यपालन, स्वदेशीय अभिमान, यशःप्राप्ति, पुण्यसंचय, आदि उपभोगोंकी प्राप्ति विना चाहे ही होजाती है। अकामनिर्जरा भी होजाती है। यदि किसीको स्वकृतकार्योंका उपभोग न भी मिल सके तो हमारी यह व्याप्ति नहीं बनी है, जो जिसका कार्य है वह कार्य उसका उपभोग्य अवश्य है। हमने तो अनेक स्थलों पर वैसा देखकर स्वरूपकथन कर दिया है। अव्यभिचारी कार्यकारणभाव नहीं बना दिया है। दो, चार, स्थलपर घटित होजानेसे ही हमारा प्रयोजन सध जाता है। कार्यका अपने कारणोंके साथ अन्वयव्यतिरेक है। व्यापक, अशरीर,नित्य, ईश्वरके साथ कार्योंका अन्वयव्यतिरेक नहीं है। एतन्मात्र हमें सुझाना है।

सशरीरः कुलालादिः कुर्वन् दृष्टो घटादिकं ।
स्वयमात्मा पुनर्देहमशरीरोपि विश्रुतः ॥ १९ ॥
सदेहेतरसामान्यस्वभावो जगदीश्वरः ।
करोतीति नु साध्येत यदा दोषस्तदा कः ॥ २० ॥

इत्येके तदसंबंधं स्वशरीराणि कुर्वतां ।
शरीरांतरसंबंधात्मनां स्यान्नान्यथा क्रिया ॥ २१ ॥
परापरशरीराणां कल्पनान्नानवस्थितिः ।
तेषामनादिसंबंधात्कार्यकारणभावतः ॥ २२ ॥

यदि वैशेषिक यों कहे कि कुम्हार, कोली आदि आत्मायें शरीरसहित होरहीं घट आदि कार्योंको करती हुयीं देखी गयी हैं और फिर जन्मकी आदिमें स्वयं अशरीर होता हुआ भी आत्मा नवीनदेहको बना रहा प्रसिद्ध होरहा है । अतः जगत्का निमित्तकारण बुद्धिमान् आत्मा है। यहां देह सहित और देहरहित दोनों प्रकारके विशेष जीवोंमें वर्तरहे सामान्य स्वभावको धार रहा ईश्वर जगत्को बना रहा साधा गया है । साध्यकोटिमें देहसहित या देहरहित ऐसी कोई विशेषता नहीं डाल दी है । भावार्थ—कार्योंको बनानेमें कर्त्ताका शरीरसहितपना और शरीररहितपना उपयोगी नहीं है । शरीर-सहित आत्मा भी अनेक कार्योंको कर देते हैं, और शरीररहित भी आत्मा पहिले पहिले नये शरीरको या ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नोंको बना देता है । अतः दोनों प्रकारकी आत्माओंका सामान्य स्वभाव होरहे आत्मत्वधर्मसे युक्त बुद्धिमानको हम वैशेषिक जगत्का कर्त्ता साध रहे हैं । भले ही दृष्टान्तमें शरीरसहित कर्त्ता होय और दार्ष्टान्तमें अन्य प्रमाणों करके वह कर्त्ता अशरीर साध दिया जाय, हमारी कोई क्षति नहीं है। ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्नके साथ कर्त्तापनकी व्याप्ति है। शरीरसहितपन और शरीर-रहितपन कोई कर्त्तापनके प्रयोजक नहीं हैं । देखिये " पर्वतो वन्हिमान् धूमात् महानसवत् ,, यहां दृष्टान्त होरहे रसोई घरमें लक्कडोंकी आग है और पर्वतमें सूखे तृण या पत्तोंकी आग सुलग रही है । किन्तु सामान्य अग्निको साध्य करने पर कोई दोष नहीं आता है । इसी प्रकार यहां भी सामान्य स्वभाववाले बुद्धिमान्को जब अनुमान द्वारा साधा जावेगा तब तुम जैनोंकी ओरसे दिया गया वह सिद्धसाधन दोष कहां आया ? अर्थात—हमारे ऊपर सिद्धसाधन दोष लागू नहीं है । तुम्हारे यहां असिद्ध होरहे पदार्थको हम साध रहे हैं, तुम्हारे यहां सिद्ध होरहे ही को हम नहीं साध रहे हैं, यहांतक कोई एक वैशेषिक पण्डित कह चुके हैं । आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकोंका वह कहना संबंधयोज-नासे शून्य है । असम्बद्धप्रलापी होनेसे उनके पूर्वापरवचनोंकी संगति ठीक नहीं बैठती है । क्योंकि पूर्वकालीन अन्य सूक्ष्मशरीरोंके साथ संबंध रख रहे आत्माओंकी ही अपने शरीरोंको करते संते क्रिया होसकती है । अन्य प्रकारोंसे यानी शरीररहित आत्माओंकी क्रिया अपने नवीन शरीरको बनानेके लिये नहीं होसकती है । जैसे कि स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीरोंसे रहित होरहा मुक्त आत्मा पुनः अपने शरीरोंको नहीं बना सकता है । शरीररहित आकाश भी निजके पौद्गलिक शरीरका निर्माण नहीं कर पाता है । बीजांकुरन्यायकरके अनादिकालसे चला आया छिलकासहित धान ही उपज

सकता है। एक बार छिलका निकाल देनेपर वह धान्य पुनः नहीं उग सकता है। इसी प्रकार अनादिकालसे कार्यकारणप्रवाहकरके कर्म नोकर्मोद्वारा सशरीर हो रहा आत्मा ही उत्तरोत्तर अनेक शरीरोंको बना लेता है। कर्म, नोकर्म, शरीरोंसे रहित हो गये शुद्ध सिद्धपरमेष्ठी पुनः शरीरोंको नहीं रच पाते हैं। यदि यहां कोई अनवस्था दोष उठावे कि आत्मा इस वर्तमान शरीरको पूर्व शरीरसे सहित होकर बनावेगा और उस पूर्व शरीरको उससे भी पहिलेके शरीरसे सम्बन्धी होकर बनायेगा। यों पर, अपर, अनेक शरीरोंकी परिकल्पना करनेसे महान् अनवस्था दोष आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसी अनवस्था दोषस्वरूप नहीं है। प्रत्युत गुण है। क्योंकि आत्माके साथ कार्यकारणभावमुद्रासे उन शरीरोंका अनादिसे सम्बन्ध होता चला आ रहा है, जैसे कि बीज वृक्ष या अण्डा मुर्गी इनमें अन्योन्याश्रय या अनवस्था दोष नहीं आते हैं। मूलको नष्ट करनेवाली अनवस्था तो दूषण है। किन्तु मूलको पुष्ट करनेवाली या कुलपरम्पराको बढानेवाली अनवस्था भूषण है। अतः युक्तियोंसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि शरीरसहित आत्मा ही अन्य शरीरोंको बनाता है। अतः तुम्हारे बुद्धिमान् कर्त्ताको साधनेवाले अनुमानमें घटदृष्टान्तकी सामर्थ्यसे सशरीरकर्त्ता ही सिद्ध हो पायगा। अशरीर नहीं और सामान्य बुद्धिमानोंको साध्य कोटिमें धरनेपर नाना बुद्धिमानोंको निमित्तपना सिद्ध हो जानेसे सिद्धसाधन दोष तुम वैशेषिकोंके ऊपर वैसाका वैसा ही अवस्थित बना रहता है।

पूर्वमतनुत्वे नरस्य।

कोई भी जीव पूर्वशरीरके विना अन्य शरीरोंको नहीं बना सकता है। यदि शरीर बनानेके पूर्वमें आत्माको शरीररहित माना जायगा तब तो—

मुक्तस्येव न युज्येत भूयोन्यतनुसंगतिः।
पारतन्त्र्यनिमित्तत्वं धर्माधर्मयोर्बुद्धिवत् ॥ २३ ॥

मुक्त आत्माके समान इस संसारीजीवका पुनः बहुतसे अन्य शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना नहीं उचित हो सकेगा। अशरीर आत्मा फिर परतंत्र नहीं हो सकता है। यदि वैशेषिक यों कहें कि अशरीर होता हुआ भी आत्मा अपने अदृष्टसंज्ञक धर्माधर्म गुणों करके परतंत्र हो रहा बन्धनबद्ध हो जाता है, इसपर आचार्य कहते हैं कि जैसे आत्माका ज्ञानगुण आत्माको पराधीन नहीं करता है, उसी प्रकार आत्माके तुम्हारे यहां माने गये धर्म, अधर्म, गुण भी आत्माको परतंत्र बनानेके निमित्त नहीं हो सकते हैं। यदि अपने ही अंग, स्वभाव या गुण अपनेको पराधीन करने लगें तो सम्पूर्ण पदार्थ अपने स्वरूपोंका परित्याग कर बैठेंगे।

सा यद्यदृष्टसद्भावान्मता तस्य तु सिध्यतु।
पूर्वं कर्मशरीरेण संबंधः परविग्रहात् ॥ २४ ॥

यदि वह संसारी जीवोंकी परतंत्रता वैशेषिकोंके यहां धर्म, अधर्मस्वरूप अदृष्टका सद्भाव होनेसे मानी जायगी तब तो उस आत्माके पहिले कर्मशरीरके साथ सम्बन्ध सिद्ध हो गया, (हो जाओ) और वह कर्मका सम्बन्ध उससे भी पहिलेके दूसरे शरीरसे प्राप्त होकर सम्बन्धित हुआ समझा जायगा, यों जैनसिद्धान्तके सदृश तुमको भी मानना पडेगा ।

शरीरमात्मनोऽदृष्टं पुद्गलात्मकमीरितं ।
सर्वथात्मगुणत्वेस्य पारतंत्र्यानिमित्तता ॥ २५ ॥

आत्माका कर्मशरीर जो अदृष्ट माना गया है, वह पुद्गलस्वरूप कहा गया है । यदि इस अदृष्टको सर्वथा आत्माका गुण माना जायगा तो अदृष्टको इस आत्माके परतंत्र होनेमें निमित्त कारणपना नहीं सध सकेगा । द्रव्यको वैसाका वैसा ही अनादि, अनन्त, जीवित रखनेवाले गुण हुआ करते हैं । अपने हाथ, पांव, पेट ही यदि अपनेको फंसाने लगें तो ऐसी दशामें कोई पुरुष जीवित नहीं रह सकता है । बाढ ही खेतको खा जाय तो रक्षा कौन कर सकता है ।

न हि सर्वथात्मगुणत्वे धर्माधर्मसंज्ञकस्यादृष्टस्यात्मपारतंत्र्यनिमित्तत्वं युक्तं बुद्धिवत् । इच्छाद्वेषयोरात्मगुणत्वेप्यात्मपारतंत्र्यनिमित्तत्वसिद्धेर्युक्तमेवेति चेन्न, तयोः सर्वथात्मगुणत्वाभावात् कर्मोदयनिमित्तत्वेन भावकर्मत्ववचनात् । तयोरेवात्मपारतंत्र्यस्वभावत्वाच्च न पारतंत्र्यनिमित्तत्वं । मोहविशेषपारतंत्र्य एव हि पुरुषस्येच्छाद्वेषौ तदपरतन्त्रस्य क्वचिदभिलाषद्वेषासंभवात् । ततो न धर्माधर्मौ पुरुषगुणौ पुरुषपारतंत्र्यनिमित्तत्वान्मोहविशेषान्निगलादिवत् । किं तर्हि ? पुद्गलपरिणामात्मकौ तौ तत एव तद्वत् पुद्गलपरिणामविशेषात्मकत्वाच्चादृष्टस्यात्मशरीरत्वमुपगतमिति नौदारिकादिशरीरसंबंधात्पूर्वमदृष्टवशवर्त्यात्मा निर्देहो युक्तः । यस्तु निर्देहो मुक्तात्मा स न कस्यच्छिरीरस्यारंभको भवति यतस्तद्वदीश्वरोपि जगतोऽहेतुः स्यात् ।

यदि धर्म, अधर्म, इस संज्ञाको धारनेवाले अदृष्टको सभी प्रकारोंसे आत्माका गुण होना माना जायगा तो उस अदृष्टको आत्माकी परतंत्रताका निमित्तकारणपना समुचित नहीं पडेगा, जैसे कि आत्माके गुण होरही बुद्धि उसी आत्माके "सन्निपातपरिभाषा" अनुसार पराधीन नहीं कर डालती है । यदि वैशेषिक यों कहे कि इच्छा और द्वेषको आत्माका गुणपना होते हुये भी आत्माकी परतंत्रताका निमित्तपना सिद्ध होरहा है, जैनोंके यहां भी इच्छा और द्वेषकरके संसारी आत्माओं के कर्म बन्ध होरहा अभीष्ट किया है । इस कारण धर्म अधर्म गुणोंको भी आत्माकी परतंत्रताका निमित्तपना युक्तिपूर्ण ही है । ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उन इच्छा द्वेषोंको सभी प्रकारोंसे आत्माका गुणपना नहीं है । कर्मोके उदयको निमित्त पाकर हुये उन इच्छा और द्वेषोंको भावकर्मपनेसे

निरूपण किया गया है। औदयिक भाव आत्माके गुण नहीं हैं। गुण तो त्रिकालवर्ती, अनुजीवी, होते हैं। अपने आत्मलाभमें दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नहीं करते हैं। पुण्य, पाप, या क्रोध,इच्छा, द्वेष आदि औदयिकभावोंको आत्माका गुण कहना गुणशब्दका भारी तिरस्कार करना है। दूसरी बात यह है कि परिपूर्ण चारित्रस्वरूप आत्माकी राग, द्वेष, मोह, इच्छा आदि विभावों करके परिणति होजाना ही तो परतंत्रता है। अतः आत्माके विभावपरिणाम इच्छा और द्वेष तो परतंत्रस्वभाव ही हैं। परतंत्रताके निमित्त नहीं हैं। मोहनीय कर्मकी क्रोध, लोभ, रति, अरति आदि विशेषप्रकृतियोंके उदयसे हुई विशेष मोहस्वरूप परतंत्रता ही तो आत्माके इच्छा और द्वेषपरिणाम हैं। जो क्षीणमोह आत्मा उस मोहनीय कर्मविशेषके पराधीन नहीं है, उसके कहीं भी अभिलाषा और द्वेष नहीं सम्भवते हैं। तिस कारणसे यों अनुमान बना कर सिद्ध कर दिया जाता है कि धर्म और अधर्म (पक्ष) आत्माके गुण नहीं हैं। (साध्य) आत्माकी परतंत्रताके निमित्तकारण होनेसे (हेतु) सांकल, लेज, वशीकरण चूर्ण आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस युक्तिसे धर्म, अधर्म या इच्छा द्वेष ये आत्माके परिणाम नहीं सध पाते हैं। तब तो यह अदृष्ट क्या पदार्थ है ? इसका समाधान यह है कि वे धर्म अधर्म (पक्ष) पुद्गलद्रव्यके परिणामस्वरूप हैं (साध्य)। उससे ही यानी आत्माके परतंत्रपनका निमित्त कारण बन रहे होनेसे (हेतु) उसीके समान यानी सांकल, जाल, पींजरा आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस अनुमान द्वारा अदृष्टको पुद्गलका परिणाम साध दिया है, जैसे कि यह स्थूल शरीर पुद्गलका परिणाम होनेसे आत्माका गुण नहीं होता हुआ आत्माका बहिरंगशरीर माना जाता है, उसी प्रकार पुद्गलद्रव्यका विशेष परिणामस्वरूप होनेसे अदृष्ट भी आत्माका सूक्ष्मशरीर स्वीकृत कर लिया जाता है। इस कारण जन्मते समय औदारिकादि शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेसे पहिले अदृष्टके वशमें वर्त रहा यह आत्मा सर्वथा देहरहित कहा जाय यह युक्तिपूर्ण नहीं है। अर्थात्—देह रचनेके पहिले भी आत्मा अदृष्ट नामक सूक्ष्मशरीरसे युक्त हो रहा सशरीर है। निःशरीर नहीं है। हां, जो मुक्त आत्मा स्थूल, सूक्ष्म, सभी देहोंसे रहित है वह तो किसी भी शरीरका आरम्भ रच देनेवाला नहीं है। जिससे कि उस मुक्त आत्माके समान शरीररहित ईश्वर भी जगत्का निमित्त कारण हो जाता। भावार्थ—अशरीर, मुक्त, आत्माके समान शरीररहित ईश्वर भी जगत्का निमित्तकारण होकर कर्त्ता नहीं है।

संप्रति सदेहेश्वरवादिमतमाशंक्य प्रतिविधत्ते।

अब इस समय ग्रन्थकार ईश्वरको देहधारी माननेवाले पौराणिकवादियोंके मतकी आशंका उठाकर उस पौराणिकोंके मतका भी खण्डन कर देते हैं।

क्षित्यादिमूर्तयः संति महेशस्य तदुद्भवे।
स एव हेतुरित्यादि व्यभिचारो न चेद्भवेत् ॥ २६ ॥

तथान्येपि किमात्मानः स्वमूर्त्युत्पत्तिहेतवः ।
स्वयं न स्युरितीशस्य क्व सिध्येत्सर्वहेतुता ॥ २७ ॥

पुराण या स्मृतियोंको माननेवाले पौराणिक या स्मार्त सम्प्रदायवालोंका यह मत है कि " या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री, ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वं । यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति मया प्राणिनः प्राणवन्तः । प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ १ ॥ (शकुन्तला नाटक) । महेशकी १ जल २ अग्नि ३ होता ४ सूर्य ५ चन्द्रमा ६ आकाश ७ पृथ्वी ८ वायु ये आठ मूर्तियां (शरीर) हैं । विशेषरूपसे विष्णु सम्प्रदायवाले विष्णु भगवान्के दश या चौबीस अवतारोंको मानते हैं । शैव आम्नायवालोंने भी महादेवके कतिपय शरीरधारी अवतार इष्ट किये हैं । यहां प्रकरणमें यह कहना है कि " भूतानि यज्वा सूर्याचन्द्रमसौ च " महेशकी पृथिवी आदि आठ मूर्तियां (शरीर) हैं । उन मूर्तियोंके उत्पन्न करनेमें वही महेश निमित्तकारण है । आचार्य कहते हैं कि आठ मूर्तियों या वराह, मत्स्य, आदि या महाकाल आदि अपने शरीरोंको बनानेमें यदि व्यभिचारदोष नहीं आवेगा, तब तो महेश या विष्णुके समान अन्य भी आत्मायें स्वयं अपने अपने शरीरोंकी उत्पत्तिके कारण क्यों नहीं हो जावेंगी ? ऐसी दशामें भला ईश्वरको सम्पूर्ण जगत्का निमित्तकारणपना कहां सिद्ध हो सका ? अर्थात्—ईश्वर अपने शरीरको बना लेता है, और अन्य प्राणी अपने अपने शरीरोंको रच लेते हैं । बिचारा अकेला ईश्वर सम्पूर्ण जगत्का कर्त्ता नहीं है ।

कुर्वन् क्षित्यादिमूर्तीश्च स्वमूर्तिं तत्प्रयोगतः ।
मूर्त्यंतराणि कुर्वीत यदि वानादिभिर्यतः ॥ २८ ॥
गत्वा सुदूरमप्येवं यदि मूर्तीर्न काश्चन ।
कुर्यात्ताभिस्तदा हेतोरनैकांतिकता न किं ॥ २९ ॥

वैशेषिक कहते हैं कि जिस प्रयोगसे वह ईश्वर पृथ्वी, जल आदि अपनी आठ मूर्तियोंको बना रहा है, उसी प्रयोगसे अनादि धारावाले पृथिवी आदि भूतोंकरके अपने शरीरको और दूसरे प्राणियोंके शरीरोंको कर देवेगा । आचार्य कहते हैं कि यदि तुम यों कहोगे तब तो उन मूर्तियोंको बनानेके लिये पहिले क्षिति आदिको बनाया होगा और उन क्षिति आदि मूर्तियोंके लिये उससे भी पहिली क्षिति आदि मूर्तियोंको बनाना पडा होगा । यों अनवस्था आती है । इसके निवारणार्थ बहुत दूर भी जाकर यदि किन्हीं क्षिति आदि मूर्तियोंको ईश्वरकृत नहीं माना जावेगा तब तो उन्हीं मूर्तियों करके तुम्हारे हेतुका व्यभिचारीपना क्यों नहीं बन बैठेगा ? अर्थात्—अनवस्थाको दूर करनेके लिये

बहुतकाल पहिलेकी जिन मूर्तियोंको आपने ईश्वरकरके बनाई हुई नहीं माना है, उनमें सन्निवेश यह हेतु तो रह गया और बुद्धिमान् कारणसे जन्य होना यह साध्य नहीं रहा। अतः व्यभिचारी हुआ।

अनादिमूर्तिभिस्तस्य संबंध इति चेन्मतं ।
किं हन्त्यनादिता तासां सन्निवेशविशिष्टतां ॥ ३० ॥
न चेत्ताभिर्महेशेनाकृताभिर्व्यभिचारिता ।
साधनस्य कृताभिर्वा तेनैतामनवस्थितिं ॥ ३१ ॥
केवलं मुखमस्तीति यत्किंचिदभिधीयते ।
मिथ्योत्तराणामानंत्यात्प्रेक्षावत्ता नु तत्र का ॥ ३२ ॥

इस व्यभिचारका निवारण करनेके लिये अनादिकालसे बनी चली आरहीं क्षिति, आदि मूर्तियोंके साथ महेश्वरका संबन्ध यदि दृष्ट किया जायगा, यों मंतव्य होनेपर तो आचार्य पूछते हैं कि उन मूर्तियोंकी अनादिता क्या रचनाकी विशिष्टता (हेतु) को मार डालती है ? बताओ। यदि अनादि मूर्तियोंमें सन्निवेशविशेष है तो तुम्हारे ऊपर हेतुका व्यभिचार दोष तदवस्थ है। जब कि उन मूर्तियोंका अनादिपन सन्निवेशविशेषका विघात नहीं कर सकता है और अनादिकालीन पृथिवी आदि मूर्तियां महेशकरके नहीं की जाचुकी हैं तो तुम्हारे "सन्निवेशविशिष्टत्व" साधनका उन मूर्तियों करके व्यभिचार हुआ। यदि उन अनादि मूर्तियोंको तिस ईश्वर करके किया हुआ माना जायगा तो व्यभिचार-दोष दूर होजायगा किंतु उन मूर्तियोंको बनानेके लिये पुनः मूर्तियां बनाई गई होंगी और उनके लिये भी पूर्व मूर्तियां बनाई गई होंगी, यों मूर्तियोंकी धारा करके हुये इस अनवस्थादोषको तुम दूर नहीं कर सकते हो। "मुखमस्तीति वक्तव्यं" यदि फोकटका मुख है तो कुछ न कुछ बोलते रहना चाहिये, इस लोकनीतिके अनुसार जो कुछ भी अन्ट, सन्ट, तुम कहे जाते हो। जगत्में मिथ्या उत्तर अनन्त हैं। हम ईश्वरके कर्तृत्वका निराकरण करनेके लिये जितने समुचित आक्षेप करते हैं, तुम उनके अनन्त मिथ्या उत्तर दे देते हो। यह तो वही एक ग्रामीणपुरुषका विजय जैसा हुआ कि कोई गमार यों कहता फिरता था कि मैं काशी गया और सब पण्डितोंको हरा आया। उन्होंने सैकडों बातें कहीं मैंने उनकी एक भी नहीं मानी। कुछ न कुछ बके ही चला गया। देखो, ऐसी दशामें वहां प्रेक्षावान्पना भला कहां रहा ? युक्तिरहित बकनेवाले पुरुष हिताहितका विचार करनेवाले नहीं माने जाते हैं। ऐसे पुरुषोंका न्यायपूर्वक वाद विवाद करनेमें अधिकार नहीं है।

ततः सूक्तमेतत् संदेहेश्वरवादिनां सन्निवेशविशिष्टत्वादिति हेतुरीश्वरदेहेन व्यभिचारीति ।

तिस कारण हमने वहीं नौवीं वार्तिकमें यह बहुत अच्छा कह दिया था कि देहसहित ईश्वरको मानने वाले पौराणिकवादियोंके यहां " सन्निवेशविशिष्टत्वात् " यह हेतु ईश्वरके शरीरकरके ही व्यभिचार दोषवाला है। यहांतक आचार्योंने सन्निवेशविशेषत्व हेतुके ऊपर नौवीं वार्तिकके पूर्वार्ध करके उठाये गये व्यभिचारदोषकी पुष्टिको परिसमाप्त कर दिया है, यही इति शब्दका भाव है।

बुद्धिमद्धेतुकं यादृग्दृष्टं हर्म्यगृहादिषु ।
संनिवेशविशिष्टत्वं तादृग्जगति नेक्ष्यते ॥ ३३ ॥
इति हेतोरसिद्धत्वं कैश्चिदुक्तं न युज्यते ।
तथा सर्वेष्टहेतूनामसिद्धत्वप्रसंगतः ॥ ३४ ॥

श्री विद्यानंद आचार्य कहते हैं कि किन्हीं किन्हीं विद्वानोंने वैशेषिकोंके सन्निवेशविशिष्टत्व हेतुको यों असिद्ध हेत्वाभास कहा है कि जिस प्रकारका हवेली, गृह, झोंपडे, आदिमें बुद्धिमान् हेतुओंसे जन्य हो रहे सन्ते सन्निवेशविशिष्टपना देखा जाता है, वैसा रचनाविशेष तो जगत् स्वरूप पक्षमें नहीं देखा जाता है। इस कारण पक्षमें हेतुके नहीं ठहरनेसे हेतुका असिद्ध हेत्वाभास दोष हुआ। अर्थात्—प्रमेयकमलमार्तंडमें भी यों लिखा है कि " अस्तु वाऽविचारितरमणीयं बुद्धिमत्कारणत्व व्याप्तं कार्यत्वं तथाप्यत्र यादृग्भूतं बुद्धिमत्कारणत्वेऽभिनवकूपप्रासादादौ व्याप्तं कार्यत्वं प्रमाणतः प्रसिद्धं यदक्रियादर्शिनोपि जीर्णकूपप्रासादादौ लौकिकेतरयोः कृतबुद्धिजनकं तादृग्भूतस्य क्षित्यादावसिद्धेरसिद्धो हेतुः सिद्धौ वा जीर्णकूपप्रासादादाविवाऽक्रियादर्शिनोऽपि कृतबुद्धिप्रसंगः " इत्यादि पंक्ति करके पक्ष और दृष्टान्तमें थोडासा अन्तर दिखलाकर असिद्ध हेत्वाभास उठाया गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह असिद्ध हेत्वाभासका कथन युक्त नहीं है। क्योंकि यों तो तिस प्रकार इष्ट हो रहे सम्पूर्ण हेतुओंके असिद्धपनका प्रसंग हो जायगा, जैसा धुआं महानसमें समान आकृतिवाला देखा जा चुका है, वैसा पर्वतमें नहीं दीख रहा है। " शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत् " यहां जैसा कुलाल, दंड, मृत्तिका आदि कारणोंसे बनाया गयापन घटमें दृष्टिगोचर हो रहा है, वैसा कृतकपना शब्दमें नहीं प्रतीत होता है। शब्दके उपादान कारणका ही प्रत्यक्ष नहीं है। बात यह है कि थोडे थोडे अन्तरसे हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं हो जाता है। तुच्छतापूर्ण दोषोंसे किसीका तिरस्कार हमें नहीं करना है।

कृतधीजनकं तद्धि नाक्रियादर्शिनो यथा ।
क्वचित्तथा न धूमादिरग्न्यादिज्ञानकारणं ॥ ३५ ॥
वन्ह्यादिबुद्धिकारित्वं स्वयंसिद्धस्य सिद्धता ।
धूमादेः साधनस्यैतत्सिद्धौ वन्ह्यादिधीरिति ॥ ३६ ॥

यथान्योन्याश्रयस्तद्वत्प्रकृतेपि हि साधने ।
कृतधीजनकत्वेस्य सिद्धतायां कृतत्वधीः ॥ ३७ ॥
ततोनैकांतिको हेतुरेष वाच्यः परीक्षकैः ।
कार्यत्वार्थक्रियाकृत्वप्रमुखोऽनेन वर्णितः ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, समुद्र आदि स्वरूप क्वचित् जगत्में अक्रियादर्शी पुरुष के " किया गया " इस बुद्धिका जनकपना नहीं है, उसी प्रकार धूम आदिक हेतु भी अग्नि आदि साध्योंकी ज्ञप्तिके कारण नहीं हो सकेंगे । अर्थात्—नवीन कुऐं, कोठियां, महल आदि कोंको बनता हुआ देख कर साधारण मनुष्योंके भी " ये किये गये हैं " यह बुद्धि उपज जाती है । उसी प्रकार जीर्ण कुए, गृहोंके खंडहर, पुराने मंदिर, मूर्तियां, घडे, इन्टे, आदिमें भी " ये किसी न किसी करके बनाये गये हैं " यह बुद्धि उपज जाती है । भलें ही आधुनिक पुरुषोंने हजार वर्ष पहिले बने हुये पुराने खण्डहरोंके बननेकी क्रियाको आंखोंसे देखा नहीं है । किन्तु पृथिवी, सूर्य, चंद्रमा आदिमें किसी भी अक्रिया दर्शीको " ये बनाये गये हैं " ऐसी बुद्धि नहीं होती है । अतः हेतु असिद्ध है । आचार्य समझाते हैं कि यों थोडासा अंतर तिस प्रकार पक्ष और दृष्टांतमें पडजानेसे धूम आदि भी अग्निका अनुमान नहीं करा सकेंगे । असिद्ध हेत्वाभासको उठाने वाले दूसरा कटाक्ष यों करते हैं कि जिस प्रकार धूम आदि हेतुओंको अग्नि करके स्वयं निर्मितपना सिद्ध होजाय तब तो वन्हि आदिकी बुद्धि कर देना होकर सिद्धता आवे और धूम आदिकी सिद्धता होजानेपर वन्हि आदिकी बुद्धि कराई जा सके । यों जिस प्रकार अन्योन्याश्रय प्रसिद्ध हेतुमें दिया जासकता है, उसी प्रकार प्रकरण प्राप्त सन्निवेशविशिष्टत्व हेतुमें भी परस्पराश्रय दोष दिया जा सकता है कि इस हेतुके द्वारा सूर्य, पृथिवी आदिमें " किये गये हैं " इस बुद्धिका जनकपना सिद्ध होय तब तो सूर्य आदिमें कृतपनेकी बुद्धि होय और सूर्य आदिमें किया गयापन सिद्ध होय तब " किये गये हैं " इस बुद्धिका उत्पादक पना प्रसिद्ध होसके । अर्थात्—सन्निवेशविशिष्टत्व हेतुमें जैसा अन्योन्याश्रय दोष उठाया जाता है वैसा धूम आदि प्रसिद्ध हेतुओंमें भी अन्योन्याश्रय जमाया जा सकता है । तिस कारणसे परीक्षक विद्वानों करके यह " सन्निवेशविशिष्टत्व " हेतु अनैकांतिक हेत्वाभास ही कहना चाहिये । केवल व्यभिचार दोष करके ही इस हेतुकी निंदा करना थोडा नहीं है । इस सन्निवेशविशिष्टत्व हेतुका कथन कर देनेसे वैशेषिकोंके कार्यत्व हेतु, अर्थक्रियाकारित्व हेतु, स्थित्वाप्रवृत्ति हेतु, अचेतनत्व हेतु, विनाशित्व हेतु, आदिका भी वर्णन कर दिया समझ लेना चाहिये । अर्थात्—कार्यत्वादि हेतु भी ईश्वरको जगत्का कर्त्तापन साधनेमें ईश्वर देह करके व्यभिचार दोषवान् है । इनमें भी उक्त रीत्या निर्बल असिद्ध दोषको नहीं उठाकर पुष्ट व्यभिचार दोषको रखियेगा ।

यथैव हि सन्निवेशविशिष्टत्वादिति हेतुर्नासिद्धः शक्यो वक्तुमिष्टहेतुनामप्यसिद्धत्वप्रसंगात्। किं तर्हि ? परीक्षकैरनैकांतिको वाच्यस्तथा कार्यत्वादचेतनोपादानत्वादर्थक्रियाकारित्वात् स्थित्वाप्रवृत्तेः, इत्येवमादिरपीश्वरदेहेनानैकांतिक एव सर्वथा विशेषाभावात्। अपि च—

कारण कि जिस ही प्रकार " सन्निवेशविशिष्टत्वात् " यह हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यों अन्ट, सन्ट, दोष लगादेनेपर तो धूम आदि इष्ट हेतुओंको भी असिद्ध हेत्वाभास होजानेका प्रसंग आजावेगा, जो कि जैनोंको अभीष्ट नहीं है। तो फिर इस वैशेषिकोंके हेतुमें क्या दोष लगाया जाय ? इसका उत्तर यही है कि परीक्षकों करके यह हेतु अनैकांतिक हेत्वाभास कह कर ठहरा दिया जाय, तिस ही प्रकार कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, अर्थक्रिया-कारित्व, स्थित्वाप्रवृत्ति, इत्यादि इस प्रकारके अन्यहेतु भी ईश्वरके शरीर करके अनैकान्तिक हेत्वाभास ही हैं। क्योंकि सन्निवेशविशिष्टत्वसे कार्यत्वादि हेतुओंमें कोई अन्तर नहीं है। अर्थात्— वैशेषिकोंने अपने कर्तृत्ववादको पुष्ट करनेके लिये विशेष स्थलोंपर यों कहा है कि " क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत् " जो जो कार्य होते हैं, वे बुद्धिमान्से जन्य हैं, जैसे कि घडा है। इस ही प्रकार जिन कार्योंके अचेतन उपादान कारण हैं। उनकी ठीक ठीक व्यवस्था जमानेके लिये चेतन कर्त्ताकी आवश्यकता है। जो पदार्थ अर्थक्रियाओंको कर रहे हैं, वे चेतनसे अधिष्ठित होकर ही नियत कार्योंको कर सकते हैं। जो कारण ठहर ठहर कर कभी कुछ और कभी कुछ कार्योंको करते हैं, वे चेतन द्वारा प्रेरित हो रहे हैं। जैसे कि कभी हथोडा सोनेको कूटता है, कभी कैंची पत्तरको काटती है, कभी पंत्री सोनेको खींच रही है, इन ठहर ठहर कर कार्योंके प्रवर्तनेमें सुनारका अस्तित्व आवश्यक है। इसी प्रकार कपडा बुनते समय ठहर ठहर कर अनेक कारणोंकी प्रवृत्ति करानेमें कोली बुद्धिमान् कर्त्ता है। तथा रूपादिमान् या अचेतन पदार्थ भी चेतन कर्त्ता द्वारा कार्योंका सम्पादन कर सकते हैं। इत्यादि उनके सभी हेतु व्यभिचार दोषयुक्त हैं। और एक बात यह भी है, उसको सुनो—

स्थावरादिभिरप्यस्य व्यभिचारोनुवर्ण्यते।
कैश्चित्पक्षीकृतैस्तेषामधीमद्धेतुतास्थितैः ॥ ३९ ॥

किन्हीं विद्वानों करके इस सन्निवेशविशिष्टत्व हेतुका खानें, कूपजल, वायु, वन्हि, वनस्पति, इन स्थावर और सूर्य, समुद्र, आदि करके व्यभिचार प्राप्त हो जानेका पीछे वर्णन किया गया है। जो कि वे स्थावर आदिक पदार्थ, नैयायिकोंके यहां पक्षकोटिमें अन्तःप्रविष्ट किये जा चुके हैं। किन्तु किसी सर्वज्ञ, अशरीर, बुद्धिमान्को, उनका निमित्तकारणपना व्यवस्थित नहीं हो सका है। अर्थात्—उपवनकी वनस्पतियोंको कोई बालकोंसी बुद्धिको धारनेवाला पंडित भले ही माली करके

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

निर्माण की गयी कह देवे, चूल्हेकी आगको रसोइयाकी बनायी हुई कह देवे, नलके जलको पुरुषके प्रयत्नसे उपजा हुआ मान ले, बीजनाकी वायुको बुद्धिमान् जीव करके बनाई गई अभीष्ट कर ले, खेतकी मिट्टीको किसानके व्यापारसे बनी हुई स्वीकार कर लेवे, किन्तु वह बुद्धिमान् वनकी वनस्पतियों या खानों, नदी जलों, दावानल, आंधी, सूर्य, आदि पदार्थोंको बुद्धिमान् करके बनाये हुये नहीं मान सकता है। यदि कोई साहसी अन्ध श्रद्धावान् उन स्थावर आदिको भी शरीर, पर्वत, पृथिवी, आदिके समान पक्षकोटिमें डालकर स्थावर, सूर्य, आदिका निमित्तकारण ईश्वरको मान बैठे तब तो यों कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं हो सकेगा। "धूमवान् वन्हेः" यहां अंगार या अयोगोलक इन व्यभिचार स्थलोंको पक्षकोटिमें गिना जा सकता है। जलते हुये अंगार या लोहगोला अथवा कोयलेको घाममें रखकर कुछ दूरसे देखो दूसरे प्रकारका विलक्षण धूआं निकलता हुआ दीखता है। यों कहनेवालेका कोई मुख टेढा नहीं हो जाता है। जिस पुरुष या स्त्रीके निमित्तसे किसी स्त्री या पुरुषको व्यभिचार दोष लगनेका प्रसंग आया है, निर्लज्ज पुरुष उन निकृष्ट स्त्रीपुरुषोंको भी स्वस्त्रीपक्ष या स्वपतिपक्षमें डाल लेवें, एतावता अपयश, राजदण्ड, भर्त्सना, पापसंचय, नरकगमनसे छुटकारा नहीं मिल सकता है। अतः नैयायिकोंके हेतुमें स्थावर आदिकोंकरके भी व्यभिचार दोष लग गया, कोई खटका नहीं है।

कथं पुनः स्थावरादीनामबुद्धिमत्कारणकत्वस्थितिर्यतस्तैरनैकांतिकत्वं कार्यत्वादिहेतूनामुद्भाव्यत इत्यावेदयति।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उन स्थावर आदि पदार्थोंका निमित्तकारण कोई विशेष बुद्धिमान् पुरुष व्यवस्थित नहीं है, यह आपने फिर किस प्रकार निर्णीत कर लिया है? जिससे कि कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व आदि हेतुओंका उन स्थावर आदिकों करके व्यभिचार दोष उठाया जा रहा है? बताओ। ऐसी निर्णेतुमिच्छा होनेपर ग्रन्थकार बडी प्रसन्नताके साथ उस जिज्ञासुके सन्मुख निवेदन कर देते हैं।

दृष्टक्षित्यादिहेतूनामन्वयव्यतिरेकतः।
दृश्यते स्थावरादीनां सर्वगत्वेन बेधसः॥ ४०॥
न देशे व्यतिरेकोस्ति क्षितावस्य सदा स्थितेः।
सर्वगस्यान्वयस्त्वेको न तज्जन्यत्वसाधनः॥ ४१॥

साधारण प्राणियोंके भी दृष्टिगोचर हो रहे पृथिवी, जल, खेत, बीज, ऋतु, योग्यता, सहकारी-समवधान, आदि हेतुओंके अन्वय, व्यतिरेकसे स्थावर आदिकोंका भाव या अभाव देखा जा रहा है। ईश्वरके साथ इनका अन्वय, व्यतिरेक, नहीं देखा जाता है। क्योंकि तुम वैशेषिकोंका गढा गया जगद्विधाता ईश्वर सर्वव्यापक माना गया है। इस कारण किसी भी देशमें उसका व्यतिरेक नहीं

पाया जा सकता है। जिस देशमें ईश्वर नहीं वहां स्थावर आदिक कर्म नहीं है, इस व्यतिरेकको घटानेके लिये तुम्हारे पास कोई स्थल शेष नहीं है। तुम्हारा माना हुआ ईश्वर सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। तथा पृथिवीमें इस नित्य ईश्वरकी सर्वदा स्थिति बनी रहनेसे यह कालव्यतिरेक भी नहीं बन सकता है कि जब जब ईश्वर नहीं तब तब स्थावर आदि कार्य नहीं। हां, सर्वत्रव्यापक हो रहे ईश्वरका केवल एक अन्वय ही तो स्थावर आदिकोंको उस ईश्वर करके जन्यपनकी सिद्धि करानेवाला नहीं है।

क्षित्युदकबीजादितया कारणान्वयव्यतिरेकात् स्थावरादीनां भाव्यभावकयोरुपलंभान्न बुद्धिमत्कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानं। न हि बुद्धिमतो वेधसः क्वचिद्देशे व्यतिरेकोस्ति सर्वगतत्वात्, नापि काले नित्यत्वात्। तथा च नान्वयो निश्चितः संभवति तद्भावाविर्भावदर्शनमात्रान्वयो वा स न तज्जन्यत्वं साधयति करभादेर्भावे धूमाविर्भावदर्शनात्तज्जन्यत्वसिद्धिप्रसंगात्।

भूमि, जल, बीज, वायु आदि स्वरूपकरके कारणोंके अन्वय और व्यतिरेकसे स्थावर आदि कार्योंके उत्पाद्य, उत्पादकभावका उपलंभ होरहा है। अतः किसी बुद्धिमान् कारणके साथ स्थावर आदिकोंका अन्वयव्यतिरेक अनुसार, विधिविधान नहीं देखा गया है। पौराणिकोंके बुद्धिमान् स्रष्टाका किसी भी देशमें व्यतिरेक नहीं पाया जाता है। क्योंकि वह सर्वगत माना गया है तथा किसी कालमें भी ईश्वरका व्यतिरेक नहीं मिलता है। क्योंकि ईश्वर अनादि अनंत कालतक नित्य मान लिया है और तिस प्रकार कोई भी देशव्यतिरेक या कालव्यतिरेक नहीं बननेपर अन्वयका निश्चय हो चुकना भी नहीं सम्भवता है। क्योंकि हेतुका प्राण विपक्षव्यावृत्तिस्वरूप व्यतिरेक है। व्यतिरेक नहीं होनेपर अन्वय हो रहा भी अनिश्चित है। एक बात यह भी है कि व्यापक नित्य हो रहे उस विधाताका सद्भाव होनेपर स्थावर आदिकोंका आविर्भाव होना देखने मात्रसे हो रहा वह अन्वय तो स्थावर आदिकोंके उस ईश्वरसे जन्यपनको नहीं साध डालता है। यों तो ऊंटका बच्चा, कण्डाओंको ढोनेवाले गधा आदि तटस्थ पदार्थोंका सद्भाव होनेपर धुएंका आविर्भाव देखा जाता है। इतनेसे ही धूमको उस ऊंट आदिसे जन्यपनकी सिद्धि होजानेका प्रसंग आजावेगा। प्रत्येक कार्य होनेके निकट देशमें अनेक उदासीन पदार्थ पडे रहते हैं। एतावता उनमें " कार्यकारणभाव " का प्रयोजक अन्वय बन रहा नहीं माना जाता है। अन्यथा तुम्हारे यहां व्यापक मानी जारहीं अन्य जीवात्माओं या आकाशके साथ भी सुलभतया अन्वय बन जानेसे ईश्वरके समान अन्य आत्मायें भी संपूर्ण कार्योंका निमित्तकारण बन बैठेंगे, (बैठेंगी) जो कि हम, तुम, दोनोंको इष्ट नहीं है।

कथमदृष्टस्य स्थावरादिनिमित्तत्वमित्याह।

यहां कोई पूंछता है कि तब तो आप जैन यह बताओ कि स्थावरजीवोंका पुण्य, पाप, या भोक्ताजीवोंका पुण्य, पाप, भला उन स्थावर आदिकोंका निमित्तकारण कैसे होजाता है? पुण्य, पापके साथ स्थावर आदिकोंका अन्वय और व्यतिरेक तुम कैसे बना सकोगे? समझाओ।

नश्वरत्वाददृष्टस्यासर्वगत्वाच्च सिध्यति ।
व्यतिरेकस्तत्र तस्य (स्यात) स्थावरादिनिमित्तता ॥ ४२ ॥

नाशशील (अनित्य) होनेसे और अव्यापक होनेसे अदृष्टके साथ उन स्थावर आदिकोंमें कालव्यतिरेक या देशव्यतिरेक सिद्ध हो जाता है । अतः उस अदृष्टको स्थावर आदि कृतक पदार्थोंका निमित्तकारणपना सध जाता है । कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

न ह्यदृष्टं धर्माधर्मसंज्ञितं कूटस्थं सर्वगतं वा महेश्वरवदिष्यते यतस्तस्य देशकालव्यतिरेको न सिध्येत् । क्षित्यादिदृष्टसामग्रीसद्भावेपि क्वचित्स्थावरादीनामनुपलंभाददृष्टकारणत्वं सिध्यत्येव । कथमेवं तदुत्पत्तौ कालादेर्हेतुत्वमिति सर्वगतस्य व्यतिरेकासिद्धेरीश्वरवदिति वदंतं प्रत्याह ।

धर्म और अधर्म इस संज्ञाको प्राप्त हो रहे अदृष्टको हम जैन तुम्हारे महेश्वरके समान कूटस्थ नित्य अथवा सर्वत्र प्राप्त हो रहा व्यापक नहीं अभीष्ट करते हैं, जिससे कि उस अदृष्टका देशव्यतिरेक या कालव्यतिरेक नहीं सिद्ध हो सके । साधारण जीवोंद्वारा कारणपने करके देखी जा रही पृथिवी, बीज, आदि सामग्रीका सद्भाव होनेपर भी किसी देशमें या किसी समय स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति हो रही नहीं देखी जाती है । अतः अदृष्टको कार्योंका कारणपना सिद्ध हो जाता है । अर्थात्—खेतीमें वाणिज्यलाभमें, बढिया नीरोगतामें पुण्यको और अतिवृष्टि अनावृष्टि, आर्थिकहानिमें, रोगतामें, दारिद्र्यमें, नाव डूब जाना, रेलगाडी लड जाना, वायुयानघात, आदि कार्योंमें दृष्टकारणोंका व्यभिचार दीख रहा होनेसे पापरूप अदृष्टको कारणपना स्पष्ट रीत्या प्रसिद्ध हो रहा है । जहां जहां या जब जब पुण्य, पाप हैं, तहां, तहां तब तब स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति हो जाती है । और जहां जहां या जब जब अदृष्ट नहीं वहां वहां या तब तब लौकिक कार्य नहीं उपज पाते हैं । यह अन्वय व्यतिरेक प्रसिद्ध है । यहां कोई पूछता है कि अदृष्ट तो अव्यापक, अनित्य है । किन्तु काल, आकाश, द्रव्य तो नित्य और व्यापक हैं । अतः इस प्रकार व्यतिरेकको साधनेपर यदि कार्य कारणभाव माना जायगा तो उन स्थावर आदिकोंकी उत्पत्तिमें सर्वगत हो रहे काल आदिको भला निमित्तकारणपना किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ? क्योंकि ईश्वरके समान नित्य, व्यापक, काल, आदिका देशव्यतिरेक या कालव्यतिरेक असिद्ध है, इस प्रकार कह रहे वादीके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानवचनको अग्रिम वार्त्तिक द्वारा कहते हैं । उसको सुनो ।

कालादिपर्ययस्यापि नित्यत्वाद्यप्रसिद्धितः ।
सर्वथा कार्यनिष्पत्तौ हेतुत्वं न विरुध्यते ॥ ४३ ॥

काल, आकाश, आदि द्रव्योंकी पर्यायोंको भी नित्यपन, व्यापकपन, आदिकी अप्रसिद्धि होनेसे कार्योंके करनेमें निमित्तकारणपना सभी प्रकारोंसे विरुद्ध नहीं पडता है। अर्थात्—अर्थ क्रियाओंको करनेवाली अनित्य पर्यायोंसे कथंचिद् अभिन्न हो रहे काल आदि द्रव्योंको सम्पूर्ण कार्योंके प्रति निमित्तपना अव्याहत है।

न हि कालाकाशादिपर्यायाणां नित्यत्वं सर्वगतत्वं वा प्रसिद्धं कालाणूनामेव द्रव्यार्थादेशान्नित्यत्वोपगमात्। निःपर्यायस्य नित्यस्य सर्वगतस्य च कालस्य परोपगतस्याप्रमाणकत्वात्, सर्वगतस्य नित्यस्य चाकाशद्रव्यस्यैव व्यवस्थापनाभिप्रायस्य तस्यापि ग्राहकप्रमाणाभावात्। धर्मास्तिकायस्याधर्मास्तिकायस्य च लोकव्यापिनोपि द्रव्यत एव नित्यत्वोपगमात् पर्यायतोऽसर्वगतत्वादनित्यत्वाच्च। ततो युक्तं स्वकार्योत्पत्तौ निमित्तत्वं सर्वथा विरोधाभावात्।

काल, आकाश, आदि द्रव्योंकी पर्यायोंका सर्वथा नित्यपना अथवा सर्वगतपना प्रसिद्ध नहीं है। जैनसिद्धान्त अनुसार कालाणुओंको ही द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे नित्यपना स्वीकार किया गया है। दूसरे विद्वान् वैशेषिकोंने कालको पर्यायरहित और नित्य, तथा सर्वगत जो स्वीकार किया है, वैसा कालद्रव्यको सिद्ध करनेमें उनके यहां कोई प्रबल प्रमाण नहीं प्रवर्तता है। अतः पर्यायरहित नित्य, व्यापक कालद्रव्यकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकनेके कारण वह कालद्रव्य बिचारे पौराणिकोंके नित्य, व्यापक, ईश्वरका दृष्टान्त या कटाक्षस्थल नहीं बन सकता है। हां, जिनागममें सर्वगत और नित्य हो रहे आकाशद्रव्यकी ही तो व्यवस्था कराई गई है। किन्तु सम्पूर्ण द्रव्य स्वकीय द्रव्यत्वगुणके अनुसार प्रतिक्षण नवीन नवीन पर्यायोंको धारण करते हैं। कोई द्रव्य कूटस्थनित्य नहीं है। पर्यायोंसे रहित हो रहे सर्वथा नित्य उस आकाशका भी ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। अतः अनित्यपर्यायोंके साथ तादात्म्य सम्बन्धका अनुभव कर रहा कथंचिद् अनित्य आकाश ही यावत् कार्योंका निमित्त है। इस कारण सर्वथा नित्य और सर्वथा व्यापक हो रहे ईश्वरका उपमान कथंचित् अनित्य आकाश भला कैसे हो सकता है? यानी नहीं हो सकता है। अर्थात्—जब कि अखण्डित अनेक देशीय आकाश द्रव्यके देशांशरूप प्रदेश कल्पित कर लिये जाते हैं। मुख, कूप, गृह, गुदस्थान, शुद्धभाजन, अशुद्धभाजन, ये सब रीते स्थानस्वरूप हो रहे आकाशप्रदेश एक ही नहीं है। स्वर्गप्रदेश, नरक, आकाश, जम्बूद्वीप, स्वयम्भूरण, त्रसनाली, स्थावर लोक, ये सब आकाशके न्यारे न्यारे प्रदेशोंपर व्यवस्थित हैं। जो आकाश सिद्ध परमात्माओंको अवगाह दे रहा है, वह आकाश नारकियोंको स्थान नहीं दे सकता है। आकाशके प्रदेशोंमें गति नहीं है। मालवा, पंजाब, बंगाल, यूरोप, अमेरिका, आष्ट्रिया, आष्ट्रेलिया, आदि आकाशकी पोलें न्यारी न्यारी हैं। जहां प्रभूत जल या बलवान् नकुल प्रसन्नतापूर्वक बैठे हुये हैं, वहां स्वल्प अग्नि या सर्पको अवकाश नहीं मिल पाता है। यद्यपि अग्नि, जल या नकुल, सर्प आदिमें निजकी गांठके विरोध आत्मक परिणाम विशेष हैं, फिर भी "यावन्ति कार्याणि

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तावन्तः प्रत्येकं स्वभावभेदाः" इस नियम अनुसार अवगाह देनेमें उदासीन अप्रेरक कारण हो रहे आकाशमें भी वैसी वैसी न्यारी न्यारी परिणतियां माननी पडती हैं। एक एक वस्तुमें अनन्ते स्वभाव हैं। अतः अव्यापक देशांशोंसे अभिन्न हो रहे व्यापक आकाशद्रव्यमें कथंचित् असर्वगतपना भी समझ लिया जाय। तथा चौदह राजू ऊंचे या तीनसौ तेतालीस ३४३ घन राजू प्रमाण पूरे लोकमें व्याप रहे भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका द्रव्यरूपसे ही नित्यपना स्वीकार किया गया है। पर्यायोंकी अपेक्षा वे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय दोनों असर्वगत और अनित्य हैं। अर्थात्—द्रव्यत्व गुणके अनुसार प्रतिक्षण नूतन पर्यायोंको धार रहे धर्म, अधर्म, द्रव्यके भले ही सदृशपरिणाम होते रहें, किन्तु अनित्यपर्यायोंसे अभिन्न हो रहे धर्म, अधर्म द्रव्य सर्वथा नित्य नहीं कहे जाते हैं। कोई भी द्रव्य कदाचित् भी पर्यायोंसे रीता नहीं है। सम्पूर्ण पदार्थ द्रव्यरूपसे नित्य और पर्यायरूपसे अनित्य हो रहे कथंचित् नित्यानित्यात्मक हैं। घोडा, मछली, पथिक, विद्यार्थी, आदिकी उन उनके नियत देशोंमें गति करानेवाली धर्मद्रव्य और स्थिति करानेवाली अधर्मद्रव्य अपनी न्यारी न्यारी प्रयोजक, अव्यापक पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहीं अव्यापक भी हैं। लोकाकाश स्वयं एक छोटासा अव्यापक पदार्थ है। उसमें भर रहे धर्म, अधर्म, द्रव्य दोनों वैसे ही अव्यापक हैं। तिस कारणसे काल, आकाश, धर्म, अधर्म, इन चारों पदार्थोंको अपने, अपने कार्योंकी उत्पत्ति करनेमें निमित्तकारणपना युक्तिपूर्ण सध जाता है। सभी प्रकारोंसे कोई विरोध नहीं आता है। हां, सर्वथा नित्य या व्यापक हो रहा तुम्हारा ईश्वर विचारा स्थावर आदि कार्योंका निमित्तकारण नहीं बन सकता है।

यद्येवं महेश्वरगुणस्य सिसृक्षालक्षणस्यानित्यत्वादसर्वगतत्वात् च तन्निमित्तत्वं स्थावरादीनां युक्तं व्यतिरेकप्रसिद्धेरिति पराकूतमनूद्य दूषयति।

ईश्वरवादी कह रहे हैं कि यदि इस प्रकार आप जैन अनित्य और अव्यापक पदार्थको स्थावर आदि कार्योंका निमित्तकारण माननेमें विशेष अभिरुचि रखते हैं तो महेश्वरके सृजनेकी इच्छा स्वरूप गुणको अनित्यपन और अव्यापकपन होनेसे उस गुणको स्थावर आदि कार्योंका निमित्तकारणपना उचित बैठ जाता है। ईश्वरकी अव्यापक इच्छाके साथ कार्योंका देशव्यतिरेक और अनित्य इच्छाके साथ कार्योंका कालव्यतिरेक भी प्रसिद्ध होजाता है इस प्रकार दूसरे पौराणिकोंके चेष्टितका प्रथम अनुवाद कर श्री विद्यानन्द आचार्य दूषणप्रयोग करते हैं।

महेश्वरसिसृक्षाया जगज्जन्मेति केचन।
तस्याः शाश्वततापायादविभुत्वाददृष्टवत् ॥ ४४ ॥
तदयुक्तं महेशस्य सिसृक्षांतरतो विना।
सिसृक्षोत्पादने हेतोस्तथैव व्यभिचारतः ॥ ४५ ॥

सिसृक्षान्तरतस्तस्याः प्रसूतावनवस्थितेः ।
स्थावरादिसमुद्भूतिर्न स्यात्कल्पशतैरपि ॥ ४६ ॥

उस ईश्वरकी सृजनेके लिये हुयी इच्छाको नित्यपनका अभाव होजानेसे और अव्यापक होजानेसे अदृष्टके समान महेश्वरकी इच्छासे जगत्वर्त्ती यावत् कार्योंकी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार कोई पण्डित कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि उन पण्डितोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि महेश्वरकी इच्छा जब अनित्य है तो दूसरी सिसृक्षाके विना ही उस सिसृक्षाकी उत्पत्ति माननेपर तिस ही प्रकार हेतुका व्यभिचारदोष लग जायगा। अर्थात्—सिसृक्षामें कार्यत्वहेतु ठहर गया, किन्तु दूसरी सिसृक्षाको उसका निमित्तकारणपना नहीं प्राप्त हुआ। हां, यदि ईश्वरकी अनित्य सिसृक्षाका जन्म दूसरी सिसृक्षासे माना जायगा, और उस दूसरी अनित्य सिसृक्षाके प्रसव करनेमें तीसरी सिसृक्षाको हेतु माना जायगा, यों चौथीमें पांचवीं स्रष्टुमिच्छा, और पांचवींमें छठी, आदि सिसृक्षाओंको कारण मानते मानते अनवस्था होजायगी। अनेक सिसृक्षाओंको उत्पन्न करनेमें ही ईश्वरकी सिसृक्षाओंका बल निवट जायगा। यों सैकडों कल्प कालों करके भी स्थावर आदि कार्योंकी समुचित उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

तद्भोक्तृप्राण्यदृष्टस्य सामर्थ्यात्सा भवस्य चेत् ।
प्रसूतिः स्थावरादीनां तस्मादन्वयनान्न किम् ॥ ४७ ॥
स्वातंत्र्येण तदुद्भूतौ सर्वदोपरमच्युतेः ।
सर्वत्र सर्वकार्याणां जन्म केन निवार्यते ॥ ४८ ॥

उन स्थावर आदि कार्योंका भोग करनेवाले प्राणियोंके अदृष्ट (पुण्यपापसे) की सामर्थ्यसे वह ईश्वरकी इच्छा अनादि कालसे उपज रही यदि मानी जायगी तब तो अदृष्टके होनेपर स्थावर आदिकोंका उपजना यों अन्वयके बन जानेसे उस अदृष्टसे ही साक्षात् स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति ही क्यों नहीं मान ली जावे। परम्परासे अदृष्टको कारण माननेकी अपेक्षा पुण्य, पापको, अव्यवहित कारण मानना समुचित है। अदृष्टकी अधीनताके विना ही यदि स्वतन्त्रता करके उस सिसृक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो ईश्वरकी सिसृक्षायें सर्वदा उपजती रहेंगी। कदाचित् भी उन इच्छाओंकी उत्पत्तिका विराम नहीं हो सकेगा। ऐसी दशामें सभी स्थलोंपर सम्पूर्ण कार्योंका उपजना भला किस करके रोका जा सकता है ? अर्थात्—विना कारण अपनी स्वतन्त्रतासे उपज रहे कार्योंमें नियत देश या नियत कालकी सीमा नहीं रह पाती है। सभी कार्य अटोक उपजते ही रहेंगे।

व्याख्यातात्रेश्वरेणैव नित्या साध्यातिरेकिणी ।
क्वचिद्व्यवस्थितान्यत्र न स्यादन्वयभागपि ॥ ४९ ॥

इस प्रकरणमें ईश्वर करके ही वह नित्य इच्छा भी व्याख्यान कर दी गयी समझ लेनी चाहिये। कारण कि वह इच्छा प्रकृतसाध्यका अतिक्रमण करनेवाली है। अतः अन्वयको धार रही भी वह इच्छा कहीं भी अन्य स्थलोंपर व्यतिरेकको धारनेवाली नहीं होनेसे व्यवस्थित नहीं समझी जायगी। भावार्थ—व्यापक नित्य ईश्वरका जैसे स्थावर आदि कार्योंके प्रति अव्यभिचारी कार्यकारणभाव नहीं घटता है। उसी प्रकार साधे जा रहे जन्य कार्योंसे अतिरिक्त स्थलोंपर भी पायी जा रही नित्य सिसृक्षा कोरे अन्वयसे ही कहीं कारणपने करके व्यवस्थित नहीं हो सकती है।

नन्वेवं कालादिपर्ययस्य स्वकार्योत्पत्तौ निमित्तभावमनुभवतः प्रादुर्भावे यद्यपरः कालादिपर्यायो न निमित्तं तद्वदन्यकार्योत्पत्तावपि कालादिपर्यायो निमित्तं माभूत्, अथ निमित्तं [illegible] स्यात् कालादिपर्यायस्य कारणमन्तरेणोत्पत्तौ देशकालादिनियमानुपपत्तेः सर्वत्र सर्वदा भावात्सर्वकार्याणामनुपरतोत्पत्तिप्रसंगः। तस्य नित्यत्वे कालादिद्रव्यवद्व्यतिरेकासिद्धिरन्वयमात्रसिद्धावपि सर्वदोत्पत्तिस्तेषामनिमित्तत्वप्रसंगः सिसृक्षावत्स्थावराद्युत्पत्ताविति केचित्, तेपि न तत्त्वज्ञाः। स्याद्वादिनां स्वकार्योत्पत्तिनिमित्तस्य कालादिपर्ययस्य निमित्तत्वसिद्धेस्तदुत्पत्तावपि तत्पूर्वकालादिपर्यायस्य निमित्तत्वमित्यनादित्वान्निमित्तनैमित्तिकभावस्य तत्पर्यायाणां बीजांकुरादिवदनवस्थानवतारात्। कथंचित्स्वातन्त्र्येणोत्पद्यमानस्यापि सर्वत्र सर्वदा च भावानुत्पत्तेः नित्यत्वानभ्युपगमाच्च।

यहां कोई कर्त्तृवादी पण्डित अपने पक्षका अवधारण करनेके लिये आक्षेप उठा रहे हैं कि इस प्रकार जैनसिद्धांत अनुसार अभीष्ट होरहे कार्यकारणभावमें भी गोटाला मच जायगा, जैनोंने काल, आकाश, अदृष्ट, आदि पर्यायोंको अपने अपने कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण माना है। जैनोंने जैसे हमारी ईश्वरासिसृक्षा पर कुचोद्य उठाया है हम भी उनके यहां माने गये कारणों पर आक्षेप चला सकते हैं कि अपने कार्योंके उपजानेमें निमित्तकारणपनका अनुभव कर रहे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें यदि दूसरे काल आदि पर्याय निमित्तकारण नहीं हैं, तब तो उन्हीं काल आदि पर्यायोंके समान अन्य कार्योंकी उत्पत्तिमें भी काल आदि पर्याय निमित्तकारण नहीं होवें। अब यदि काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें दूसरे काल आदि पर्यायोंको निमित्तकारण माना जायगा तब तो उन दूसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायनिमित्त कहने पडेंगे। तीसरोंकी उत्पत्तिमें चौथे काल आदिकों मानते मानते अनवस्था दोष होगा। जिज्ञासाके शान्त होजाने पर ज्ञापकपक्षकी अनवस्था कदाचित् कृपा करती हुयी निवृत्त होसकती है किन्तु कारक पक्षकी निष्ठुर अनवस्था एक बार गले लगी, पुनः कभी छूटती नहीं है। यदि जैन महाशय काल आदि पर्यायोंकी कारणके विना ही उत्पत्ति मान बैठेंगे, तब

तो देश, काल, आदिका नियम नहीं बन सकेगा, नियत देश, नियत कालवाले कारणोंके विना ही कार्योंकी उत्पत्ति माननेपर सभी स्थलोंपर सदा ही काल आदि पर्यायोंका सद्भाव पाया जायगा और ऐसा होजानेसे संपूर्ण कार्योंकी अविराम उत्पत्ति होती रहेगी। अर्थात्—कार्यके होजानेपर भी पुनः पुनः वह लाखों, करोडों, बार उपजता रहेगा, उपजनेसे विराम (छुटी) नहीं मिल सकेगा, इस प्रकार अतिप्रसंग जैनोंके ऊपर आता है, जैसा कि अडतालीसवे वार्तिकमें उन्होंने हमारे ऊपर कहा था। यदि जैनजन निश्चयकाल द्रव्य आदिके समान उन व्यवहार काल आदि पर्यायोंका नित्यपना मानेोगे तो केवल अन्वय सिद्धि होचुकनेपर भी व्यतिरेककी सिद्धि तो कथमपि नहीं होसकेगी। तथा काल आदिकी नित्य पर्यायों द्वारा सदा ही उन कार्योंकी उत्पत्ति होती रहेगी। यों स्थावर आदिकोंकी उत्पत्तिमें सिसृक्षाको जैसे जैनोंने निमित्तकारण नहीं बनने दिया था, उसीके समान काल आदि पर्यायोंको भी निमित्तकारणपन नहीं होसकनेका प्रसंग जैनोंके यहां प्राप्त हुआ। यहांतक कोई पण्डित कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि वे महाशय तत्त्वव्यवस्थाके ज्ञाता नहीं है क्योंकि स्याद्वादियोंके यहां अपने, अपने, कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त होरहे काल आदि पर्यायोंको निमित्तकारणपना सिद्ध होरहा है। उन काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी उससे पूर्ववर्त्ती काल आदि पर्यायोंको निमित्तपना था, उन पर्यायोंकी भी निमित्तकारण पूर्व, पूर्व कालकी कालादि पर्यायें थीं। इस प्रकार बीजांकुर, मुर्गी अंडा, द्रव्य कर्म, भाव कर्म, आदिके समान उन पर्यायोंका पूर्वकालीन पर्यायोंके साथ होरहे निमित्तनैमित्तिक भावको अनादिपना है। इस कारण अनवस्था दोषका अवतार नहीं होपाता है। भावार्थ—कालाणुयें द्रव्य हैं, वे प्रतिक्षण परिणामोंको धारती हैं। जगतके संपूर्ण कार्योंकी वर्तनामें काल निमित्तकारण है। अन्य कार्योंमें कालपरमाणुओंके परिणमन जैसे निमित्त हैं उसी प्रकार इस समयके काल परिणामोंका निमित्तकारण पूर्वसमयवर्ती कालपरिणाम हैं, और पूर्व समयकी काल पर्यायोंका निमित्तकारण उससे पहिलेके समयकी कालपर्यायें हैं, यों अनादिसे अनन्तकालतक प्रक्रम चल रहा है। घडियोंकी ठीक ठीक चाल को पहिलीं पहिलीं घडिया ठीक बताती चली आ रही हैं। पहिले पहिले बांटोंसे उत्तरोत्तरके बांट ठीक ठीक तोलकर परीक्षित कर लिये जाते हैं। देखिये, अन्य द्रव्योंके परिणमन कालद्रव्यके अधीन है। किन्तु कालद्रव्यके उत्तरोत्तर समयवर्त्ती परिणमन पूर्व पूर्वकाल पर्यायोंके अधीन हैं। आकाश द्रव्य अन्य अनन्तद्रव्योंको अवगाह देरहा स्वयंको भी अवगाह देता है। अधर्म द्रव्य निजका भी स्थापक है। यों कथंचित् स्वतंत्रताके उपज रहे भी प्रतिनियतकाल आदि पर्यायोंकी सर्वत्र और सर्वदा उत्पत्ति नहीं बन सकती है। दूसरी बात यह भी है कि सर्वथा नित्यपना हमारे यहां स्वीकार नहीं किया गया है। अर्थात्—हम चाहे जीवद्रव्यकी पर्याय होय, चाहे काल, आकाश, आदि द्रव्यकी पर्याय होय, सम्पूर्ण पर्यायोंको नियत हो रहे निमित्त नैमित्तिक भावसे गुँथा हुआ मानते हैं। पूर्व समयकी पर्यायें उत्तरसमयवर्त्ती कार्योंको बनाती हैं। अतः महेश्वरकी सिसृक्षाका सादृश्यकाल आदि पर्यायोंमें लागू नहीं हो पाता है काल आदि पर्यायोंके निमित्तपनका मार्ग निर्दोष है।

ननु महेश्वरसिसृक्षापि तर्हि स्थावराद्युत्पत्तौ निमित्तभावमनुभवतीति पूर्वसिसृक्षातः सापि स्वपूर्वसिसृक्षातः इत्यनादित्वात् कार्यकारणभावस्य कथमनवस्थादोषेणोपद्रूयेत कथं वा तयैव हेतवोऽनैकांतिकाः स्युः ? न स्थावरादिकार्यानुपरमः स्वातंत्र्येणानुत्पादात्। नाव्यतिरेको नित्यस्वानभ्युपगमात् सिसृक्षायाः, तन्नित्यत्वे सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगात्। सर्वदा सहकारिणामभावान्न तत्प्रसंग इति चेन्न, तेषामपि महेश्वरसिसृक्षया तज्जन्मत्वे सर्वदा सद्भावापत्तेस्तदनायत्तजन्मकृतैरेव हेतूनां व्यभिचारात्। तत्सहकारिणोपि स्वोत्पत्तिहेतूनामभावात् न सर्वदोत्पद्यंत इति चेन्न, तेषामपि ईश्वरसिसृक्षायास्तज्जन्मत्वेतरयोरुक्तदोषानुषंगात्। तत्सहकारिणां नित्यत्वे स एव सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसंगः सिसृक्षायाः सहकारिणां च नित्यत्वादनित्यैव सा युक्ता। " ब्राह्मेण मानेन [illegible] महेश्वरस्य चतुर्दशभुवनाधिपते सिसृक्षोत्पद्यत " इति वचनाच्च न नित्यासौ तथोत्पत्तिविरोधादिति केचित्।

पुनः वैशेषिक या पौराणिक अपने पक्षका अवधारण करते हैं कि तब तो काल आदि पर्यायोंके समान महेश्वरकी सिसृक्षा भी स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारणपनका अनुभव कर लेती है या अनुभव करती सन्ती यों वर्तमान कालकी सिसृक्षा पूर्व कालकी सिसृक्षासे उपजती जाती है और वह पूर्वकालकी सिसृक्षा भी अपनेसे पूर्वकालकी सिसृक्षासे उपज गयी थी, इस प्रकार कार्यकारणभावका अनादिपना होनेसे तुम्हारे समान हम वैशेषिकोंको भी अनवस्था पूर्णरूप अभीष्ट है, कोई क्षति नहीं है। पुनः अनवस्थादोष करके हमारे ऊपर क्यों उपद्रव उठाया जा रहा है ? और इस सिसृक्षा करके ही हमारे कार्यत्व, सन्निवेशविशिष्टत्व, हेतुओंको किस प्रकार व्यभिचार दोषसे युक्त किया जा रहा है। अर्थात्—जन्य सिसृक्षाओंकी अनादिधारा मान लेनेसे हम वैशेषिकोंके ऊपर अनवस्थादोषका ऊधम नहीं उठ पायेगा और हमारे हेतु व्यभिचारी भी नहीं हो सकेंगे। साथमें स्थावर, शरीर, आदि कार्योंकी उत्पत्तिका विराम नहीं पडना दोष भी नहीं आता है। क्योंकि स्वतंत्रता करके स्थावर आदि कार्योंका उत्पाद नहीं होता है। उपज रही सिसृक्षाके अधीन नियत देश और नियत कालमें स्थावर आदि कार्य उपजेंगे। कारणोंके नहीं मिलनेसे वे सर्वदा उपजते ही नहीं रहेंगे तथा व्यतिरेक नहीं बनना दोष भी हमारे ऊपर नहीं आता है। क्योंकि सिसृक्षाका नित्यपना हमने स्वीकार नहीं किया है। हां, यदि उस सिसृक्षाको नित्य माना जाता तब तो सदा कार्योंकी उत्पत्ति होनेका प्रसंग हो सकता था। अन्यथा नहीं। यदि हम वैशेषिकोंको कोई वंचक यो सहायता देना चाहे कि सिसृक्षाको नित्य ही बने रहने दो, अकेली नित्यसिसृक्षा तो कार्यको नहीं बना देती है। अनेक सहकारी कारण भी चाहिये उन सहकारी कारणोंका अभाव होनेसे सदा उन कार्योंकी उत्पत्ति होते रहनेका प्रसंग नहीं आ पायेगा। उन गोमुख—व्याघ्रोंके प्रति हम वैशेषिक कहते हैं कि इस प्रकारकी सहायता हमको नहीं चाहिये। क्योंकि उन सहकारी कारणोंकी भी महेश्वरसिसृक्षा करके वह

उत्पत्ति मानी जायगी। ऐसी दशामें सर्वदा उन सहकारी कारणोंके सद्भावकी आपत्ति होती है। अतः नित्यसिसृक्षा और तदधीन सहकारी कारणोंका सद्भाव पाया जानेसे सर्वदा कार्योंकी उत्पत्ति होते रहनेका प्रसंग टल नहीं सकता है। यदि उन सहकारी कारणोंका जन्म उस सिसृक्षाके अधीन नहीं मानोगे तब तो उन सहकारी कारणों करके हमारे कार्यत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष बन बैठेगा। यदि हमारे सहायक वे पण्डितजी यों कहें कि वे सहकारी कारण भी अपनी उत्पत्तिके हेतुओंका अभाव होनेसे सदा नहीं उपजते रहते हैं वैशेषिक कहते हैं कि यह भी नहीं कहना। क्योंकि उन सहकारी कारणोंके उत्पादक हेतुओंका भी ईश्वरकी सिसृक्षासे उपजना माना जावेगा? या ईश्वरकी इच्छासे उनका उपजना नहीं माना जावेगा? इन दोनों पक्षोंमें पूर्वोक्त दोषोंके आनेका प्रसंग होता है। अर्थात्—सहकारी कारणोंके उत्पादक हेतु यदि ईश्वरकी सिसृक्षासे उपजेंगे तो वे नित्य सिसृक्षासे शीघ्र उपजकर सहकारी कारणोंको झट बना देंगे और सहकारी कारण सदा स्थावर आदि कार्योंको बनाते रहेंगे। हां, यदि उन सहकारी कारणोंके सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति यदि ईश्वरसिसृक्षा करके नहीं मानी जायगी तब तो सन्निवेशविशिष्टत्व आदि हेतुओंका उन सहकारी कारणोंके उत्पादक हेतुओं करके व्यभिचार बन बैठेगा। उन सहकारी कारणोंका नित्यपना माननेपर तो वहका वही सर्वदा कार्योंके उपजते रहनेका प्रसंग दोष आ पडता है। क्योंकि सिसृक्षा और सहकारी कारण नित्य होकर सदा वर्त रहे हैं। उक्त दोषोंको टालनेका समीचीन उपाय यही है कि वह ईश्वरकी सिसृक्षा अनित्य ही मान ली जाय। युक्तियोंसे ईश्वरकी सिसृक्षा अनित्य ही सिद्ध होती है। तथा हमारे शास्त्रोंमें भी इस प्रकार कथन किया है कि "ब्रह्मासम्बन्धी परिमाण करके सौ सौ वर्षके अन्तमें प्राणियोंको भोगोंकी अनुभूति करानेके लिये चौदह भुवनके सर्व तंत्र स्वतंत्र प्रभु हो रहे भगवान् महेश्वरकी सिसृक्षा उपजती है।" इस आगम वाक्यसे भी वह इच्छा नित्य नहीं मानी गयी है। अन्यथा तिस प्रकार सौ, सौ वर्षमें इच्छाकी उत्पत्ति होनेका विरोध हो जायगा। अपने शास्त्रोंसे ही विरोध पड जाय ऐसे वचनको हम कहना नहीं चाहते हैं। अर्थात्—"कृतं, त्रेता, द्वापरं, च कलिश्चेति चतुर्युगम्। प्रोच्यते तत्सहस्रं तु ब्रह्मणो दिवसो मुने" विष्णु पुराणमें लिखा है कि सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग ये चार युग एक हजार बार हो जांय तब ब्रह्माका एक दिन और इसी प्रकार एक रात होती है। यों एक दिन रातकी गणना अनुसार सौ वर्षोंको बना कर ब्रह्मा की आयु सौ वर्षकी मानी गयी है "ब्रह्मणो वर्षशतमायुः" ब्रह्मा संबंधी सौ वर्षोंके पश्चात् खंडप्रलय होजाता है। पश्चात् महेश्वरकी स्रष्टुमिच्छा उपज कर सृष्टिको रचती है मनुस्मृतिमें ब्रह्माके एक दिनरातकी समाप्ति होनेपर सृष्टिप्रक्रिया मानी है। "दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च" ॥ १ ॥ तद्वै युगसहस्रांतं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः, रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः। तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते। प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ २ ॥ मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया। आकाशं

जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ४ ॥ इत्यादि १ भूर्लोक २ भुवर्लोक ३ स्वर्लोक ४ महर्-लोक ५ जनलोक ६ तपोलोक ७ सत्यलोक ८ अतल ९ वितल १० सुतल ११ नितल १२ तला-तल १३ रसातल १४ पाताल इन चौदह भुवनोंका सर्वाधिकारी सम्राट् महेश्वर है। यहांतक बडी देरसे कोई पौराणिक या स्मार्त पण्डित कह रहे हैं।

तत्रैकेषां दूषणं सिसृक्षाया नित्यत्वाभावेपि दृष्टक्षित्यादिकारणसाकल्येपि स्थावरदीनां कदाचिदनुत्पत्तिप्रसंगः। कदाचित्तदभावसंभवात् तदंत्यसहकारिकारणसन्निधानानन्तरमेव सिसृक्षोत्पत्तेस्तदभावासंभवे तस्याः सहकारिकारणप्रभवत्वप्रसंगः तदनन्तरभावनियमस्यान्यथा-नुपपत्तेः तेषां सहकारिणां सिसृक्षामुत्पादयतां सिसृक्षान्तरादुत्पत्तौ स्थावरादिवत् कदाचिदनुत्प-त्तिप्रसंगस्तस्य कदाचिदसन्निधानादन्त्यकारणसंनिधानानन्तरमेव सिसृक्षातरस्योत्पत्तिनियमात् तदप्रसंगे तत्कारणप्रभवत्वप्रसंगस्तदनंतरभावनियमस्यान्यथानुपपत्तेः इत्यादि पुनरावर्तत इति चक्रकमेतत्। सिसृक्षांतरेणाप्रेरितानामेव सहकारिणामुत्पत्तौ तैरेव हेतूनामनेकांतिकत्वं सहका-रिणां सिसृक्षया सह नियमेनोत्पत्तेः स्थावरादीनां सकलकारणानां कदाचिदनुत्पत्तेः। प्रसंगा-भावे सिसृक्षाया सहकारिणां च क्षित्यादीनामेकं कारणमुपपद्येत अन्यथा सहभावनियमा-योगात्। तच्चैकं कारणं यदि सिसृक्षांतरेणाप्रेरितं तज्जनकं तेनैव हेतुव्यभिचारस्तेन प्रेरितस्य तज्जनकत्वे कदाचित्तज्जननप्रसंगः पूर्ववच्चस्यापि प्रेर्येण सह नियमेनोत्पत्तौ तयोरप्येकं कारणं स्यात्, तच्चैकं कारणं यदि सिसृक्षांतरेणाप्रेरितं तज्जनकं तेनैव हेतुव्यभिचार इत्यादि पुन-रावर्तत इति चक्रकमपरम् क्षित्यादिभिः प्रागनन्तरं नियमोत्पत्तौ सिसृक्षायाः सहकारिहेतुभि-रेकसामग्र्यधीनता स्यादन्यथा प्रागनंतरं नियमोत्पत्त्ययोगात् सा चैका सामग्री यदि सिसृक्षां-तरेणाप्रेरिता तज्जनिका तदा तयैव हेतुव्यभिचारः। यदि पुनः प्रेरिता सा तज्जनिका तदा प्रेर्यात्प्रागनंतर नियमेनोत्पत्त्या तस्या भवितव्यमन्यथोक्तदोषानुषंगात् तथा च सिसृक्षांतरं प्रेर्यात्सामग्र्यविशेषात्प्रागनंतरं नियमेनोत्पद्यमानं तद्धेतुभिरेकसामग्र्यधीनं स्यात्। सा चैका सामग्री यदि सिसृक्षांतरेणाप्रेरिता तज्जनिका तदा तयैव हेतुव्यभिचार इत्यादि पुनरावर्तत इत्यन्यच्चक्रकम्। तदेतद्दूषणं परिहर्तुकामेन क्षित्यादिभ्योनंतरं प्राक् सह वा तैः सिसृक्षोत्पत्ति-र्नियमतो नाभ्युपगंतव्या तथा च तद्व्यतिरेकानुविधानमुपलभ्येत न चोपलभ्यते, क्षित्युदकबी-जादिकारणसामग्रीसन्निधानेऽप्रतिबंधे चाऽसति स्थावरादिकार्यस्यावश्यंभावदर्शनादिति तदेत-दयुक्तं, स्थावरादीनामदृष्टादिहेतुत्वेप्येतद्दोषप्रसंगात् स्वसिद्धांतविरोधात्। यदि पुनरदृष्टक्षित्या-दिकारणसाकल्येपि स्थावरादीनां परिणामवैचित्र्याददृष्टादिसिद्धिः चक्षुरादिकारणसाकल्येपि

रूपादिज्ञानपरिणामवैचित्र्यादिन्द्रियशक्तिवदिति मतं, तदेश्वरसिसृक्षासिद्धिरपि तत एवास्तु तस्यास्तत्सिध्द्या विरोधाभावादित्यपरे ।

उस पौराणिकोंके मंतव्य पर अन्य एक विद्वानोंकी ओरसे यों दूषण उठाया जाता है " सिसृक्षाणां नित्यत्वभावेपि " यहांसे प्रारम्भ कर " स्थावरादिककार्यस्यावश्यम्भावदर्शनात् " यहांतक कोई एक विद्वान दूषण दे रहे हैं यह दूषण ग्रंथकारको अभीष्ट नहीं है । अतः ग्रंथकार " तदेतदयुक्तं " से प्रारंभ कर " विरोधाभावात् " यहांतक किन्हीं दूसरे विद्वानों करके इस दूषणका प्रत्याख्यान करा देंगे पश्चात् " तेत्र प्रष्टव्याः " इस ग्रंथसे प्रारम्भ कर स्वयं ग्रंथकार इस केचित्के पक्षपर सिद्धांत दूषण उठावेंगे । केचित्के ऊपर एक विद्वानोंका दूषण इस प्रकार है कि उन किन्हीं पौराणिकोंने ईश्वरकी सिसृक्षाको अनित्य सिद्ध किया है । सिसृक्षाको नित्यपना नहीं होते हुये भी बाल गोपालोंतक देखे जारहे स्थावर आदिकोंके कारण पृथिवी, जल, बीज आदिकी परिपूर्णता होनेपर भी कभी कभी स्थावर आदिकोंके नहीं उपजनेका प्रसंग आवेगा । क्योंकि सिसृक्षा अनित्य है । कभी कभी उस सिसृक्षाका अभावसम्भव हो जायगा । अर्थात्—अनित्य सिसृक्षाके नहीं होनेपर अन्य संपूर्ण कारणोंके होनेपर भी कभी कभी स्थावर आदिक कार्य नहीं उपज सकते हैं । स्थावर आदि कार्योंके कारणोंका शनैः शनैः एकत्रीकरण होते होते तबतक यदि ईश्वरकी अनित्य सिसृक्षा उपज कर नष्ट भी होगयी होय तो हम क्या कर लेंगे । इच्छाके विना सब कारण यों ही व्यर्थ धरे रहेंगे । अतः कदाचित् स्थावर आदिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी । यदि केचित् यों कहें कि उन स्थावर आदि कार्योंके उत्पादक अंतिम सहकारी कारणोंके संनिधान पश्चात् ही सिसृक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी, अतः कारणोंकी पूर्णताके अवसरपर उस सिसृक्षाका अभाव नहीं संभवेगा, यों कहनेपर तो हम एक पण्डित यों कहते हैं कि यों तो उस सिसृक्षाकी सहकारी कारणोंसे उत्पत्ति होनेका प्रसंग आवेगा, क्योंकि उन परिदृष्ट क्षिति आदि कारणोंके अनंर सिसृक्षाके उपजनेका नियम अन्यथा बन नहीं सकता है । यानी जो पदार्थ जिन सहकारी कारणोंका कार्य होगा, वही उनके अव्यवहित उत्तर कालमें उपज सकता है ऐसी दशामें जिस सिसृक्षाको तुमने बलवती शक्ति समझ रक्खा है, वह महेश्वरकी सिसृक्षा स्वयं सहकारी कारणोंसे उपज रही बन बैठी, अब बताओ कि सिसृक्षाके पिता होरहे उन सहकारी कारणोंको कौन बनावे ? यदि सिसृक्षाको उपजा रहे उन सहकारी कारणोंकी दूसरी सिसृक्षासे उत्पत्ति मानी जायगी तब तो स्थावर आदिके समान कभी कभी उन सहकारी कारणोंके नहीं उपजनेका प्रसंग आवेगा । क्योंकि कारणोंके अधीन होनेवाली दूसरी उस अनित्य सिसृक्षाका कभी सन्निधान नहीं होपाता है । जो कार्य अपने कारणकूटके अधीन है स्वल्प भी कारणकी त्रुटि होजानेसे आवश्यकता होनेपर भी कदाचित् वह कार्य नहीं उपजता है अथवा कथंचित् उपज लेनेपर भी दूसरे कारणोंके जुटनेतक वह दूसरी सिसृक्षा नष्ट हो जायगी । ऐसी दशामें पहिली सिसृक्षाको उपजानेवाले कारणोंकी अनुत्पत्ति हुई । दादीके विना पिताकी उत्पत्ति नहीं है और पिताके विना पुत्रीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

यदि केचित् पौराणिक पूर्वके समान यहां भी यों कहें कि कार्यकी उत्पत्तिके अव्यवहित पूर्वकालमें एकत्रित हुये अन्तिम समर्थ कारणोंके सन्निधान पश्चात् ही दूसरी सिसृक्षाकी उत्पत्तिका नियम है। अतः वह अनुत्पत्तिका प्रसंग हमारे ऊपर नहीं आता है, यों पौराणिकोंके कहनेपर तो हमें कहना पडता है कि उस दूसरी सिसृक्षाको उन परिदृष्ट कारणोंसे उपजनेका प्रसंग आता है। क्योंकि उन कारणोंके अव्यवहित उत्तरकालमें नियमसे उपजना अन्य प्रकारसे यानी उनका कार्य माने विना बन नहीं सकता है। इसी प्रकार आगे भी घुमा कर ये ही चोद्य उठाये जा सकते हैं। तीसरी, चौथी, आदि सिसृक्षायें और सहकारी कारण तथा चरमकारणोंकी जिज्ञासायें उत्तरोत्तर बढती ही जावेंगी। यों बार, बार, अनित्यसिसृक्षा, कार्योंकी कदाचित् अनुत्पत्ति, अन्तिम सहकारी कारणोंके पश्चात् सिसृक्षाका जन्म, पुनः सहकारी कारणोंके लिये अन्य सिसृक्षाओंकी उत्पत्ति, इत्यादि ढंगसे आवृत्ति होती जाती है यह चक्रक दोष है। " स्वापेक्षणीयापेक्षितसापेक्षत्व-निबन्धनप्रसङ्गत्वं चक्रकत्वं " अपने अपेक्षणीयसे अपेक्षित हो रहेकीसापेक्षताको कारण मानकर प्रसंग प्राप्ति करा देना चक्रक दोष है। यदि दूसरी सिसृक्षा करके नहीं प्रेरे जा चुके ही सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो उन्हीं सहकारीकारणों करके तुम्हारे सन्निवेशविशिष्टत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष हो जायगा। क्योंकि इस सिसृक्षाके साथ ही सहकारी कारणोंकी पूर्वसिसृक्षाके विना यों ही नियम करके उत्पत्ति हो रही है। स्थावर आदि कार्योंके सम्पूर्ण कारणोंकी कभी कभी नहीं उत्पत्ति हो जानेके कारण यदि प्रसंगका अभाव माना जायगा तब तो सिसृक्षा और पृथिवी आदिक सहकारी कारणोंका जनक एक कारण बन बैठेगा अन्यथा यानी एक कारण माने विना दोनोंके सहभावका नियम नहीं बन सकता है और वह कारण यदि अन्य सिसृक्षा करके प्रेरित नहीं हुआ ही उन सहकारी कारण और सिसृक्षाका जनक माना जायगा तब तो उस एक कारण करके ही तुम्हारे कार्यत्व आदि हेतुओंमें व्यभिचार दोष लगा। यदि अन्य सिसृक्षा करके प्रेरित हो रहे एक कारणोंको अपने उन कार्योंका जनकपना अभीष्ट किया जायगा तब तो पूर्वके समान कभी होने और कभी कभी उन कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होनेका प्रसंग होगा। यदि उस एक कारणकी भी सिसृक्षा करके प्रेरे जा रहे कारणके साथ नियम करके उत्पत्ति मानी जायगी तब तो साथ उपज रहे उन दोनोंका भी एक कारण बन बैठेगा और वह एक कारण यदि अन्य चौथी, पांचवीं, सिसृक्षा करके नहीं प्रेरित हो रहा ही उन कार्योंका जनक है, ऐसी दशामें उस एक कारण करके ही " सन्निवेशविशिष्टत्व " आदि हेतुओंका व्यभिचार होगा, इत्यादिक रूपसे पुनः पुनः चोद्योंकी आवृत्ति कर ली जाती है। इस कारण यह दूसरा चक्रक दोष तुम्हारे ऊपर आता है। तीसरा चक्रक इस प्रकार है कि क्षिति आदिकों करके पहिले अव्यवहित पूर्व यदि नियमसे उस सिसृक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो सहकारी कारणों करके सिसृक्षाकी एक सामग्रीकी अधीनता हो जायगी। यानी सिसृक्षा और सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति एक सामग्रीके

वश कर बैठेगी। अन्यथा अव्यवहितपूर्व नियमसे उत्पत्ति होनेका अयोग होगा तथा सिसृक्षा और सहकारी कारण दोनोंकी वह एक सामग्री यदि पूर्ववर्ती अन्य सिसृक्षाओं करके प्रेरित नहीं होती सन्ती उन सिसृक्षा और सहकारी कारणोंकी उत्पादक मानी जायगी, तब तो एकसामग्री करके ही हेतुओंका व्यभिचार हुआ। यदि फिर अन्य सिसृक्षासे प्रेरित हो रही वह सामग्री उन सिसृक्षा और सहकारी कारणोंकी जननी मानी जावेगी तब तो प्रेरणा करने योग्य कार्योंसे अव्यवहितपूर्व उस सामग्रीकी नियम करके उत्पत्ति होनी चाहिये। अन्यथा उक्त दोषोंका प्रसंग आवेगा और तिस प्रकार होनेपर छठीं, सातवीं, न्यारी सिसृक्षा भी प्रेरणा योग्य सामग्रीविशेषसे अव्यवहितपूर्वमें नियम करके उपज रही सन्ती उन हेतुओंके साथ एकसामग्रीके अधीन हो जायगी। और वह दोनोंको वशमें करने वाली एक सामग्री यदि अन्य सिसृक्षाकरके प्रेरित नहीं हो रही सन्ती उनकी जनक (जनिका) मानी जायगी तब तो उस सामग्रीकरके ही सन्निवेशविशिष्टत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष लगा इत्यादिक रूपसे पुनः पुनः चक्कर देकर चोद्योंकी आवृत्ति कर ली जाती है। इस प्रकार तीसरा अन्य चक्रकदोष तुम्हारे ऊपर आ पडता है। "स्वग्रहसापेक्षग्रह सापेक्षग्रहसापेक्षग्रहकत्वं चक्रकत्वं" इस कारण इन सब चक्रक या व्यभिचार दूषणोंको परिहार करनेकी अभिलाषा रखनेवाले पौराणिक पण्डित करके क्षिति आदिकोंसे अव्यवहित पूर्व अथवा साथ उन कारणों करके सिसृक्षाकी नियमसे उत्पत्ति नहीं स्वीकार कर लेनी चाहिये। और तैसा होनेपर नहीं उपज रही सिसृक्षाके साथ उन स्थावर आदि कार्योंके व्यतिरेकका अनुविधान कैसे जाना जा सकेगा? यों अनित्य मान ली गयी भी ईश्वर इच्छाके साथ व्यतिरेक तो नहीं दीख रहा है। क्षिति, उदक, बीज, ऋतुकाल आदि सामग्रीके निकट होनेपर और प्रतिबन्धकोंके नहीं होनेपर स्थावर आदि कार्योंका अवश्य उत्पाद हो रहा देखा जाता है। ईश्वरकी सिसृक्षाको सामग्रीमें डालनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यहांतक केचित् पौराणिकोंके ऊपर एकदेशीय जैन विद्वान्के विचार प्रगट हो चुके हैं। यहां किन्हीं अपर विद्वानोंका निरूपण है कि तिस प्रकार यह जैनपक्षीय-विद्वानोंका कथन अयुक्त है। केवल परको निर्मुख करनेवाला खण्डन हमको अभीष्ट नहीं है। यों तो स्थावर आदि कार्योंके यदि अदृष्ट आदिको कारण माना जायगा वहां भी इन दोषोंके प्राप्त हो जानेका प्रसंग आ जायगा। अतः तुमको अपने जैन सिद्धान्तसे विरोध ठन जायगा। यदि फिर आपका यह मत होय कि सबको परिदृष्ट हो रहे पृथिवी, काल, आदि कारणोंकी परिपूर्णता होनेपर भी स्थावर आदि कार्योंके परिणाममें विचित्रता देखी जाती है। इस कारण पुण्य, पाप, स्वरूप अदृष्ट अथवा अन्य भी परोक्ष कारणोंकी सिद्धि कर ली जाती है। जैसे कि चक्षु, आलोक आदि कारणोंकी सकलता होनेपर भी अनेक जीवोंके भिन्न भिन्न प्रकार हो रहे रूप आदिके ज्ञानपरिणामोंकी विचित्रतासे अतीन्द्रिय इन्द्रियोंका या शक्तियोंका अनुमान कर लिया जाता है। यों तुम्हारा मन्तव्य होय तब तो कर्तृवादियोंके यहां ईश्वरकी सिसृक्षाकी सिद्धि भी तिस ही कारणसे यानी चमत्कारक स्थावर आदिके परिणा-

मोंकी विचित्रतासे हो जाओ। उस स्थावर आदिकी विचित्रताका उस सिसृक्षासिद्धिके साथ कोई विरोध नहीं है। प्रत्युत अनुकूलता है। अर्थात्—बालक, वृद्ध, रोगी, पशु, आदिकी बहिरंग इन्द्रियां स्थूलदृष्टिसे समान दीखती हैं। किन्तु भिन्न भिन्न जातिके रूपादि ज्ञानोंके अनुसार अतीन्द्रिय इन्द्रियोंका परिज्ञान कर लिया जाता है। उसी प्रकार ईश्वरकी अतीन्द्रिय सिसृक्षाका भी परिज्ञान कर लिया जा सकता है। फिर सिसृक्षाका खण्डन कहां हुआ ?। यहांतक अपर विद्वान् कह रहे हैं।

तेऽत्र प्रष्टव्याः। स्थावराद्युत्पत्तौ निमित्तभावमनुभवन्ती महेश्वरस्य सिसृक्षा यदि पूर्वसिसृक्षातो भवति, सापि तत्पूर्वसिसृक्षातस्तदा सोत्तरां सिसृक्षां प्रादुर्भावयति वा न वा ? न तावदुत्तरः पक्षस्तदनंतरस्थावरादिभ्य उत्तरोत्तरस्थावराद्यनुत्पत्तिप्रसंगात्। तत एव तदुत्पत्तौ व्यर्थानादिसिसृक्षापरंपरापरिकल्पना, कथंचिदेकयैवाशेषपरापरस्थावरादिकार्याणामुत्पादयितुं शक्यत्वात् पूर्वसिसृक्षया अप्युत्तरोत्तरासिसृक्षां प्रत्यव्यापारात्। यदि पुनराद्यः पक्षः कक्षीक्रियते तदा चोत्तरासिसृक्षायामेव प्रकृतसिसृक्षाया व्यापारात् ततः स्थावरादिकार्योत्पत्तिर्न भवेत्। एतेन पूर्वपूर्वसिसृक्षाया अप्युत्तरोत्तरसिसृक्षायामेव व्यापृतेः पूर्वमपि स्थावराद्युत्पत्त्यभावः प्रतिपादितः।

अब ग्रंथकार सिद्धांत रीतिसे केचित्का सिद्धांत खंडन करते हैं कि वे केचित् विद्वान यहां प्रकरणमें यों पूंछने योग्य हैं कि स्थावर, सूर्य, तनु आदिकी उत्पत्तिमें निमित्तभावका अनुभव कर रही महेश्वरकी सिसृक्षा यदि पूर्वकालवर्तिनी दूसरी सिसृक्षासे उपजती है तब तो वह दूसरी सिसृक्षा भी उससे पहिले की तीसरी सिसृक्षासे उपजेगी, उस समय हमारा प्रश्न यह है कि स्थावर आदिकोंको उपजा रही वह पूर्वकालीन सिसृक्षा क्या उत्तरकालवर्तिनी सिसृक्षाको उपजावेगी ? अथवा नहीं प्रकट करेगी ? बताओ। पिछले पक्षका ग्रहण करना तो ठीक नहीं पडेगा, क्योंकि पूर्वसिसृक्षा यदि उत्तर सिसृक्षाको पैदा नहीं करेगी तो उसके अनंतर होनेवाले स्थावर आदिकोंसे पुनः उत्तरोत्तर स्थावर आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, तुम्हारे यहां सिसृक्षाके विना कोई कार्य उपजता नहीं माना गया है, किन्तु स्थावरोंसे अगले अगले स्थावरोंकी उत्पत्ति हो रही देखी जाती है। यदि एक उस पहिली सिसृक्षासे ही उस उत्तर सिसृक्षाकी उत्पत्ति मान ली जायगी, तब तो परम्परासे अनादिकालीन सिसृक्षाओंकी लंबी चौडी कल्पना करना व्यर्थ पडेगा। उस एक ही सिसृक्षा करके उत्तरोत्तर होनेवाले संपूर्ण स्थावर आदि कार्योंको कथंचिद् उपजाया जा सकता है। पूर्वकालकी सिसृक्षा करके भी उत्तरोत्तर होनेवाली सिसृक्षाओंके प्रति कोई व्यापार नहीं किया जासकता है, जो तुम मान बैठे हो। यदि आप करके आदिके पक्षका अंगीकार किया जायगा तब तो पूर्व सिसृक्षासे उत्तर सिसृक्षाकी उत्पत्ति करनेपर प्रकरण प्राप्त सिसृक्षाका केवल उत्तरकालवर्तिनी सिसृक्षाको उपजानेमें ही व्यापार होता रहेगा। उस प्रकृत सिसृक्षासे स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी। इस कथन करके यह भी प्रतिपादन कर दिया गया समझ लो कि अनादिकालीन पहिली पहिली सिसृक्षाओंका भी उत्तरोत्तर कालकी सिसृक्षा-

ओंकी उत्पत्ति करनेमें ही व्यापार होता रहेगा, अतः पहिले भी स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी, सिसृक्षाको अवकाश नहीं मिल जायगा, ऐसी दशामें सिसृक्षाकी शरण लेना व्यर्थ ही है जो भृत्य अपने ही शारीरिक कार्योंसे अवकाश नहीं पाता है, वह प्रचंड प्रभुकी सेवा क्या कर सकेगा ? कुछ नहीं।

यदि पुनरियं सिसृक्षांतरोत्पत्तौ स्थावरादिकार्योत्पत्तौ च व्यप्रियेत पूर्वा पूर्वा च सिसृक्षा परां परां च सिसृक्षां तत्सहभाविस्थावरादींश्च प्रति व्याप्रियमाणाभ्युपेयेत, तदैकैव सिसृक्षा सकलोत्पत्तिमतामुत्पत्तौ व्यापारवती प्रतिपत्तव्या। तथा च सकृत्सर्वकार्योत्पत्तेः कुतः पुनः कार्यक्रमभावप्रतीतिः ?

यदि फिर ईश्वरवादी यों कहे कि यह पूर्वकालीन सिसृक्षा दूसरी दूसरी सिसृक्षाओंको उत्पन्न करनेमें और स्थावर, त्रसशरीर, आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें व्यापार करेंगी तथा पूर्वसिसृक्षासे भी पहिली पहिली सिसृक्षायें स्वस्वजन्य उत्तरोत्तर सिसृक्षाओंको और उन सिसृक्षाओंके साथमें होनेवाले स्थावर आदि कार्योंके प्रति व्यापार कर रही स्वीकार कर ली जायगी। आचार्य कहते हैं कि तब तो एक ही ईश्वरके सृजनेकी इच्छा इन उपजनेवाले सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्तिमें व्यापार कर रही समझ लेनी चाहिये, और तिस प्रकार एक ही सिसृक्षाको यावत् कार्योंकी उत्पत्तिमें व्यापार करनेवाली माननेपर एक ही बारमें सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्ति होना बन बैठेगा। अतः फिर कार्योंके क्रम क्रमसे होनेकी प्रतीति होना भला कैसे सध सकेगा ? सो बताओ। अर्थात्—एका सिसृक्षाद्वारा युगपत् सम्पूर्ण कार्य उपज बैठेंगे जो कि पहिले प्रसंग उठाया गया था।

स्यान्मतं, क्रमशः स्थावरादिकार्याणां देशादिनियतस्वभावानामुभयवादिप्रसिद्धत्वात् तन्निमित्तभावमात्मसात्कुर्वाणा महेश्वरसिसृक्षाः क्रमभाविन्य एवानुमीयंते कार्यविशेषानुमेयत्वात् कारणविशेषव्यवस्थितेरिति। तर्हि सिसृक्षांतरोत्पत्तावन्याः सिसृक्षाः स्थावरादिकार्योत्पत्तौ चापरास्तावंत्यो अभ्युपगंतव्याः कार्यविशेषात्कारणविशेषव्यवस्थितेरन्यथानुपपत्तेः।

ईश्वरवादियोंका यह भी मन्तव्य होवे कि नियत देशमें होना, नियत कालमें उपजना, प्रति नियत आकारको धारना, आदि स्वभाववाले स्थावर आदि कार्योंकी यों नियतरूपसे उत्पत्ति होना हम तुम दोनों वादी प्रतिवादियोंके यहां प्रसिद्ध हो रहा है इस कारण इन नियत कार्योंके निमित्त-कारणपनको अपने अधीन कर रहीं महेश्वरकी सिसृक्षायें क्रम क्रमसे हो रहीं सन्ती ही अनुमानप्रमाण द्वारा जानी जा रही है। क्योंकि विशेष विशेष कारणोंकी व्यवस्थाका तज्जन्य विशेष विशेष कार्यों-द्वारा अनुमान कर लिया जाता है, जिस प्रकार आप जैन क्रमक्रमसे उपजनेवाले कार्योंके क्रम क्रमवर्ती कारणोंका निर्धारण कर लेते हैं। उसी प्रकार क्रमवर्तिनी सिसृक्षायें भी क्रमवर्ती कार्योंको

क्रमक्रमसे करेगी। अतः युगपत् सकल कार्योंकी उत्पत्तिका प्रसंग नहीं आ पाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो दूसरी दूसरी सिसृक्षाओंकी उत्पत्तिमें अन्य अन्य सिसृक्षायें और स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें उतनी ही न्यारी सिसृक्षायें कारण हो रहीं स्वीकार करनी पड़ेंगी, क्योंकि कार्योंका विशेष रूपसे देखना होनेसे उनके विशेष कारणोंकी व्यवस्था हो जाना अन्यथा बन नहीं सकता है। अर्थात्—न्यारे न्यारे कारणोंसे ही न्यारे न्यारे कार्योंकी उत्पत्ति होनेका अविनाभाव है। दूसरे क्षण, तीसरे क्षण, चौथे क्षण, आदिमें ईश्वरकी न्यारी न्यारी सिसृक्षायें तभी उपज सकती हैं, जब कि उनको उपजानेवाली पहिले क्षणमें अनेक सिसृक्षायें मानी जावें और क्रमभावी स्थावर आदि कार्योंको उपजानेमें भी उतनी पहिले सिसृक्षायें चाहिये कारणोंमें भेद माने विना कार्योंमें विशेषतायें नहीं आ सकती हैं। जैनसिद्धान्तमें भी " यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकं स्वभावभेदाः " जितने छोटे मोटे कार्य हो रहे हैं, उतने कारणोंके स्वभावभेद माने जाते हैं। एक कारणसे भी यदि अनेक कार्य हो रहे हैं, तो उस एक कारणमें अनेक स्वभाव घुस रहे हैं। नानी या बडनानीमें भी धेवतेको उपजानेका स्वभाव अन्तर्गूढ है। जैसे कि बाबा पडबाबामें नाती, पंतीको उपजानेकी कारणता निहित है। इकतरा, तिजारी, चौथेया, ज्वरोंकी या एक एक, दो दो पीडी बीचमें देकर उपजनेवाले कौलिक रोगोंके उपजानेकी शक्ति भी कारणोंमें सदा छिपी हुई विद्यमान है। आप कर्त्तावादी पण्डित तो पदार्थोंमें अनेक धर्मोंको स्वीकार नहीं करते हैं। अतः आपको अनन्तसिसृक्षायें स्वीकार करनी पड़ेंगी यह महागौरव या आनंत्यदोष तुम्हारे ऊपर हुआ।

नानाशक्तिरेकैव सिसृक्षा तन्निमित्तामिति चेत्, तर्हि सकलक्रमभावीतरकार्यकरणपटुरनेकशक्तिरेकैव महेश्वरसिसृक्षास्तु। सा च यदि सिसृक्षांतरनिरपेक्षोत्पद्यते तदा स्थावरादिकार्याण्यपि तन्निरपेक्षाणि भवंतु किमीश्वरसिसृक्षया ? सिसृक्षांतरात्तदुत्पत्तौ तत एव सकलक्रमभावीतरस्थावरादिकार्याणि प्रादुर्भवंतु। नानाशक्तियोगात्तदभ्युपगमे च स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्था दुर्निवारा।

यदि कर्तृवादी यों कहें कि उत्तरोत्तर अनेक सिसृक्षाओं और असंख्य स्थावर आदि कार्योंको उपजानेमें उपयोगिनी हो रहीं अनेक शक्तियोंको धारनेवाली एक ही सिसृक्षा उपज रही उन सिसृक्षाओं और स्थावर आदि कार्योंकी निमित्त कारण मान ली जायगी यों कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो क्रम क्रमसे होनेवाले या उनसे न्यारे युगपत् होनेवाले सम्पूर्ण कार्योंको करनेमें चतुर हो रहीं अनेक शक्तिवाली महेश्वरकी सिसृक्षा एक ही मान ली जाओ। जैनसिद्धान्त अनुसार तुमने यह मार्ग अच्छा पकड लिया है। अनेक स्वभाववाली एक सिसृक्षा ही जगत्के सम्पूर्ण कार्योंको कर डालेगी। मध्यमें अनेक सिसृक्षाओंको माननेकी आवश्यकता नहीं है। इससे ईश्वरकी भी प्रशंसा हुई और आनन्त्य दोषका परिहार भी हो गया। किन्तु हां, यह तो बताओ कि वह एक सिसृक्षा वर्तमान

कालमें उपज रही यदि पूर्व कालकी अन्य सिसृक्षाओंकी कारण रूपसे नहीं अपेक्षा रखती हुई उपज जाती है ? तब तो स्थावर आदिक असंख्य कार्य भी उस एक सिसृक्षाकी कारण रूपसे अपेक्षा नहीं करते हुये ही उपज जायंगे । ईश्वरकी सिसृक्षा करके क्या लाभ हुआ ? अर्थात्—ईश्वरकी सिसृक्षासे कुछ प्रयोजन नहीं निकला । हां यदि अन्य सिसृक्षासे उस अनेक स्वभाववाली सिसृक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी । तब तो उस दूसरी सिसृक्षासे ही सम्पूर्ण क्रमभावी और अक्रमभावी स्थावर आदि कार्य भी प्रकट हो जाओ । अनेक शक्तिवाली सिसक्षाको मध्यमें कारण मानेनका बोझ व्यर्थमें क्यों लादा जाता है ? कर्तृत्ववादी यदि दूसरी सिसृक्षामें भी नानाशक्तियोंका योग होजानेसे उस स्वानुकूल कार्यकारणभावको स्वीकार करेंगे तब तो वही पर्यनुयोग उठाया जायगा कि वह सिसृक्षा स्वतः उपजेगी ? अथवा दूसरी सिसृक्षासे उत्पन्न होगी ? इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पांचवी, कोटियोंपर भी चोद्य चलाना बढता ही चला जायगा । इस ढंगसे हुई अनवस्थाका निवारण करना तुमको अतिकठिन कर्त्तव्य होजायगा ।

यदि पुनर्नित्यानेकशक्तिरेकैव महेश्वरसिसृक्षा तदा अस्याः स एव व्यतिरेकाभावो महेश्वरन्यायवत् । तदव्यापित्वे एतच्छून्येपि देशे स्थावरादीनामुत्पत्तेः कुतोऽन्वयस्यापि प्रसिद्धिः ?

उक्त संपूर्ण दूषणोंके प्रसंगसे भयभीत होकर यदि फिर तुम ईश्वरकी अनेक शक्तिवाली एक ही सिसृक्षाको नित्य स्वीकार कर लोगे तब तो महेश्वरके हुये न्यायके समान इस नित्य सिसृक्षाका भी वही व्यतिरेकका अभाव दोष लग बैठेगा । अर्थात्—नित्य महेश्वरका जैसे देशव्यतिरेक या कालव्यतिरेक नहीं बन पाता है उसी प्रकार महेश्वरकी सिसृक्षाका भी व्यतिरेक नहीं बन सकेगा । जब जब या जहां जहां सिसृक्षा नहीं है, तब तब, वहां वहां स्थावर आदि कार्य नहीं उपज पाते हैं । नित्य व्यापक सिसृक्षाके इस व्यतिरेकका अभाव होजानेसे अन्वय भी ठीक नहीं घट पाता है । अन्वयमें तो असाधारण कारणोंका और आकाश आदि साधारण कारणोंका पदस्थ समान है, अतः अन्वय व्यतिरेकोंके नहीं घटनेसे अनेक शक्तिवाली नित्य एक सिसृक्षाको स्थावर आदि कार्योंका निमित्तपना नहीं सधता है । यदि देश व्यतिरेक बन जानेकी रक्षा करनेके लिये उस सिसृक्षाको अल्पदेशवृत्ति अव्यापक माना जायगा तब तो इस सिसृक्षासे रीते होरहे देशोंमें भी स्थावर, ऋतुपरिवर्तन आदि कार्योंकी उत्पत्ति अविराम होरही देखी जाती है । इस कारण विचारे अन्वयकी भी प्रसिद्धि भला किस ढंगसे होसकी ? अर्थात्—सिसृक्षाके होनेपर ही कार्य उपजने चाहिये थे । किन्तु अव्यापक सिसृक्षा जहां नहीं है वहां भी कार्य उपज रहे हैं । अतः अन्वय बिगड गया ।

यदि पुनरनित्यापि सिसृक्षा ब्राह्मेण मानेन वर्षशतांते जगद्भोक्तृप्राण्यदृष्टसामर्थ्यादेकैवोत्पद्यते न सिसृक्षांतरादिति मतं, तदा तत एव जगदुत्पत्तिरस्तु किमीश्वरसिसृक्षया ? ततो न स्थावराद्युत्पत्तौ महेश्वरो निमित्तं तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाविकलत्वात् । यद्यन्निमित्तं

तत्र तदन्वयव्यतिरेकानुविधानविकलं दृष्टं यथा कुविंदादिनिमित्तं वस्त्रादि । महेश्वरसिसृक्षान्वयव्यतिरेकानुविधानविकलं च स्थावरादि तस्मान्न तन्निमित्तमिति व्यापकस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधानस्यानुपलंभाद्व्याप्यतन्निमित्तत्वस्य स्थावरादिषु प्रतिषिद्धे सिद्धे सति सन्निवेशविशिष्टत्वादेर्हेतोरनैकांतिकत्वं स्थावरादिभिः केचिन्मन्यंते ।

यदि फिर तुम पौराणिकोंका यह मन्तव्य होय कि हम ईश्वरकी सिसृक्षाको नित्य नहीं मानते हैं । जिससे कि व्यतिरेक नहीं बन पावे किन्तु वह अनित्य भी सिसृक्षा ब्रह्मासम्बन्धी परिमाण (नाप) करके सौ सौ वर्षके अन्तमें जाकर जगद्वर्त्ती भोक्ता प्राणियोंके अदृष्टकी सामर्थ्यसे एक ही उपजती है । दूसरी सिसृक्षासे उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जाती है । अर्थात्—सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्षका सत्ययुग है । बारह लाख छियानवे हजार मानुष वर्षोंका त्रेतायुग है । आठ लाख चौंसठ हजार वर्षोंका द्वापर है । और चार लाख बत्तीस हजार मानुष वर्षोंका कलियुग है । यों सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुगकी सहस्र संख्याके बीत जानेपर ब्रह्माका एक दिन समझा जाता है । इसी प्रकार हजार चार युगोंके समान चार प्रहरोंकी एक रात मानी गयी है । यों इन रात, दिनोंसे महीना और वर्ष बनाकर सौ वर्षके पीछे एक ही सिसृक्षा उपजती है । उसको उपजानेमें अन्य सिसृक्षा कारण नहीं है । हां, जगत्के प्राणियोंके पुण्य, पाप, उस सिसृक्षाको उपजानेमें निमित्त पड जाते हैं । जैसे कि न्यायाधीशकी नियुक्तिमें अपराधी या निरपराधी पुरुषोंका पाप, पुण्य निमित्त हो जाता है । आचार्य कहते हैं कि तब तो उस ही कारणसे यानी सुख, दुःखको भोगनेवाले संसारवर्ती प्राणियोंके अदृष्टकी सामर्थ्यसे ही कार्य जगत्की उत्पत्ति हो जाओ जैसा कि हम जैन मानते हैं । ईश्वरकी सिसृक्षा करके क्या प्रयोजन सधा ? नियत कारणों द्वारा नियत कार्योंका उपजना बडा उत्तरदायी कर्त्तव्य है । अतः कारणकोटिमें अप्रमित ठलुआ पदार्थोंका बोझ बढाना हितकर नहीं है । तिस कारण सिद्ध हुआ कि स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें महेश्वर या उसकी सिसृक्षा निमित्तकारण नहीं है । (प्रतिज्ञा) उन कार्योंके साथ अन्वय और व्यतिरेकके अनुविधानका रहितपना होनेसे (हेतु) जो कारण जिस कार्यका निमित्त है । वह कारण उस कार्यके साथ हो रहे अन्वयव्यतिरेकोंके अनुविधान करनेसे रीता नहीं देखा गया है । जैसे कि कोरिया, तुरी या कुलाल, दण्ड, आदिको निमित्त पाकर हुये वस्त्र, घट आदि कार्य हैं । (व्यतिरेकदृष्टान्त) महेश्वर या उसकी सिसृक्षाके साथ अन्वय व्यतिरेकका अनुविधान करनेसे विकल हो रहे स्थावर आदि कार्य हैं । (उपनय) तिस कारणसे वे स्थावर आदि कार्य उस महेश्वर या सिसृक्षाको नहीं निमित्त पाकर उपजे हैं । (निगमन) इस पांच अवयववाले अनुमान द्वारा व्यापक हो रहे तदन्वय व्यतिरेकानुविधानके अनुपलम्भसे स्थावर आदि कार्योंमें तन्निमित्तपनका प्रतिषेध हो जाना सिद्ध होते सन्ते सन्निवेशविशिष्टत्व, कार्यत्व, आदि हेतुओंका स्थावर, खनिज, आदि कार्योंकरके व्यभिचार दोष होनेको कोई कोई विद्वान् मान रहे हैं । अर्थात्—कार्य कारण भावका व्यापक अन्वयव्यतिरेकानुविधान है ।

व्यापक नहीं होनेसे व्याप्यका अभाव साध लिया जाता है। ईश्वर या ईश्वर इच्छाके साथ कार्य उस अन्वय–व्यतिरेकपद्धतिका अनुसरण नहीं करते हैं। इस कारण कार्योंके निमित्त ईश्वर या ईश्वर इच्छा नहीं है। यों स्थावर आदि कार्योंके प्रति ईश्वर या ईश्वर इच्छाका निमित्तपना जब युक्तियोंद्वारा निषिद्ध हो चुका तो ईश्वरवादियोंद्वारा पहिले कहे गये सन्निवेशविशिष्टत्व, अचेतनोपादानत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष तदवस्थ रहा, यों कोई पण्डित जैनोंकी चाटुकारता करते हुये मान रहे हैं। ग्रंथकारका इनके प्रति कोई अत्यधिक आदर अथवा घृणाका भाव नहीं है। यह उनका परिणाम अडतीसवीं वार्तिकसे ही ध्वनित हो जाता है।

एवमीशस्य हेतुत्वाभावसिद्धिं प्रचक्षते।
व्यापकानुपलंभेन स्थावरादिसमुद्भवे ॥ ५० ॥

श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि यहां कोई विचारशाली विद्वान् इस प्रकार उक्त रूपसे बहुत अच्छा स्पष्ट कथन कर रहे हैं कि स्थावर, मेघवृष्टि, आंधी आदिकी भले प्रकार उत्पत्ति होनेमें ईश्वरको निमित्तकारणपनके अभावकी व्यापकके अनुपलम्भ करके सिद्धि हो रही है। अर्थात्—कार्य कारण भावका व्यापक अन्वय व्यतिरेकभाव है। जहां व्यापक नहीं है वहां व्याप्य नहीं ठहर सकता है। अडतीसवीं वार्तिकमें वैशेषिकोंके हेतुओंका जो व्यभिचार दोष किन्हीं विद्वानों करके उठाया गया है वह अनुचित नहीं है।

एवं जगतां बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कार्यत्वादिहेतोः स्थावरादिभिर्व्यभिचारमुद्भाव्य पुनः स्थावरादीनामीशनिमित्तत्वाभावसिद्धिं व्यापकानुपलंभेन केचित्प्रचक्षते।

इस प्रकार किसी बुद्धिमान् ईश्वरमें तीनों जगत्का कारणपना साध्य करनेपर दिये गये कार्यत्व सन्निवेशविशिष्टत्व आदि हेतुओंका स्थावर, पर्वत, आदिकोंकरके व्यभिचार हेत्वाभासको उठाकर फिर ईश्वरमें स्थावर, पृथिवी, आदि कार्योंके निमित्तकारणपनके अभावकी सिद्धिको व्यापकानुपलम्भकरके जो कोई बखानते हैं वे विद्वान् अच्छा निरूपण कर रहे हैं, हमें उनके कर्तव्यपर संतोष है।

पक्षस्यैवानुमानेन बाधोद्भाव्येति चापरे।
पक्षीकृतैरयुक्तत्वाद्व्यभिचारस्य साधने ॥ ५१ ॥

दूसरे कोई विद्वान् यहां यों कह रहे हैं कि वैशेषिकोंके पक्षकी अनुमानकरके ही बाधा उठानी चाहिये वैशेषिकों करके पक्षमें पहिले नहीं किये किन्तु पुनः पक्षकोटिमें धर लिये गये स्थावर आदिकों करके कार्यत्व आदि हेतुओंमें व्यभिचार हेत्वाभासका उठाना युक्तिरहित है। भावार्थ—जैनमतका पक्ष ले रहे केचित् विद्वान्के ऊपर जैनसिद्धान्तपर भक्ति रखनेवाले अपर विद्वानोंका यह आक्षेप

है कि त्रिजगत्का निमित्तकारण ईश्वरको साध्य करनेमें कार्यत्व आदि हेतुओंका पहिले व्यभिचार दोष उठाना और फिर बाधित हेत्वाभास दोष उठाना यह मार्ग प्रशस्त नहीं है। हां, यह मार्ग सुंदर है कि वैशेषिकोंके अनुमानको झटिति नष्ट करनेवाले इस अनुमानकरके बाधित दोष उठाना चाहिये कि महेश्वर (पक्ष) स्थावर, बीज, आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण नहीं है। (साध्य) उनके साथ अन्वय व्यतिरेकोंके अनुविधानकी विकलता होनेसे (हेतु) यह निर्दोष अनुमान जैनोंकी ओरसे समुचित प्रयुक्त किया जासकता है, केचित् विद्वानोंको स्थावर, हीरा, पन्ना, आदि करके व्यभिचार दोष उठाना अनुचित है। क्योंकि वैशेषिकोंके यहां स्थावर, समुद्रज, खनिज आदि पदार्थोंको भी पक्षकोटिमें डालकर उनको ईश्वरका कार्य मान लिया गया है वे एक एक अन्नके दाने या फूलकी पांखरी तक कोई ईश्वरकी इच्छा पर निर्भर मानते हैं। " नहि पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारः " पक्ष या पक्षसममें दिया गया व्यभिचार दोषाधायक नहीं है, जब बाधक अनुमान द्वारा प्रतिपक्षीके साध्य अनुमानका साक्षात् खंडन किया जा सकता है तो अनुमितिके कारण होरहे व्याप्तिज्ञान या परामर्षको बिगाडनेवाले व्यभिचार दोषका उठाना छोटापन है।

अनेनैवानुमानेन व्यापकानुपलंभेन पक्षबाधोद्भावनीया कालात्ययापदिष्टत्वं च हेतोस्तथोद्भावितं स्यान्न पुनः पक्षीकृतैः स्थावरादिभिः साधनस्य व्यभिचारस्तत्रोद्भावनीयस्तस्यायुक्तत्वात्। एवं हि न कश्चिद्धेतुरव्यभिचारी स्यात् कृतकत्वादेरपि शब्दानित्यत्वादौ पक्षीकृतैः शब्दैरेव कैश्चिद्व्यभिचारस्योद्भावयितुं शक्यत्वात्।

" महेश्वरो स्थावराद्युत्पत्तौ न निमित्तं " इस ही अनुमान करके अन्वय, व्यतिरेक अनुविधान स्वरूप व्यापकके अनुपलंभ द्वारा वैशेषिकोंके पक्षकी बाधा उठानी चाहिये, और तैसा होनेपर वैशेषिकोंके कार्यत्व आदि हेतुओंका कालात्ययापदिष्टत्व यानी बाधितहेत्वाभासपना भी उठाया जा चुका समझा जायगा, किंतु फिर वैशेषिकों द्वारा पक्षमें करलिये गये, स्थावर, जंगम, प्राणियोंके शरीर आदिकों करके कार्यत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार तो वहां वैशेषिकोंके अनुमानमें नहीं उठाना चाहिये, क्योंकि पक्ष कर लिये गये स्थलों करके ही उस व्यभिचार दोषका उठाया जाना अयुक्त है। इस प्रकार के चित् विद्वान् यदि पक्षमें कर लिये गये स्थलों करके ही व्यभिचार दोष उठायंगे तब तो कोई भी हेतु विचारा व्यभिचारदोषसे रहित नहीं हो सकेगा। पक्ष किये गये पर्वतमें अग्निकी उपलब्धि नहीं होनेपर धूम हेतुको भी व्यभिचारी कहा जा सकता है। पक्षमें साध्य विवादापन्न हो ही रहा है। सर्वथा निर्दोष होकर प्रसिद्ध हो रहे कृतकत्व, सत्त्व, आदि हेतुओंका भी शब्दके अनित्यपन, परिणामीपन आदिकी सिद्धि करनेमें पक्ष कर लिये गये शब्द करके ही कोई अल्लड पुरुष व्यभिचार दोषको उठा सकता है। ईर्षालु स्त्रियां इठलाती हुयीं सुंदर स्त्रियोंपर यों ही झूंठ, मूठ, व्यभिचार दोषका आरोप कर बैठती हैं। एतावता वह दोष यथार्थ नहीं समझ लिया जाता है।

न कश्चिज्जगद्बुद्धिमन्निमित्तं साधयितुं स्थावरादीन् पक्षीकुरुते । तैः साधनस्य व्यभिचारोद्भावने वा कृते सति पश्चान्न पक्षीकुर्वीत येन व्यभिचाराविषयस्य पक्षीकरणाद्धेतोरव्यभिचारे न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात् ।

कोई कोई कर्तृवादी तो जगत्के बुद्धिमान् निमित्त कारण द्वारा बनाये जानेको साधनेके लिये पहिलेसे ही स्थावर, सूर्य, चन्द्रमा, आदिकोंको पक्षकोटिमें कर लेता है । हां, कोई वैशेषिक पृथिवी, पर्वत, शरीर आदिकोंको पक्ष करता है । ऐसी दशामें किसी प्रतिवादी द्वारा उन स्थावर आदिकों करके कार्यत्व हेतुका व्यभिचार दोष उठाना कर चुकनेपर पीछेसे स्थावर आदिको पक्षकोटिमें कर लेता है । किन्तु ऐसा कोई कर्तृवादी नहीं जो वन्य वनस्पति, खनिज, स्थावर, आदिको पक्ष कोटिमें नहीं करै क्योंकि ईश्वरवादी तो आत्मा, आकाश, परमाणु, आदि नित्य पदार्थोंको छोडकर शेष सभी स्थावर, खनिज, बीज, अंकुर, अदृष्ट, सूर्य, पर्वत, आदि अनित्य चराचर जगत्का निर्माण करनेवाला ईश्वरको मानते हैं । अतः वे सब पक्षकोटिमें आ जाते हैं । व्यभिचारके विषय हो रहे स्थलको पक्ष कर देनेसे हेतुका अव्यभिचार माना गया है । यदि व्यभिचारस्थलको पक्षकोटिमें प्रविष्ट करते हुये भी बलात्कारसे व्यभिचार उठाया जायगा । तब तो कोई भी हेतु व्यभिचार दोषरहित नहीं हो सकेगा । अतः यहां व्यभिचार दोष उठाना उचित नहीं है । जिससे कि वस्तुतः व्यभिचार दोषके विषय नहीं किन्तु असदाग्रह करके व्यभिचार दोषके विषय हो रहे स्थलको पक्ष कर देनेसे हेतुका अव्यभिचार माननेपर कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं बन बैठे यानी सभी हेतु व्यभिचारी नहीं बन जाय । एतदर्थ वैशेषिकोंके अनुमानमें पक्षीकृत स्थावर आदिकों करके व्यभिचार दोषको नहीं उठाओ ।

पक्वान्येतान्याम्रफलान्येकशाखाप्रभवत्वादुपयुक्तफलवदित्यादिषु तदेकशाखाप्रभवानामपक्वानामाम्रफलानां व्यभिचारविषयाणां पक्षीकरणादित्युपालंभः स्यात् । यथा चात्र न पक्षीकृतैः कश्चिद्व्यभिचारमुद्भावयति किंतु प्रत्यक्षबाधा पक्षस्य हेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्वं तथा प्रकृतानुमानेपि । यथा च पक्षस्य प्रत्यक्षबाधोद्भावयितुं युक्ता तथानुमानबाधापि । यथा च प्रत्यक्षबाधितपक्षनिर्देशानंतरम् प्रयुज्यमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टस्तथानुमानबाधितपक्षनिर्देशानन्तरमपि सर्वथा विशेषाभावात् पक्षबाधोद्भावने च हेतुभिः परिदानमपि न भवेदिति सोद्भावनीया, तदुपेक्षायां प्रयोजनाभावादिति चापरे प्रचक्षते । अन्ये त्वाहुः ।

आम्रवृक्षकी एक शाखा पर कितने ही कच्चे, पक्के, फल लग रहे हैं किसी लोभी आतुर विक्रेताने बानगीके ढंगसे दो एक मीठे फल भोले क्रेताको चखा दिये शाखाके सम्पूर्ण फलोंका खाना खवाना प्रयोजनीभूत नहीं है । अतः विक्रेता अनुमान बनाता है कि ये सन्मुख देखे जारहे सभी आम्रफल (पक्ष) पके हुये हैं (साध्य) वृक्षकी एक शाखामें उपजना होनेसे (हेतु) उपयोगोंमें आचुके चूसे हुये आमके समान (अन्वय दृष्टान्त) । अथवा मित्रा नामक काली स्त्रीका गर्भस्थ पुत्र

गोरा है, अबकी बार काले पनके पत्र, शाक, आदिका भक्षण बहिरंग कारण और अन्तरंग कारण कृष्ण वर्ण नामक प्रकृतिका उदय नहीं मिलनेसे गर्भका पुत्र गोरा है, कोई स्थूल बुद्धि पुरुष अनुमान बनाता है कि गर्भस्थित पुत्र होनेसे (हेतु) इतर तीन, चार, देखे जारहे पुत्रोंके समान (अन्वय-दृष्टान्त) । इसी प्रकार यह तीसरा अनुमान किसीने उठाया कि यह छात्र (पक्ष) व्युत्पन्न है (साध्य) इस प्रसिद्ध विद्यालयमें प्रकाण्ड विद्वान् द्वारा ग्रन्थाध्ययन करने वाला होनेसे (हेतु) परिदृष्ट व्युत्पन्न विद्यार्थियोंके समान (अन्वयदृष्टान्त) । वस्तुतः वह छात्र अव्युत्पन्न था इत्यादिक स्थलोंमें व्यभिचारके विषय हो रहे उस एक शाखापर उपजे हुये कच्चे आम्र फलोंको या गर्भस्थ पुत्रको अथवा उपद्रवी, अविनीत, छात्रको पक्ष कोटिमें कर देनेसे यों उपालम्भ हो जाता । अर्थात्—व्यभिचार स्थलोंको पक्षकोटिमें डाल देनेसे पुनः व्यभिचार दोष नहीं उठाया जाना चाहिये जिस प्रकार कि यहां एकशाखाप्रभवत्व आदि हेतुओंमें पक्षकोटिमें कर लिये गये कच्चे फल आदिकों करके कोई भी विचारशील पण्डित पुनः उन करके व्यभिचार नहीं उठाता है । किन्तु प्रत्यक्षप्रमाणसे पक्षकी बाधा देना दोष ही उपस्थित करता है और ऐसी दशामें हेतुका बडा दृढ दोष कालात्ययापदिष्टपना यानी बाधितपना उठाकर वादीकी सम्पूर्ण मनोरथ-भित्तियोंको वह प्रतिवादी ढाह देता है । उसी प्रकार प्रकरणप्राप्त वैशेषिकोंके अनुमानमें भी जैनोंको व्यभिचार दोष नहीं उठाकर बाधितहेत्वाभास उठाना चाहिये । जिस प्रकार कि पक्षकी प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधाको उठानेके लिये समुचितपना है उसी प्रकार अनुमानप्रमाण करके भी पूर्वपक्षीके अनुमानमें प्रसन्नतापूर्वक बाधा उठाई जा सकती है । " वह्निरनुष्णः द्रव्यत्वात् जलवत् अग्नि (पक्ष) शीतल है (साध्य) द्रव्य होनेसे (हेतु) जलके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमानमें जैसे स्पार्शन प्रत्यक्षसे बाधितपना आपादित कर दिया जाता है । उसी प्रकार " अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् " इस अनुमानको शब्द परिणामी है सत् होनेसे इस अनुमान द्वारा बाधित किया जाता है । प्रकरणमें द्वीप आदिक (पक्ष) किसी बुद्धिमान् करके बनाये गये हैं (साध्य) विशेष रचनावाले होनेसे या कार्य होनेसे (हेतु) इस वैशेषिकोंके पक्षकी स्थावर आदिकी उत्पत्तिमें महेश्वर (पक्ष) निमित्त कारण नहीं है (साध्य) अन्वय-व्यतिरेककी घटना नहीं होनेसे (हेतु) इस अनुमान द्वारा बाधा उठाई जा सकती है । तथा प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित हो रहे पक्षनिर्देशके अनन्तर प्रयुक्त किया जा रहा हेतु जिस प्रकार बाधित हेत्वाभास है उसी प्रकार अनुमानप्रमाणसे बाधित हो रही प्रतिज्ञाके निर्णीत निर्देशके पश्चात् प्रयुक्त किया जा रहा हेतु भी कालात्ययापदिष्ट है प्रत्यक्षबाधित और अनुमानबाधित पक्षसे अनुमिति तत्कारणान्यतरविरोधित्व सम्बन्धकरके सहित हो रहे हेतुओंमें सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है । एक बात यह भी है कि हेतुओंकरके वादीके पक्षकी बाधाको उठानेपर पुनः परिवर्तन भी नहीं हो सकेगा । अर्थात्—एक हेतुसे पक्षसिद्धि न सही दूसरे हेतुओंसे कर लेंगे यों भी पक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती है । जब प्रत्यक्षसे अग्निका उष्णपना या अनुमानसे शब्दका परिणामीपना प्रसिद्ध है । तो

हजारों हेतुओंसे भी अग्निका अनुष्णपना या शब्दका कूटस्थ नित्यपना कथमपि नहीं साधा जा सकता है। अथवा पहिलेसे बाधित हेत्वाभासके उठा देनेपर पुनः अन्य हेतुओं करके भी वादीका पक्ष रक्षित नहीं किया जा सकेगा। बलवती बाधाके उपस्थित कर देनेपर सम्पूर्ण हेतुओंकी शक्तियां मर जाती हैं। इस कारण कर्त्तावादियोंके पक्षमें वह बाधा उठा देनी चाहिये उस बाधाको उपस्थित करनेकी उपेक्षा (लापरवाही) करनेमें कोई प्रयोजन नहीं है। पाप या कृष्ण सर्पको अविलम्ब पृथक् कर दिया जाय यही सबका इष्ट प्रयोजन होना चाहिये उनको रखनेमें कोई प्रयोजन नहीं सधता है। प्रत्युत महती हानि होनेका खटका है। यों यहांतक कोई दूसरे विद्वान् अच्छा बखान कर रहे है। श्री विद्यानन्द आचार्यने बडी विद्वत्ताके साथ कर्तृवादका निराकरण किया है जैसे गुरुजी महाराज अपने अनेक शिष्योंकी परीक्षा लेते हुये भिन्न भिन्न वचनभंगियों द्वारा एक ही प्रमेयकी न्यारी न्यारी व्याख्या करा कर प्रसन्न होते हैं ग्रन्थकार भी जिनमार्गभक्त अनेक विद्वानों द्वारा कर्तृवादके निराकरणके पाठकी प्रक्रियाको मानो सुन रहे हैं। केचित् और अपरे विद्वानोंके पश्चात् अन्य विद्वान् तो यहां यों कह रहे हैं कि–

सर्वथा यदि कार्यत्वं हेतुः स्याद्वादिनां तथा ।
न सिद्धो द्रव्यरूपेण सर्वस्याकार्यतास्थितेः ॥ ५२ ॥
कथंचित्तु विरुद्धः स्याद्धीमद्धेतु जगत्स्वयं ।
कथंचित्साधयन्निष्टविपरीतं विशेषतः ॥ ५३ ॥

वैशेषिकोंने जो यह अनुमान कहा था। कि " द्वीपक्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटवत् " इस अनुमानमें कहे गये कार्यत्व हेतुका अर्थ यदि सभी प्रकारोंसे कार्यपना है तब तो स्याद्वादियोंके यहां द्वीप, पृथिवी, आदिमें तिस प्रकार सर्वथा कार्यपना हेतु सिद्ध नहीं है क्योंकि द्रव्यस्वरूप करके सम्पूर्ण पदार्थोंको कार्यरहितपना व्यवस्थित हो रहा है घट, पट आदिक भी द्रव्यार्थिक नय करके कार्य नहीं हैं। अर्थात्—जिन अनादि अनन्त द्रव्योंके पर्याय घट, पट, आदि हैं वे द्रव्य कार्य नहीं होकर नित्य हैं। अतः पक्षमें नहीं ठहरनेसे कार्यत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास हुआ। हां, इस असिद्ध दोषके निवारणार्थ सर्वथा पक्षको छोडते हुये तुम वैशेषिक यदि कथंचित् कार्यपनको हेतु मानोगे तब तो तुम्हारा हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होजायगा क्योंकि तुम जगत्का बुद्धिमान हेतु करके सर्वथा उपजना साध रहे हो यानी जगत्में सर्वथा ईश्वर नामक कारणकी कार्यता है किन्तु कथंचित् कार्यत्व हेतु तो विशेष रूप करके इष्ट साध्य विपरीत हो रहे कथंचित् बुद्धिमान्के निमित्तकारणपनको साध रहा है। अतः तुम्हारा हेतु विशेष रूपसे विरुद्ध होरहा विरुद्ध नामका हेत्वाभास हुआ।

नाक्रोशंतः पलायंते विरुद्धा हेतवः स्वतः ।
सर्वगे बुद्धिमद्धेतौ साध्येन्यैर्जगतामिह ॥ ५४ ॥

अन्य विद्वान् वैशेषिकों करके इस प्रकरणमें तीनों जगतोंके हेतु होरहे सर्व व्यापक किसी बुद्धिमान्को साध्य करनेपर दिये गये वे कार्यत्व आदि हेतु तो विशेष विरुद्ध हेत्वाभास हैं, इस प्रकार साध्यसे विपरीत कथंचित् बुद्धिमान्को निमित्तकारणपनकी सिद्धि होजानेकी बडे बलसे पुकार करनेवाले ये हेतु अपने आपहीसे नहीं दूर भग जाते हैं। अर्थात्—व्यापक, सर्वज्ञ, बुद्धिमान्को निमित्तपना साधनेमें प्रयुक्त किये गये कार्यत्व आदि हेतु जब कथंचित् बुद्धिमान्को जगत्का कारणपन साध रहे हैं। तो ऐसी दशामें उस वैशेषिकके सिद्धान्तको गालिप्रदान कर रहे ये हेतु यों ही स्वतः नहीं भग जायंगे किन्तु वैशेषिकोंके विरुद्ध होकर जगत्में कथंचित् बुद्धिमान् द्वारा किये गये पनका ढिंढोरा पिटते रहेंगे। जैसे कोई सन्मार्ग प्रचारक, उद्वेगी, भला, मनुष्य यदि किसी असत् पक्षवाले पुरुषके साथ फंस जाय पुनः वह भला मानुष अपने साथीके दुर्गुणोंको देखता है तो उससे विरुद्ध होकर कटु शब्दों द्वारा उसकी भर्त्सना करता है यों ही चुपके नहीं भग जाता है उसी प्रकार कथंचित् कार्यत्व हेतु उन वैशेषिक या पौराणिककी अच्छी प्रतरणा करता हुआ उनके अभीष्ट साध्यसे विपरीत पक्षको साधनेके लिये कमर कस लेता है।

यदि सर्वथा कार्यत्वमचेतनोपादानत्वं, सन्निवेशविशिष्टत्वं, स्थित्वा प्रवृत्त्यादि वा हेतुस्तदा न सिद्धस्तन्वादेरपि द्रव्यार्थादेशादकार्यत्वात्। कार्यत्वं तावदसिद्धं तथा तस्य नित्यत्वव्यवस्थितेः सर्वथा कार्यत्वेऽनित्यत्वेऽर्थक्रियाविरोधात्। अत एव सर्वस्यानुपादानत्वादचेतनोपादानत्वं न सिद्धं ज्ञानादेः पक्षीकृतस्यापि चेतनोपादानत्वात् तदभ्युपगमो नापि भागासिद्धं वनस्पतिचैतन्ये स्वापवत्। सन्निवेशविशिष्टत्वमपि न द्रव्यस्य पर्यायविषयत्वात्तस्येत्यसिद्धं ज्ञानादौ स्वयमनभ्युपगमाच्च भागासिद्धं तद्वदेव स्थित्वा प्रवृत्तिरपि न द्रव्यार्थादेशात् कस्यचित्तथा सर्वस्य नित्यप्रवृत्तत्वादिति तदसिद्धिः। अर्थक्रियाकारित्वं पुनर्द्रव्यादर्थान्तरभूतस्य पर्यायस्यैकांतेन तदनुपपादमित्यसिद्धमेव।

स्याद्वादियोंके पक्षका आदर कर रहे कोई अन्य विद्वान् उन कर्तृवादियोंसे पूंछते हैं कि शरीर, पृथिवी, द्वीप, पर्वत आदिमें ईश्वरकृतपना साधनेके लिये प्रयुक्त किये गये कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, सन्निवेशविशिष्टत्व, स्थित्वाप्रवृत्ति, अर्थक्रियाकारित्व आदिक हेतु यदि सर्वथा हैं। अर्थात्—पृथिवी, शरीर, आदिमें सभी प्रकारोंसे कार्यपना या सभी प्रकारोंसे अचेतन उपादान कारणोंसे जन्यपना आदि हैं तब तो तुम्हारे हेतु सिद्ध नहीं हैं असिद्ध हेत्वाभास हैं क्योंकि द्रव्यार्थिक—नय—द्वारा निरूपण करनेसे तनु, द्वीप, पर्वत, आदिक भी कार्य नहीं हैं सम्पूर्ण द्रव्य अनादि अनन्त हैं शरीर आदि पर्यायें भले ही अनित्य होय किन्तु शरीर आदिका पुद्गल द्रव्य नित्य है। अतः सभी प्रकारोंसे यानी द्रव्यरूपसे भी कार्यपना मानना तो तनु आदिमें असिद्ध है तिस प्रकारसे तो उन तनु आदिकोंको नित्यपना व्यवस्थित हो रहा है। यदि सभी प्रकारोंसे किसीको भी अनित्य माना जायगा तो अर्थक्रिया

होनेका विरोध होगा। एक क्षणमें ही उपज कर नष्ट होनेवाला पदार्थ जब आत्मलाभ ही नहीं कर सका तो फिर अपने योग्य अर्थक्रियाको भला क्या करेगा ? अनेक क्षणोंतक ठहरते हुये ही बाण आदि पदार्थ अभीष्ट स्थानपर पहुंच सकते हैं। कालान्तर स्थायी घट ही जलधारण क्रियाको कर पाता है। बहुत देरतक ठहर रहे अन्न, जल, आदिक पदार्थ ही क्षुधा, पिपासा, आदिकी निवृत्ति कर सकते हैं। दीपकलिका, बिजली, बुदबुदा (बबूला) आदि पदार्थ भी सर्वथा नित्य नहीं हैं। असंख्य समयोंतक इनकी स्थिति है द्रव्यरूपसे तो ये भी नित्य हैं। अतः तुम्हारा सर्वथा कार्यत्व हेतु प्रकृत पक्षमें नहीं घटित होनेसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। तिस ही कारणसे यानी द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा कथन करनेसे जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंको उपादान कारणसे रहितपना है जब कि सम्पूर्ण चराचर पदार्थ द्रव्यरूपसे नित्य हैं ऐसी दशामें वे उपादान कारणोंसे जन्य नहीं हो सकते हैं अतः शरीर, पृथिवी, आदिकोंमें अचेतन उपादान कारणोंसे उपजना हेतु भी सिद्ध नहीं है तब तो अचेतनोपादानत्व हेतु भी स्वरूपासिद्ध हुआ। दूसरी बात यह है कि अचेतनोपादानत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास भी है। पक्षके एक देशमें हेतु रहै और पक्षके दूसरे देशमें हेतु नहीं रहै वह भागासिद्ध हेत्वाभास होता है। शरीर, पृथिवी, वृक्ष, आदिके उपादान कारण अचेतन माने गये हैं। किन्तु ज्ञान, सुख, इच्छा आदिक कार्य भी पक्षकोटिमें किये गये हैं। परन्तु ज्ञान आदिके उपादान कारण तो चेतन आत्मायें माने गये हैं। अतः उस स्वीकृति करके भी पक्षके परिपूर्ण देशोंमें नहीं ठहरनेसे अचेतनोपादानत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है। जैसे कि वनस्पतियोंमें चेतनपना सिद्ध करनेके लिये प्रयुक्त किया गया स्वापहेतु भागासिद्ध है वनस्पतियां (पक्ष) चैतन्यवाली हैं। (साध्य कोटि) शयन करनेवाली होनेसे (हेतु) दो दिनके जन्मे हुये बालकके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान द्वारा निद्राकर्मका उदय होनेपर सो रहीं वनस्पतियोंमें तो चैतन्य घटित हो जाता है किन्तु हलन, कम्पन, कर रहीं जागती हुयीं वनस्पतियोंमें स्वाप हेतुसे चेतनपना सिद्ध नहीं हो पाता है। सम्पूर्ण जागते हुये मनुष्य, पशु, पक्षी जीवोंमें भी स्वाप हेतुसे चैतन्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। तथा तीसरा सन्निवेशविशिष्टपना हेतु भी द्रव्यके घटित नहीं होता है। क्योंकि वह रचनाविशेष या तिकोने, चौकोने, गोल, आदि परिमाणोंकी रचनायें पर्यायोंमें पायीं जाती हैं। इस कारण सर्वथा सन्निवेशविशिष्टत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है। चारो ओर देखी जा रहीं रचनायें जब कि पर्यायोंकी नियत हैं तो द्रव्यार्थिकरूपसे विशेष सन्निवेश उन पक्षोंमें नहीं वर्तता है एक बात यह भी है कि वैशेषिकोंने ज्ञान, सुख, आदि गुणोंमें या भ्रमण, चलन आदि क्रियाओंमें सन्निवेशविशेषको स्वयं स्वीकार नहीं किया है " गुणादिर्निर्गुणक्रियः " गुण, क्रिया, जाति, आदिमें परिमाण आदि गुण या क्रियायें नहीं ठहरते हैं गुण तो द्रव्योंमें ही पाये जाते हैं। अतः पक्षके एक देश हो रहे ज्ञान आदिमें सन्निवेशविशेषकी वर्तना नहीं होनेसे सर्वथा सन्निवेशविशिष्टत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है उन सर्वथा कार्यत्व, सर्वथा अचेतनोपादानत्व, सर्वथा सन्निवेशविशिष्टत्व हेतुओंके समान ही चौथ

ठहर ठहरकर प्रवर्तना हेतु भी सिद्ध नहीं है स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे किसी भी पदार्थकी तिस प्रकार ठहर ठहरकर विराम लेते हुये प्रवृत्ति नहीं होती है द्रव्यार्थिकनयसे तो सम्पूर्ण पदार्थ सूर्य, चन्द्रमाके अविराम प्रकाश करनेके समान अविश्राम नित्य प्रवृत्ति कर रहे हैं। पुद्गल द्रव्यके रूप, रस, आदिक गुण नित्य ही काली, पीली, खट्टी, मीठी आदि पर्यायोंके धारनेमें प्रवर्त रहे हैं एक क्षणका भी अवकाश नहीं मिलता है। जीव द्रव्य सर्वदा जानना, अस्तिपन, वस्तुपन आदिमें अनवरत प्रवृत्ति कर रहा है। जीवकी पर्याय बढई सुनार, कुलाल, या पुद्गलकी पर्याय कुठार, हथौडा, चाक घूमना आदिके समान मध्यमें विराम लेते हुये प्रवृत्ति करना द्रव्योंमें नहीं है। चला दिये गये यंत्र (मशीन) के समान जिस ओर धुन बंध गयी उसमें द्रव्य सदा प्रवर्तते रहते हैं इस कारण उस स्थित्वा प्रवृत्ति हेतुकी भी असिद्धि हुई। पांचवां अर्थक्रियाकारित्व हेतु फिर द्रव्यसे भिन्न हो रही पर्यायके पाया जाता है। घट, पट, आदि पर्यायें जल धारण आदि अर्थक्रियाओंको कर रही हैं। पुद्गलकी जल पर्याय करके स्नान, पान, अवगाहन, अर्थक्रियायें करी जाती हैं। एकान्त करके यानी सर्वथा शरीर, पृथ्वी, आदिकोंको वह अर्थक्रियाकारीपन कठिनतासे भी नहीं बन पाता है। अर्थात्—द्रव्यरूपसे शरीर, पर्वत, आदिक किसी भी लौकिक प्रयोजन साधक अर्थक्रियाका सम्पादन नहीं कर रहे हैं जैसे कि खेतकी मिट्टी भले ही चना, गेंहू, ईख, मूंग, उर्द, बननेकी सामर्थ्यको रखती है किन्तु वर्तमान मिट्टी अवस्थामें रोटी, दाल, पेडा, या क्षुधा निवारण आदि कार्योंको नहीं कर पाती हैं अथवा इस पंक्तिका अर्थ यों कर लिया जाय कि वैशेषिकोंके यहां द्रव्यसे सर्वथा भिन्न मानी गयी पर्यायको अर्थक्रियाकारीपना कथमपि युक्तियोंसे नहीं सध पाता है। द्रव्यसे कथंचित् अभिन्न हो रहीं पर्यायें ही अर्थक्रियाओंको करती हैं पर्यायात्मक द्रव्य अर्थक्रियाओंको साध रहे हैं। अतः अर्थक्रियाकारित्व हेतु उन पृथ्वी, शरीर, आदि केवल पर्याय या स्वतंत्र द्रव्योंमें नहीं घटित हो पाता है इस कारण स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास ही है। यहांतक पांचों हेतुओंको सर्वथा स्वीकार करनेपर वैशेषिकोंके ऊपर स्वरूपासिद्ध हेत्वाभासका प्रसंग दे दिया गया है दो हेतुओंमें भागासिद्ध दोष भी जड दिया है।

यदि पुनः कथंचित्कार्यत्वमन्यद्वा हेतुस्तदा विरुद्धः स्यात् स्वयमिष्टविपरीतस्य कथंचिद्धीमद्धेतुकत्वस्य साधनात्। सर्वथा बुद्धिमत्कारणत्वे हि साध्ये जगतः कथंचिद्धीमद्धेतुकत्वसाधनो हेतुर्विशेषविरुद्धः सर्वोऽपीति। नाक्रोशंतः प्रपलायंते विशेषविरुद्धा हेतवः। कार्यत्वादिना मौलेन हेतुना स्वेष्टस्य साध्यस्याप्रसाधनात्तेषां निरवकाशत्वाभावात् तैरस्य व्याघातसिद्धेः।

यदि फिर वैशेषिक कथंचित् कार्यपनेको हेतु स्वीकार करेंगे अथवा अचेतनोपादानत्व, सन्निवेशविशिष्टत्व, आदि अन्य हेतुओंमें कथंचित्पना लगाकर उनको हेतु अभीष्ट करेंगे तब तो उनके वे हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होजायंगे क्योंकि कथंचित् कार्यपना आदि हेतु तो जगत्में कथंचित् बुद्धिमान्

हेतुसे जन्यपनको साधेंगे । अतः स्वयं दुष्ट होरहे सर्वथा बुद्धिमान् कारण करके जन्यपनसे विपरीत होरहे कथंचित् बुद्धिमान् हेतु करके जन्यपनके साथ व्याप्ति रखने वाले कथंचित् कार्यत्व आदि हेतु तो विरुद्ध हैं " साध्यविपरीतव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः " जगत्का सभी प्रकार व्यापक, सर्वज्ञ, एक अशरीर, बुद्धिमान् कारणसे जन्यपना साध्य करनेपर पुनः कथंचित् अव्यापक, अल्पज्ञ, अनेक सशरीर, बुद्धिमान् कारणोंसे जगत्की उत्पत्तिको साध देनेवाले वे सभी हेतु विशेषविरुद्ध हेत्वाभास होजाते हैं, अपना विशेष विरुद्धपना पुकार रहे वे हेतु यों ही सहजमें झट पलायन (भाग जाना) नहीं कर जाते हैं । बहुत दिनसे बिछुर गये अपने मूल्यवान् पदार्थकी प्राप्ति होजानेपर पुनः वह पदार्थ यों ही झट शत्रुओंको नहीं सौंप दिया जाता है । कथंचित् लगा देनेसे उक्त सभी हेतु वैशेषिकोंके विरुद्ध होकर स्याद्वादियोंके पक्षासिद्धिकी पुकार मचाते रहते हैं । विशेष विरुद्ध हेतु अपने कर्तव्य कथंचित् बुद्धिमान्से जन्यपनको चराचर जगत्में साध रहे हैं । निकृष्ट कार्यको साध लेनेका प्रकरण आनेपर भले ही कोई भला साध अच्छा ही है किन्तु प्रकृष्ट कार्योंको साधनेके लिये साधन अपना धन्य भाग समझते हैं वे अधिक देरतक ठहरना चाहते हुये बडी प्रसन्नतासे उन कार्योंको साधते हैं । सबसे प्रथम मूलमें कहे गये निर्विशेषण कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, आदि हेतुओं करके वैशेषिकोंके यहां अपने इष्ट होरहे साध्यकी प्रसिद्धि नहीं होसकी है । हां कथंचित् कार्यत्वको सर्वत्र आदरके साथ स्थान मिल रहा है । किन्तु सर्वथा कार्यत्वको कहीं भी ठहरनेके लिये अवकाश प्राप्त नहीं होता है । अतः उन कथंचित् कार्यत्व, कथंचित् अचेतनोपादानत्व, आदि हेतुओंके अवकाशरहितपनका अभाव होजानेसे उन कथंचित् कार्यत्व आदि करके इस मूलमें उपात्त किये निर्विशेषण कार्यत्व या सर्वथा कार्यत्व आदि हेतुओंका व्याघात होजाना सिद्ध है । अर्थात्—सादर निमंत्रणपूर्वक सर्व स्थलोंपर अवकाश पारहे कथंचित् कार्यत्व हेतु करके सर्वत्रसे निरादर कर भगाये जारहे सर्वथा कार्यत्वहेतुका व्याघात कर दिया जाता है । यों वैशेषिकोंके सिद्धान्तका प्रत्याख्यान कर जैन सिद्धान्त अनुसार कथंचित् बुद्धिमान् निमित्तत्वकी सिद्धि होजाती है ।

न चैवं धूमादेरन्याद्यनुमानं प्रत्याख्येयं कथंचिदग्निमत्त्वादेरेव कचिल्लौकिकैः साध्यत्वात् कथंचिद्धूमवत्त्वादेरेव हेतुत्वेनोपगमाच्चासिद्धत्वविरुद्धत्वयोरयोगात् । तर्हि जगतां कथंचिद्बुद्धिमत्कारणत्वस्य साध्यत्वात् कथंचित्कार्यत्वादेश्च हेतुत्वोपगमात्परस्यापि न दोषः इति चेन्न, स्याद्वादिनां सिद्धसाधनस्य तथा व्यवस्थापनात् ।

यदि वैशेषिक यों कहें कि इस प्रकार विशेष विरुद्धताका कुचक्र यदि भले हेतुओंपर चलाजायगा तब तो धूम, कृतकत्व, आदि हेतुओंसे अग्नि, अनित्यत्व, आदिको समझा रहे प्रसिद्ध अनुमानोंका भी प्रत्याख्यान हो जाना चाहिये । धूममें सर्वथा धूमपना नहीं है पौद्गलिकपना या कंठ, आंखमें विक्षेप करा देना भी धर्म वहां विद्यमान हैं । धूम सर्वथा अग्निको ही नहीं साधता है उष्ण-

ताको भी साधता है। गीले ईंधनके संयोगको भी समझा देता है। धूममें अनेक कुतर्क (तनाखियां) उठायी जा सकती हैं। कृतकत्व हेतुमें भी देश, कालके विशेषोंकी अपेक्षा लगाकर विशेष विरुद्धता धर दी जायगी। आचार्य कहते हैं कि यह नहीं समझना क्योंकि लोकदक्ष व्यवहारी जनों करके कथंचित् अग्निमत्त्व, कथंचित् अनित्यत्व आदिको ही साध्य किया है और कथंचित् धूमवत्त्व, कथंचित् कृतकत्व, आदिको ही हेतुपने करके स्वीकार किया गया है। अतः धूमादि हेतुओंमें असिद्ध हेत्वाभास, विरुद्ध हेत्वाभास, सहितपनका योग नहीं हो पाता है, यदि सर्वथा धूम या सर्वथा अग्निको हेतुपने करके स्वीकार किया गया है। अतः धूमादि हेतुओंमें असिद्ध हेत्वाभास, विरुद्ध हेत्वाभास, सहितपनका योग नहीं होपाता है। यदि सर्वथा धूम या सर्वथा अग्निको हेतु और साध्य बना जायगा तब तो इनको भी उन्हीं तोपके गोले सदृश हो रहे असिद्धपन, विरुद्धपनसे उठा दिया जायगा। वैशेषिक कहते हैं कि तब तो सम्पूर्ण जगतोंका कथंचित् बुद्धिमान् कारणसे जन्यपनको साध्य हो जानेसे और कथंचित् कार्यत्व, कथंचित् सन्निवेशविशिष्टत्व आदि को हेतुपना स्वीकार कर लेनेसे परवादी हम वैशेषिकोंके यहां भी कोई दोष नहीं आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों कहनेपर स्याद्वादियोंकी ओरसे सत्रहवीं वार्तिकमें वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोषको तिस प्रकार व्यवस्था करा दी गयी है। हम स्याद्वादी जब कि नाना आत्माओंको शरीर, खनिज, पर्वत, आदि जगद्वर्ती कार्योंका निमित्तकारणपन प्रथम ही स्वीकार कर रहे हैं तो सिद्धको ही साधनेसे क्या लाभ ? वादीको प्रतिवादीके सन्मुख असिद्ध पदार्थकी सिद्धि करनी चाहिये, बुद्धिवृद्ध पुरुषोंको गतमार्गका पुनःगमन करना परिश्रमवर्धक ही है।

द्रव्यं गुणः क्रिया नान्त्यविशेषोऽशाश्वतो ननु ।
विवादाध्यासितो धीमान्हेतुः साध्यस्थितो यदा ॥ ५५ ॥
कार्यत्वं न तथा स्वेष्टविपरीतं प्रसाधयेत् ।
नाप्यसिद्धं भवेत्तत्र सर्वथापि विवक्षितं ॥ ५६ ॥
इत्येके तदसंप्राप्तं भेदैकांताप्रसिद्धितः ।
कार्यकारणयोरैक्यप्रतिपत्तेः कथंचन ॥ ५७ ॥

दूसरे कोई एक वैशेषिक विद्वान् स्वपक्षका अवधारण करनेके लिये यों कह रहे हैं कि हम सम्पूर्ण द्रव्योंको पक्ष नहीं बनाते हैं। किन्तु घट, पट, आदिक कार्यद्रव्योंको पक्षकोटिमें धरते हैं। इसी प्रकार अनित्य गुणोंको पक्ष स्थिर करते हैं। देशसे देशान्तर करा देना स्वरूप क्रियायें तो हमारे यहां सब अनित्य ही मानी गयी हैं। नित्य द्रव्योंमें वर्त रहे व्यावर्तक, अनन्त और अन्तमें वर्त रहे ऐसे अन्त्यविशेषोंको भी हम धर्मी नहीं बना रहे हैं। सामान्य, समवाय, नित्यगुण और नित्य द्रव्य भी धर्मी

नहीं हैं। किन्तु अनित्य द्रव्य, अनित्य गुण और सम्पूर्ण क्रियायें ही विवादमें प्राप्त हो रही पक्ष मानी गयी हैं और जिस समय इन अशाश्वत द्रव्य गुण, क्रियाओंका निमित्तकारण एक बुद्धिमान् साध्यरूपसे व्यवस्थित किया गया है उस समय प्रयुक्त किया गया कार्यत्वहेतु तिस प्रकार हमको निज अभीष्ट होरहे साध्यसे विपरीतको कथमपि नहीं साध पायेगा क्योंकि आप जैनोंने पहिले वार्तिकमें सिद्धसेनका कटाक्ष किया था यों कार्यत्व हेतु हमारे इष्ट साध्यको ही बढिया साधेगा। तथा वह कार्यत्वहेतु यदि सर्वथा भी विवक्षाप्राप्त कर लिया जायगा तो भी उन सर्वथा जन्य द्रव्य, गुण, क्रियाओंमें असिद्ध हेत्वाभास नहीं होसकेगा, अशाश्वत माने गये द्रव्य, गुण, क्रियाओंमें, सर्वथा कार्यत्वहेतु निर्द्वन्द्व ठहर जाता है। अतः " सर्वथा यदि कार्यत्वं " इस वार्तिकद्वारा असिद्ध दोष उठाना जैनोंका उचित कार्य नहीं है। यहांतक कोई एक कर्तृवादी कर रहे हैं ग्रन्थकार कहते हैं कि उनका वह कथन संगतिसे रहित हैं। क्योंकि वैशेषिकोंके यहां माने गये कार्य और कारणके एकान्तरूपसे भेदकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकती है जब कि कार्य और कारणके कथंचित् एकपनकी निर्बाध प्रमाणों द्वारा प्रतिपत्ति होरही है। ऐसी दशामें परमाणु, आत्मा, आकाश, आदि कारण नित्य हैं तो कथंचित् अभिन्न होरहे उनके कार्य घट, पट, ज्ञान, इच्छा, शब्द, आदि भी कथंचित् नित्य होजायंगे। अतः पक्षमें सर्वथा कार्यत्वके नहीं ठहरनेसे कार्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध हो ही गया, कथंचित् नित्य पदार्थोंमें हेतुओंसे सर्वथा जन्यपना अनुमानान्तरसे बाधित भी है। अतः तुम्हारा कार्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट हुआ, (अपील करनेपर उनकी सजा बढ गयी)।

यदप्याहुः परे पृथिव्यादिकार्यद्रव्यमशाश्वतं धर्मिं तस्य विवादाध्यासितत्वान्न पुनराकाशं अभिलापात्तमेवं शाश्वतं द्रव्यं, नाप्यात्मा सुखाद्यनुमेयो नित्यो, न कालः परत्वापरत्वाद्यनुमेयो दिग्वा, नापि मनः सकृद्विज्ञानानुत्पत्त्यानुमेयं, नापि पृथिव्यादिपरमाणवः कार्यद्रव्यानुमेयास्तेषामविवादापन्नत्वात्। तत एव न सामान्यमनुवृत्तिप्रत्ययानुमेयं, नापि समवाय इहेदमिति प्रत्ययानुमेयो, नांत्यविशेषा नित्यद्रव्यवृत्तयोऽत्यंतव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः।

उक्त वार्तिकोंकी व्याख्या इस प्रकार है कि दूसरे कर्तृवादी पण्डित जो भी यह कह रहे हैं कि पृथिवी, जल, तेज, वायु इस प्रकार चार जातिके अनित्य कार्यद्रव्योंको हम धर्मी बनाते हैं। क्योंकि उन अनित्य द्रव्योंका किसी बुद्धिमान् निमित्तद्वारा बनाया जाना ही विवादमें पडा हुआ है। किन्तु फिर शाश्वत नित्य पांच द्रव्य तो कार्यरूपसे विवादग्रस्त नहीं है। शब्दका समवायीकारण होकर गृहीत हो रहा नित्य द्रव्य आकाश इस प्रकार पक्ष नहीं किया गया है। अपना आत्मा स्व संवेद्य और दूसरोंका सुख, दुःख, आदिकरके अनुमान प्रमाणद्वारा जानने योग्य नित्य आत्माद्रव्य भी बुद्धिमद्धेतुकपनाकरके विवादापन्न नहीं है। जेठापन, छोटापन, इन कालिक परत्व, अपरत्व आदिकरके अनुमान करने योग्य परोक्षकालद्रव्य भी नित्य है। अतः कर्तृसाधक

अनुमानके पक्षमें नहीं धरा गया है। अथवा दैशिक परत्व, अपरत्व, " इदमतः " यह इससे पूर्व है, अमुक यहांसे उत्तरमें हैं इत्यादि लिंगकरके अनुमानसे जानी गयी नित्य दिशा द्रव्यका भी पक्षमें नहीं ग्रहण किया गया है। तथा " युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगं " चक्षु आदि कारणोंकरके होनेपर भी युगपत् कई ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं होनेके करके अनुमान किया गया नित्य हो रहा मन भी धर्मी नहीं किया गया है। मन अनन्ते हैं। घट, पट, बिन्दु, हिम, ज्वाला, अंगार, श्वास, व्यजनवात, आदिक कार्य द्रव्योंकरके अनुमान प्रमाण द्वारा जान लिये गये पृथिवीपरमाणु, जलीय परमाणु, तैजस-परमाणुयें, ये नित्य हो रहीं पृथिवी आदि चार जातिकी परमाणुयें भी धर्मी नहीं की गयी हैं। क्योंकि उन नित्य परमाणुओंको कर्तृजन्यपनके विवादमें ग्रसितपना नहीं है। नित्य पदार्थोंको कोई भी पण्डित ईश्वरकृत नहीं मानता है तिस ही कारणसे यानी विवादापन्न नहीं होनेसे ही यह गौ, यह गौ यह भी वैसी ही गौ, इस प्रकारके अनुवृत्ति ज्ञानोंकरके अनुमान प्रमाण द्वारा जानने योग्य चौथा गोत्व द्रव्यत्व आदि सामान्य (जाति) पदार्थ भी हमने पक्षकोटिमें नहीं रखा है। तथा इन तन्तुओंमें पट है, इस घटमें रूप है इस प्रकार सप्तम्यन्त और प्रथमान्त पदोंका समभिव्याहार होनेपर " इह इदं " इस प्रतीतिके द्वारा अनुमान करने योग्य समवाय पदार्थ भी धर्मी नहीं बनाया है जो कि " एक एव समवायस्तत्त्वभावेन, अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदं प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवायः, नित्यसम्बन्धः समवायः " इस ढंगसे समवाय नित्य माना गया है तथा "अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः" अन्तमें होनेवाले और नित्यद्रव्योंमें वर्त रहे तथा अत्यन्त व्यावृत्तिबुद्धिके कारण ऐसे विशेष पदार्थ तो नित्य हैं उनको हम ईश्वरजन्य थोडा ही मानते हैं। अर्थात्—घटका व्यावर्तक कपाल, कपालका व्यावर्तक उसके अवयव कपालिकायें, यों दूर चलकर पंचाणुक, पुनः इसका व्यावर्तक चतुरणुक और चतुरणुकका भेदकारक त्र्यणुक एवं त्र्यणुकका व्यावर्तन करनेवाला द्व्यणुक है। द्व्यणुकोंकी व्यावृत्ति परमाणुओंसे हो जाती है। किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओंकी परस्परमें विशेषताओंको करनेवाला एक एक परमाणुके साथ एक एक विशेष पदार्थ लगा दिया गया है। जो कि विशेष पदार्थ स्वतःव्यावृत्त है स्वपरप्रकाशक दीपकके समान स्वपरव्यावर्तक उसको अन्य विशेषोंकी अपेक्षा नहीं है। इस कारण विशेषको सबके अन्तमें ठहरा कर अन्त्य माना गया है वे अनन्तानन्त विशेष पदार्थ तो चतुर्विध अनन्त परमाणुओं और आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन इन नित्य द्रव्योंमें वर्तते हैं। परस्परमें या अन्य पदार्थोंसे हो रही अत्यन्त व्यावृत्ति बुद्धिके हेतुमें विशेष पदार्थ हैं। नित्य पदार्थ हो रहे इन विशेषोंको पक्षमें नहीं किया गया है।

तथा गुणोऽप्यशाश्वत एव रूपादिर्धर्मी न पुनः शाश्वतोऽन्त्यविशेषैकार्थसमवेतः। परिमाणैकत्वैकपृथक्त्वगुरुत्वस्नेहसलिलादिपरमाणुरूपरसस्पर्शादिलक्षणो नापि द्रवत्वममूर्तद्रव्यसंयोगो वा तदाधारेतरेतराभावो वा तस्यानुत्पत्तिरूपस्याविवादाध्यासितत्वात्।

वैशेषिक ही कहते जा रहे हैं कि तिसी प्रकार यानी उक्त नित्य द्रव्योंके समान नित्य गुण पदार्थ भी पक्ष नहीं किये गये हैं। गुण भी अनित्य ही घटरूप, इक्षुरस, पुष्यगन्ध, अग्निस्पर्श, आदि धर्मी पकडे गये हैं। किन्तु फिर अन्त्य विशेषोंके साथ एकार्थ समवायसम्बन्ध करके वर्त रहे नित्य गुण पदार्थको धर्मी नहीं किया गया है। अर्थात्—जिन दो गुणोंकी एक अर्थमें समवाय सम्बन्धसे वृत्ति होती है सहोदर भाइयोंके एकोदरत्व सम्बन्ध समान उन दो गुणोंका परस्परमें सम्बन्ध एकार्थ समवाय माना गया है। नित्य द्रव्योंमें विशेष पदार्थ समवाय सम्बन्धसे रहता है। और वहां ही नित्य द्रव्यके गुण रहते हैं। अतः उन गुणोंमें और विशेष पदार्थमें परस्पर एकार्थ समवाय सम्बन्ध हुआ किंच द्रव्यमें रहनेवाले नित्य गुणोंको बुद्धिमान् हेतुसे जन्य साध्य करनेपर पक्षमें नहीं धरा गया है। यहां इतना विशेष समझ लेना कि नित्य द्रव्योंके कई गुण अनित्य भी हैं। जैसे कि संसारी आत्माके ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख, आदि गुण अनित्य हैं। आकाशका शब्दगुण अनित्य है। मनका संयोग गुण अनित्य है। नित्य द्रव्यके इन अनित्य गुणोंको तो पक्षकोटिमें डाल दिया गया है। जो गुण नित्य होकर नित्य द्रव्योंमें समवायसम्बन्धसे ठहर रहे हैं ऐसे परममहापरिमाण, आकाश, काल, आदिकी न्यारी न्यारी एकत्व संख्यायें, एक एक नित्य द्रव्यमें न्यारे न्यारे वर्त रहे पृथक्त्व गुण, जलकी परमाणुओंमें ठहर रहे गुरुत्व और स्नेहगुण तथा जल, तेज, वायुओंकी परमाणुओंमें पाये जा रहे रूप, रस, स्पर्श, आदि स्वरूप गुण तो धर्मी नहीं हैं। हां, घटमें रहनेवाले परिमाण, एकत्व संख्या, पृथक्त्व, गुरुत्व, रूप, रस, आदि अनित्य गुण तो पक्षमें धर लिये गये हैं। अवयवी जलका स्नेह गुण भी अनित्य है। पीलुपाकवादी विद्वान् पृथिवीके परमाणुओंमें अग्निसंयोग द्वारा पाक होनेको स्वीकार करते हैं। अतः पृथिवीके परमाणुओंमें पाये जानेवाले रूप, रस, आदि गुण अनित्य हैं। अतः ये पक्षकोटिमें हैं। तथा आद्य स्पन्दनका असमवायी कारण हो रहा द्रवत्वगुण भी परमाणुओंमें वर्त रहा नित्य है। घृत, लाक्षा, मौम, आदि कार्योंको बनानेवाली पृथिवी परमाणु या तैजस सुवर्णको बनानेवाली तैजस परमाणुओंमें अथवा सम्पूर्ण जल परमाणुओंमें पाया जानेवाला द्रव्यत्व गुण नित्य है। हां कार्यद्रव्य होरहे लाख रंग, आदिके द्रवत्व गुण अनित्य हैं। नित्य द्रवगुण तो पक्षकोटिमें नहीं है। तथा अमूर्त द्रव्योंका संयोग भी पक्ष नहीं है। क्योंकि आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन अमूर्त द्रव्योंका संयोग नित्य है। नित्य परमाणुगुणोंका संयोग तो अनित्य माना गया है। क्योंकि कारणवश विघट जाता है। अतः अमूर्त द्रव्योंके संयोगको छोडकर अन्य सम्पूर्ण संयोगोंको पक्ष बनालो, इसी प्रकार उन आधारभूत अनित्य द्रव्योंमें वर्त रहा इतरेतराभाव भी नित्य है। कतिपय वैशेषिक पण्डित एक कर्मोद्भव, द्वयकर्मजन्य, विभागजन्य, इन तीनों प्रकारके विभागोंको अनित्य ही मानते हैं। किन्तु संसारी आत्मामें चौदह गुण माने गये हैं। तथा "संख्यादिपञ्चकं बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे। परापरत्वे संख्यादि पञ्च वेगश्च मानसे॥" इन कारिकाओं द्वारा नित्य द्रव्योंमें भी विभाग माना

गया है। परमाणुओंका विभाग भले ही अनित्य होय किन्तु अमूर्त नित्य द्रव्योंका विभाग तो नित्य माना जायगा। एक बात यह विचारकी है कि, जब कि व्यापक नित्य द्रव्योंमें सर्वदा अछिद्र नित्य संयोग होरहा है तो फिर " संयोगनाशको गुणो विभागः " ऐसे विभागगुणको वहां माननेमें जी हिचकिचाता है। जैन जन विभाग या पृथक्त्व गुणके प्रयोजनको अन्योन्याभावसे साध लेते हैं। किन्तु हम वैशेषिकोंके यहां अभाव पदार्थसे न्यारे पृथक्त्व और विभाग दो भावात्मक गुण माने गये हैं अतः नित्य द्रव्योंमें पाया जा रहा अन्योन्याभाव तो पक्षमें परिगणित नहीं है। क्योंकि इस अन्योन्याभावकी कारणोंसे उत्पत्ति नहीं होरही है। नित्य स्वरूप वह अन्योन्याभाव तो कर्तृजन्य या कर्त्रजन्यरूप करके विवादग्रसित नहीं है। सब कोई पण्डित नित्य, अन्योन्याभावको कर्त्रजन्य अभीष्ट कर रहे हैं।

तथा क्रिया धर्मिणी विनश्वरी परिस्पन्दलक्षणोत्क्षेपणादिर्न पुनर्धात्वर्थलक्षणा भावनादिः काचिन्नित्या तस्या अपि विवादापन्नत्वाभावात्। तस्य च बुद्धिमान् हेतुरस्तीति यदा साध्यस्थितो भवेत् तदा न कार्यत्वं स्वेष्टविपरीतं साधयेत् स्वेष्टस्यैव सर्वथा बुद्धिमत्कारणकत्वस्य साधनात्। सर्वथा विवक्षितस्यापि तस्यासिद्धत्वं च नोपपत्तिमदिति तदेतत्सर्वमसंबद्धम्। कार्यकारणयोर्भेदैकान्ताप्रसिद्धेः कथञ्चिदैक्यप्रतिपत्तेः। सर्वस्य तद्भेदैकान्तसाधनस्यानेकान्तग्राहिणा प्रमाणेन बाधितविषयत्वात् कालात्ययापदिष्टत्वव्यवस्थितेः।

वैशेषिक ही कहे जारहे हैं कि तिस ही प्रकार हलन, चलन, भ्रमण, ऊर्ध्वगमन, आदि परिस्वरूप उत्क्षेपण आदि विनाशशील क्रियायें भी पक्ष हैं यानी पक्षकोटिमें धरी गयी हैं। द्रव्यको एक देशसे देशान्तरमें करादेनेवाली क्रियायें तो अनित्य ही हैं किन्तु फिर यजि, पचि, आदि धातुओंके अर्थस्वरूप भावना, नियोग, आदि कोई कोई नित्य क्रियायें तो पक्ष नहीं की गयी हैं। क्योंकि मीमांसक मतानुसार इन भावना आदि धात्वर्थ क्रियाओंको भी यहां प्रकरणमें विवादापन्नपना नहीं है। सामान्य, विशेष, समवाय तो नित्य पदार्थ हैं। अभावोंमें प्रागभाव अनादि है। अतः वह भी कर्तृजन्यत्वेन विवादपतित नहीं है। हां, ध्वंस नामका अभाव अनित्य है। उसको पक्षमें डाल लो। तादात्म्यसम्बन्धाविच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः और त्रैकालिकसंसर्गाविच्छिन्नप्रतियोगिताको अत्यन्ताभावः ये दो अभाव एक प्रकार नित्य ही हैं। इस प्रकार पक्षकोटिमें डाले गये अनित्य द्रव्य, गुण, क्रियायें, और ध्वंसका हेतु कोई बुद्धिमान् निमित्तकारण है। इस प्रकार जब साध्य कोटिमें व्यवस्थित किया जावेगा तब हमारा कार्यत्व हेतु हमारे अभीष्ट साध्य हो रहे ईश्वरजन्यत्वसे विपरीत साध्यको नहीं साध सकेगा। क्योंकि सबको इष्ट हो रहे सर्वथा बुद्धिमान् कारणसे जन्यत्वका ही साधन किया जा रहा है। अतः हमारा कार्यत्व हेतु विरुद्ध नहीं है। आप जैन त्रेपनवीं कारिकामें उठाये हुये दोषको लौटा लो। तथा यदि कार्यत्वका अर्थ सर्वथा कार्यत्व भी विवक्षा प्राप्त कर लिया जाय तो भी बाध

नवीं कारिका अनुसार उस कार्यत्वको असिद्ध हेत्वाभासपना नहीं बननेवाला है। क्योंकि हम पक्ष हो रहे अनित्य पदार्थोंमें सर्वथा कार्यपना वर्त रहा मानते हैं। " यदप्याहुः " से यहांतक वैशेषिक अपने पक्षको दृढ करते हुये कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकोंका सम्पूर्ण कथन पूर्वापर संगतिसे रहित होता हुआ असम्बद्ध है क्योंकि कार्य और कारणमें वैशेषिकोंके यहां अभीष्ट किये गये एकान्त रूपसे भेदकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकी है क्योंकि कार्य और कारणके कथंचित् एकपनकी सबको प्रमाणों द्वारा प्रतिपत्ति हो रही है। उन कार्य और कारणके एकान्तरूपसे भेदको साधनेवाले सम्पूर्ण ज्ञानोंके विषयमें अनेकान्तके ग्राहक प्रमाणों करके बाधा उपस्थित कर दी जाती है। अतः भेदको साधनेवाले हेतुको बाधित हेत्वाभासपना व्यवस्थित कर दिया जाता है। जब कि घट, ज्ञान, शब्द, आदिके कारण होरहे परमाणु, आत्मा, आकाश, आदि कारण किसी भी बुद्धिमान्से जन्य नहीं हैं तो उनसे अभिन्न होरहे कार्य भी सर्वथा बुद्धिमान्से जन्य ही होय यह एकान्त नहीं किया जासकता है। अतः कार्यत्व हेतु बाधितहेत्वाभास है। तुम वैशेषिकोंने अनित्य द्रव्य, गुण, कर्मोंको पक्षकोटिमें धरा और नित्य द्रव्य, गुण, सामान्य, विशेष, समवाय, और कतिपय अभावोंको पक्ष नहीं बनाया भेदकी फुस फुसी भित्तिपर खडे होकर यह तुम्हारा परिश्रम करना पतनका हेतु समझा जायगा " तस्माद् बौरजायत " " आदावपो सृजत " इत्यादि वेदानुसार वाक्यों द्वारा कतिपय स्मृतिकार और पुराणकार विद्वानोंने आकाश, जल, आदिकी समूल सृष्टि स्वीकार की है। कोई पण्डित ईश्वरके शरीर मानते हैं अवतार लेना स्वीकार करते हैं। अन्य पण्डित ईश्वरको अशरीर अङ्गीकार करते हैं। ऐसी दशामें उक्त कथन पूर्वापरसंगतिसे शून्य होजाता है। शब्दको (विशेषतया वैदिक शब्दोंको) नित्य माननेवाले मीमांसकोंकी शब्दभावना, आत्मभावनाको स्वीकार कर लेते हो और कदाचित् वैशेषिक होकर शब्दको सर्वथा अनित्य मान बैठते हो संयोग या विभाग को अनित्य मानकर भी क्वचित् नित्य मान लिया गया है, परमाणुमें नहीं पाये जानेवाले गुरुत्वका बोझ बलात्कारसे परमाणुपर लादा गया है। नित्य द्रव्योंमें परस्पर भेद करानेके लिये अनन्त विशेष पदार्थोंका मानना निरर्थक है। वैशेषिकोंकी अभीष्ट पदार्थ प्रतिपादक प्रणालीमें अनेक दोष आते हैं उपादान कारण और उपादेयका सर्वथा भेद माने रहना कोरा मिथ्याभिनिवेश है।

ननु च कार्यकारणयोरेकस्य कथंचिन्निश्चयात् कार्यद्रव्यस्य कारणद्रव्याद्भेदैकान्तो माभूत् गुणस्य चानित्यस्य कर्मणोपि च तत्कार्यत्वाविशेषात् सदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्य विसदृशपरिणामलक्षणस्य विशेषस्य चात्यापरविकल्पस्य समवायस्य चाऽविष्वग्भावलक्षणस्य द्रव्यकार्यत्वात् कथंचित्ततोऽनन्यत्वमस्तु नित्यात्तु गुणाद्गुणी भिन्न एव तयोः कार्यकारणभावाभावादिति मन्यमानं प्रत्याह।

वैशेषिक अपनी नीतिका प्रचार करनेके लिये पुनरपि अवधारण करते हैं कि कार्य और कारणके कथंचित् एकपनका निश्चय हो जानेसे घट, पट, आदि कार्यद्रव्योंका मृत्तिका, तन्तु आदि

कारणद्रव्योंसे एकान्तभेद नहीं होओ तथा अनित्यगुण और क्रियाओंका भी अपने समवायीकारण द्रव्य से एकान्त भेद नहीं होवे क्योंकि उन द्रव्योंका उपादेयरूपसे कार्यपना गुण कर्मोंमें विद्यमान है। द्रव्यकी उपादेयता और गुण क्रियाओंकी उपादेयतामें कोई अन्तर नहीं है एवं तुम जैनोंके यहां माने गये सदृशपरिणामस्वरूप सामान्य पदार्थका और विसदृशपरिणामस्वरूप विशेषका जो कि हम वैशेषिकोंके यहां अन्त्य विशेष और अपर विशेष दो प्रकारका माना गया है। अपने कारण द्रव्यके साथ भले ही सर्वथा भेद नहीं होओ एवं पृथग्भाव नहीं होकर तादात्म्य सम्बन्धस्वरूप हो रहे समवायका भी अपने कारणके साथ सर्वथा भेद नहीं सही क्योंकि उक्त अनित्य पदार्थोंको द्रव्यका कार्य होनेसे उस कारणसे कथंचित् अभिन्नपना बना रहो कोई क्षति नहीं है। किन्तु नित्य गुणसे तो गुणी द्रव्य भिन्न ही होगा। क्योंकि उन नित्य गुण और नित्य गुणीमें कार्यकारणभाव नहीं है। अर्थात्—आप जैन कार्य द्रव्यों (पर्यायों) अनित्यगुण अनित्य क्रियाओंको जैसा मानते हैं तदनुसार कार्य और कारणका कथंचित् अभेद अच्छा है " सदृशपरिणामस्तिर्यक्सामान्यं " " अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेकविशेषः " ऐसे सामान्य विशेषोंका भी अपने कारणोंके साथ कथंचित् अभेद हमें अच्छा दीखता है। वैशेषिकोंने विशेषके दो भेद माने हैं एक अन्तमें ठहरनेवाला नित्यद्रव्यवृत्ति विशेष है दूसरा सत्ता या द्रव्यत्वके व्याप्य होरहीं पृथिवीत्व, घटत्व, आदि जातियों या विशेष द्रव्य, गुण, आदिको दूसरा अपर विशेष इष्ट किया है अस्तु—" नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा " यों अपृथग्भाव (तादात्म्य) स्वरूप समवाय सम्बन्ध भी कथंचित् अभिन्न बन जाओ हमारी कोई क्षति नहीं है। किन्तु नित्य गुण परममहापरिमाण आदिसे आकाश आदि गुणवान् द्रव्योंको भिन्नही मानना आवश्यक है। उपादान कारण स्वयं उपादेयरूप परिणत होय तब तो अभेद मान लेना अच्छा जचता है किन्तु जहां परिणाम परिणामीभाव नहीं है गुण गुणीका तत्त्वान्तर रूपसे भेद अक्षुण्ण बना रहो। अतः आप हमारे सर्वथा भेदका सहारा पाकर बाधाओंको नहीं उठा सकते हैं इस प्रकार कोई वैशेषिक पण्डित मान रहे हैं उनके प्रति श्री आचार्य महाराज उत्तर वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

नैकांतभेदभृत्सिद्धो नित्यादपि गुणाद्गुणी।
द्रवस्थानादिपर्यन्तपरिणामात् तथा स्थितेः ॥ ५८ ॥

नित्य होरहे भी गुणसे सर्वथा भेदको धार रहा गुणी द्रव्य सिद्ध नहीं है क्योंकि अनादि कालसे अनन्त कालपर्यन्त सहभावी परिणामोंसे द्रव्यकी तिस प्रकार व्यवस्था होरही है। अर्थात्—अखण्ड द्रव्यके नियत कार्यों द्वारा अनुमित किये गये अनन्त गुण अविष्वग्भावरूपसे द्रव्यमें वर्त रहे हैं जबसे द्रव्य है तभीसे वे गुण हैं द्रव्यके सहभावी परिणाम गुण माने गये हैं। अतः नित्य गुणोंके साथ नित्य द्रव्यका अभिन्नपना सुलभ है प्रत्युत अनित्य गुण, क्रियाओं, सदृशपरिणाम,

आदिका अपने द्रव्यके साथ अभेद साधना कठिन कसाला है क्योंकि नील घटका ही अग्निसंयोगसे लाख घट होजाता है आत्मा बना रहता है उसका गुण या पर्याय होरहा ज्ञान विघट जाता है। नर्तकी अनेक शरीरक्रियाओंको विनाशती, उपजावती, घण्टों तक बहकी वही नाचती रहती है, सामान्य या विशेषोंमें भी सर्वथा अभेद दुर्लभ है। अतः नित्य गुण और गुणी द्रव्यका सर्वथा भेद माने जाना वैशेषिकोंका असत् आग्रह है।

न केवलमनित्याद्गुणात्कर्मादेश्च गुणी जीवादिद्रव्यपदार्थः सर्वथा भिन्नो न सिद्धः। किं तर्हि? नित्यादपि गुणादर्शनादिसामान्यान्न सर्वथा भिन्नस्तस्य तथानादिपर्यन्तपरिणामात्तथा व्यवस्थितत्वाज्जीवत्वादिवत्। कथंचित्तादात्म्याभावे तस्य तद्गुणत्वविरोधाद्द्रव्यांतरगुणवत्।

अनित्य होरहे गुणसे अथवा कर्मसामान्य आदिसे सर्वथा भिन्न होरहे गुणवान् जीव, पुद्गल आदिक द्रव्य पदार्थ ही सिद्ध नहीं होसकते हैं केवल इतना ही नहीं है तो और क्या क्या है? इसका उत्तर यह है कि नित्य द्रव्यके अनुजीवी होते हुये नित्य हो रहे दर्शन, चारित्र, वीर्य, रूप, रस, आदि सामान्य गुणोंसे भी जीवादिक पदार्थ सर्वथा भिन्न नहीं हैं। जैसा कि सर्वथा भेदको वैशेषिक मान बैठे हैं। क्योंकि तिस प्रकार द्रव्य और गुणका तदात्मकपने करके अनादिसे अनन्तकाल तक परिणाम हो रहा है। अतः तिस प्रकार सर्वथा भिन्नता नहीं होते हुये कथंचित् अभेद व्यवस्थित हो रहा है। जैसे कि जीवद्रव्यमें चैतन्य या द्रव्य प्राण अथवा भावप्राणोंका धारण करा देनेवाले स्वरूप जीवत्व गुण या पुद्गलमें रूप, रस, आदिके साहचर्य परिणामका प्रयोजक पुद्गलत्व इसी प्रकार आकाश आदि द्रव्योंमें अवगाहप्रयोजक आकाशत्व आदि गुण उपजीव्य उपजीवक रूपसे तदात्मक होते हुये कथंचित् अभिन्न हैं। यदि गुण और गुणीमें कथंचित् तदात्मकपना नहीं माना जायगा। तो उस प्रकृत गुणको नियत गुणीके गुण हो जानेपनका विरोध हो जायगा जैसे कि अन्य द्रव्योंके गुण इस प्रकरण प्राप्त द्रव्यके गुण नहीं माने गये हैं। आत्मासे भिन्न पडा हुआ रुपया या पैसा जैसे किसी नियत व्यक्तिका नहीं है। बजाज, सराफ, पंसारी, हलवाई, भृत्य, बालक, सभीका हो सकता है उसी प्रकार आत्मासे भिन्न पडा हुआ ज्ञान गुण आकाशका या घटका भी हो जाय तो वैशेषिकोंके यहां कौन रोकनेवाला है? हां, अभेद पक्षमें यह आक्षेप नहीं चल सकता है।

तत्र समवायात्तस्य तद्गुणत्वमिति चेन्न, समवायस्य समवायितादात्म्यस्य प्रसाधितत्वात्। ततः सर्वस्य विवादाध्यासितस्य तनुकरणभुवनादेः सर्वथा बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कथंचित्कार्यत्वं साधनं स्वेष्टविपरीतं कथंचिद्बुद्धिमन्निमित्तत्वं प्रसाधयेदेवेति विरुद्धं भवेत्। सर्वथात्र कार्यत्वमसिद्धमिति दुष्परिहरमेवैतद्दूषणद्वयं।

यदि वैशेषिक यों कहें कि उस नियत गुणी द्रव्यमें उस गुणका समवाय सम्बन्ध हो रहा है। अतः उसको नियत रूपसे उसका गुणपना है। अर्थात्—आत्मामें ज्ञानका समवाय है अतः ज्ञान

गुण आत्माका है और शब्दका आकाशमें समवाय है इस कारण आकाश गुण शब्द है तथा घट, पट, आदिमें रूप, रस, आदिका समवाय होनेसे वे उनके गुण नियत हो रहे हैं। जब कि जगत्में अपने अपने शरीर पुत्र, कलत्र, धन, वस्त्र, पशु, आदि कुछ संयुक्त हो रहे किन्तु बहुभाग नहीं संयुक्त हो रहे भिन्न पदार्थोंकी भी नियत व्यवस्था हो रही है। कोई भी दूसरोंकी सम्पत्तिपर अधिकार नहीं जमा सकता है तो फिर अयुतसिद्ध पदार्थोंके समवाय सम्बन्धसे नियत हो रहे प्रकृत गुणोंको उन नियत द्रव्योंके गुण हो जानेका कौन विरोध कर सकता है ?। यदि समवेत गुण ही दूसरे द्रव्यों करके छीनलिये जांय तो ऐसी पोलकी दशामें संयुक्त या असंयुक्त वस्त्र, भूषण, गृह, उपवन, गोधन, आदिको चाहे कोई भी दिन दहाडे लूट सकता है। राजा या पंचायतका प्रबन्ध करना धूलमें मिल जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि समवायी पदार्थोंमें तदात्मकपनको प्राप्त हो रहे तादात्म्य सम्बन्धको ही समवाय सम्बन्ध बहुत अच्छा साधा जा चुका है। जब समवायका अर्थ कथंचित् तादात्म्य है तो कार्य और कारणका एकान्त भेद प्रसिद्ध नहीं हो सका। किन्तु कार्य और कारणमें कथंचित् अभेद प्रसिद्ध हुआ। जब कि आत्मा, परमाणुयें, आदिक कारण ईश्वरकृत नहीं है तो इनसे कथंचित् अभिन्न हो रहे ज्ञान, घट, शरीर, भुवन, आदि कार्य भी सर्वथा ईश्वरकृत नहीं है। हां, कथंचित् बुद्धिमान्से किये गये भले ही ये मान लिये जाय इस कारणसे विवादमें प्राप्त हो रहे शरीर, इन्द्रियां, भुवन, द्वीप, पर्वत, आदि सम्पूर्ण कार्य पदार्थोंका बुद्धिमान् कारणद्वारा सर्वथा जन्यपना साध्य करनेपर प्रयुक्त किया गया कथंचित् कार्यपना हेतु अपने इष्ट साध्यसे विपरीत बुद्धिमान् निमित्तद्वारा कथंचित् जन्यपनकी ही बढिया सिद्धि करा देगा इस प्रकार तुम वैशेषिकोंका कार्यत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो जायगा और इन शरीर, इन्द्रियों, भुवन आदिमें सर्वथा कार्यपना हेतु तो असिद्ध हेत्वाभास है इस प्रकार कथंचित् कार्यत्व और सर्वथा कार्यत्वके विकल्प अनुसार तुम्हारे ऊपर उठाये गये ये विरुद्ध और असिद्ध दोनों दूषण कठिनतासे भी परिहार करने योग्य नहीं हैं उन्हींको हमने बावनवीं और त्रेपनवीं वार्त्तिकमें दिखा दिया है।

संप्रति साधनांतरमनूद्य दूषयन्नाह।

अब इस समय ग्रन्थकार उन कर्तृवादी वैशेषिकोंके अन्य साधनोंका अनुवाद कर उनके सिद्धान्तोंमें दूषण दिखलाते हुये अग्रिम वार्तिकोंको कह रहे हैं।

विवादाध्यासितात्मानि करणादीनि केनचित्।
कर्त्राधिष्ठितवृत्तीनि करणादित्वतो यथा॥ ५९॥
वास्यादीनि च तत्कर्तृसामान्ये सिद्धसाधनं।
साध्ये कर्तृविशेषे तु साध्यशून्यं निदर्शनम्॥ ६०॥

शरीर, भुवन, आदिके विवादमें प्राप्त हो रहे स्वरूप करण इन्द्रियां, अदृष्ट, परमाणु, आदिक पदार्थ (पक्ष) किसी एक कर्त्ता करके अधिष्ठित हो रहे सन्ते प्रवर्तते हैं (साध्य दल) करण आदिपना होनेसे (हेतु) जैसे कि वसूला, हथौडा, मोंगरा, लेखनी, सूची, छेनी, आदिक करण किसी न किसी बढई, सुनार, धोबी, लेखक, सूचीकार, मिस्त्री, आदि कर्त्ताओंसे अधिष्ठित होकर स्वयोग्य क्रियाओंमें वर्त रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि इस अनुमान द्वारा यदि सामान्यरूपसे उनके अधिष्ठाता चाहे किसी भी कर्त्ताको साधा जायगा तब तो तुम वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष आता है क्योंकि जिस सिद्धान्तको हम स्वीकार कर रहे हैं उसकी पुनः सिद्धि कराना व्यर्थ है। सत्रहवीं वार्त्तिकमें हम पहिले भी इस बातको कह चुके हैं। हां, यदि विशेषरूपसे नित्य, व्यापक, अशरीर, ईश्वर कर्त्ता करके अधिष्ठितपना यदि साध्य किया जायगा तब तो उदाहरण साध्यसे शून्य हो जायगा वसूला आदि कारणोंके अधिष्ठाता बन रहे बढई लुहार, आदिक कर्त्ता तो अशरीर या सर्वज्ञ नहीं हैं। अर्थात्—तुम्हारा उदाहरण साध्यविकल दोषसे ग्रस्त हुआ।

विवादापन्नस्वभावानि करणाधिकरणादीनि केनचित् कर्त्राधिष्ठितानि वर्तंते करणाधिकरणत्वाद्वास्यादिवत्। योऽसौ कर्ता स महेश्वर इति कश्चित्, तस्य कर्तृसामान्ये साध्ये सिद्धसाधनं। कर्तृविशेषे तु नित्यसर्वगतामूर्तसर्वज्ञादिगुणोपेते साध्ये साध्यविकलमुदाहरणं, वास्यादेरसर्वगतादिरूपतक्षादिकर्त्राधिष्ठितस्य प्रवृत्तिदर्शनात्।

वैशेषिकोंका अनुमान यों है कि विवादमें प्राप्त हो रहे स्वभाववाले करण, अधिकरण, सम्प्रदान आदि कारक (पक्ष) किसी न किसी चेतन कर्त्तासे अधिष्ठित हो रहे सन्ते क्रिया करनेमें प्रवर्त रहे हैं (साध्य) क्योंकि वे करण या अधिकरण आदि हैं (हेतु) वसूला, आरा, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। वह जो इनका अधिष्ठायक कर्त्ता है वह हमारे यहां महेश्वर माना गया है। यहांतक कोई कर्तृवादी कह रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि उस कर्तृवादीके यहां सामान्य रूपके कर्त्ताको साध्य करनेपर सिद्धसाधन दोष आता है। हां, नित्य, व्यापक, अमूर्त, सर्वज्ञ, निष्कर्मा, सदामुक्त आदि गुणोंसे सहित हो रहे विशेष कर्त्ताको साध्य करनेपर तो तुम्हारा दिया गया उदाहरण साध्यसे रीता हो जायगा क्योंकि वसूला आदिकी असर्वगत, अल्पज्ञ, सकर्मा आदि स्वरूप बढई आदि कर्त्ताओंसे अधिष्ठित हो रहों की प्रवृत्तियां देखीं जा रहीं हैं। अतः तुम्हारा अनुमान दूषित है।

तत्सामान्यविशेषस्य साध्यत्वाच्चेददूषणं।
सोऽपि सिद्धाखिलव्यक्तिव्यापी कश्चित्प्रसिद्धयति ॥ ६१ ॥
देशकालविशेषावच्छिन्नाग्निव्यक्तिनिष्ठितं।
साध्यते ह्यग्निसामान्यं धूमान्नासिद्धभेदगं ॥ ६२ ॥

यदि वैशेषिक यों कहें कि हम केवल सामान्य या विशेष कर्त्ताको साध्यकुक्षि नहीं बनाते हैं। किन्तु उस कर्त्तापन सामान्य और विशेष दोनोंसे अधिष्ठित होनेको साध्य करते हैं। अतः हमारे ऊपर कोई दूषण नहीं आता है। जैन पण्डित जैसे आपत्ति पडनेपर सामान्य विशेषात्मक दुर्ग (किला या गढ) का आश्रय ले लेते हैं उसी प्रकार हमने भी सामान्य, विशेष, कर्त्ताको साधनेका ढंग निकाला है। आचार्य कहते हैं कि वह सामान्य विशेष रूप कर्त्ता भी सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें व्यापक हो रहा ही कोई न कोई प्रसिद्ध हो सकता है। धूम हेतुसे जो अग्निसामान्य साधा जाता है वह अग्नि सामान्य सम्पूर्ण देशविशेष और कालविशेषोंमें परिनिष्ठ हो रहीं अग्निव्यक्तियोंमें प्रविष्ट हो रहा है। जो सामान्य अपने विशेषोंमें प्राप्त हो रहा सिद्ध नहीं है वह अग्निसामान्य तो धूमकेतुसे नहीं साधा जाता है उसी प्रकार यहां भी कर्तृसामान्यकी यावत् कर्तृविशेषोंमें प्रतिष्ठित हो रहे की ही सिद्धि हो सकती है किन्तु जब अशरीर, व्यापक, नित्य, ईश्वर कोई कर्त्ताविशेष अभी तक सिद्ध ही नहीं हुआ है तो सशरीर, अल्पज्ञ, संसारी, अनेक कर्त्ताविशेषोंमें ही वह कर्तृसामान्य ठहर रहा साधा जा सकता है। अतः तुम्हारे अभीष्ट हो रहे कर्त्ता, ईश्वरकी सिद्धि नहीं हुई। सिद्ध हो रहे सामान्य विशेष आत्मक संसारी जीवस्वरूप कर्त्ताओंसे अधिष्ठितपनकी सिद्धि हो जानेसे तुम्हारे ऊपर सिद्ध-साधन दोष तदवस्थ रहा।

न करणादिधर्मिणः करणादित्वेन हेतुना कर्तृसामान्याधिष्ठितवृत्तित्वं साध्यते, नापि कर्तृविशेषाधिष्ठितवृत्तित्वं येनोक्तदूषणं स्यात्। किं तर्हि ? कर्तृसामान्यविशेषाधिष्ठितत्वं साध्यते, रूपोपलब्ध्यादिक्रियाणां क्रियात्वेन करणसामान्यविशेषाधिष्ठितत्ववत्। न हि तासां करणसामान्याधिष्ठितत्वं साध्यं, सिद्धसाधनापत्तेः। नाप्यमूर्तत्वादिधर्माधारकरणविशेषाधिष्ठितत्वं, विच्छिदिक्रियाद्युदाहरणस्य साध्यविकलत्वप्रसंगात्। तस्य मूर्तत्वादिधर्माधारदात्रादिकरणाधिष्ठितस्य दर्शनात्।

वैशेषिक मान रहे हैं कि करण, अधिकरण, कारक आदि धर्मियोंकी सामान्य रूपसे कर्त्ताद्वारा अधिष्ठित होकर वृत्ति होनेको हम करण आदिकपन हेतु करके नहीं साध रहे हैं और उनसठवीं वार्तिक द्वारा करण आदि पक्षमें विशेषरूप करके कर्त्ताद्वारा अधिष्ठित होरही वृत्तताको भी हम नहीं साधते हैं जिससे कि आप जैनों द्वारा साठवीं वार्तिकमें कहे जाचुके दूषण हमारे ऊपर होजाय तो हम वैशेषिक क्या साधते हैं ? इसका उत्तर यह है कि सामान्य और विशेषोंसे आक्रान्त होरहे कर्त्तासे अधिष्ठितपना कारण आदिमें साधा जा रहा है जैसे कि छिदिक्रियाका दृष्टान्त देकर रूपकी उपलब्धि या रसकी ज्ञप्ति आदि क्रियाओंका क्रियापन हेतु करके सामान्य विशेषाक्रान्त करणसे अधिष्ठित पना साधा जाता है, देखिये उन क्रियाओंका सामान्य करणसे अधिष्ठितपना भी हम वैशेषिक नहीं साध रहे हैं। यों रूपोपलब्धि आदि क्रियाओंका सामान्य करणसे अधिष्ठितपना साधनेपर हमारे ऊपर

सिद्धसाधन दोषकी आपत्ति होजाती है । कोई भी क्रिया किसी न किसी सामान्यकरणसे होती ही है किन्तु हम अतीन्द्रिय, इन्द्रियोंकी सिद्धि करनेके लिये तत्पर हैं । सामान्य करणको साध्य करनेपर तो प्रतिवादी कह सकता है कि प्रदीप, आलोक, उपनेत्र, (चश्मा) अंजन, आदि करणों करके रूपकी उपलब्धि होना हमारे यहां पहिलेसे ही सिद्ध है यों सिद्धसाधन दोष उठाया जा सकता है तथा अमूर्तत्व, अतीन्द्रियत्व, आदि धर्मोंका आधार हो रहे विशेषाक्रान्त करणकरके अधिष्ठितपना भी हम नहीं साध रहे हैं जिससे कि विच्छेद या छेदन, भेदन, क्रिया आदि उदाहरणोंको साध्यरहितपनका प्रसंग हो जाय क्योंकि उदाहरण हो रहे उन छिदि, भिदि, आदि क्रियाओंका मूर्तत्व, इन्द्रियग्राह्यत्व आदि धर्मोंके आधार हो रहे दांतुआ, हँसिया, दरेंता आदि करणोंसे अधिष्ठित हो रहापन देखा जाता है । अर्थात्—हम वैशेषिक चक्षुः, रसना, घ्राण, आदिक परोक्ष इन्द्रियोंकी सिद्धि करनेके लिये जो अनुमानप्रमाण कहते हैं उसमें दिये गये क्रियात्वहेतुका सामान्यविशेषाक्रान्त करणोंकरके अधिष्ठितपन साधा जाता है । रूपज्ञप्ति, रसज्ञप्ति, आदि क्रियायें तो अतीन्द्रिय मूर्त या अल्पपरिमाणवाले तथा सबसे इतर इदमर्थ विशेष [illegible] आश्रय हो रहीं चक्षु, रसना, आदि इन्द्रियनामक करणोंसे अधिष्ठित सध जायगीं और सुखोत्पत्ति, अनुमिति आदि क्रियायें अमूर्तत्व, व्यापकद्रव्य समवेतत्व आदि धर्मोंको धारनेवाले अदृष्ट, व्याप्तिज्ञान आदि करणोंसे अधिष्ठित हो रहीं सध जायगीं तथा विशेष छिदि, भिदि, आदि क्रियायें तो मूर्त्तत्व, गुरुत्व, प्रत्यक्षयोग्यत्व आदि धर्मोंके आश्रय हो रहे वसूला, चाकू, चक्की, आदि करणों द्वारा निष्पन्न हो रहीं सध जायगीं । अतः साध्यकोटिमें सामान्य विशेष करणसे अधिष्ठितपना जैसे क्रियाओंमें क्रियात्व हेतुसे साधा जाता है उसी प्रकार करण आदि पक्षमें कर्तृसामान्य विशेषसे अधिष्ठितपनको करण आदि पन हेतु करके हम वैशेषिक साध रहे हैं ।

यथा वा लौकिकपरीक्षकप्रसिद्धे धूमादग्न्यनुमाने सामान्यविशेषः साध्यते तथात्रापीत्यदूषणमेव, अन्यथा सर्वानुमानोच्छेदप्रसंगादिति मन्यमानस्यापि सोपि कर्तृसामान्यविशेषः प्रसिद्धाखिलकर्तृव्यक्तिव्यापी कश्चित् सिध्यति न पुनरिष्टविशेषव्यापी । न ह्यमसि द्धाग्नि सामान्यं केनचित्साध्यते देशकालविशेषावच्छिन्नाग्निव्यक्तिनिष्ठितस्यैव तस्य साधयितुं शक्यत्वादन्यथा नित्यसर्वगतामूर्ताग्निसाधनस्यापि प्रसंगात् ।

वैशेषिक ही कहें जा रहे हैं कि अकेले सामान्य या अकेले विशेषको साध्यकोटिमें न धर कर सामान्य विशेष दोनोंको सामान्यरूपसे निविष्ट करनेका एक दृष्टान्त यह भी है कि जिस प्रकार धूमद्वारा ह्वये अग्निके लौकिक या परीक्षक पुरुषोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे अनुमानमें सामान्यविशेषको ही साधा जाता है । तिसी प्रकार हमारे " करणादीनि कर्त्रधिष्ठितवृत्तीनि करणादित्वात् " इस अनुमानमें भी यों सामान्य विशेषको साध्य करनेपर कोई भी दूषण नहीं आता है । अन्यथा सभी अनुमानोंके उच्छेदका प्रसंग हो जायगा । अर्थात्—वन्हिमान् धूमात् इस प्रसिद्ध अनुमानमें यदि सामान्य

अग्निको साध्य किया जाय तब तो सिद्धसाधन दोष है। क्योंकि अग्निसामान्य तो पहिलेसे ही सिद्ध है व्याप्तिज्ञानद्वारा अग्निसामान्य जाना जा चुका है। यहां यदि अग्निविशेषको साधा जायगा तो महानसमें पर्वतीय पत्ते सम्बन्धी या बांस सम्बन्धी अग्निके नहीं होनेसे दृष्टान्त साध्यविकल हो जायगा विशेष अग्निको साध्य करनेपर हेतु व्यभिचारी भी हो जाता है। जैनोंके दोष उठानेका यही ढंग रहा तो सभी अनुमानोंका जगत्से उच्छेद हो जायगा चार्वाकमत फैल जायगा। अतः सामान्यविशेषको साध्यकोटिमें धरकर हमारा अनुमान है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मान रहे वैशेषिकके यहां भी वह कर्त्ताका सामान्य विशेष भी प्रसिद्ध हो रहीं सम्पूर्ण कर्त्ता व्यक्तियोंमें व्यापक हो रहा ही कोई सिद्ध हो जायगा। किन्तु फिर तुम्हारे घरमें ही अभीष्ट हो रहे अप्रसिद्ध विशेष कर्त्ताव्यक्तिमें व्यापक मान लिया गया तो नहीं सिद्ध हो सकता है। जैसे कि नीव, बबूल, अमरूद, वट, आदि प्रसिद्ध विशेष व्यक्तियोंमें वर्त रहा वृक्षत्व नामका सामान्य विशेष तो मानने योग्य है। किन्तु घोडा, पडरा, जूता, टोपी, खाट, दीपक, आदि प्रसिद्ध व्यक्तियोंमें या खरविषाण आदि अप्रसिद्ध व्यक्तियोंमें वृक्षत्व नामका सामान्यविशेष नहीं साधा जा सकता है। अप्रसिद्ध हो रही अग्नियोंमें ठहर रहा मान लिया गया अग्निसामान्य तो किसी भी विचारशील विद्वान् करके नहीं साधा जाता है अन्यथा शीतल, नीरूप, अदाहक अग्निकी भी धूमहेतुसे सिद्धि बन बैठेगी। किन्तु देशविशेष या कालविशेष अथवा आकारविशेषोंसे परिमित हो रहीं प्रसिद्ध अग्निव्यक्तियोंमें निष्ठित हो रहे ही उस अग्निसमान्यविशेष का साधन किया जा सकता है। अन्यथा यानी अप्रसिद्ध अलीक, अग्निके सामान्यविशेषको यदि साधा जायगा तो नित्य, व्यापक, अमूर्त, गुरु, अग्निके सिद्ध हो जानेका भी प्रसंग होगा। द्रव्यत्व या सत्ताकी अपेक्षा अग्नित्व धर्म उनका व्याप्य हो रहा विशेष है और सम्पूर्ण अग्निव्यक्तियोंकी अपेक्षा अग्नित्व जाति व्यापक हो रही सामान्य है इसी प्रकार द्रव्यत्वकी अपेक्षा तो विशेष हो रहा और आम्र, अमरूद आदि प्रसिद्ध व्यक्तियोंकी अपेक्षा सामान्य हो रहा वृक्षत्व धर्म भी सामान्यविशेष है ऐसे वृक्षत्व या अग्नित्वको तो साध्य बना लिया जाता है। किन्तु अशरीर, व्यापक, नित्य, सर्वज्ञ, हो रहा कोई कर्त्ताविशेष अद्यापि प्रसिद्ध नहीं है। अतः कर्त्ता सामान्यविशेषको साध्य करनेपर भी करणादिपन हेतुसे सशरीर, अव्यापक, अल्पज्ञ कर्त्ताओंसे अधिष्ठितपना सिद्ध हो सकता है अन्य तुम्हारा इष्ट विशेष हो रहा कोई ईश्वर नहीं सध पाता है।

तथा रूपोपलब्ध्यादीनामपि क्रियात्वेन प्रसिद्धकरणव्यक्तिव्यापिकरणसामान्यविशेषपूर्वकत्वमेव साध्यते नाप्रसिद्धकरणव्यापि। व्यक्तिर्हि कचिन्मूर्तिमती दृष्टा यथा दात्रादिछिदिक्रियायां, कचिदमूर्ता यथा विशेषणज्ञानादिर्विशेष्यज्ञानादौ। तत्र रूपोपलब्ध्यादौ करणसामान्यं कुतश्चित्सिध्यति तदुपादानसामर्थ्यं सिध्येत् तद्द्रव्यकरणं मूर्तिमत्पुद्गलपरिणामात्मकत्वाद्भावकरणं पुनरमूर्तमपि तस्यात्मपरिणामत्वादिति तस्य क्रियाविशेषात् प्रसिद्धस्य संज्ञाविशेषमात्रं क्रियते चक्षुः स्पर्शनं रसनमित्यादि। ततो भवतीष्टसिद्धिस्तावन्मात्रस्येष्टत्वात्।

तिसी प्रकार रूपोपलब्धि, रसज्ञप्ति, आदि क्रियाओंके भी क्रियापन हेतुकरके प्रसिद्ध हो रहीं करण व्यक्तियोंमें व्याप रहे करण-सामान्यविशेष नामक करण द्वारा जन्यपना साधा जा सकता है। अप्रसिद्ध हो रहीं करणव्यक्तियोंमें व्याप रहे करणत्व नामक सामान्यविशेषसे जन्यपना नहीं साधा जा सकता है। अन्यथा रूपोपलब्धिमें आकाश, परमाणु, पिशाच, आदिको भी करणपना बन बैठेगा अपने अपने गृहमन्तव्य अनुसार चाहे जिसको करण बनानेकी ढपली बजायी जा सकती है। हां, यह बात दूसरी है कि करणव्यक्तियोंमें कोई कोई व्यक्ति तो किसी क्रियामें व्यापार कर रही मूर्तिमती देखी गयी है। जैसे कि छेदन, भेदन, आदि क्रियाओंमें दांतुआ, आरा, लोढा आदि करण मूर्त हैं। और कोई कोई करण किसी किसी क्रियाके करनेमें अमूर्त हैं। जैसे कि विशेषणज्ञान, व्याप्तिज्ञान, सादृश्यज्ञान, आदिक उन विशेष्यज्ञान, अनुमितिज्ञान, उपमिति आदि क्रियाओंके साधनेमें अमूर्त करण हैं। किन्तु ये सब करणव्यक्तियां प्रमाणरूपसे सिद्ध हैं। तुम्हारे ईश्वरके समान कोई भी मूर्त या अमूर्त करण भला प्रमाणोंसे असिद्ध नहीं है। हमारे जैनसिद्धान्त अनुसार उस रूपोपलब्धि आदिमें किसी भी अविनाभावी हेतुसे जो करणसामान्य सिद्ध हो सकता है। वह उपादानकारणकी सामर्थ्य ही सिद्ध होगी। ज्ञान, घट, आदि पर्यायें सभी अपने उपादान कारणोंकी शक्तियोंको करण पाकर उपजतीं हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार पांचों इन्द्रियां और मन बाह्यनिर्वृत्तिरूप ही इन्द्रियपने करके निर्णीत किये गये हैं। इन्द्रियपर्याप्ति नामक पुरुषार्थ बाह्य निर्वृत्तिको बनाता है। अतः ये छहों बाह्य निर्वृत्तियां अतीन्द्रिय हो रहीं पुद्गलकी पर्याय हैं। आप वैशेषिक भी निकटवर्ती (लगभग) इसी मार्गका अनुसरण कर रहे हैं। स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन चारों गुणोंमेंसे एक, दोनों, तीनों, चारों गुणोंको धार रहीं क्रमसे स्पर्शन, चक्षु, रसना, घ्राण इन्द्रियां मानी गयीं हैं। हां, कान इन्द्रियको आकाश और मनको नित्य, अमूर्त, द्रव्य तुमने मान रक्खा है। अस्तु इस मान्यतामें आयीं हुयीं आपत्तियोंको तुम्हीं भोगोगे। प्रकरणमें यह कहना है कि रूपकी उपलब्धि आदिमें करण हो रहीं वे द्रव्य इन्द्रियां मूर्तिमान् पुद्गल द्रव्यकी पर्यायस्वरूप होनेसे द्रव्य करण हैं। अतः रूप आदिकी उपलब्धिमें ये मूर्त करण हैं। हां, विशिष्ट क्षयोपशमकी लब्धि और रूपज्ञान ये भावकरण तो फिर अमूर्त भी हैं। क्योंकि वे अमूर्त आत्माके परिणाम हैं। यहां बन्धकी अपेक्षा संसारी आत्माके अमूर्तपनकी विवक्षा नहीं की गयी है। इस प्रकार क्रिया विशेषोंसे अनुमान प्रमाण द्वारा प्रसिद्ध हो रहे करणोंकी चक्षुः, स्पर्शन, रसना, इत्यादिक केवल विशेष संज्ञायें कर लीं जातीं हैं। द्रव्यकरणस्वरूप चक्षुः मूर्त है। और भावकरणस्वरूप चक्षु अमूर्त है। अतः " रूपोपलब्धिः करणकार्या क्रियात्वात् छिदिक्रियावत् " इस अनुमान द्वारा जो करणसामान्य की सिद्धि की गयी है वह करणत्व सामान्यविशेष तो लौकिक या परीक्षकोंके यहां प्रसिद्ध होरहे मूर्त या अमूर्त करणोंमें प्रतिष्ठित हैं उस ढंग करके हेतु या साध्यसे आकलित होरहे अनुमान द्वारा हमारे इष्टसाध्य की सिद्धि होजाती है। क्योंकि केवल उतनाही सामान्य करणोंसे जन्यपनकी सिद्धि करना अभीष्ट होरहा है किन्तु तुम्हारा ईश्वर विशेष तो कोई कर्ता

व्यक्ति प्रसिद्ध नहीं है। अतः व्याप्ति या दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे उस तुम्हारे मनमानी कर्त्तासे अधिष्ठितपना करण आदि पक्षमें नहीं सध पाता है।

ननु च यथात्मनि रूपोपलब्ध्यादिक्रियामुपलभ्य तस्यैव तत्र व्याप्रियमाणस्य स्वतंत्रस्य कर्तुः करणं चक्षुरादि सिद्ध्यति, तथा जगति करणादिसाधनमुपलभ्य तस्यैव करणादीनां कर्त्रधिष्ठितत्वं सिद्ध्यतीति सकलजगत्करणाद्यधिष्ठायीश्वर इति संज्ञायमानः कथमिष्टो न सिध्येत् तावन्मात्रस्य मयापीष्टत्वादिति परोक्तमनूद्य निराकरोति।

वैशेषिक अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिये पुनः अनुमान करते हैं कि जिस प्रकार आत्मामें होरही रूपकी उपलब्धि, रसकी प्रतीति, आदि क्रियाओंको देखकर उन क्रियाओंमें व्यापार कर रहे स्वतंत्र कर्त्ता उस आत्माके ही सहकारी करण चक्षुः आदिक साध लिये जाते हैं। उसी प्रकार जगत्में करण, अधिकरण, आदि साधनोंको देखकर उस जगत्के ही करण आदिकोंका कर्त्तासे अधिष्ठितपना सध जाता है। अर्थात्—आत्मा कर्त्ताके अनुरूप जैसे चक्षु आदिक इन्द्रियां सिद्ध होती हैं। उसी प्रकार जगत्के निर्मापक करणोंके अनुरूप ही कोई कर्त्ता उनका अधिष्ठायक हो सकता है। इस प्रकार जगत्के सम्पूर्ण करण, अधिकरण, आदिका अधिष्ठाता जो कि ईश्वर इस नाम करके कहा जा रहा है वह इष्ट भला क्यों नहीं सिद्ध होगा? क्योंकि हमको भी केवल उतना ही ईश्वरका अधिष्ठातापन इष्ट है। जैसे कि तुमको रूपकी उपलब्धिमें आत्माका प्रेरक सहकारी करण इष्ट था। जिस प्रकार आप जैन चक्षुः आदि परोक्षकरणोंकी अपने अनुमानसे सिद्धि करते हुये उन करणोंकी चक्षुः, रसना, आदि संज्ञायें धर लेते हैं उसी प्रकार हम वैशेषिक भी जगत्के अधिष्ठाता कर्त्ताको केवल साध रहे उसका नाम निर्देश ईश्वर कर लेते हैं। यहांतक वैशेषिक कह रहे हैं अब यों दूसरे वैशेषिकोंके चेष्टितका अनुवाद कर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिकोंकरके उस आकूतका निराकरण करते हैं।

सिद्धे कर्तरि निःशेषकारकाणां प्रयोक्तरि।
हेतुः सामर्थ्यतः सिद्धः स चेदिष्टो महेश्वरः॥ ६३॥
नैवं प्रयोक्तुरेकस्य कारकाणामसिद्धितः।
नानाप्रयोक्तृकत्वस्य क्वचिद्दृष्टेरसंशयं॥ ६४॥

सम्पूर्ण कारकोंके यथा विनियोग प्रयोग करनेवाले कर्त्ताके सिद्ध होनेपर सामर्थ्यसे ही कोई न कोई हेतु यानी निमित्त कारण कर्त्ता व्यापक सर्वज्ञ सिद्ध हो ही जाता है। सम्पूर्ण जगत्के कारकोंका ठीक ठीक यथा स्थान यथा समय प्रबन्ध करनेवाला विशिष्ट आत्मा ही होना चाहिये और वह

हमारे यहां ईश्वर इष्ट किया गया है। यों वैशेषिकोंका मत होनेपर आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नहीं कहना चाहिये क्योंकि सम्पूर्ण कारकोंका प्रयोक्ता एक ही होय इस निर्णयकी सिद्धि नहीं हो सकती है। कहीं कहीं अनेक कारणोंका नाना प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयुक्त किया जाना निःसंशय देखा जा रहा है। एक विवाहरूप कार्यमें अनेक नियोगी (नेगी) स्वतंत्र न्यारे न्यारे कार्योंके प्रयोजक हैं। जगत्में सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, ये सब अपने अपने उचित कार्योंके विधाता हैं इनको किसी प्रयोक्ताकी आवश्यकता नहीं है। बारह थम्भोंपर लदी हुई शिखरको सभी थम्भे स्वतंत्रतासे धार रहे हैं इस क्रियाका कोई चेतन अधिष्ठाता प्रयोजक नहीं है। वनमें पडे हुये अनेक बीज अपने अपने न्यारे न्यारे अंकुरोंको उपजा रहे हैं। क्षुधाको अन्न दूर कर देता है। प्यासको जल मेट देता है अग्नि काष्टको भस्म देती है साधु पर्योंको हिला रही है। आकाशमें शब्द गूंज रहा है इत्यादि अनेक कार्योंका कोई एक मुखिया प्रयोक्ता नहीं देखा जाता है।

न हि करणादित्वस्य हेतोरेककर्तृत्वे सामर्थ्यं येन ततो निःशेषकारकाणामेक एव प्रयोक्ता स्वेष्टो महेश्वरः सिध्येत्। क्वचित्प्रासादादौ करणादीनां नानाप्रयोक्तृकत्वस्याप्यसंदेहमुपलब्धेः। ननु प्राधान्येन चात्रापि तेषामेक एव प्रयोक्ता सूत्रकारो महत्तरो राजा वा, गुणभावेन तु नानाप्रयोक्तृकत्वं जगत्करणादीनामपि न निवार्यत एव, ततः प्रधानभूतो अमीषामेक एव प्रयोक्तेश्वर इति चेत् न, प्रधानभूतानामपि समानकुलवित्तपौरुषत्यागाभिमानानां क्वचिन्नगरादौ करणादिषु नाना प्रयोक्तृणामुपलंभात्।

तुम वैशेषिकोंके कहे गये करणादित्व हेतुकी एक ही कर्त्तासे अधिष्ठितपनको साधनेमें सामर्थ्य नहीं है जिससे कि उस हेतुसे सम्पूर्ण कारकोंका एक प्रयोक्ता तुम्हारे यहां निज अभीष्ट हो रहा महेश्वर सिद्ध हो जाता। अर्थात्—तुम्हारा असमर्थ हेतु तुम्हारे अभीष्ट साध्यका साधक नहीं है। क्योंकि प्रासाद, कोठी, पंचायत, मार्गगमन, पंक्तिभोजन, आदि कार्योंमें करण, अधिकरण आदि हो रहे पदार्थोंका अनेक प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयुक्त होना भी संदेहरहित देखा जाता है। हवेलीके न्यारे न्यारे भागोंको कतिपय स्थपति स्वाधीन होकर कर रहे हैं। कई महलोंको तो अनेक पीढियोंमें कतिपय धनपतियोंने बनवाया है। महलके कामोंसे होनेवाले काष्ठोंको बढई पत्थरका है लोहेसे होने वाले कार्योंको लुहार बनाना है। पत्थरका काम करने वाले लुहार या बढईपर प्रभुत्व नहीं जमा पाते हैं, अजमेरमें एक महल सेठोंकी चार पीढीसे बन रहा है, ऐसी दशामें उसका अधिष्ठायक एक आत्मा कैसे कहा जासकता है? यदि वैशेषिक पुनः अनुज्ञा करें कि यहां कोठी आदिमें भी प्रधानपनेसे उन कार्योंका प्रयोक्ता बडा महान् प्रतिष्ठित पुरुष अथवा राजा एक ही प्रयोक्ता है हां गौण रूपसे तो वे कार्य अनेक प्रयोक्ताओं करके प्रयुक्त किये गये हैं। इसी प्रकार जगत्के करण, अधिकरण, आदिकोंके भी गौणरूपसे भले ही अनेक प्रयोक्ता होजांय हम उनको नहीं रोकते हैं। हां प्रधान प्रयोक्ता एक ही सबका

होना चाहिये। तिस कारण उन जगत्के निश्शेष कारणोंका प्रधानभूत प्रयोक्ता एक ही ईश्वर है यों कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि प्रधान होचुके भी समान कुलवाले, समान धनवाले, समान पुरुषार्थवाले, समान त्यागवाले, समान अभिमानवाले, अनेक प्रयोक्ताओंका कहीं नगर आदिमें अथवा करण आदिमें प्रयोजकपनसे दीखना होरहा है। अर्थात्—एक नगर कई स्वतंत्र जमीदार या उद्भट पण्डित अन्यानधीन होकर निवास करते हैं। समान कुलवाले कई कुलीन पुरुष स्वतंत्रतया बस रहे हैं कई सेठ, अनेक मल्ल, बहुतसे दानवीर, नाना अभिमानी स्वतंत्र होकर सुखपूर्वक निवास करते हैं। करण, अधिकरण आदिकोंमें अनेक स्थलोंपर स्वतंत्रता देखी जाती है "मुनयो ध्यानं विदधति, भज्यते वृक्षः शाखाभारेण, अभ्रे विद्योतते विद्युत्, परोपकाराय सतां विभूतिः, वृक्षात् पर्णं पतति, सूर्यस्यालोकः" इन कार्योंमें किसी अधिष्ठाताकी आवश्यकता नहीं है। वनमें अनेक पक्षी या पपूड स्वापत्त निवास करते हैं। समुद्रमें अनेक जलचर जीव या प्रवाल, मुक्ता आदि स्वतंत्र उपज रहे हैं। स्वाध्यायशालामें अनेक सज्जन मनमाने ग्रन्थोंका स्वाध्याय कर रहे हैं। हाटमें अनेक क्रेता विक्रेता अपने प्रयोजनको साध रहे हैं। अपनी उदराग्निसे सभी प्राणी अपने अपने भोज्यको पचा रहे हैं। धार्मिक गृहस्थ अपने कर्तव्योंमें प्रवर्त रहे हैं। मुनिजन दिनरात स्वतंत्रतया आत्महितमें लग रहे हैं उपाध्यायमहाराज पढानेमें लवलीन हैं। अपने अपने कर्तव्य अनुसार सभी जीव पुण्य या पापोंका उपार्जन कर रहे हैं। अतः सबके अधिष्ठायक एक प्रयोक्ताकी सिद्धि नहीं हो पाती है।

तेषामपि राजाचार्यादिर्वा प्रयोक्तैक एवेति चेत्, तस्यापि राज्ञोन्यो महाराजः प्रधानः प्रयोक्ता तस्याप्यपरः ततो महानिति क्व नाम प्रधानप्रयोक्तृत्वं व्यवतिष्ठेत। महेश्वर एवेति चेन्न, तस्यापि प्रधानापराधिष्ठापकपरिकल्पनायामनवस्थानस्य दुर्निवारत्वात्। सुदूरमपि गत्वा व्यवस्थितिनिमित्ताभावाच्च।

यदि वैशेषिक यों कहें कि उन समान कुलवाले, समान धनवाले आदि या कुम्हार, लुहार, आदि नाना प्रयोक्ताओंका भी अन्तमें जाकर प्रयोक्ता हो रहा राजा अथवा गृहस्थाचार्य, जमीदार, प्रधान प्रबन्धकर्त्ता, स्थपति, आदि एक ही प्रयोक्ता है। यों कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उस राजाका भी प्रधान प्रयोक्ता अन्य महाराजा होगा और उसका भी उपरिवर्ती प्रयोक्ता कोई तीसरा उससे बडा मण्डलेश्वर होगा और उससे भी बडा अधिकारी महामण्डलेश्वर उसका प्रयोक्ता होगा इस प्रकार चक्रवर्ती आदिके प्रधान प्रयोक्तापनकी भला कहां आगे चलते चलते विश्राम लेनेकी व्यवस्था की जावेगी ? अनवस्था दोष होगा। यदि तुम वैशेषिक यों कहो कि परिशेषमें जाकर सबका अंतिम प्रयोक्ता हमारा अभीष्ट महेश्वर ही है। आचार्य कहते हैं कि उस महेश्वरके भी प्रधान हो रहे उपरिवर्ती उत्तरोत्तर अधिष्ठायक महामहेश्वर आदिकी लम्बी चौडी कल्पना करते सन्ते अनवस्था दोषका निवारण कठिनतासे भी नहीं हो सकता है और बहुत दूर भी जाकर तुम वैशेषिकोंके पास व्यवस्था कर देनेका कोई परिनिष्ठित निमित्त नहीं है।

स्यान्मतं, नेश्वरस्यान्योऽधिष्ठाता प्रभुः सर्वज्ञत्वादनादिशुद्धिवैभवभाक्त्वाच्च । यस्य त्वन्योऽधिष्ठाता प्रभुः स न सर्वज्ञोऽनादिशुद्धिवैभवभाग्वा यथा विष्टिकर्मकरादिः न च तथेश्वरस्तस्मान्न तस्यान्योऽधिष्ठाता प्रभुरिति । नात्र धर्मिणोऽसिद्धिरखिलजगत्करणादीनां प्रयोक्तुस्तस्यानुमानसिद्धत्वात्, नापि हेतुरसिद्धस्तस्य सर्वज्ञत्वमंतरेण समस्तकारकप्रयोक्तृत्वस्यानुमानसिद्धस्यानुपपत्तेरनादिशुद्धिवैभवाभावे चाऽशरीरस्य सर्वज्ञत्वायोगात् । न च सशरीरोऽसौ तच्छरीरप्रतिपादकप्रमाणाभावात् इति । तदप्यसत् सर्वज्ञत्वस्य हेतो रुद्रैर्व्यभिचारात् । तेषां हि सर्वज्ञत्वमिष्यते योगिनान्येन वाधिष्ठितत्वं महेश्वरस्यानादेरधिष्ठापकस्य तेषामादिमतं स्वयमभ्युपगमात्, तदनभ्युपगमे अपसिद्धांतप्रसंगात् । तथानादिशुद्धिवैभवमप्याकाशेनानैकांतिकं, तस्य जगदुत्पत्तौ वाधिकरणस्य महेश्वराधिष्ठितत्वोपगमात् ।

यदि तुम वैशेषिकोंका यह भी मन्तव्य होय कि ईश्वरका पुनः कोई अन्य अधिष्ठाता प्रभु नहीं है (प्रतिज्ञा) सर्वज्ञ होनेसे (प्रथम हेतु) अनादि कालीन शुद्धियोंके वैभवका धारण करनेवाला होनेसे (द्वितीय हेतु) देखो जिस अधिष्ठित व्यक्तिका अधिष्ठाता अन्य प्रभु हुआ करता है वह पदार्थ सर्वज्ञ नहीं है और अनादि कालीन शुद्धिके वैभवको धारनेवाला भी नहीं है जैसे कि पीनस या डोली, पालकीके ढोनेकी क्रियाको करने वाले धीमर या कारागृह (जेलखाना हवालात) आदिमें बलात्कारसे ठेल देनेकी क्रियाको करनेवाले चपरासी आदि पुरुष हैं । अर्थात्—पीनसको ढोने वाले धीवर भीतर बैठे हुये वैद्य, प्रभु, (मालिक) महारानी आदि अन्य अधिष्ठाताओंके अधीन होकर चल रहे हैं । न्यायकर्त्ता अधिकारी (अफसर) की आज्ञा अनुसार सिपाई उन अपराधियोंको कारागृहमें खींच लेजाता है ये सेवक जन विचारे सर्वज्ञ अथवा अनादि शुद्ध तो नहीं हैं । " साध्याभावे साधनाभावः " (व्यतिरेक दृष्टान्त) और उस प्रकारका असर्वज्ञ या सादि शुद्ध अथवा अनादिशुद्ध हमारा ईश्वर नहीं है (उपनय) तिस कारणसे उस ईश्वरका कोई अन्य प्रभु अधिष्ठाता नहीं है । (निगमन) । इस अनुमानमें कहे गये ईश्वर नामक धर्मीकी असिद्धि नहीं है जिससे कि मेरा हेतु आश्रयासिद्ध हो जाता क्योंकि जगत्के सम्पूर्ण करण, अधिकरण, सहकारीकारण, क्रिया आदिकोंका प्रयोग करनेवाले उस ईश्वरकी अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्धि हो चुकी है ऐसे प्रसिद्ध ईश्वरमें अन्य अधिष्ठाताकी अधीनताका अभाव साधा जा रहा है तथा इस अनुमानमें कहा गया सर्वज्ञ होते हुये अनादि सिद्ध होना एक हेतु अथवा सर्वज्ञत्व और अनादिशुद्धत्व ये दोनों हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास भी नहीं हैं क्योंकि अनुमानसे सिद्ध हो रहे उस ईश्वरको सर्वज्ञत्वके विना समस्त कारकोंका प्रयोक्तापन नहीं बन पाता है और अनादिकालसे शुद्धिका वैभव नहीं माननेपर उस अशरीर, ईश्वरके सर्वज्ञपना नहीं आ सकता है । जैसे कि सादि शुद्ध मुक्त आत्माके अशरीर होनेपर भी सर्वज्ञपनका योग नहीं है । कतिपय पौराणिकोंके विचार अनुसार मान लिया गया वह ईश्वर शरीर-

सहित तो नहीं है क्योंकि उस व्यापक ईश्वरके शरीरोंका प्रतिपादक कोई प्रमाण नहीं है। " न तस्य मूर्तिः " ऐसा भी कचित् लिखा है अवतारोंपर अखण्ड श्रद्धा करानेवाले पुराणवाक्योंमें अबाधित प्रामाण्य नहीं है। यहांतक कोई वृद्ध वैशेषिक कह रहे हैं ग्रन्थकार कहते हैं कि उनका वह मन्तव्य भी सत्यार्थ नहीं है क्योंकि पहिले सर्वज्ञपन हेतुका रुद्रों करके व्यभिचार हो जायगा। " भीमावलि जिदसचू रुद्द विसालणयण सुप्पदिट्ठ चला, तो पुंडरीय अजिदंधर जिदणाभीय पीड सच्चइजो " ये ग्यारह रुद्र जैनोंके यहां माने गये हैं तुम पौराणिकोंके यहां भी " अजैकपाद अहिर्बुध्नो विरूपाक्षः, सुरेश्वरः, जयन्तो बहुरूपश्च त्र्यम्बकोऽथापराजितः वैवस्वतश्च सावित्रो हरो रुद्राः " यों ग्यारह रुद्र माने गये हैं कतिपय रुद्र माने गये होंय उनका नियमसे सर्वज्ञपना भी इष्ट किया गया है। किन्तु योगी अथवा शक्ति नामक अन्य देवता करके अधिष्ठितपना स्वीकार किया है उन रुद्रोंका अधिष्ठापक एक अनादि कालीन महेश्वरको तुमने आदिमें ही माना है। यों स्वयं स्वीकार कर लेनेसे हेतु सर्वज्ञत्वके रहनेपर और साध्य अन्यानधिष्ठितत्वके नहीं ठहरनेसे व्यभिचार दोष आया। यदि रुद्रोंके भी अन्य अधिष्ठापकोंकी स्वीकृतिके उस सिद्धान्तको नहीं अंगीकार करोगे तो तुम्हारे ऊपर अपसिद्धान्त यानी अपने सिद्धान्तसे स्खलित हो जाना दोषके लग जानेका प्रसंग हो जायगा तथा तुम्हारा दूसरा हेतु अनादि कालीन शुद्धिका वैभव भी आकाश करके अनैकान्तिक हेत्वाभास है। अनादि कालसे शुद्ध हो रहा वह आकाश जगत्की उत्पत्तिमें अधिकरण कारक हो रहा है। साथमें उसका महेश्वरसे अधिष्ठितपना भी स्वीकार किया गया है। अतः हेतुके रह जानेपर और शुद्ध आकाशमें अन्यानधिष्ठितत्व साध्यके नहीं ठहरनेपर व्यभिचार दोष जम बैठा।

किं च, यदि प्राधान्येन समस्तकारकप्रयोक्तृत्वादीश्वरस्य सर्वज्ञत्वं साध्यते सर्वज्ञत्वाच्च प्रयोक्त्रन्तरनिरपेक्षं समस्तकारकप्रयोक्तृत्वं प्रधानभावेन तदा परस्पराश्रयो दोषः कुतो निवार्येत ? साधनांतरात्तस्य सर्वज्ञत्वसिद्धिरिति चेन्न, तस्यानुमानेन बाधितविषयत्वेनागमकत्वात्। तथाहि–नेश्वरोऽशेषार्थवेदी दृष्टेष्टविरुद्धाभिधायित्वात् बुद्धादिवदित्यनुमानेन तत्सर्वज्ञत्वाववोधकमखिलमनुमानमभिधीयमानमेकांतवादिभिरभिहन्यते, स्याद्वादिन एव सर्वज्ञत्वोपपत्तेः युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वादित्यन्यत्र निवेदितं। ततो नाशेषकार्याणामुत्पत्तौ कारकाणामेकः प्रयोक्ता प्राधान्येनापि सिध्यतीति परेषां नेष्टसिद्धिः।

दूसरी बात यह भी है कि तुम वैशेषिक यदि प्रधानतासे सम्पूर्ण कारकोंका प्रयोक्ता होनेसे ईश्वरको सर्वज्ञपना साधते हो और सर्वज्ञ होनेसे ईश्वरको अन्य उपरिम प्रयोक्ताओंकी नहीं अपेक्षा रख कर प्रधानता करके समस्त कारकोंके प्रयोक्तापनको साधते हो तब तो यह परस्पराश्रय दोष किससे हटाया जा सकता है ? अर्थात्—तुम्हारे ऊपर अन्योन्याश्रय दोष अटल होकर लग बैठा। यदि तुम वैशेषिक यों कहो कि हम अन्य हेतुओंसे उस ईश्वरके सर्वज्ञपनकी सिद्धि करलेंगे। " ईश्वरः सर्वज्ञः

अनुपायसिद्धत्वात् " " ईश्वरः सर्वज्ञः सदा कर्ममलैरस्पृष्टत्वात् " मुक्त आत्माको व्यतिरेक दृष्टान्त बनाया जा सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि वैशेषिकोंके उन हेतुओंके साध्य विषयकी इस वक्ष्यमाण अनुमान करके बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः वे हेतु ईश्वरमें सर्वज्ञत्वकी अनुमिति करानेवाले नहीं हैं। उसको यों स्पष्ट रूपसे समझियेगा कि ईश्वर (पक्ष) सम्पूर्ण अर्थोंका ज्ञाता नहीं है। (साध्य) दृष्ट प्रमाण यानी प्रत्यक्षप्रमाण और इष्ट यानी अनुमान आदि प्रमाणोंसे विरुद्ध हो रहे पदार्थोंका कथन करनेवाला होनेसे (हेतु) जैसे कि बुद्ध, कपिल, अल्लाह आदिक आत्मायें सर्वज्ञ नहीं हैं। (अन्वय दृष्टान्त)। इस अनुमान करके ईश्वरके सर्वज्ञत्वका प्रतिपादक हेतु बाधित हेत्वाभास हो जाता है। भावार्थ—बौद्ध विद्वान् अहिंसाका प्रतिपादन करते हुये भी क्वचित् मांस भक्षणको परिहार्य नहीं समझते हैं। कुरानमें कई स्थलोंपर दयाका विधान पाया जाता है फिर भी मियां लोग इष्ट देवताके नामपर जीवित पशुको संकल्प कर मारते हुए स्वच्छंदतया मांसभक्षण करते हैं। शक्तिदेवताकी उपासना करनेवाले शाक्तजन स्वच्छंदरूपसे देवताके नैवेद्य मद्य, मांसका सेवन करते हैं। वेदमें " मा हिंस्याः सर्वाभूतानि " ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। यजुर्वेदके छत्तीसवें अध्यायका अठारहवां मंत्र है कि दृतेदृ ँ हमा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे " इस मंत्रद्वारा सम्पूर्ण जीवोंको परस्परमें अहिंसाभाव, मित्रभाव, अद्रोहपरिणाम और प्रेमव्यवहार रखना पुष्ट किया गया है। सम्पूर्ण जीव मुझे मित्रके समान देखें और मैं सबको मित्रके समान देखूं। मित्र अपने दूसरे परममित्रको कथमपि नहीं मारता है यह भले प्रकार समझा दिया है। किन्तु पन्द्रहवें अध्यायका पन्द्रहवां मंत्र है कि " अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ। पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ दङ्क्ष्णवः पशवो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु तेयं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तेमेषां जम्भे दध्मः " इस मंत्रद्वारा हिंसाभाव तथा अप्रीतिभाव प्रकट किया है। इसी प्रकार सोलहवें, सत्रहवें, अठारहवें, आदि मंत्रोंमें भी हिंसाभाव तथा अप्रीतिभावकी पुष्टि की है इक्कीसवें अध्यायके साठवें मंत्रमें हिंसाको ध्वनित किया है वह मंत्र इस प्रकार है कि " सूमस्था अध देवो वनस्पतिरभंवदश्विभ्यां द्वयेन सरस्वत्यै, मेषेणेन्द्राय, ऋषभेणाक्षँस्तान्मेदस्तः प्रति पवतामृभीषतावी बृधन्त पुरोडाशैरपुरश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा सुरासोमान् " पच्चीसवें अध्यायके द्वितीय मंत्रका ऐसा ही हिंसापोषक अभिप्राय है " वातं प्राणेनापानेन नासिके उपयाममधरेणौष्ठेन सदुत्तरेण प्रकाशेनान्तरमनूकाशेन बाह्यं निवेष्यं मूर्ध्वास्तनयित्नुं निर्बाधेन शनिं मस्तिष्केण विद्युतं कनीनकाभ्यां कर्णाभ्या ँ श्रोत्र श्रोत्राभ्यां कर्णो तेदनीमधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्तं मन्याभिः रदिति ँ शीर्ष्णी निर्ऋतिं निर्जल्पेन शीर्ष्या सक्थ्यौः प्राणान् रेष्माण ँ स्तुवेन " इसके आगे भी कई मंत्रोंमें यज्ञसम्बन्धी हिंसाभावको वैध बताया गया है। अथर्ववेदमें भी हिंसाकी भरमार है।

" न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने " ऐसे मनुस्मृतिके वाक्य मिलते हैं। गृह्यसूत्र नासक ग्रन्थकी यही दशा है। क्वचित् गोमेध, नरमेधतकका विधान किया गया है। वेदमें असम्बद्ध या लज्जाजनक विषयोंकी भी कमी नहीं है। पचीसवां अध्याय सातवां मंत्र इस प्रकार है कि " पूषणं वनिष्ठुनान्धाहीनस्थूलगुदया सर्म्मान्गुदाभिविन्दुत आन्त्रैरयो वस्तिना वृषणमांडाभ्यां वाजिन "ऊँ" शेपेन प्रजा "ऊँ" रेतसा चषान्पित्तेन प्रदरान्यायुना कूश्माच्छकपिण्डैः " आठवां नौवां मंत्र भी ऐसाही घृणित है। वेदमें असम्बद्ध प्रलाप भी पर्याप्त है। युजुर्वेद अठारहवें अध्याय " एका च मे तिस्रश्च ये पञ्च च ये पञ्च च ये सप्तच ये सप्त च ये इत्यादि या चतस्रश्च षेऽष्टौ च ये द्वादश च ये द्वादश इत्यादि इन चौबीसवें पचीसवें मंत्रोंमें एकसे आगे दो दो संख्या बढाकर अथवा चारसे आगे चार चार संख्या बढाकर न जाने कौनसे गम्भीर अर्थका प्रतिपादन किया गया है ? इसके आगे छब्बीसवें, सत्ताईसवें मंत्रमें भी गर्हणीय असंगत विषयका नंगा प्रदर्शन है। यजुर्वेदसे तीसवां अध्याय नौवां मंत्र " अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्रा धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मरवाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्ष्णे। अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्रा धूपयामि देवयजते पृथिव्याः। मखाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्ष्णे मरवाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्ष्णे। " द्वारा तीन महावीरोंको तीन मंत्रों द्वारा अश्वकी विष्टा करके धूप देनेसे न जाने कौनसी शुद्धिका रहस्य निकाला गया है। इत्यादि। प्रकरणमें यह कहना है कि नैयायिक या वैशेषिक पण्डित वेदको ईश्वरका बनाया हुआ स्वीकार करते हैं। पौराणिक पण्डित स्मृति या पुराणोंकी रचना वेद अनुसार हुई बतलाते हैं। वेदके मंत्रभागसे उपनिषदें (ज्ञान-काण्ड) और ब्राह्मणभागसे कर्मकाण्ड प्रकट हुये माने जाते हैं किन्तु " अणोरणीयान् महतो महीयान् " के समान उक्त शास्त्रोंमें हिंसा, अहिंसा, मांसभक्षण मांसनिषेध, यज्ञ करना, ब्रह्मकी उपासना करना, आदि दृष्ट इष्ट प्रमाणों द्वारा विरुद्ध होरहे विषयोंका निरूपण पाया जाता है तिस कारण उन एकान्तवादी पण्डित करके उस ईश्वरके सर्वज्ञपनका प्रयोग कराने वाले जो सम्पूर्ण अनुमान कहे जारहे हैं वे सम्पूर्ण अनुमान ज्ञान हम अनेकान्तवादी विद्वानोंके निर्दोष प्रमाणों करके बाधित कर दिये जाते हैं। ऐसी दशामें ईश्वरको जान बूझकर समस्त कारकोंका प्रधानरूपमें प्रयोक्तापन नहीं सिद्ध होसकता है। कारकोंका परिज्ञायक जीव ही कर्त्ता होय या ज्ञापक जीव ही कर्त्ता होवे यह दोनों एकान्त मत भूलोंसे भरे हुये हैं। वास्तविक बात तो यह है कि स्याद्वादियोंके यहां ही अर्हत् परमेष्ठीको सर्वज्ञपना बन सकता है क्योंकि उनके वचन युक्ति और शास्त्र प्रमाणोंसे अविरुद्ध हैं इस सिद्धान्तका हम अन्य ग्रन्थोंमें निवेदन कर चुके हैं। विद्यानन्द महोदय ग्रन्थमें निवेदन किया गया होगा जो कि मुझ भाषा टीका कारके दृष्टिगोचर नहीं हुआ है " स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते " इस देवागम (आप्तमीमांसा) की कारिकाका व्याख्यान करते समय अष्टसहस्रीमें भी श्री विद्यानन्द स्वामीने उक्त सिद्धान्तको पुष्ट किया है तिस कारणसे सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्तिमें तत्पर होकर लग रहे कारकोंका कोई एक चरम प्रयोक्ता प्रधानपने करके भी सिद्ध नहीं

होपाता है । इस कारण अन्य विद्वान् वैशेषिकोंके यहां अपने अभीष्ट ईश्वरकी सिद्धि कथमपि नहीं होपाती है उनके सभी हेतु दूषित होजाते हैं ।

स्यान्मतं, नैकः प्रयोक्ता साध्यते तेषां नाप्यनेकः प्रयोक्तृसामान्यस्य साधयितुमिष्टत्वादिति । तदप्यसंगतमेव, तथा सिद्धसाधनाभिधानात् । न हि प्रयोक्तृमात्रे समस्तकारकाणां विप्रतिपद्यामहे यस्य यदुपभोग्यं तत्कारकाणां तत्प्रयोक्तृत्वनियमनिश्चयात् ।

फिर वैशेषिकोंका प्रबुद्ध होकर यह मन्तव्य होय कि उन सम्पूर्ण कार्योंका प्रयोक्ता एक बुद्धिमान नहीं साधा जाता है और अनेक भी बुद्धिमान् निमित्तकारण नहीं सध जाते हैं किन्तु हम वैशेषिकोंको प्रयोक्ता सामान्यकी सिद्धि कर लेना अभीष्ट होरहा है । अर्थात्—हम इस तात्पर्य पर पहुंचे हैं कि कारकोंका या कार्योंका स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा कोई प्रयोक्ता होना चाहिये इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि वह वैशेषिकोंका मन्तव्य भी पूर्वापरसंगतिसे शून्य है क्योंकि तिस प्रकार सामान्य प्रयोक्ताओंके साध्य करने पर हम जैन सत्रहवीं वार्तिक अथवा साठवीं वार्तिकोंके अनुसार सिद्धसाधन कह चुके हैं । जगत्के अनेक कार्योंमें अदृष्ट द्वारा या साक्षात् सम्पूर्ण प्राणी प्रयोक्ता हो रहे हैं सम्पूर्ण कारकोंके सामान्य प्रयोक्ताको साधनेमें हम पहिलेसे ही कोई विवाद नहीं उठा रहे हैं । जिस प्राणीके जो जो पदार्थ साक्षात् या परम्परासे उपभोग करने योग्य हैं उस उस पदार्थके कारकोंका प्रयोक्तापन नियमसे उस उस प्राणीमें निश्चित हो रहा है । भावार्थ—जगत्के प्रायः सम्पूर्ण पदार्थ किसी न किसी प्राणीके साक्षात् या परम्परया उपभोगयोग्य हो ही रहे हैं । अदृष्टानपेक्ष या प्राणानपेक्ष होकर हो रहे कतिपय कार्योंकी यहां न्यायशास्त्रमें गणना नहीं की गयी है सर्वज्ञोक्त सूक्ष्म चर्चाका परिशीलन करनेवाले सिद्धान्तग्रन्थोंमें उनका गवेषण कीजिये ।

इति क्रियानुमानानां माला नैवामला भुवः ।
कर्तर्येकत्र संसाध्येऽनुमित्या पक्षबाधनात् ॥ ६५ ॥

यहांतक प्रकरणमें यह सिद्ध कर दिया गया है कि पृथिवीके यानी जगत्के एक कर्त्ताको भले प्रकार सिद्ध करनेमें दी गई कार्यत्व, करणत्व आदि हेतुवाले अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं है क्योंकि हम जैनोंके अनुमान प्रमाण करके वैशेषिकोंके पक्षकी बाधा उपस्थित हो जाती है अथवा एकसौ अस्सी क्रियावादी मिथ्यादृष्टियोंमें वैशेषिक भी पदार्थोंमें क्रियाको माननेवाले परिगणित हैं । अतः क्रियावादी वैशेषिकोंके पूर्वोक्त कई अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं है यों संगति लगाकर " क्रियानुमानानां " पदका अर्थ कर लो । " कर्ता माने गये ईश्वरकी क्रियाके प्रयोजक अनुमान " यों भी अर्थ किया जा सकता है ।

यथैव सन्निवेशविशिष्टत्वादिसाधनं न निरवद्यं व्यापकानुपलंभेन पक्षस्य बाधनात् तथा करणत्वाद्यनुमानमपि जगतामेककर्तृत्वे साध्ये विशेषाभावात्। तच्च समर्थितमेवेति नानुमानमाला निरवद्या विधातुं शक्या तस्याः प्रतिपादितानेकदोषाश्रयत्वात्। तत एवागमादपि नेश्वरसिद्धिरित्याह।

जिस ही प्रकार ईश्वरकी सिद्धिमें वैशेषिकों द्वारा कहे गये सन्निवेशविशिष्टत्व, कार्यत्व, आदि हेतु निर्दोष नहीं हैं क्योंकि व्यापकके अनुपलम्भ करके पक्षकी बाधा दिखलायी जा चुकी है। अर्थात्—व्यापक हो रहे अन्वय व्यतिरेकके नहीं घटित होनेसे व्याप्य हो रहा कार्यकारणभाव भी नहीं घटित हो पाता है। अतः वैशेषिकोंकी प्रतिज्ञा बाधित हो जाती है। उस ही प्रकार करणत्व, क्रियात्व, आदि हेतुओंसे उपजाये गये अनुमान भी जगतोंका एक कर्त्तासे जन्यपना साध्य करनेपर निर्दोष नहीं है कारण कि सन्निवेशविशेष आदि हेतु और करणत्व आदि हेतुओंमें कोई अन्तर नहीं है। हेतुओंके उस हेत्वाभासपनका हम पूर्व प्रकरणोंमें समर्थन कर चुके ही हैं जिस कारण कि वैशेषिकोंके कई अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं करी जा सकती है क्योंकि " १ द्वीपादयो बुद्धिमद्धेतुकाः सन्निवेशविशिष्टत्वात् घटवत्, २ क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् पटवत् ३ करणादीनि कर्त्रधिष्ठितवृत्तीनि करणादित्वात् वास्यादिवत् " इत्यादि अनुमानोंकी की गयी उस मालाको पूर्वमें कहे जा चुके व्यभिचार, भागासिद्ध, बाध, व्यापकानुपलम्भ, सिद्धसाधन, विरोध, साध्यविकलनिदर्शनत्व, व्यतिरेकाभाव आदि अनेक दोषोंका आश्रयपना है उस ही कारणसे अर्थात् अनुमानमालामें अनेक दोषोंके उपस्थित हो जानेपर बाधित पक्ष हो जानेसे आगमप्रमाण द्वारा भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती है इस बातको ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं।

विश्वतश्चक्षुरित्यादेरागमादपि नेश्वरः।
सिध्येत्तस्यानुमानेनानुग्रहाभावतस्ततः॥ ६६॥

युर्जुवेदके सत्रहवें अध्यायके उन्नीसवें मंत्र " विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात्। संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः " और सत्ताईसवें मंत्र " यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एवत ॐ संप्रश्नं भुवनायन्त्यन्या॥ तथा " अपाणिपादो जवनो गृहीता, संसारमहीरुहस्य बीजाय " इत्यादिक आगम प्रमाणोंसे भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकेगी क्योंकि तिस बाधितपक्षके हो जानेसे उन आगम वाक्योंका अनुमान प्रमाण करके अनुग्रह होनेका अभाव है। जिन आगमोंको अनुमान प्रमाणोंसे संवादकपना प्राप्त नहीं होता है वे आगम प्रमाणभूत नहीं माने गये हैं।

न हि नैयायिकानां युक्त्यननुगृहीतः कश्चिदागमः प्रमाणमतिप्रसंगात्। न च युक्तिस्तत्र काचिद्व्यवतिष्ठत इति नेश्वरसिद्धिः प्रमाणाभावात् प्रधानाद्वैतादिवत्। ततः किं सिद्धमित्याह।

नैयायिकोंके यहां युक्तियों यानी सद्धेतुओंसे नहीं अनुग्रह प्राप्त होचुका कोई भी आगम भला प्रमाण नहीं माना गया है अन्यथा अति प्रसंग होजायगा। अर्थात्—युक्तियोंके विना प्रमाणपना मान लेने पर चार्वाक, बौद्ध, ईसाई, मोहम्मदमतानुयायी, अद्वैतवादी, आदिकोंके आगम भी प्रमाण बन बैठेंगे। किन्तु उन ईश्वर साधक वाक्योंमें कोई अच्छी युक्ति व्यवस्थित नहीं होपाती है। प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणों करके स्पष्ट बाधा उपस्थित होरही है। विज्ञान (साइन्स) जब ईश्वरवादकी जडको सर्वथा काट चुका है ऐसी दशामें नैयायिकोंके आगमकी सहायक कोई युक्ति नहीं ठहर सकती है। इस कारण साधक प्रमाणोंके नहीं होनेसे सांख्योंकी त्रिगुणात्मक प्रकृतियां अद्वैतवादियोंके संवेदनाद्वैत पुरुषाद्वैत अथवा बौद्धोंके क्षणिकत्व आदिके समान ईश्वरकी भी सिद्धि नहीं होसकती है। कोई पूंछता है कि तिस कारण आठवीं वार्तिकसे प्रारम्भ कर अबतक क्या सिद्ध हुआ समझा जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द स्वामी निर्णीत सिद्धान्तको अग्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं।

लोकोऽकृत्रिम इत्येतद्वचनं सत्यतां गतं।
बाधकस्य प्रमाणस्य सर्वथा विनिवारणात् ॥ ६७ ॥

यह सम्पूर्ण लोक अकृत्रिम है इस प्रकार यह सिद्धान्त वचन सत्यताको प्राप्त होचुका है क्योंकि इसके बाधक प्रमाणोंका सभी प्रकारोंसे विशेषतया निवारण कर दिया गया है। अर्थात्—त्रिलोकसारमें यह सत्य लिखा है कि " लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो। जीवाजीवेहिं फुडो सव्वागासवयवो णिच्चो " स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें कहा है कि " सव्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्झि संठिओ लोओ। सो केण वि णेय कओ ण य धरिओ हरिहरादीहिं " " अण्णोण्णपवेसेण य दव्वाणं अत्थणं भवे लोओ। दव्वाणं णिच्चत्तो लोयस्स वि मुणह णिच्चत्तं " परिणाम सहावादो पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि। तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणामं " मूलाचारके आठवें अध्यायमें लिखा है कि " लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो। जीवाजीवेहिं भरो णिच्चो तालरुक्ख संठाणो " इत्यादिक सर्वज्ञोक्त आगम तो निर्बाध होनेसे सर्वांगरूपसे सत्यार्थ हैं।

लोकः खल्वकृत्रिमोऽनादिनिधनः परिणामतः सादिपर्यवसानश्चेति प्रवचनं यथात्रेदानींतनपुरुषापेक्षया बाधविवर्जितं तथा देशांतरकालांतरवर्तिपुरुषापेक्षयापि विशेषाभावात् ततः सत्यतां प्राप्तमिति सिद्धं सुनिर्णीतासंभवद्बाधकप्रमाणत्वादात्मादिप्रतिपादकप्रवचनवत्।

नियमसे यह लोक किसी द्वारा नहीं किया गया अकृत्रिम है। अनादिसे अनन्तकालतक स्थिर रहनेवाला है। हां, पर्यायोंकी अपेक्षा सादि, सान्त, भी है। इस प्रकारके शास्त्रवाक्य जैसे इस देशमें होनेवाले या इस कालमें होनेवाले पुरुषोंकी अपेक्षा करके बाधविवर्जित हैं उसी प्रकार देशान्तर

कालान्तरवर्त्ती पुरुषोंकी अपेक्षासे भी निर्बाध हैं। इस देश और इस कालके पुरुषोंकी अपेक्षा अन्य देश और अन्यकालके पुरुषोंसे उक्त आगमको निर्बाध प्रामाण्य सम्पादन करनेके लिये कोई अन्तर नहीं पडता है। भावार्थ—यावत् देश यावत् कालोंके मनुष्योंमें दो हाथ, दो पांव, एक शिर, मुखसे खाना, नाकसे सूंघना आदिमें जैसे कोई अन्तर नहीं है उसी प्रकार वर्तमान काल या इस देशके मनुष्य इस लोकविन्यासको अकृत्रिम अनादि निधन जैसे साध रहे हैं वैसे ही देशान्तर, कालान्तरके मनुष्य भी जगत्को अकृत्रिम ही बाधारहित साधते होंगे तिस कारणसे वे आगम वाक्य सत्यताको प्राप्त हुये समझो। इस कारण वक्ष्यमाण अनुमान द्वारा सिद्ध हो जाता है कि लोकको अकृत्रिम या अनादि निधन कह रहा शास्त्रवाक्य (पक्ष) सत्यार्थ है। (साध्य) क्योंकि बाधक प्रमाणोंके असम्भव होनेका भले प्रकार निर्णय किया जा चुका है। (हेतु) आत्मा, आकाश, मोक्ष, आदिके प्रतिपादक शास्त्र वाक्योंको जैसे सत्यता प्राप्त है। (अन्वय दृष्टान्त)। यों आठवीं वार्तिकसे कर्तृवादका पूर्वपक्ष आरम्भ कर यहांतक प्रकरणोंकी संगति मिला दी गयी है।

अथानुमानादप्यकृत्रिमं जगात्सिद्धमित्याह।

जिस प्रकार आगम प्रमाणसे लोकको नित्य सिद्ध किया गया है। अब अग्रिम वार्त्तिक द्वारा अनुमान प्रमाणसे भी श्रीविद्यानन्द स्वामी इस जगत्को कर्त्तासे अजन्य सिद्ध करते हुये यों कह रहे हैं कि—

विशिष्टसन्निवेशं च धीमता न कृतं जगत्।
दृष्टकृत्रिमकूटादिविलक्षणतयेक्षणात्॥ ६८॥
समुद्राकरसंभूतमणिमुक्ताफलादिवत्।
इति हेतुवचः शक्तेरपि लोकोऽकृतः स्थितः॥ ६९॥

विलक्षण रचनावाला यह जगत् (पक्ष) किसी बुद्धिमान् करके किया गया नहीं है (साध्य) जिन कृत्रिम पदार्थोंको बनानेवाले कर्त्ता देखे जाते हैं। उन कूट, गृह, गाडी, आदि कृत्रिम पदार्थोंसे विलक्षणपने करके देखा जा रहा होनेसे (हेतु) समुद्र या खानमें भले प्रकार स्वकीय कारणोंसे उपजे मोती, मूंगा, हीरा, पन्ना आदि पदार्थोंके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार निर्दोष हेतुके वचनकी सामर्थ्यसे भी यह लोक अनुमान प्रमाण द्वारा अकृत्रिम व्यवस्थित हो चुका है। अर्थात्—चौकी, सन्दूक, किवाड आदिको बढई बना सकता है। किन्तु इसके उपादानकारण काठको नहीं बना सकता है। सूचीकार वस्त्रोंको सींव सकता है किन्तु रुई, ऊन, रेशमको स्वतंत्रतया नहीं गढ सकता है। रुई बनके पेडपर लगती है, पशु पक्षी, मनुष्योंके बाल ऊन हैं रेशमको कीडे बनाते हैं

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यों ही सुनार सुन्दर भूषणोंको बना लेता है किन्तु सोना, चांदी, तांबेको मूलरूपसे नहीं उपजा सकता है, हलवाई मनोहर पक्वान्नोंको बना लेता है किन्तु इनके उपादान कारण रस या खांडको स्वतंत्र नहीं बना सकता है। सुवर्णकार, अयस्कार, आदि नाम तो कोरे नामनिक्षेपसे हैं। रोटी, दाल, पेडा, वस्त्रके उपादान या सोना, चांदी, काठ, हीरा, मोती, मांस, रक्त, आदिको वे एकेन्द्रिय, या द्वीन्द्रिय आदि जीवही कर्मपरवश होरहे अपने अपने व्यक्त, अव्यक्त, पुरुषार्थ द्वारा बनाया करते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, समुद्र, पर्वत, धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल, आदिका समुदाय रूप यह लोक किसी एक ही बुद्धिमान् करके बनाया गया नहीं है।

दृष्टकृत्रिमविलक्षणतयेक्ष्यमाणश्च स्यात् कृत्रिमश्च स्यात् संनिवेशविशिष्टो लोको विरोधाभावात्। ततः सिद्धस्य हेतोः साध्येनाविनाभावित्वमिति मन्यमानं प्रत्याह।

यहां उक्त अनुमानमें कोई नैयायिक पण्डित प्रतिकूल तर्क उठाता है कि हेतु रह जाय साध्य नहीं रहे। सुनिये, यह लोक कर्त्तासहित रूपसे देखे जा रहे कृत्रिम पदार्थोंके विलक्षणपने करके देखा जा रहा होय, और सन्निवेशविशेषको धार रहा यह लोक कृत्रिम भी होय, कोई विरोध नहीं आता है। देखो धूम होय और अग्नि नहीं होय यों प्रतिकूल तर्क उठा देनेसे कार्यकारणभावका भंग होजाना यह विरोध खडा हुआ है। अतः "अग्निमान् धूमात्" इस प्रसिद्ध अनुमानमें प्रतिकूल तर्क नहीं उठा सकते हैं किन्तु यहां लोकमें हेतुके रहने पर भी साध्यका नहीं रहना आपादन किया जासकता है। आप जैनोंने स्वयं कहा है कि अन्न, मांस, पाषाण, आदि पदार्थ उन चीजोंसे विलक्षण हैं जिनके कि बनाने वाले उच्च कोटिके कारीगर देखे जाते हैं फिर भी अन्न आदि पदार्थ एक इन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि जीवोंके द्वारा बना लिये गये हैं तिस कारणसे इस तुम्हारे दृष्ट कृत्रिम विलक्षणतयाईक्ष्यमाणत्व हेतुका अपने साध्य होरहे कृत्रिमत्वाभावके साथ अविनाभाव असिद्ध है इस प्रकार साभिमान माने चले जारहे नैयायिकोंके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान वचनको कहते हैं।

नान्यथानुपपन्नत्वमस्यासिद्धं कथंचन।
कृत्रिमार्थविभिन्नस्याकृत्रिमत्वप्रसिद्धितः ॥ ७० ॥

हमारे इस हेतुका अन्यथानुपपत्तिसे सहितपना किसी भी ढंगसे असिद्ध नहीं है। क्योंकि कृत्रिम अर्थोंसे विभिन्न हो रहे पदार्थोंके अकृत्रिमपनकी प्रमाणोंसे सिद्धि हो रही है। भावार्थ—अन्न, काठ, सोना, हीरा, मांस, हड्डीको, भले ही वे एकेन्द्रिय आदि नाना जीव बना लेवें। किन्तु सूर्य, चन्द्रमा, सुदर्शन मेरु, अलोकाकाश, कालद्रव्य, लोक आदि अकृत्रिम पदार्थोंको नाना जीव या एक जीव कथमपि नहीं बना सकते हैं। जैनसिद्धान्त अनुसार वृक्षका जीव अपनी योगशक्ति द्वारा नोकर्म

वर्गणाका आकर्षण कर स्वकीय पुरुषार्थस्वरूप हो रही पर्याप्तिशक्तिकरके उन वर्गणाओंको काठ रूप बना लेता है वह शरीर उस जीवका कायबलप्राण कहा जाता है। सोनेकी खानका एक इन्द्रिय जीव अनेक कर्मोंके पराधीन हो रहा इसी प्रकार नोकर्म वर्गणाका स्वकीय शरीर सोना बना लेता है। हीरा, पन्ना, पाषाणकी सृष्टि भी इसी ढंगसे हो जाती है। द्वीन्द्रिय सीपका जीव जल विशेषको अपने दैव या पुरुषार्थ द्वारा मुक्ताफल रूप परिणमा लेता है जैसे कि रेशमका कीडा रेशमको, या गाय भैंस जीव अपने खाये गये भुस, घास, खल, बनोरे, आदिका दूध बना लेती हैं। कीडी, मकोडे, मक्खी, बर्र, घोडा, हाथी, तोता, कबूतर, मनुष्य, स्त्री, ये जीव कतिपय कर्मोंका उदय होनेपर स्वकीय पर्याप्तियों द्वारा या अन्य अनेक व्यक्त अव्यक्त पुरुषार्थों करके मांस, रक्त, मेद, चर्बी, आदि धातु अथवा उपधातु या मल मूत्र तथा ज्वर, सन्निपात आदि कार्योंके कर्त्ता माने जा सकते हैं। किन्तु अनादिनिधन लोक, सूर्य, अनेक द्वीप, समुद्र आदिका स्वतंत्र कर्त्ता कोई बुद्धिमान् नियत नहीं है। बढिया शिल्पकार, या वैज्ञानिक द्वारा बनाये गये नहीं होनेसे मुक्ताफल आदिको अकृत्रिम कह दिया है। वस्तुतः अन्न, मांस, मोती, आदिक किसी अपेक्षा कृत्रिम माने जा सकते हैं किन्तु छह द्रव्योंका समुदाय रूप यह लोक या सूर्य, चन्द्रमा, सुमेरु, द्वीप, समुद्र, स्वर्गस्थान, नरकस्थान, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, अकृत्रिम चैत्यालय, आठ भूमियां, वातवलय आदिक पिण्डोंका समुदाय रूप यह लोक तो अकृत्रिम ही है। अतः हमारे हेतुका नियत साध्यके साथ अविनाभाव बना रहना पुष्ट प्रमाणोंसे सिद्ध है। अनुकूल तर्कवाला यह हेतु अपने साध्यको अवश्य साधेगा।

न हि कृत्रिमार्थविलक्षणो गगनादिः कृत्रिमः सिद्धो येन साध्यव्यावृत्तौ साधनव्यावृत्तिर्निश्चितान्यथानुपपत्तिरस्य हेतोर्न सिध्येत्।

कर्त्ता द्वारा बनाये गये कृत्रिम, घट, पट आदिक अर्थोंसे विलक्षण हो रहे आकाश, सूर्य, आदिक पदार्थ तो कृत्रिम सिद्ध नहीं हैं जिससे कि व्यतिरेक द्वारा साध्यकी व्यावृत्ति हो जानेपर साधनकी व्यावृत्ति हो रही स्वरूप निश्चित अन्यथानुपपत्ति इस हेतुकी सिद्ध नहीं होवे। अर्थात्—हमारा हेतु अविनाभावी है।

असिद्धताप्यस्य हेतोर्नेत्यावेदयति।

हेतुके व्यभिचार दोषकी आशंकाका प्रत्याख्यान कर इस "कृत्रिमार्थविलक्षणत्व" हेतुका असिद्ध हेत्वाभासपना भी नहीं है इस बातका श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिकद्वारा विज्ञापन करे देते हैं।

नासिद्धिर्मणिमुक्तादौ कृत्रिमेतरतोऽकृते।
कृत्रिमत्वं न संभाव्यं जगत्स्कन्धस्य तादृशः॥ ७१॥

उपादान शक्तियोंके प्रत्यक्ष रूपसे परिज्ञापक, अशरीर, व्यापक, एक ऐसे विशिष्ट कर्त्ता द्वारा नहीं किये जा चुके मणि, हीरा, पन्ना, सोना, चांदी, काठ, कंकण, पत्थर, मट्टी, मोती, गोलोचन, कस्तूरी आदि पदार्थोंमें कृत्रिमविभिन्नत्व (विलक्षणत्व) हेतुसे नहीं कृत्रिमपना साध्य सम्भवने योग्य है। तिस ही प्रकारके अनेक पदार्थोंके स्कन्ध रूप हो रहे स्वरूप जगत्का कृत्रिमपना भी सम्भावनीय नहीं है। अतः पक्षमें ठहर जानेसे हेतुके स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास दोष नहीं लगा।

मणिमुक्ताफलादीनां केषांचित्कृत्रिमत्वं व्रीहिसंमर्दनादिना रेखादिमत्त्वप्रतीत्या स्वयमुपयन् परेषां समुद्राकरोत्थानां तथा रेखादिमत्त्वासंप्रत्ययेनाकृत्रिमत्वं च तद्वैलक्षण्यमालक्षयत्येव। तद्वद् दृष्टकर्तृकप्रासादादिभ्यः काष्टेष्टकादिघटनाविशेषलक्षणेभ्यस्तद्विपरीताकारप्रतिपत्त्या भूभूधरादीनां वैलक्षण्यं प्रतिपत्तुमर्हति च न चेदभिनिविष्टमना। इति नासिद्धो हेतुर्मणिमुक्तादावकृत्रिमत्वव्यवहारक्षतिप्रसंगात् तद्वैलक्षण्यस्यापि तद्वदसिद्धेः।

प्रायः सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्रतिकृति (नकल) करनेवाले इस युगमें नकली मोती, हीरा, पन्ना, माणिक्य (इमीटेशन) आदि बनने लगे हैं। ऐसे मणि, मुक्ता, आदिकोंको हम भी स्वतंत्र बुद्धिपूर्वक चाहे जैसे छोटा , बडा, बना देनेवाले कारीगर पुरुष करके कृत्रिमपना स्वीकार करते हैं। धानमें मिलाकर रगडनेसे यदि रेखा या कोई रगडका चिन्ह पड जाय तो उससे उन मणि, मोती, माणिक आदिके नकलीपनका परिज्ञान हो जाता है। और भी रत्नपरीक्षाके उपायों द्वारा माणिक, मोती, आदिके नकलीपन या असलीपनकी परीक्षा कर ली जाती है। जिससे कि कैई नकली पदार्थोंके कृत्रिमपन और अनेक असली पदार्थोंके अकृत्रिमपनका परिज्ञान कर लिया जाता है। आजकल तो घृत, दूध, चून, खांड, वस्त्र भी नकली पदार्थोंसे बने हुये आने लगे हैं। सुना है कि मनुष्य भी नकली बना दिये गये हैं। जो कि मनुष्योचित कतिपय क्रियाओंको भी करते हैं। कलको कोई स्वर्ग, नरक यहांतक कि मोक्षको भी नकली बनाले तो कोई आश्चर्य नहीं है। रामचन्द्रके युगमें (जमानेमें) एक इन्द्र नामका राजा इस भरत क्षेत्रमें ही स्वर्गकी पूरी नकल बनाकर स्वयं इन्द्र बन बैठा था। कैदखाने या दुःखियोंके घर तो अधोलोकस्थ नरकोंसे उपमेय हैं। पुण्यशाली धनिकोंके स्थान स्वर्ग कल्पित किये जा सकते हैं। निराकुल साधुओंकी तपोभूमिको कोई कवि एक देशसे मोक्षस्थानकी कल्पना कर सकता है। किन्तु इन सब उपचरित या अनुपचरित पदार्थोंके गौण, मुख्यपनकी परीक्षाके उपाय विद्यमान हैं। प्रकरणमें यह कहना है कि स्वयं नैयायिक पण्डित भी किन्हीं किन्हीं मणि, मोती, घृत आदि पदार्थोंका धान्योंके साथ रगडना, उष्ण जलमें तपाना आदि क्रियाओं करके रेखा पड जाना, खुरसट लग जाना, पानीमें बिखर जाना आदिसे सहितपनकी प्रतीति हो जाने करके कृत्रिमपनको स्वीकार कर रहा है वह नैयायिक ऐसी दशामें समुद्र या खानसे उत्पन्न हुये दूसरे मोती, मूंगा, हीरा, पन्ना, मणि, आदिकोंके तिस प्रकार रेखा आदिसे

सहितपनकी समीचीन प्रतीति नहीं होनेकरके अकृत्रिमपन और उन कृत्रिमसे विलक्षणपनका चारों ओरसे स्वरूपपरिज्ञान कर लेता ही है जैसे सूक्ष्मविचार बुद्धिद्वारा नकली मणि, मोती, घृत आदिसे असली मणि, मोती, आदिका विलक्षणपना या अकृत्रिमपना जान लिया जाता है उसी प्रकार सकर्तृक देखे जा रहे और काठ चतुःकाष्ठी (चौखट) ईंट, चूना, छप्पर, किवाड, मनखण्डा, पुल, पहिया आदिक विशेष अवयव घटनाओंके आश्रय हो रहे प्रासाद, कुये, नहर, बम्बा, गाडी, आदिकसे पृथिवी, पर्वत, सूर्य, दर्रे, घाटियां, समुद्र, नदियां, आदिकोंका उन कृत्रिम गृह आदिके विपरीत प्रतिपत्ति हो जानेसे विलक्षणपनको यह नैयायिक समझनेके लिये भी समर्थ हो जाता है इतनी सुलभ सामग्री या दृष्टान्तके मिल जानेपर भी यदि नैयायिक उन दृष्टकर्तृक कोठी आदिकोंसे पर्वत आदिकोंके इस प्रसिद्ध विलक्षणपनको नहीं समझ सकेगा तब तो इसकी चित्तवृत्ति एक खोटे अभिनिवेशसे युक्त ही मानी जा सकती है। समुचित वस्तुको यदि कोई कदाग्रहवश नहीं समझ पावे तो इसमें समझा देनेवाले वक्ता या वस्तुका क्या दोष है ? पूरा मूल्य देकर भले ही नकली अल्पमूल्य चीजोंको मोल लेकर अविचारी या पोंगा बने रहो। असली पदार्थोंको भोगनेवाला परीक्षक विद्वान् कभी भी ऐसी अविचारित पोलम पोल क्रियाको अभिरुचित (पसन्द) नहीं करता है इस कारण हमारा हेतु असिद्धहेत्वाभास नहीं है अन्यथा हीरा, पन्ना, मोती, मूंगा आदिमें अकृत्रिमपनके व्यवहारकी क्षति हो जानेका प्रसंग होगा और उन पुराने गृहोंके समानही उन अकृत्रिम मोती, मणि आदिमें उन कृत्रिम मणि, मोती आदिकसे विलक्षणपनकी भी असिद्धि हो जायगी। अर्थात् वैशेषिक भूधर आदिकोंको कृत्रिम मानते हुये यदि महल, कोठी आदिकसे विलक्षणपना पृथिवी, पर्वत आदिकमें नहीं मानेंगे तो समुद्र या खानसे उत्पन्न हुये असली मोती, मणियोंको भी अकृत्रिमपना या कृत्रिमोंसे विलक्षणपना ये नहीं साध पायेंगे भ्रान्त, अभ्रान्तका विवेक उठ जायगा। यह सोनेका मूल्य देकर मुलम्मा मोल लिया जा रहा है पामर (गंवार) पुरुष भी मट्टी, पत्थर, पीतल, खड आदिके बने हुये सांप, सिंह, घोडा, हाथी, छौरा आदिकसे असली सांप, सिंह, हाथी आदिको विलक्षण और अकृत्रिम माननेके लिये उद्युक्त रहता है।

न हि वयं दृष्टकृत्रिमकूटादिविलक्षणतयेक्ष्यमाणत्वमकृत्रिमतयेक्ष्यमाणत्वं वचो येन साध्यसमो हेतुः स्यादनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरित्यादिवत्। नापि भिन्नदेशकालाकारमात्रतयेक्ष्यमाणत्वं तदभिदध्महे येन पुराणप्रासादादिनानैकांतिकः। किं तर्हि ? घटनाविशेषानाश्रयतयेक्ष्यमाणत्वं जगतः प्रतीतकृत्रिमकूटादिविलक्षणतयेक्ष्यमाणत्वमभिधीयते। ततो निरवद्यमिदं साधनं।

हम जैन ऐसे प्रतिभारहित या अदार्शनिक नहीं हैं जो कि कर्त्तासे जन्य होकर दीख रहे कृत्रिम कूट (ऊंचा धम्मा, मीनार, ठोस गुम्मज) गृह, खिलोने आदिसे विलक्षणपने

करके देखे जा रहेपनको ही अकृत्रिमपनकरके देखा गयापन झट कह देवें जिससे कि " शब्द अनित्य है नित्य पदार्थोंके धर्मकी अनुपलब्धि होनेसे " या पर्वत अग्निमान् है अग्निवाला होनेसे इत्यादिक हेतुओंके समान हमारा दृष्टकृत्रिमविलक्षणतया ईक्ष्यमाणत्व हेतु " साध्यसम " नामक दोषसे प्रसित होजाय । तथा केवल भिन्न देश, भिन्न काल और भिन्न आकार सहितपने करके देखे गयेपनको भी वह दृष्ट कृत्रिम विलक्षणतया ईक्ष्यमाणत्व हम नहीं कह रहे हैं जिससे कि पुराने कोठी, किले, गढ, खंडहर, खेरा, आदि करके व्यभिचार होजाय । तो फिर हम जैन क्या कह रहे हैं ? इसका उत्तर यह है कि काठ, ईंट, लोहा, गाटर आदिकी घटना (रचना) विशेषके नहीं आश्रय होरहे पन करके देखा गयापन ही जगत् पक्षका कृत्रिम होकर प्रतीत होरहे कूट आदिसे विलक्षणपने करके देखा गयापन हेतु हम जैनों करके कहा जारहा है । अर्थात्—हमारा हेतु साध्य सारिखा नहीं है जिससे कि अबतक साध्यकी असिद्धि होनेसे प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध दोषवान् होजाय क्योंकि बुद्धिमान् कर्त्ताद्वारा होसकनेवाली विशेष विशेष ढंगकी रचनाओंका आश्रय रूपसे जगत् नहीं देखा जारहा है । नदियां, टेढी, मेढी बह रही हैं । पर्वत ऊंचे, नीचे, कोई शीतल कोई उष्ण है । पृथिवी कहीं लाल, पीली, काली, होरही है, समुद्रमें भी पानी बरसता है, मोंछ, दाढी मुडवा देने वालोंके बाल पुनः उपज आते हैं कांखमें बाल व्यर्थ उपजा दिये हैं, कहीं अतिवृष्टि कहीं अनावृष्टि होरही है । अनेक स्थलोंपर पापी जीव आनन्द भोग रहे हैं जब कि पुण्यात्मा सज्जन पुरुष अनेक दुःखोंको झेल रहे हैं । ईश्वरका निषेध करने वालोंका मुंह नहीं बन्द किया जाता है; सर्वज्ञ, व्यापक, दयालु भी ईश्वर भला चोर, व्यभिचारी, हिंसकोंके हृदयमें बुरे भावोंको क्यों उत्पन्न करता है ? जब कि वह सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् स्वीकार किया गया है । कोई भी हितैषी पिता या राजा अपने पुत्र या प्रजाको जान बूझकर अनर्थोंमें ढकेलकर पुनः उसको दण्ड देनेके लिये अभिलाषुक नहीं रहता है अन्यथा यह सब उत्तरदायित्व पिता या राजाके ऊपर ही पडेगा । कृतकृत्य ईश्वर कहां बैठकर किन कारणोंसे किस लिये जगत्को बनाता रहता है ? इन आक्षेपोंका सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता है । सृष्टि, प्रलय, उत्पत्ति विनाश, कहीं वृद्धत्व, किसीमें युवत्व, आदि अनेक विरुद्ध कार्योंको एक ईश्वर युगपत् कथमपि नहीं कर सकता है । जगत्में कहीं साधु पुरुष या पतिव्रता स्त्रियोंपर विपत्तियोंके पहाड ढाये जारहे हैं । किसी किसी धर्मात्माके आवश्यकीय एक पुत्र भी नहीं है । कतिपय कसइयोंके घर जब कि कुटुम्ब, धन, सम्पति, प्रभुतासे, भरपूर हैं गरीबोंको सताया जारहा है । धार्मिकवादका तिरस्कार कर पूंजीवादके गीत गाये जारहे हैं । गेंहुओंके साथ निर्दोष भिनुवाभी पिस रहे हैं । स्थान स्थानपर शोक, अरति, के कारण बढ रहे हैं । अतः कृत्रिम कूट आदिसे विलक्षणपना ही जगत्का अकृत्रिमपना नहीं है जिससे कि हेतु और साध्य दोनों एकसे होजाय किन्तु बुद्धिमान् सर्वज्ञ द्वारा होने वाली रचना विशेषके आधार नहीं होरहेपन करके जगत्का दीखना ही हमारे पूर्वोपात्त हेतुका अर्थ है दृष्टकर्तृक पदार्थोंकी अपेक्षा भिन्न देश,

भिन्न आकाश, भिन्न काल, सहितपने करके जगत्का दीख जाना अपने हेतुका अर्थ कहते तब तो पुराने कुयें, खण्डहरोंसे व्यभिचार आसक्ता था क्योंकि पुराने खण्डहर भिन्न देशीय भिन्न कालीन और विभिन्न आकार वाले हैं किन्तु वे अकृत्रिम नहीं हैं। भाई हम तो हेतुका शरीर बुद्धिमान् कर्त्तासे होनेवाली विचारपूर्वक रचनाओंका अनाधार होकर दीख रहापन कहते हैं। तिस कारणसे हमारा यह दृष्टकृत्रिम पदार्थोंसे विलक्षणपने करके देखा जा रहापन हेतु सम्पूर्ण दोषोंसे रहित है। अतः अपने अकृत्रिमत्व नियत साध्यको साध डालता है। यहां अब किसी कुतर्कको अवकाश नहीं रहता है।

ननु चेदस्मदादिकर्तृककूटादिविलक्षणतयेक्षणं जगतोस्मदादिकर्त्रयेक्षयैवाकृत्रिमत्वं साधयेत् मणिमुक्ताफलादीनामिव समुद्रादिप्रभवानां न पुनरस्मद्विलक्षणमहेश्वरकर्तृविशेषापेक्षया तदुपभोक्तृप्राण्यदृष्टविशेषापेक्षयाप्यकृत्रिमत्वप्रसंगात्। न च तदपेक्षयाकृत्रिमत्वेऽपि तेषां सर्वत्र कृत्रिमाकृत्रिमत्वव्यवहारविरोधः प्रतीतकर्तृव्यापारापेक्षया केषांचित्कृत्रिमत्वेन व्यवहरणात्। परेषामतींद्रियकर्तृव्यापारापेक्षणेनाकृत्रिमतया व्यवहृतेरनीश्वरवादिनाप्यभ्युपगमनीयत्वात्, अन्यथास्य सर्वत्रोत्पत्तिमति तदुपभोक्तृप्राण्यदृष्टविशेषहेतुके कथमकृत्रिमव्यवहारः क्वचिदेव युज्येत। ततोऽस्मदादिकर्त्रपेक्षया जगतोऽकृत्रिमत्वसाधने सिद्धसाधनमस्मद्विलक्षणेश्वरकर्तृविशेषापेक्षया तु तस्य साधने विरुद्धो हेतुः साध्यविपरीतस्यास्मदादिकर्त्रपेक्षयैवाकृत्रिमत्वस्य ततः सिद्धेरिति केचित्।

नैयायिक या पौराणिक अपने ईश्वर कर्तृवादको करनेके लिये पुनः अनुनय करते हैं कि आप जैनोंने जो इस हेतु द्वारा साध्यको साधा है वह अस्मदादिक राज, बढई, मिस्त्री, आदिक कर्त्ताओं द्वारा बनाये गये स्तूप, मीनार, आदिकसे विलक्षणपने करके दीखना तो जगत्को अस्मद् आदिक कर्त्ताओंकी अपेक्षा करके ही अकृत्रिमपनको साध सकेगा। जैसे कि समुद्र, खान, आदिसे उपजे हुये मणि-मुक्ता आदिकोंके कर्त्ता अस्मद् आदिक नहीं होसकते हैं। अर्थात्—हम सारिखे अल्पबल, अल्पज्ञान, वाले जीव जगत्के कर्त्ता नहीं होसकते हैं यह हम नैयायिकोंको भी अभीष्ट है, किन्तु फिर हम लोगोंसे विलक्षण होरहे महेश्वर नामक विशेष कर्त्ताकी अपेक्षासे जगत्का अकृत्रिमपना नहीं साधा जा सकता है। अर्थात्—हम लोग भले ही जगत्के कर्त्ता नहीं होय फिर भी हमसे विलक्षण होरहा महान् ईश्वर तो जगत्का कर्त्ता सुलभतया सध जावेगा। यदि जैन विद्वान देखे जारहे बढई, कोरिया, कुम्हार, अध्यापक, वैज्ञानिक, इञ्जिनियर, आदिक एकदेशीय कर्त्ताओंसे विलक्षण होरहे महेश्वरको जगत्का कर्त्ता नहीं मानेंगे तब तो उन शरीर, इन्द्रिय, वृक्ष, भूषण, वस्त्र, आदिक कार्य पदार्थोंका उपभोग करने वाले प्राणियोंके अदृष्ट विशेष (पुण्य पाप) की अपेक्षा करके भी जगत्को अकृत्रिम पनेका प्रसंग होजायगा। अर्थात्—जैसे जैन जन यों झट कह बैठते हैं कि जगत्के कर्त्ता हम आदिक कोई भी संसारी नहीं हैं, हमसे विलक्षण होरहा ईश्वर भी जगत्का विधायक

नहीं है। उसी प्रकार हम नैयायिक भी कह सकते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, राग, द्वेष आदिके करण कारक जैसे वसूला, दण्ड, तुरी, आदिक नहीं हैं उसी प्रकार इन करणोंसे विलक्षण होरहा अदृष्ट भी शरीर आदिका करण नहीं होसकेगा किन्तु यह अदृष्टका करण नहीं बन सकना हम, तुम, दोनोंको इष्ट नहीं है। साधारण व्यक्तियोंको जगत्का कर्तृत्व नहीं होनेपर भी असाधारण परमात्माको जगत्का कर्तृत्व सध सकता है। ईश्वरको नहीं माननेवाले जैन या बौद्ध यों भय करें कि उस ईश्वर या अदृष्टकी अपेक्षा करके यदि अर्थोंमें कृत्रिमपना माना जायगा तो सभी स्थानोंपर उन पदार्थोंके कृत्रिमपन और अकृत्रिमपनके पृथक् पृथक् हो रहे व्यवहारका विरोध हो जायगा। सभी पदार्थ कृत्रिम बन बैठेंगे। इसपर हम नैयायिक यों समझाते हैं कि इस भीतिकी आशंका नहीं करना ईश्वरकी अपेक्षासे कृत्रिमपना होते हुये भी उन पदार्थोंके कृत्रिमपनके या अकृत्रिमपनके व्यवहारका विरोध नहीं हो पाता है क्योंकि जिन पदार्थोंमें कर्त्ताओंके व्यापार देखे जा रहे हैं। उसकी अपेक्षा करके किन्हीं किन्हीं घट, पट, भूषण, गाडी, गृह आदि पदार्थोंका कृत्रिमपने करके संसारमें व्यवहार हो रहा है। और इन पदार्थोंसे न्यारे सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, शरीर, पर्वत, आदिक पदार्थोंको इन्द्रियोंके अगोचर हो रहे विशेष कर्त्ताके व्यापारकी अपेक्षा करके अकृत्रिमपन रूपसे व्यवहार हो रहा है। अर्थात्—ईश्वरको उनका कर्त्तापन होते हुये भी वे अकृत्रिम हैं। ईश्वरको जगत्का कर्त्ता नहीं माननेवाले जैन, चार्वाक, बौद्ध, वादियों करके भी इसी ढंगसे कृत्रिमपन और अकृत्रिमपनका स्वीकार करना अनिवार्य पडेगा अन्यथा यानी दृष्टकर्तृक पदार्थोंको ही कृत्रिम मानते हुये यदि अतीन्द्रिय कर्त्ता द्वारा उपज रहे पदार्थोंको अकृत्रिम नहीं माना जायगा तब तो इस अनीश्वर वादीके यहां उन उन शरीर, इन्द्रिय, आदि कार्योंके उपभोक्ता प्राणियोंके पुण्य, पाप, विशेषको कारण मानकर जन्म ले रहे सम्पूर्ण उत्पत्तिमान् कार्योंमेंसे किन्हीं विशेष कार्योंमें ही भला अकृत्रिमपनेका व्यवहार कैसे समुचित हो सकेगा? तुम ही बताओ तुम जैन भी तो सीपके जीवके पुण्य, पाप, या पुरुषार्थसे उपजे हुये असली मोतीको अकृत्रिम मान रहे हो तिस कारणसे हम नैयायिक कहते हैं कि जैन विद्वान् यदि हम आदि कर्त्ताओंकी अपेक्षासे जगत्को अकृत्रिमपना उक्त अनुमानसे साध रहे हैं। तब तो जैनोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष है। हम ईश्वरवादी नैयायिक भी तो अस्मद आदिककी अपेक्षा जगत्को सकर्तृक नहीं मानते हुये अकृत्रिम मान रहे हैं हम लोगोंसे विलक्षण हो रहे कर्त्ता विशेष ईश्वरकी अपेक्षा करके तो उस जगत्को यदि अकृत्रिम साधा जायगा तब तो जैनोंका दृष्टकृत्रिमविलक्षणतया ईक्ष्यमाणत्व " हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है क्योंकि प्रकरण प्राप्त अकृत्रिमत्व साध्यसे विपरीत हो रहे अस्मद् आदि कर्त्ताओंकी अपेक्षा करके ही अकृत्रिमपनेकी उस हेतुसे सिद्धि हो पाती है हम लोगोंसे विलक्षण ईश्वर कर्त्ताकी अपेक्षा भी अकृत्रिमपनकी उस हेतुसे सिद्धि नहीं हो सकती है अतः जैनोंका हेतु साध्यसे विपरीत हो रहे साध्याभावके साथ व्याप्तिको रखनेवाला होनेसे विरुद्ध हुआ। यहांतक कोई नैयायिक पण्डित कह रहे हैं।

तेपि न न्यायविदः, अनित्यः शब्दो नित्यविलक्षणतया प्रतीयमानत्वात् कलशादिवादित्यादेरप्येवमगमकत्वप्रसंगात् । शक्यं हि वक्तुं यदि निरतिशयनित्यविलक्षणतयेक्षणात्सातिशयनित्यत्वमनित्यत्वं साध्यते तदा सिद्धसाध्यता " तेनैवं व्यवहारात् स्यादकूटस्थेपि नित्यतेति " स्वयं मीमांसकैरभिधानात् । अनेकक्षणत्रयस्थायित्वं साध्यं तदा विरुद्धो हेतुस्तद्विपरीतस्य सातिशयनित्यलक्षणस्यैवानित्यत्वस्य ततः सिद्धेरिति ।

अब आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि वे नैयायिक पण्डित भी न्यायमार्गको नहीं समझ रहे जैसा नाम वैसा काम करनेवाले नहीं है । देखिये तुमने शब्दको अनित्य सिद्ध करनेके लिये यह अनुमान बनाया है कि शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्यदल) क्योंकि नित्य पदार्थोंसे विलक्षणपने करके प्रतीत किया जा रहा है (हेतु) कलसा, रोटी, दाल आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) अथवा " पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवत् " इत्यादिक असिद्ध हेतुओंको भी इस प्रकार कुचोद्योंद्वारा तुम्हारे यहां अगमकपनेका प्रसंग होगा यहां भी शब्दको नित्य माननेवाले मीमांसकोंकरके यों कहा जा सकता है कि नैयायिक उक्त अनुमानद्वारा यदि निरतिशय नित्य पदार्थोंसे विलक्षणपने करके दीख जाना हेतुसे सातिशय नित्यत्व स्वरूप अनित्यत्वको साध रहे हैं तब तो सिद्धसाध्यता दोष है । हम मीमांसक भी शब्दको कूटस्थ नित्य नहीं मानते हैं अग्निका संयोग हो जानेपर अनित्यजल अपने शीत अतिशयको छोड देता है और उष्णताका आधान कर लेता है । किन्तु कूटस्थ नित्य पदार्थ ऐसा नहीं कर सकता है । कूटस्थका अर्थ " अनाधेयाप्रहेयातिशय " है । जो पदार्थ चाहे कितने भी प्रेरक कारणोंका सम्प्रयोग हो जानेपर उनके धर्मों अनुसार धर्मान्तरोंको ग्रहण नहीं करता है और अपने उपात्त कर लिये गये अतिशयोंको छोडता भी नहीं वह वह कूटस्थ है जैसे कि आकाश किन्तु नित्य हो रहा भी शब्द कूटस्थ नहीं है वैदिक, लौकिक, महान् अभिव्यंजक, अल्प अभिव्यंजक ध्वनि, कण्ठ, तालु, आदि परिस्थितियोंके वशवर्ती हो रहा परिणामी नित्य है । अतः ऐसे सातिशय नित्यस्वरूप अनित्यत्वकी सिद्धि करनेपर हम मीमांसक तुम नैयायिकोंके ऊपर " सिद्धसाधन " दोष उठाते हैं । स्वयं मीमांसकोंने अपने ग्रन्थोंमें यों कहा है कि संकेत काल और व्यवहारकालमें वहका वही व्यापक हो रहा शब्द नित्य है । क्योंकि उस संकेतगृहीत शब्द करके ही मैं शब्द बोध करनेवाला पुरुष यह व्यवहार करता हूं कि यह गौ है, अमुक घट है इत्यादि, अतः कूटस्थपना नहीं होते हुये भी शब्दको नित्यपना युक्तिप्राप्त है । व्यंजकोंकी तीव्रता, मन्दता, अल्पीयत्त्व, तत्तद्देशीयत्व आदिकी अपेक्षा शब्दमें कुछ अतिशयोंकी संक्रान्ति होना अभीष्ट है ऐसे अनित्यत्वका हमने खण्डन कहां किया है ? हां अनेक तीन तीन क्षणोंमें स्थायीपन यदि अनेक शब्दोंका अनित्यपना साधा जाता है तब तो तुम नैयायिकोंका हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि उस तुम्हारे सर्वथा अनित्यत्व साध्यसे विपरीत होरहे सातिशय नित्यस्वरूपही अनित्यपनकी

शब्दमें उस हेतुसे सिद्धि होसकती है। अर्थात्—क्षणिकवादी बौद्ध तो पदार्थोंका प्रथम क्षणमें आत्मलाभ मान कर दूसरे क्षणमें ही ध्वंस मानते हुये ज्ञान, घट, आदिको क्षणिक मानते हैं। जैनोंके यहां एक क्षण या दो, चार, लाखों, असंख्य, क्षणोंतक ठहरने वाली सूक्ष्म पर्याय या स्थूल पर्यायोंको क्षणिक कहा जा सकता है कारण कि अनेक (संख्यात, असंख्यात) क्षणोंतक ठहरनेवाले बिजली, बबूला, दीपकालिका, आदि भी जगत्में क्षणिक पदार्थ माने गये हैं। अतः " द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्व " या " अनेकक्षणवर्तिध्वंसप्रतियोगित्व " ये दोनों लक्षण सूक्ष्म समयवर्ती पर्याय अथवा कतिपय समयवर्ती स्थूल पर्यायोंकी अपेक्षासे समुचित हैं किन्तु वैशेषिकोंने तृतीयक्षणवृत्तिध्वंस-प्रतियोगित्व यानी प्रथम समयमें उत्पत्ति द्वितीय समयमें शब्दकी स्थिति (श्रुति) और तीसरे क्षणमें नाश हो जाना ऐसा क्षणिकपना शब्द या ज्ञानोंमें स्वीकार किया है। हां, अपेक्षाबुद्धिका चौथे क्षणमें वे ध्वंस होना मानते हैं। वैशेषिक पण्डित पांचवें क्षणमें नष्ट हो जानेवाली क्षणिक क्रियाओंका चार क्षणतक ठहरे रहना स्वीकार करते हैं। ईश्वर इच्छा या संयोग आदिसे प्रथम क्षणमें क्रियाकी उत्पत्ति, द्वितीय क्षणमें उससे विभाग, तृतीय क्षणमें पूर्व संयोगनाश, चतुर्थ क्षणमें उत्तरदेशसंयोग पुनः पांचवे क्षणमें क्रियाका नाश होजाता है। यों क्षणिकत्वके कतिपय अर्थ हैं। इसी प्रकार नित्यके भी कूटस्थ नित्य, सातिशय नित्य, परिणामी नित्य, धारा प्रवाह नित्य, बीजाङ्कुर न्याय अनुसार नित्यत्व, अनादि सान्त नित्यत्व, सादि अनन्त नित्यत्व, ऐसे कतिपय अर्थ हो सकते हैं। अतः शब्दका अनित्यपना साधनेपर नैयायिकोंके ऊपर हम मीमांसकोंने सिद्धसाधन और विरुद्ध दोष उठाये हैं। इसी प्रकार साध्यमें विकल्प लगा कर वन्हिमान् धूमात् आदि अनुमानोंमें भी उक्त दोष लगाये जा सकते हैं। जैसे कि नैयायिकोंने जैनोंके ऊपर सिद्धसाधन या विरुद्ध हेत्वाभास उठा दिये हैं।

यदि पुनर्नित्यमात्रविलक्षणतयेक्षणादिति हेतुरिष्टमेव क्षणिकत्वाख्यमनित्यत्वं साधयति, ततो न सिद्धसाधनं परस्य, नापि विरुद्धो हेतुरिति मतं तदा दृष्टकृत्रिमसामान्यविलक्षणतयेक्षणादिति हेतुरस्मदादिकर्त्रपेक्षयास्मद्विलक्षणेश्वरादिकर्त्रपेक्षयापि वाऽकृत्रिमत्वं साधयतीति कथं नैयायिकस्यापि सिद्धसाधनं विरुद्धो वा हेतुः स्यात्।

फिर नैयायिक पण्डित यदि मीमांसकोंके प्रति यों कहें कि सामान्य नित्यसे विलक्षणपने करके दीखना इस प्रकारका हेतु तो शब्दमें हमारे इष्ट हो रहे ही दो क्षण या तीन क्षणतक ठहरना नामके अनित्यपनको साध देता है। तिस कारणसे मीमांसकोंकी ओरसे दिया गया सिद्ध साधन दोष दूसरे हम नैयायिकोंके ऊपर नहीं आ सकता है। तथा हमारा हेतु विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि हम नैयायिक तुम मीमांसकोंके यहां सिद्ध हो रहे सातिशय नित्यपनको शब्दमें नहीं साध रहे हैं। तथा हमारा हेतु अनुकूल साध्यके साथ हो रही व्याप्तिको धारता है। इस प्रकार नैयायिकोंका मन्तव्य होय तब

तो हम जैन भी कहते हैं कि देखे जा रहे सामान्यरूपसे सम्पूर्ण कृत्रिम पदार्थोंसे विलक्षणपने करके दीखना इस प्रकारका हमारा हेतु अस्मदादिकर्त्ताओंकी अपेक्षासे अथवा हम लोगोंसे विलक्षण हो रहे महेश्वर, ब्रह्म, प्रकृति, ब्रह्मा, आदि कर्त्ताओंकी अपेक्षासे भी नहीं कृत्रिमपनको जगत्में बहुत अच्छा साध देवेगा भले ही उन उन कतिपय पदार्थोंके कर्त्ता अनेक जीवात्मायें हैं। किन्तु एक किसी ईश्वर या प्रकृतिकी अपेक्षा जगत् कृत्रिम नहीं है। ऐसी दशामें नैयायिककी ओरसे भी हमारे ऊपर सिद्धसाधन दोष कैसे हो सकता है ? और हम जैनोंका निर्दोष हेतु " दृष्टकृत्रिमविलक्षणतया ईक्षण " भला विरुद्ध हेत्वाभास कैसे हो सकता है ?। यानी नहीं हो सकता है।

यथैव हि निरतिशयनित्यात् सातिशयनित्याच्च वैलक्षण्यमुत्पादकविनाशकारणकत्वं प्रतीयमानं शब्दे क्षेष्टं क्षणिकत्वं साधयेत्, तथैवास्मदादिकृतात्कूटप्रासादादेरीश्वरादिकृताच्च त्रिपुरदाहांधकासुरविध्वंसनादेः सामान्यतो वैलक्षण्यं घटनादिविशेषानाश्रयत्वं जगति समीक्ष्यमाणं सकलबुद्धिमत्कर्त्रपेक्षयैवाकृत्रिमत्वं साधयतीति सर्वं निरवद्यं।

जिस ही प्रकार मीमांसकोंके ऊपर धुडक कर नैयायिक यों कह सकते हैं कि सांख्योंके यह माने गये पुरुषके समान निरतिशय नित्य पदार्थ और मीमांसकोंके यहां माने गये जीवात्माओंके समान सातिशय नित्य पदार्थ अथवा और भी किसी प्रकारके नित्य पदार्थोंसे विलक्षणपना यानी सृष्टिप्रक्रिया और प्रलयप्रक्रिया अनुसार सबकी उपादेय उत्तर पर्यायका उत्पादक होते हुये पुनः उसके विनाशका कारण होजाना यहां " नित्यविलक्षणतया ईक्षण " हेतु शब्दमें भले प्रकार प्रतीत किया जारहा उस हमारे अभीष्ट होरहे दो तीन क्षणतक ठहरना स्वरूप क्षणिकत्वको साध देवेगा। हम जैन भी नैयायिकोंके सन्मुख आत्मगौरव सहित कह सकते हैं कि उस ही प्रकार हम तुम मिस्त्री, बढई, कारीगर आदि द्वारा बनाये गये स्तूप, चबूतरा, चौपारें, कोठियां गृह, झोंपडे, चौकी, मन्दिर आदि पदार्थोंसे और तुम पौराणिकोंके मतानुसार मान लिये गये कार्यविशेषोंके कर्त्ता ईश्वरस्वरूप महादेव, विष्णु, ब्रह्मा, आदि करके किये गये त्रिपुरका दाह, अन्धकासुरका विध्वंसन करना, गंगाका धारण, कामदेवका भस्म करना, आदि या चक्र धारण, कंसमर्दन, कैटभका जीतना, शिशुपालवध, अथवा तपस्या द्वारा चतुर्मुख बनाना, हंसपर चढ लेना, आदि कार्योंसे सामान्यतया विलक्षणपना यानी काठ, ईट, लोहे, चूनाका ठीकठीक जोडना, छप्पर बना लेना, शस्त्र धारण कर लेना, तपस्या कर लेना आदिक विशेष घटनाओंका आश्रयरहितपना भले प्रकार जगत्में देखा जारहा है यह हम जैनोंका हेतु हमारे अभीष्ट साध्य होरहे सम्पूर्ण ही बुद्धिमान् कर्त्ताओंकी अपेक्षा करके अकृत्रिमपनको जगत्में साध देता है। भावार्थ—पौराणिकोंके विचार अनुसार यदि शिवजीने त्रिपुरका दाह कर दिया या अन्धक राक्षसका विध्वंस कर दिया, गजासुरको मार डाला इत्यादिक क्रियायें कथंचित् थोडी देरके लिये मानी जासकती हैं। विष्णु भगवान्ने नृसिंह, कृष्ण, आदि अवतार द्वारा हिरण्यकशिपु, पूतना,

केशी, का वध किया ये क्रियायें भी असम्भव नहीं हैं, किन्तु ईश्वर करके जगत्का निर्माण करना असम्भव है क्योंकि जगत्में कर्त्ताओं द्वारा होनेवाली विशेष घटनायें या योजनायें नहीं पायी जाती हैं जगत्में उक्त त्रिपुरदाह आदि कर्तृसाध्य कार्योंसे विलक्षणपना भी सुलभतया बढिया देखा जारहा है अतः यह अविनाभावी हेतु जगत्में अकृत्रिमपनको साधही देता है। शैवसम्प्रदाय वाले पुराणोंमें त्रिपुरकी उत्पत्ति और विनाशकी कथा इस प्रकार लिखी है कि "ततस्ते सहिता राजन्, संप्रधार्यासकृद्बहु। सर्वलोकेश्वरं वाक्यं प्रणम्येदमथाब्रुवन्। अस्माकं त्वं वरं देव, प्रयच्छेमं पितामह ! वयं पुराणि त्रीण्येव समास्थाय महीमिमाम्। विचरिष्याम लोकेऽस्मिंस्त्वत्प्रसादपुरस्कृताः। ततो वर्षसहस्रे तु समेष्यामः परस्परम्। एकीभावं गमिष्यन्ति पुराण्येतानि चानघ। समागतानि चैकत्वं यो हन्याद्भगवंस्तदा। एकेषुणा देववरः स नो मृत्युर्भविष्यति। एवमस्विति तान्देवः प्रत्युक्त्वा प्राविशद्दिवम्। ते तु लब्धवराः प्रीताः संप्रधार्य परस्परम्। पुरत्रयविसृष्ट्यर्थमयं वव्रुर्महासुरम्। विश्वकर्माणमजरं दैत्यदानवपूजितम्। ततो मयः स्वतपसा चक्रे धीमान् पुराणि च। त्रीणि कांचनमेकं वैरौप्यं कार्ष्णायसं तथा। काञ्चनं दिवि तत्रासीदन्तरीक्षे च राजतम्। आयसञ्चाभवद्भौमं चक्रस्थं पृथिवीपते। एकैकं योजनशतं विस्तारायामसम्मितम्। गृहाट्टालकसंयुक्तं बृहत्प्राकारतोरणं। गृहप्रवरसंबाधमसम्बाधमहापथम्। प्रासादैर्विविधैश्चैव द्वारैश्चाप्युपशोभितम्। पुरेषु चाभवन् राजन्। राजानो वै पृथक् पृथक्। काञ्चनं तारकाक्षस्य चित्रमासीन्महात्मनः। राजतं कमलाक्षस्य विद्युन्मालिन आयसम्। त्रयस्ते दैत्यराजानस्त्रींल्लोकानाशु तेजसा। आक्रम्य तस्थुरुच्चैश्च कश्चनायं प्रजापतिः। तेषां दानवमुख्यानां प्रयुतान्यर्बुदानि च। कोट्यश्च प्रति वीराणां समाजग्मुस्ततस्ततः। मांसादाश्च सुदंष्ट्राश्च सुरैर्निर्कृताः पुरा। महदैश्वर्यमिच्छन्तस्त्रिपुरं दुर्गमाश्रिताः। सर्वेषाञ्च पुनस्तेषां सर्वयोगवहो मयः। तमाश्रित्य हि ते सर्वे वर्त्तयन्त्यकुतोभयाः। ये हि यं मनसा कामं दध्यात् त्रिपुरसंश्रयः। तस्मै कामं मयस्तं तं विदधे मायया तदा। तारकाक्षसुतो वीरो हरिर्नाम महाबलः। तपस्तेपे परमकं येनातुष्यत् पितामहः। सन्तुष्टमवृणोद्देवं वापी भवतु नः पुरे। शस्त्रैर्विनिहता यत्र क्षिप्ताः स्युर्बलवत्तराः। स तु लब्ध्वा वरं वीरस्तारकाक्षः सुतो हरिः। ससृजे तत्र वापीं तां मृतसञ्जीवनीं प्रभो। येन रूपेण दैत्यास्तु येन योगेन चैव ह। मृतास्तस्यां परिक्षिप्तास्तादृशेनव जज्ञिरे। तां प्राप्य ते पुनस्तांस्तु सर्वान् लोकान् बबाधिरे। महता तपसा सिद्धाः सुराणां भयवर्द्धनाः। नैतेषाममवद्राजन् क्षयो युद्धे कथञ्चन॥ इस प्रकार त्रिपुरकी उत्पत्ति है। त्रिपुरमें रहनेवाले मय आदि महापराक्रमी दैत्योंने सम्पूर्ण लोकको बाधा पहुंचायी तब सम्पूर्ण देवोंने एकत्रित होकरके महादेवसे उसके मारनेकी प्रार्थना की। एक महान् दृढ रथ बनाया गया। भारी प्रार्थना करनेपर पितामहने रथका सारथी होना स्वीकृत किया। उस रथपर चढकर महादेवने बाण करके तीनों नगरोंको दग्ध कर दिया और मय आदि असुरगणोंको जलाकर पश्चिम समुद्रमें फेंक दिया। इस वृतान्तको पुराणोंमें यों लिखा गया है कि "सर्वलोकस्य तेजांसि दृष्ट्वैकस्थानि मारिषाः। युक्तं निवेदयामासुर्देवास्तस्मैमहात्मने" "मूर्तिं सर्वां समाधाय त्रैलोक्यस्य ततस्ततः रथं ते कल्पयिष्यामो देवेश्वर महौजसम्

तथैव बुद्धया विहितं विश्वकर्मकृतं महत् । ततो विबुधशार्दूलास्तं रथं समकल्पयन् । विष्णुं सोमं हुताशञ्च तस्येषुं समकल्पयन् । शृङ्गमग्निर्बभूवास्य भल्लः सोमो विशाम्पते । अतिष्ठत् स्थाणुभूतः स सहस्रं परिवत्सरान् । यदा त्रीणि समेतानि अन्तरीक्षे पुराणि च । त्रिपर्वणा त्रिशल्येन तदा तानि बिभेद सः । पुराणि न च तं शेकुर्दानवाः प्रतिवीक्षितुम् । शरं कालाग्निसंयुक्तं विष्णुसोमसमायुतम् । पुराणि दग्धवन्तं तं देवा याताः प्रवीक्षितुम् " " तान् सोऽसुरगणान् दग्ध्वा प्राक्षिपत् पश्चिमार्णवे । एवन्तु त्रिपुरं दग्धं दानवाश्चाप्यशेषतः । महेश्वरेण क्रुद्धेन त्रैलोक्यस्य हितैषिणा " तथा व्यासकृत वैष्णव सम्प्रदायवाले हरिवंश पुराणके एकसौ पैंतालीसवें अध्यायमें अन्धक असुरकी उत्पत्ति यों लिखी है कि दिति कहती भयी " हतपुत्रास्मि भगवन् देवैर्धर्मभृताम्वर । अवध्यं पुत्रमिच्छामि देवैरमितविक्रमम् । इसके उत्तरमें कश्यप उवाच । अवध्यस्ते सुतो देवि दाक्षायणि भवेदिति । देवानां संशयो नात्र कश्चित् कमललोचने । देवदेवमृते रुद्रं तस्य न प्रभवाम्यहम् । आत्मा ततस्ते पुत्रेण रक्षितव्यो हि सर्वथा । अन्वालभत तां देवीं कश्यपः सत्यवागथ । अङ्गुल्योदरदेशे तु सा पुत्रं सुषुवे ततः ॥ यह अन्धक असुर अविचारक पाप पंकमें फसे हुये अन्धे मदान्ध पुरुषोंके समान स्वच्छन्द भ्रमण करता हुआ देव या मनुष्योंको अनेक कष्ट देता भया । पश्चात् महेशसे उसको मारनेके लिये दुःखित जनोंने प्रार्थना की । हरिवंश पुराण एक सौ छियालीसमें अध्यायमें लिखा है कि " मुमोच भगवाञ्छूलं प्रदीप्ताग्निसमप्रभम् । ततः पश्चात् हरोत्सृष्टमन्धकोरसि दुर्द्धरम् । भस्मसाच्चाकरोद्रौद्रमन्धकं साधुकण्टकमिति " इसी प्रकार गजासुर कामदेव आदिके विनाश किये जानेकी रोचक कथायें पुराणोंमें लिखी हैं । विष्णु करके प्रल्हादकी रक्षाके लिये हिरण्यकशिपुका वध अच्छे ढंगसे लिखा गया है । इसी प्रकार कंस, मुर आदिका नाश करना भी बडी श्रद्धाबुद्धिसे उपदिष्ट किया गया है । सच पूछो तो यह स्पष्ट रूपसे संकल्पी हिंसा है । एक छोटी श्रेणीका जैन गृहस्थ भी जिस संकल्पी हिंसाको नहीं कर सकता है । परमात्मा या परमात्माके आंशिक गुणोंको धारनेवाला देव या पुरुष तो कथमपि ऐसी हिंसाको नहीं करना चाहेगा । सज्जन पुरुषोंके प्रभावशाली उपदेशों द्वारा ही क्रूर पुरुष शान्त हो जाते हैं । अस्तु कुछ भी हो वैशेषिक या नैयायिक दार्शनिकोंने उक्त पौराणिक कथाओंपर अखण्ड विश्वास नहीं रक्खा है । ये ईश्वरको अदेह स्वीकार करते हैं । हां, ईश्वर द्वारा विशिष्ट शक्तियोंको प्राप्त कर कोई कोई जीवात्मायें जगत्में बडे बडे चमत्कारक कार्योंको कर पाडती हैं ऐसा वैशेषिक मान लेते हैं । जैन सिद्धान्त अनुसार देव या राक्षसोंकी आयुका मध्यमें ही छिन्न हो जाना नहीं माना गया है हां, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि पुण्यशाली पुरुषोंके या विद्याओंको साधनेवाले पुरुषोंके अधीन अनेक देवता हो जाते हैं । अनेक देवोंके ऊपर कई पुण्यात्मा पुरुषोंका प्रभाव स्थापित हो सकता है । जैन पुराणोंमें भी महादेव, रामचन्द्र, कृष्ण, पाण्डव, आदिके चरित्रोंका वर्णन हैं । रुद्रोंकी उत्पत्ति तो चारित्रसे भ्रष्ट हो चुके मुनि और आर्यिकाके सम्बन्ध द्वारा हुई मानी गयी है । इस कल्पकालकी अव-

सर्पिणीमें हुये ग्यारह रुद्रोंमेंसे सबसे प्रथम भीमावलि नामक रुद्रने श्री अजितनाथ स्वामीको बाल्यावस्थामें अनेक उपसर्ग किये पश्चात् बालक अजितनाथकी महती शक्तिको आश्चर्यान्वित देखकर महादेवने अजितनाथकी स्तुति की और क्षमा मांगी । अन्तिम महादेव सात्यकिने चौदह सौ विद्यायें सिद्ध करली थीं, अनेक राजाओंको पराजय किया था। ये रुद्र महाशय भोगोंमें दिनरात व्याक्षिप्त रहते थे। विद्याओं करके अनेक कष्टसाध्य अनहोने कार्योंको करके डालते थे। इसी प्रकार ब्रह्मा भी एक तापसी हुये हैं, जिन्होंने सैकडों वर्षोंतक तपस्या की और तिलोत्तमा पर आसक्त होकर तपस्यकी शक्तिसे चार, पांच, मुख बनाये इत्यादिक कृतियां उक्त पुरुषोंकी प्रसिद्ध हैं, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, पाण्डव पुराणोंमें रामचन्द्र, कृष्ण, का विस्तृत कथनाक मिलता है। होलिकादाहकी पृथा भी इसी भित्ति पर अवलम्बित होकर प्रसिद्ध है। जैन पुराण और वैष्णव या शिव पुराणोंके कतिपय प्रकरण मिल जाते हैं। किन्तु जहां कार्य कारणभावका भंग होय या असम्भव व्यवस्था होय वह अजैन पुराणोंका विषय बाधित होजाता है जैसे कि मनुष्योंके संसर्गसे देवियोंके संतानकी उत्पत्ति बनाना, कानसे कर्णकी उत्पत्ति मानना, मनुष्यका धड और हाथीका सिर जुडकर गणेशजीका उत्पाद मानना, ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति मानना, गायके सींगपर पृथिवीका धर रहना, जटाओंमें गंगाका झेलना। फिर कितनेही दिनोंतक गंगा नदीका जटाओंमें ही अन्तर्भूत रहना इत्यादिक विषय निर्बाध नहीं हैं। अलंकार पूर्ण साहित्यमें घटा, बढा कर कह दिया जाता है किन्तु असम्भवके परिहारका वहां भी लक्ष्य रखा जाता है। अतः किन्हीं किन्हीं शक्तिशाली पुरुषों करके कभी कचित् प्रसिद्ध हुये त्रिपुरका दाह या अर्धक असुरका विध्वंस, कोटिशिलाका उठाना आदि सम्भवनीय विषयोंको मान लिया भी जाय। किन्तु एक बुद्धिमान ईश्वर करके जगत्का बनाया जाना कथमपि विश्वसनीय नहीं है। यों तो जिनसेनाचार्य कृत सहस्रनाममें महादेव, विष्णु, ब्रह्मा, सुगत, आदि देवोंके अनेक नामोंका उल्लेख है। अमरकोशमें " शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः " ईश्वर, शंकर, मृत्युञ्जय, वामदेव, हर, ईशान, त्र्यम्बक, त्रिलोचन, त्रिपुरान्तक, अन्धकरिपु आदि अनेक नाम महादेवके कहे हैं। इसी प्रकार ब्रह्माके परमेष्ठी, आत्मभू, पितामह, स्वयंभू, वेधा, नाभेय आदि नाम हैं। सहस्रनाममें " श्रीमान् स्वयम्भूर्वृषभः शंभवः शमुरात्मभूः। नित्यो मृत्युंजयो मृत्युरमृतात्मामृतोद्भवः। युगादिपुरुषो ब्रह्मा पंचब्रह्ममयः शिवः " दुरितारिहरो हरः " त्रिनेत्रस्त्र्यम्बकस्त्र्यक्षः केवलज्ञानवीक्षण " त्रिपुरारित्रिलोचनः" सर्वक्लेशापहः साधुः सर्वदोषहरो हरः, शंकरः शंवदो दान्तो" "तीर्थकृत् केवलीशानः" " नाभेयो नाभिजो जातः " स्वयञ्ज्योतिरजोऽजन्मा, सर्वज्ञः सर्वदर्शनः " " सुगतिः सुश्रुतः सुश्रुक्, सुगतो हतदुर्नयः " सिद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा " " समन्तभद्रः शांतारिर्धर्माचार्यो दयानिधिः" सूक्ष्मदर्शी जितानंगः " " कृपालुर्धर्मदेशकः " इत्यादिक कतिपय अन्वर्थनामोंका निर्देश किया गया है। इनमेंसे अनेकोंका अर्थ सहस्रनामकी स्तुतिमें यों लिखा है कि " अनंतभवसंज्ञानजयादासीरनंतजित् " हे भगवन् तुम अनन्तको अर्थात् भव-संसारको जीतनेकी अपेक्षा "अनन्तजित्" है। छोटे छोटे शारी-

रिक बलधारी मनुष्य या देवता अथवा नौला, गरुड, मोरपक्षी भी सांपको जीत सकते हैं जीतना तो क्या मार भी देते हैं। किन्तु आप तो अनन्त हो रही संसारकी सन्तनका जय करनेसे अनन्तजित् हैं " त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदुर्धर्ष्यमतिदुर्ज्जयं, मृत्युराजं विजित्यासीज्जिन मृत्युंजयो भवान् " तीनों लोकके जीतनेसे जिस यमराजको खोटा अभिमान प्राप्त हो चुका है जो कि अतीव कठिनतासे जीतने योग्य है उस आयुष्यकर्मरूपी मृत्युराजको जीतकर हे जिन आप ही मृत्युंजय माने गये हैं। अर्थात्—यमराज नामका कोई एक देवता सबको मारनेवाला नहीं है। क्यों जी उसका मारनेवाला कौन है ? ब्रह्मा, विष्णु, महेशके वह अधीन है ? या उसके अधीन ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं ? सूर्यका पुत्र और यमुनाका भाई माने गये यमकी उत्पत्तिके प्रथम मृत्युयें कैसे होती थी ? धर्मराज, यमराजका क्या सम्बन्ध है ? क्या यमराजके पुत्र पुत्रियां अविनश्वर हैं ? या उनको मारनेवाला कोई दूसरा यमराज है ? इन संपूर्ण प्रश्नोंका पौराणिकोंकी ओरसे सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त नहीं होता है। अतः आयुष्य कर्मके जीतनेकी अपेक्षा श्री जिनेन्द्र देव ही मृत्युंजय हैं " त्रिपुरारिस्त्वमीशेशो जन्ममृत्यु जरान्तकृत् " जन्म, जरा, और मृत्यु इन तीन नगरोंका अन्त कर देनेसे तुम जिनेन्द्र देव ही " त्रिपुरारि " हो तुम ही ईश हो। त्रिकाल त्रिलोकवर्ती भिन्न भिन्न तत्त्वोंको युगपत् जाननेवाले केवलज्ञान नामक चक्षुको धार रहे तुम त्रिनेत्र हो। माथेमें तीसरे नेत्रका होना अलीक है। निर्माण कर्म शरीरमें दोही नेत्रोंको बनने देता है। विक्रियाशक्तिया विद्याबलसे भले ही दिखाऊ उत्तर आकार चाहे कैसे भी बनालो। ऐसे त्रिनेत्रपन या सहस्रनेत्रपनकी कोई विशेष प्रशंसा नहीं है " त्वामंधकांतकं प्राहुर्मोहांधासुरमर्दनात्, अर्द्धन्ते नारयो यस्मादर्द्धनारीश्वरोऽस्यतः " वस्तुतः स्वयं अन्धा होरहा और दूसरे सम्बधियोंको मदोन्मत्त होकर अन्धा कर रहा मोह नामके अन्धासुरका मर्दन कर देनेसे हे जिन भव्य जीव तुमको ही " अन्धकान्तक " कहते हैं। सर्वज्ञ होते हुये भी भविष्यमें देवोंके लिये दुःख प्राप्तिका नहीं ज्ञान रखने वाले वे ही पहिले किसीको अवध्य होनेका वरदान करें पुनः उसीको रथ बनाकर सारथी होकर बाण चलाकर वे ही उन त्रिपुरोंको मारें यह तथ्य वृत्तान्त नहीं प्रतीत होता है। तथा दिति माता किसीसे नहीं मारा जासके ऐसे पुत्रकी अभिलाषा करे और कश्यपके द्वारा पेट पर अंगुलियोंको फेरते रहने पर ऐसे पुत्रको उपजा देवे पुनः महादेव द्वारा उस अवध्य पुत्रका संहार किया जाय ऐसे कथानक प्रतीति की उच्च शिखरपर आरूढ होने योग्य नहीं है। अतः त्रिपुरारि और अन्धकासुर मर्दनका कथानक श्रीजिनेन्द्र देवमें जन्म, जरा, मृत्यु और मोह राक्षसका क्षय कर देनेसे सुप्रतीत होजाता है। आठ कर्मोंसे आधे चार घातिया कर्मस्वरूप प्रबल शत्रु जिन अर्हन्त देवके नहीं हैं। अतः अर्ध+न+अरि अर्धनारीश्वर अर्हन्त परमेष्ठी हैं। आधा पुरुषका और आधा स्त्रीका यों एक शरीर बन कर चिर जीवित रहे या बडी भारी महिमाको पावे यह समझमें नहीं आता है। इसी प्रकार मोक्षपदमें आध्यासीन होनेसे शिव और पाप शत्रुओंका हरण करनेसे हर, लोकमें सुख करनेसे शंकर आदिक नाम भी जिनदेवके सुघटित हो जाते हैं। " शिवः

शिवपदाध्यासाद्धरितारिद्धरो हरः, शंकरः कृतशंलोके संभवस्त्वं भवन्मखे वृषभोसि जगज्ज्येष्ठः पुरुः पुरुगुणोदयैः नाभेयो नाभिसंभूतेरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः " " जन्माभिषेकवामाय वामदेव नमोऽस्तु तें " " केवलज्ञानसंसिद्धावीशानाय नमोस्तु ते " "नमः परमविज्ञान" नमःपरमदृग्दृष्ट परमार्थाय तायिने" " नमः सुगतये तुभ्यं शोभनां गतिमीयुषे " इत्यादिक शिव, सुगत, ब्रह्माके पर्यायवाची नामोंसे यथार्थ महत्त्वोद्योतक सम्भवनीय घटित हो रहे अर्थ श्री जिनेन्द्रदेवमें स्थापन किये गये हैं इस कारण सम्पूर्ण बुद्धिमान् कर्त्ताओंकी अपेक्षा करके भी जगत्में अकृत्रिमपना साध दिया जाता है इस प्रकार हम जैनोंका सम्पूर्ण कथन युक्तिपूर्ण निर्दोष है। हमारे " दृष्टकृत्रिमविलक्षणतया ईक्षण हेतुमें किसी दोष की सम्भावना नहीं है।

न हीश्वरनारायणादयः स्याद्वादिनामप्रसिद्धा एव, नापि तत्कृतत्रिपुरदाहान्धकासुर-विध्वंसनादयो येन तद्विलक्षणं साधनमुपादीयमानं विरुद्धयेत। महेश्वरादेरखिलजगत्कारणस्यैव तेषामनभिमतत्वात् तादृशो महतो जगत्स्कन्धस्य सकलघटनाविशेषानाश्रयस्येश्वरापेक्षयापि कर्तृमत्त्वमसंभाव्यं सन्निवेशविशिष्टत्वादेः साधनस्य तत्प्रयोजकत्वायोगस्य समर्थनात्।

हम स्याद्वादियोंके यहां ईश्वर, नारायण, बलदेव, राक्षस, देव आदिक जीव अप्रसिद्ध नहीं है। और उन महादेव आदि करके किये जा चुके त्रिपुरका दाह, अन्धक असुरका विध्वंस, पार्वतीपरिणय, विद्यासाधन आदि या कोटिशिला उठाना, प्रतिनारायणका पराजय करना, अनेक व्यंतर देवोंका अधिपतित्व, अनेक लीलायें, लौकिक सुख भोगना आदिक भी हम जैनोंके यहां अप्रसिद्ध नहीं हैं जिससे कि उन त्रिपुरदाह आदि कृत्रिम कार्योंसे विलक्षणपने करके देख जाना हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो सके। अर्थात्—जगत्को अकृत्रिम सिद्ध करनेके लिये पूर्व अनुमानमें ग्रहण किया जा रहा हमारा दृष्टकृत्रिम विलक्षणतया ईक्षण हेतुविरुद्ध नहीं है। त्रिपुर तो क्या ऐसे भी इतिहासमें अवसर आ चुके हैं कि प्रचंड राजाओंने बीसों पुरोंका और उनमें रहनेवालोंका विध्वंस कर दिया गया है। क्रोधी मुनि अपने तैजस शरीर द्वारा सैकडों पुरोंका विनाश कर देता है। वीर निर्वाण सम्वत् २४५६ चौवससौ छप्पन या विक्रम सम्वत् १९८६ में राज्याधिकारियोंने करोडों टीडियोंका विध्वंस कर दिया था, ईसवीय सन् १९१४ से १९१९ तक हुये यूरपदेशके महायुद्धमें लाखों मनुष्योंका संक्षय हो चुका है। सन् १९१८ और १९१९ में भयंकर युद्धज्वर (इनफ्लूएञ्जा) के कारण भारतीय ६० लाख मनुष्यकाल कवलित हो गये थे। प्लेग, हैजा, में असंख्य मनुष्योंका विनाश हो जाता है। विकृत पुद्गल और क्रूर जीवोंके निमित्तसे घण्टों या मिनटोंमें करोडो, अरबों, खरबों, कीट, पतंग, मार दिये जाते हैं। इसी प्रकार तीर्थंकर महाराज असंख्य जीवोंका उपकार करते हैं। शुभतैजस पुतला द्वारा मुनि कोसों तक सुभिक्ष फैला देते हैं। कोटिशिला या कैलाशको नारायण अथवा रावणने उठा लिया यों जैन पुराणोंमें प्रसिद्ध है इत्यादिक अनेक कार्य किये जा सकते हैं। किन्तु ये सम्पूर्ण

उक्त कार्य उन घट, पट, आदि कार्योंसे विलक्षण नहीं हैं जिनको कि बनानेवाले कर्त्ता देखे जा रहे हैं। अतः हम जैन संभावना प्रयुक्त तुम पौराणिकोंके त्रिपुरध्वंस, आदि कार्योंको कथंचित् मान भी लेवें, निर्बाध विषयोंके स्वीकार कर लेनेमें कोई हानि नहीं है। बात यह है कि उन स्याद्वादियोंके यहां अखिल जगत्के कारण माने जा रहे महेश्वर, विधाता, ब्रह्माद्वैत आदिको ही अभीष्ट नहीं किया गया है दृष्टकर्तृक पदार्थोंमेंसे तिस प्रकार विलक्षण हो रहे असंख्य योजन लम्बे, चौडे, अति-महान्, और काठ, ईंट, आदिकी जुडाई करना, खम्भे बनाते हुये बारहद्वारी बनाकर शिखरकी रचना करना इत्यादिक ढंगसे सम्पूर्ण विशेष, विशेष, घटनाओंके आश्रय नहीं हो रहे जगत् स्वरूप स्कन्धका कर्त्तासहितपना तुम्हारे ईश्वरकी अपेक्षा करके भी असम्भव ही है। क्योंकि जगत् को ईश्वरकृत्यपना साधते हुये तुम वैशेषिकों द्वारा प्रयुक्त किये गये सन्निवेश विशिष्टत्व, अचेतनोपादानत्व आदिक हेतुओंको उस ईश्वरकृतत्व साध्यकी सिद्धिमें प्रयोजकपनका अयोग्य है इसका समर्थन हम जैन पूर्व प्रकरणोंमें कर चुके हैं। अर्थात्—तुम्हारे ईश्वर, नारायण, आदिको हम जैन स्वीकार करते हैं ये भव्य मनुष्य पूर्व कालोंमें अपने अपने माता पिताओंसे उत्पन्न होकर अधिक शक्तिशाली होचुके हैं। भीमावली आदि ग्यारह रुद्र हैं। " भीमावलि जिदसत्तू रुद्द विसालणयण सुप्प-दिट्ठ चला। तो पुंडरीय अजिवंर जिदणाभीय पीड सच्चइजो " ये ग्यारह रुद्रोंके नाम हैं॥ उसहदु-काले पढमदु सत्तण्णे सत्त सुविहिपहुदीसु, पीडो संति जिणिंदे वीरे सच्चइ सुदो जादो " भीमावलि और जित शत्रू ये दो रुद्र भी वृषभनाथ और श्री अजितनाथके कालमें हुये हैं और पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयोनाथ, वासुपुज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, और शान्तिनाथके कालमें क्रमशः रुद्र, विशा-लनयन, सुप्रतिष्ठ, पुण्डरीक, अजितंधर, जितनाभि, पीठ, ये रुद्र हैं और सत्यकिसुत श्री महावीरके कालमें हुये हैं तथा श्री त्रिलोकसारकी गाथानुसार " तिविट्ठदुविट्ठसयंभू पुरिसुत्तम पुरिससिंह पुरि-सादी, पुण्डरीय दत्त णारायण किण्हो अद्धचक्कहरा " इस अवसर्पिणीमें ये नौ नारायण हुये हैं और असग्गीओ तारय मेरमय णिसुंभकइउहंत महू। बलि पहरण रावणया खचरा भूचर जरासंधो " ये नौ प्रतिनारायण हुये हैं तथा " बलदेवा विजयाचलसुधम्मसुप्पहसुदंसणा णंदी, तो णंदिमित्त रामा पडमा उपरि तु पडिसत्तू " इस गाथा अनुसार नौ बलदेव हुये माने गये हैं और इस अवसर्पिणीके बियालीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटी सागर परिमित चतुर्थ कालमें " चक्की भरहो सगरो मघवसणक्कुमार-संतिकुंथुजिणा, अरजिण सुभोम महापण्डमा हरिसेण जय बम्भदत्तक्खा " ये बारह चक्रवर्ती हुये माने गये हैं इन महापुरुषोंके द्वारा किये जाचुके महान अतिशयित कार्य भी प्रसिद्ध हैं। व्यंतर, भवनवासी, आदि देव निकाय भी प्रमाणों द्वारा निर्णीत हैं किन्तु अनादि निधन जगत्की रचना ऐसी विलक्षण है जो कि किसी एक बुद्धिमान् द्वारा कथमपि कर्तव्य कोटिमें नहीं आसकती हैं। अतः हमारे साध्यके साथ व्याप्तिको अक्षुण्ण धारे रहना रूप समर्थनसे युक्त होरहा हेतु अपने नियत साध्यका प्रयोजक है। अतः जगत् अकृत्रिम ही सिद्ध हुआ।

एतेन समुद्राकरसंभूतमणिमुक्ताफलादिदृष्टान्तस्य साध्यधर्मविकलत्वं साधनधर्मविकलत्वं च निराकृतं, तत्रापि सकलकृत्रिमविलक्षणतयेक्षणस्य महेश्वरकृतत्वासंभवस्य च कृतनिश्चयत्वात् । तदेवं निखिलबाधकरहितात् प्रवचनादनुमानाच्चाकृत्रिमलोकव्यवस्थानान्नैकबुद्धिमत्कारणो लोकः शंकनीयः कालादिवत् ।

हम जैनोंके समर्थनपूर्वक इस उक्त कथनकरके समुद्र या खानोंसे उत्पन्न हुये अकृत्रिम (असली) मोती, प्रवाल, जम्छाल, मणि, सोना, चांदी, हिंगुल, हरिताल, अभ्रक, ताम्र, वैडूर्य, गेरू, पीली-मिट्टी, कंकण, पत्थर, आदिक दृष्टान्तकी साध्यधर्मसे विकलता और साधनधर्मसे रहिततका निराकरण किया जा चुका समझ लेना चाहिये। क्योंकि उन मणि मुक्ताफल आदिमें भी जीवोंके बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ द्वारा किये गये सम्पूर्ण कृत्रिम पदार्थोंसे विलक्षणपने करके दीख जाना स्वरूप हेतु और महेश्वर करके किये गयेपनके असम्भव स्वरूप साध्यका भले प्रकार निश्चय कर लिया गया है । अर्थात्—किसी रचनाको अगर् (पक्ष) किसी भी ईश्वर, ब्रह्म, ब्रह्मा, महादेव या महेश, अल्लाह, आदि बुद्धिमान् आत्मा करके स्वकीय पूर्ण ज्ञान या संभव, असंभव, चाहे जिस किसी भी कार्य करनेकी इच्छा अथवा कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्तिरूप पुरुषार्थ द्वारा किया गया नहीं है (साध्य), कृत्रिमरूपसे देखे जा चुके कूट आदिसे विलक्षणपने करके दीखना होनेसे (हेतु) समुद्र या खान अथवा वन्य वृक्षोंसे सर्माचीन, अनिर्वचनीय अदृष्ट, जीव, पुद्गल, आदि कारणोंकरके उपजे मणि, मोती, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार हम जैनोंद्वारा कहे गये अनुमानके दृष्टान्तमें साध्य और हेतु भले प्रकार घटित हो रहे हैं । तिस कारण इस प्रकार सम्पूर्ण बाधकोंसे रहित हो रहे आगमप्रमाण और अनुमान प्रमाणसे इस लोकके अकृत्रिमपनकी व्यवस्था हो रही है । अतः किसी एक बुद्धिमान् आत्माको कारण मानकर यह लोक उत्पन्न हुआ है इस प्रकारकी शंका कथमपि नहीं करनी चाहिये, जैसे कि काल, आकाश, स्वयं ईश्वर, आदिक पदार्थोंमें जैसे कृत्रिमपनका संदेह अणुमात्र भी नहीं किया जाता है ।

ततो मध्यलोकस्य निवेशः कथितः । द्वीपसमुद्रपर्वतक्षेत्रसरित्प्रभृतिविशेषः सम्यक् सकलनैगमादिनयमयेन ज्योतिषा प्रवचनमूलसूत्रैर्जन्यमानेन कथमपि भावयद्भिः सद्भिः स्वयं पूर्वापरशास्त्रार्थपर्यायलोचनेन प्रवचनपदार्थविदुपासनेन चाभियोगाविशेषविशेषेण वा प्रपंचेन परिवेद्यो अधोलोकसन्निवेशविशेषवादित्युपसंहरन्नाह ।

तिस कारणसे उक्त प्रकार श्री उमास्वामी महाराजने यहांतक मध्यलोकके अनादिनिधन सन्निवेशका निरूपण कर दिया है । जम्बूद्वीप, धातकीद्वीप, पुष्करद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र, कालोदधि, पुष्करवर आदि समुद्र तथा हिमवान्, महाहिमवान्, आदि पर्वत एवं भरत, हैमवत आदि क्षेत्र किं च गंगा, सिन्धु, आदि नदियां एवं च पद्म आदि सरोवर तथैव भोगभूमि, कर्मभूमि, आदिकोंकी

अन्य भी विशेष विशेष रचनाओंको भले प्रकार चारों ओरसे समझ लेना चाहिये। नैगम, संग्रह, व्यवहार, द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, आदि नयोंसे तन्मय होरहे तथा सर्वज्ञप्रतिपादित और गणधर ग्रन्थित द्वादशांग प्रवचनको मूल मानकर उत्पन्न हुये श्रीउमास्वामिकृत सूत्रों करके उपज रहे ज्ञानप्रकाश करके द्वीप आदिकी विशेषताओंको समझ लेना चाहिये, एक विषयको सुनकर उसके सम्बन्धी अनेक विषयोंकी भावना करने वाले सूक्ष्मबुद्धि सज्जनों करके स्वयं शास्त्रके अर्थोंकी पूर्वापर पर्यालोचना द्वारा द्वीप आदिकी विशेष रचनाओंका परिज्ञान कर लेना चाहिये एवम् सर्वज्ञोक्त शास्त्रों या प्रकृष्ट वक्ताओंके वचनके द्वारा निर्णीत किये गये पदार्थोंका परिज्ञान करनेवाले प्रकाण्ड विद्वानोंकी उपासना करके भी विस्तारसे ही द्वीप आदिकोंकी विशेषतायें जानी जासकती हैं। अभियोगोंको अन्तररहितपनकी विशेषताओं करके मध्य लोककी रचना विशेषोंको जैसे हो तैसे किसी भी प्रकार (उपाय) से समझ लेना योग्य है। जैसे कि अधोलोककी विशेष रचनाओंका विस्तारके साथ समझ लेना आवश्यक है। भावार्थ—श्री उमास्वामी महाराजने तृतीयाध्यायमें पहिले छह सूत्रों द्वारा अधोलोकका संक्षिप्त वर्णन लिखा है। किन्तु इन मूलसूत्रोंके अनुसार अथवा सर्वज्ञोक्त सम्प्रदाय अनुसार प्रसिद्ध हो रहे अन्य ग्रन्थोंके परिज्ञान करके अधोलोककी रचनाओंका विस्तृत वर्णन समझ लिया जाता है। उसी प्रकार सिद्धान्तग्रन्थोंकी भावनाको धारनेवाले व्युत्पत्तिशाली सज्जनों करके प्रमाणनयात्मक प्रकाश करके मध्यलोक सम्बन्धी विशेष विशेष रचनाओंका विज्ञान कर लेना चाहिये यद्यपि संक्षेपरूपसे उक्त सूत्रोंमें ही अधोलोक और मध्यलोकका सम्पूर्ण निरूपण हो चुका है। फिर भी विशेष ज्ञप्ति करनेके लिये अन्य आप्तोपज्ञ शास्त्रोंके प्रमेयोंकी भावना करनेवाले सज्जनों करके अपनी प्रमाणनयात्मक ज्ञान ज्योति करके गजदंत, यमकाद्रि, जम्बूवृक्ष, स्वयम्भूरमण द्वीप, मध्यलोकके चारों कोन आदिका विचार कर लेना आवश्यक है। प्रवचन और प्रवचनके ज्ञाता पुरुषोंकी परिचर्यासे अनेक अतीन्द्रिय अर्थोंका निश्चय कर लिया जाता है। इतना लक्ष्य रक्खा जाय कि कोई अन्यवादी कुचोद्य या कुयुक्तियों द्वारा हम जैनोंके ऊपर अभियोग नहीं लगा सके। सिद्धान्तशास्त्रोंके पूर्वापर विचार और प्रकृष्ट विद्वानोंकी सत्संगतिसे उक्त कार्य सुलभसाध्य हो जाता है। किसी लम्बे चौडे महलको बनानेके लिये पहिले छोटा चित्र बना लिया जाता है। विचक्षण गृहपति उतने ही इंगितसे प्रासादके पूरे प्रमेयको हृदयंगत कर लेता है। आप्तोपज्ञ शास्त्रों द्वारा उत्थित हुई ज्ञानज्योति तो विशेष रूप करके ततोऽपि अधिक परिज्ञप्ति करा सकती है। त्रिलोकसार, त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थोंका परिशीलन करनेसे मध्यलोकके अतीव सुन्दर मनोहारी दृश्य मानो सज्जनोंके सन्मुख ही उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार इस संक्षिप्त वक्तव्यका उपसंहार कर रहे श्री विद्यानन्दस्वामी मालिनी छन्दः द्वारा अग्रिम वार्तिकको कहते हैं।

इति कथितविशेषो मध्यलोकस्य सम्यक्।
सकलनयमयेन ज्योतिषा सन्निवेशः।

प्रवचनभवसूत्रैर्जन्यमानेन सद्भिः ।
कथमपि परिवेद्यो भावयद्भिः प्रपंचात् ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराजने मध्यलोकके कतिपय विशेषस्थलोंका सामान्य रूपसे तृतीयाध्यायके चौंतीस सूत्रोंमें समीचीन वर्णन कर दिया है । सर्वज्ञ प्रतिपादित द्वादशांग मूलक शास्त्रों या प्रकृष्ट वक्ताओंसे उत्पन्न हुये सूत्रों करके उपज रहे सम्पूर्ण नयतन्मय ज्ञानज्योतिर्द्वारा भावना-शक्तिको धारनेवाले सज्जन पुरुषों करके किसी भी समुचित उपायोंके अनुसार मध्यलोकके सन्निवेशका विस्तारसे परिज्ञान कर लेना चाहिये । सूत्रोंमें इतना ही कथन करना पर्याप्त है ।

इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् ।

इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराजकृत तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथके तीसरे अध्यायका
श्री विद्यानन्दस्वामीकृत प्रकरणोंका समुदायस्वरूप
दूसरा आन्हिक यहांतक समाप्त हुआ ।

अधोलोकश्चित्रो नरकगणना नारकजनस्तथा लोको मध्यो बहुविधविशेषो नरगणः ।
तदायुर्भेदश्च प्रतिनियतकालो निगदितस्तिरश्चामध्याये स्थितिरपि तृतीयेत्र मुनिना ॥ १ ॥

इस तीसरे अध्यायमें श्री उमास्वामी महाराजने प्रथमसूत्रकरके चित्र, विचित्र प्रकारका अधोलोक कहा है, रत्नप्रभा आदि सात भूमियां वातवलयोंपर और वातवलय तो आकाशके आश्रयपर अवलंबित हैं । यों सुमेरु पर्वतके नीचे सात राजूतक अकृत्रिम अधोलोकका सुन्दर आश्चर्यकारक विचित्र सन्निवेश है । दूसरे सूत्रमें चौरासी लाख नरकोंकी गणना की गई है तथा अग्रिम तीसरे, चौथे, पांचवें, छठे, सूत्रोंमें नारकी जीवोंकी दुर्व्यवस्था और उनकी आयुओंका निरूपण किया गया है । इसके आगे सातवें आदि सूत्रोंमें मध्यलोकका वर्णन है, वहां द्वीप, क्षेत्र, पर्वत, ह्रद, कमल, नदियां, आदिका वर्णन करते हुये सूत्रकारने ढाई द्वीपमें रहनेवाले भोगभूमियां, कर्मभूमियां, आर्य, म्लेच्छ, आदि बहुत प्रकारोंकरके मनुष्योंके समुदायका विशेष कहा है तथा उन मनुष्योंकी आयुके विशेष भेद भी कह दिये हैं, जो कि जघन्य, उत्कृष्ट, आयुके भेद श्वासके अठारहवें भाग, जघन्यदशासे लेकर कोटि पूर्व वर्षतक कर्मभूमिमें और एक समय अधिक कोटि पूर्व वर्षसे प्रारम्भकर तीन पल्यतक भोगभूमियोंमें प्रत्येक नियतकालको धारनेवाले हैं । अन्तमें तिर्यञ्च जीवोंकी जघन्य, उत्कृष्ट, स्थितिका भी सूत्रकार मुनि महाराजने लगे हाथ प्रतिपादन कर दिया है ।

इति श्रीविद्यानन्दि आचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार **श्री विद्यानन्द आचार्य** करके विशेषरूपेण रचना किये गये
तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थमें यहांतक
तीसरा अध्याय परिपूर्ण हुआ ।

तृतीयाध्यायकी विषयसूची।

इस तीसरे अध्यायमें श्री विद्यानन्द स्वामी करके व्याख्या किये गये प्रकरणोंकी सूची इस प्रकार है कि प्रथम ही जीवोंके निवास स्थानोंकी जिज्ञासा होनेपर कहे गये " रत्नशर्करा " आदि सूत्रकी उपपत्ति की गयी है । आगमप्रमाणसे समझायीं गयीं भूमियें और वातवलय तथा आकाशके आश्रयपनको युक्तियोंसे सिद्ध किया है । पौराणिकोंके यहां माने गये कछवा, शेषनाग आदिको भूमिका आधारपना नहीं सम्भवता है । पश्चात् भूमिका गोल आकार माननेवाले कतिपय प्राचीन पण्डित और आधुनिक अनेक यूरूपीय पण्डितोंके मतानुसार भूमिके ऊपर नीचे भ्रमणका अनुवाद कर पुनः भूभ्रमणवादका ऊहापोहपूर्वक खण्डन किया है । कचित्, कदाचित्, भूमिका अत्यल्प कम्प हो जानेसे चित्तमें बडा भारी उद्वेग (घबडाहट) व्याकुलतायें उपज जाती हैं, रेंहटक झूला या गोल झूलापर झूलनेवालोंके हृदयमें भारी आघात पहुंचता है, तो फिर भूमिका वेगयुक्त भ्रमण माननेपर इन शरीरधारी जीवोंकी कितनी दुर्दशा होगी ? इसका अनुमान सहजमें लगाया जा सकता है । सांपको उल्टा लटका देनेसे उसका निकृष्ट संहनन थोडी देरमें स्खलित होकर सर्प मृतप्राय हो जाता है । इसी प्रकार भूमिके ऊपर नीचे लटक रहे ये टूटे चरखा सरीखे शरीरको धारनेवाले प्राणियोंकी घुमा देनेपर मुरमुरी गजक, के समान दुर्व्यवस्था हो जायगी । भूमिकी आकर्षण शक्ति इस विपत्तिकी रक्षा नहीं कर सकती है । पचास मनकी मट्टीके ढेलको यदि आकाशमें लटका दिया जाय और उस ढेलपर नीचेकी ओर एक बालक या एक कटोरा जलको धारण कर दिया जाय तो वह झट नीचे गिर पडेगा क्या ? पचास मन मट्टीका ढेल उस सेरभर पानीको या पांच सेरके बालकको अपनी आकर्षण शक्ति द्वारा नीचेकी ओरसे खेंच नहीं सकता था ? यदि तुम यों कहो कि महती भूमिकी आकर्षणशक्ति अत्यधिक है । अतः दिनमें सूर्यप्रकाशसे अभिभूत हुये ताराओंके समान उस छोटेसे मृत्तिका पिण्डकी शक्ति दब जाती है । बडी भूमि अपनी ओर बालक या जलको खींच लेती है इस पर हम जैनोंका यह कहना है कि पृथिवीमें आकर्षण शक्ति मध्य केन्द्रमें है ? या सर्वत्र खण्ड खण्डोंमें यथायोग्य बांटके अनुसार थोडी थोडी फैल रही है ? इन दोनों पक्षोंके अनुसार तुम्हारा उक्त सिद्धान्त रक्षित नहीं रह सकता है । क्योंकि मट्टीको खोदकर एक ओर ऊंची और दूसरी ओर नीची ढलाऊ स्थानमें जमा देने पर ऊपर उभरी भूमि पर रक्खी हुई गेंद नीचे नहीं लुढकनी चाहिये तथा खण्ड, खण्ड, शक्ति मानने पर पचास मनका ठोस गोला नीचली पोली हलकी भूमिकी बांटमें आयी हुई थोडी शक्तिसे कहीं बढ कर है । गोल भूमि पर लम्बा, चौडा, समुद्र जल या नदीजल नियत विधीसे नहीं ठहर सकता है । प्रेरक वायुओंका परस्परमें प्रतिघात होजायगा । देखो, गुरु पदार्थ अधःपतनशील होते हैं । भूमिमें आकर्षण शक्ति है । जलभाग बीचमें कुछ उभरा रहता है । इन सिद्धान्तोंका हम खण्डन नहीं करते हैं । किन्तु नियत भ्रमण कराने के कार-

णोंका अभाव होनेसे और प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाणों करके विरोध होजानेसे इस अचला भूमिका भ्रमण कथमपि नहीं होपाता है। यूरोपीय विद्वानोंने कोई चेतन कर्त्ता भूमिका भ्रमण करानेवाला भी अभीष्ट नहीं किया है। जैसे कि जैनोंने सूर्य, चन्द्रमा, आदिके विमानोंको भ्रमानेवाले अभियोग्य जातिके देव माने हैं। अतः इस भूमिका ऊपर नीचे भ्रमण या पूर्व पश्चिम भ्रमण कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता है। इससे आगे भूमिका अधःपतन माननेवाले मतान्तरोंको दिखला कर श्री विद्यानन्द आचार्यने युक्तियों द्वारा उनका निराकरण कर दिया है। इसी प्रकार भूमिका ऊर्ध्वगमन या सूर्यकी ओर निकट, निकट गमन अथवा तारतम्य मुद्रासे सूर्यके दूर दूर हो रहे भ्रमणका निराकरण भी हो जाता है। अनादि कालसे सूर्य, भूमि आदि सुव्यवस्थित हैं। अन्यथा न जाने कितने समय पूर्व ही इनकी दुर्दशा हो गयी होती। अतः उक्त कल्पनायें सब निराधार हैं। अस्मदादि मनुष्य या जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र आदि असंख्य द्वीप समुद्रोंकी आधारभूत ये रत्नप्रभा या शर्कराप्रभा आदि भूमियां अनन्त योजनोंतक फैली हुयी नहीं हैं। और अन्य अन्य अनेक भूमियोंके आधारपर डटी हुई भी नहीं हैं। किन्तु प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा ठीक ठीक नापे जा रहे किसी मध्यम असंख्यातासंख्यात नामकी संख्यावाले योजनों करके लम्बी चौडी नाप ली गयी हैं। सात पृथिवियोंके मध्यवर्ती छह अन्तरालोंमें असंख्यात योजनोंका अन्तर है। अतः ये स्थूल भूमियां निश्चयनयसे स्वाश्रित और व्यवहार दृष्टिसे वातवलयके आश्रित समझा दी गयीं हैं। उस उस जातिके पापकी विचित्रतासे उन उन भूमियोंमें कर्मवश जीवोंका गमन होते रहना बताया है। उन सात भूमियोंके कतिपय भागोंमें निवास करनेवाले नारकी जीवोंकी उपार्जित कर्म अनुसार अपनी अपनी आयुःपर्यन्त स्थितिको कह कर नारकियोंकी अशुभ लेश्या आदिक परिणतियोंको युक्तियों द्वारा साधा है। रौद्रध्यानसे नरकोंमें उत्पत्ति होनेके कारण मैढा, तीतर, कुत्ता आदिके समान परस्पर लड भिड कर दुःख भुगतना साधा गया है असुर कुमारों द्वारा दुःख देनेके हेतुको समझा कर उन नरकोंमें जीवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको अनुमान द्वारा प्रसिद्ध किया है। उसके पश्चात् मध्यलोकका वर्णन करते हुये और सूत्रोक्त पदोंकी सफलताको पुष्ट करते हुये श्री विद्यानन्द स्वामीने जम्बूद्वीप आदिपदसे बहुव्रीहि वृत्ति द्वारा निकाल दिये जा रहे जम्बूद्वीपको बडे अच्छे ढंगसे बाल बाल बचा लिया है। मेरु और इसके इधर, उधर, भरत आदि क्षेत्रोंके प्रतिपादक सूत्रोंका व्याख्यान कर वृत्तवेदाढ्योंकी रचना बता दी है। भरत आदि सात ही क्षेत्रोंका अवधारण करते हुये आचार्य महाराजने अन्य मतियोंकी कल्पित क्षेत्र संख्याओंका प्रत्याख्यान कर दिया है। दुग्धमें घृतके समान जगत्में सर्वत्र स्याद्वाद सिद्धान्त ओतपोत होकर प्रविष्ट हो रहा है। उन क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले पर्वतोंकी उपपत्ति, परिणाम, पार्श्वरचना, विस्तार आदिका व्याख्यान कर अगले ह्रद और पुष्करोंके प्रतिपादक सूत्रोंका विवरण तथा कमलनिवासिनी देवियोंके सूचक सूत्रका अर्थ समझा दिया है। नदियोंके प्रतिपादक सूत्रका पदकृत्य कर गंगा आदिक

नादियोंका कुछ विवरण दिखाया है । महागंगा, महासिन्धु आदि नदियोंके चार कोशवाले छोटे योजनोंसे हजारों योजनोंके विस्तार, लम्बाई, गहराईयों, को दृष्टान्त पुरस्सर साध दिया है । भरत आदि क्षेत्रोंकी व्यवस्थाके प्रतिपादक सूत्रोंकी अनतिविस्तारसे टीका कर दी है । भूमियोंकी अवस्थिति बतानेवाले सूत्रमें भूमिशब्दके ग्रहणसे स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंकी भूमियां उतने ही आकाशमें ऊंची नीची लम्बी चौडी होकर घटती बढती रहती है । उनमें रहनेवाले मनुष्य आदिके अनुभव, आयुः, आदिका घटना बढना तो प्रसिद्ध ही है । हां, भोगभूमियोंमें या नरक, स्वर्गों, में उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालोंका परिभ्रमण नहीं है । पश्चात् ढाईद्वीप सम्बन्धी भोगभूमियां, जीवोंकी आयुका बखान कर विदेहस्थ जीवोंकी आयुको दिन, मास, वर्ष, आदि द्वारा गणनाका विषय बताते हुये श्री आचार्य महाराजने जम्बूद्वीपके भरतकी आकाश सम्बन्धी नापको समझाया है । धातकी खण्डका व्याख्यान करनेके प्रथम लवण समुद्र और उसमें विराज रहे पाताल, गौतमद्वीप, का विशेष निरूपण कर दिया है । व्याख्यान कर्त्ताओंके उत्सूत्रवादीपन दोषका निराकरण कर धातकी खण्डके भरतक्षेत्रके अभ्यन्तर मध्यम और बाह्यविष्कम्भ योजनों द्वारा गिना (नपा) दिये गये हैं । इष्वाकार पर्वतोंके विवरणको भी छोडा नहीं है । इसके अनन्तर पुष्करार्ध द्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके अभ्यन्तर, मध्य, बाह्य, विष्कम्भोंको गणितशास्त्र अनुसार निकालकर वर्षधर और मानुषोत्तर शैलकी मनोहर रचनाको दिखा दिया गया है । यहां भी दोनों इष्वाकार पर्वतोंको संक्षेपसे कहते हुये गुरुवर्यने विस्तृत प्रतिपत्ति करनेवालोंको विद्यानन्द महोदय ग्रन्थके अध्ययनकी ओर झुकाया है । आर्य, म्लेच्छ, मनुष्योंके भेद प्रभेदोंकी व्यवस्थाको अनुमान मुद्रासे साध कर क्षेत्र आर्य आदिकोंके सकारणपनको सुझाते हुये आचार्य महाराजने अन्तर्द्वीपज म्लेच्छोंकी आयु, शरीर उत्सेध, प्रवृत्तियोंका निरूपण कर दिया है । कर्मभूमि सम्बन्धी आठ सौ पचास म्लेच्छ खण्डोंके सम्पूर्ण मनुष्य और ढाई द्वीपसम्बन्धी एक सौ सत्तर आर्य खण्डोंके कतिपय चाण्डाल, कसाई, आदि जीवोंको म्लेच्छाचारोंकी पालना करनेसे बहुत प्रकारके म्लेच्छोंकी व्यवस्था करा दी है । संतान परम्परासे चली आयी सम्प्रदाय अनुसार यह आर्यव्यवस्था या म्लेच्छव्यवस्था विचारशील व्यवहारियोंके यहां प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम प्रमाणोंसे निश्चित है । कुल, गोत्र, वर्ण, जाति, व्यवस्थाओंमें रहस्य अवश्य है । घोडे, कुत्ते, बन्दर, गेंहू, चना, नारंगी, आम, लुकाट, गुलाबका फूल आदिक पशु, अन्न, फल, पुष्प इनकी सन्तान अनुसार भिन्न भिन्न जाति या कुलकोटी अनुसार संतति (नस्ल) में महान् अन्तर पड जाता है । इसी प्रकार नास्तिकोंकी संतान या आर्य, म्लेच्छ, पुरुषोंकी संतान भी पारिणामिक रहस्यसे रीती नहीं है । कुलीनता, अकुलीनता, छिपी नहीं रहती है । बात इतनी ही है कि जो जिस विषयका भोगनेवाला है, वह उस विषयके सूक्ष्मरहस्योंका सुलभतया परिज्ञान कर लेता है । मन्दज्ञानी अन्य पुरुष उपेक्षा धारण करते हुये उस गूढ विषयतक नहीं पहुंच पाते हैं । चिर अभ्यस्त शृङ्गारी पुरुष अतिशीघ्र ही

स्त्रियोंके सौन्दर्यको निरख लेता है । ब्रह्मचारी उदासीन पुरुष अथवा योगी या पशु उस युवती सुन्दर स्त्रीके लीला, स्मित, विलास, सुन्दरता, आदिको नहीं जान पाता है । मोटे, पतले, बडे, नाटे पुरुषोंमेंसे सुदृढ शरीरसंगठनावाले पुरुषकी परीक्षा जितना शीघ्र एक कुशल मल्ल कर लेता है, उतना प्रविष्ट होकर कोई दूसरा मुनि या शास्त्रीय परीक्षामें उत्तीर्ण विद्वान् अथवा बालक, पशु, जौंहरी, कथंचित् नहीं कर सकता है । खरीदनेवाले या नहीं खरीदने वाले पुरुषों और भोली बुद्धि, चंचल बुद्धिवाले ग्राहकोंकी परीक्षाको पुराना दुकानदार जितना प्रविष्ट होकर कर लेता है उतना विशद रूपसे कोई नवीन दुकानदार नहीं कर पाता है। बढिया चोर या गठकटा जितना शीघ्र दूसरोंके छिपे हुये धनको भांप लेते हैं, स्वयं घरवालोंको घंटोंतक ढूंढने पर भी जब कि वह धन नहीं मिलता है, उस प्रकार कोई क्षुल्लक या राजा, महाराजा नहीं ताड सकते हैं । समीचीन न्यायकर्त्ता अनुभवी जज बडी सुलभतासे मायाचारी, असत्यवक्ता, अभियुक्तों (मुलाजिमों) के वास्तविक अपराधोंको समझकर निग्रह या अनुग्रह कर देता है इस न्यायशासनको कोई प्रतिष्ठाचार्य या पुरोहितजी महाराज कथमपि नहीं साध सकते हैं । खुफिया पुलिसके प्रवर्तनको घसखोदा गवार नहीं समझ सकता है । वीणाकी हृदयतलस्पर्शी झंकारके तत्त्वको भैंस विचारी क्या जाने ? देशभक्त महामना स्वार्थत्यागी पुरुषोंकी समीचीन भावनाओंकी ओर स्वदेशके साथ प्रीति नहीं रखनेवाले विनोदी पुरुषोंका लक्ष्य नहीं जाता है । स्वर्ण रत्नमय भूषणोंकी भी अवज्ञा कर देनेवाली राजमहिषीके परितृप्त हार्दिक भावोंके अन्तस्तलपर विचारी गोंगची, कौडियों या पीतल, कासोंके बने हुये गहनोंको बडे चावसे पहन रही ग्रामीण स्त्री नहीं पहुंच सकती है । कुटुम्ब, परिवार, धन, महल, राजविभूति आदिका परित्यागकर तपस्या कर रहे मुनिमहाराजकी परिणतिओंका परिज्ञान दीन, हीन, भिखारीको नहीं हो पाता है । प्रकरणमें यह कहना है कि लुहार, सुनार, दुकानदार, पण्डित, साधु, व्यभिचारी, चोर, डाकू, कुटिला स्त्री, राजा, किसान, वैज्ञानिक, मल्ल, बाजीगर, माली, आदि सभी जीवोंके कार्योंमें बडे बडे रहस्य छिपे हुये हैं । जड पदार्थों या चेतनपदार्थोंकी परिणतियां अनेक सूक्ष्म, अति सूक्ष्म, अतिशयको धार रही हैं । जो जीव जिसका जितना अभिलाषी या अभ्यासी अथवा व्यसनी है, उसमें उतना प्रविष्ट होकर परिज्ञान कर सकता है, सम्पूर्ण पदार्थोंमें अनन्तधर्म हैं । जड या चेतनोंकी सम्पूर्ण स्थूलसूक्ष्मपरिणतियोंको मन्द क्षयोपशमधारी जीव नहीं समझ पाता है । कुल सम्प्रदायसे चले आये सदाचार, असदाचारों, का प्रभाव संतान, प्रतिसंतानों, की आत्माओं पर अवश्य पडता है । पूर्वजन्ममें जिन आत्माओंने उस उस जातिके कर्मोंका उपार्जन किया है वे जीव उन उन आर्य या म्लेच्छ पुरुषोंमें जन्म धार रहे हैं । मध्यमें भी किसी सन्तानी व्यक्तिके आचारोंसे परिणतियें विलक्षण हो जाती हैं । कुल, देश, जाति, क्षेत्र, काल, भाव, की परिस्थितियोंके अनुसार आत्माओंकी बडी बडी विशेष परिणतियां हो जाती हैं । झरोखेके छेदमेंसे सूर्य किरणोंके पडनेपर जो रज उडती फिरती दीखती है उसका एक कण भी शरीरके ऊपर बोझ

डालता है, भले ही उस बोझके दबावको स्थूल बुद्धिवाला पुरुष नहीं समझ पावे, इसमें विचारी सूक्ष्म परिणति क्या चिकित्सा करे ? यह बात किसी विचारशाली विद्वान्से छिपी नहीं है। मुखमें खाद्य पदार्थके धर लेनेपर और चलानेपर चारों ओरसे लारके फुव्वारोंकी बौछार होती है। रीते क्रियारहित मुखमें उतनी लार नहीं टपक पाती है। हंसते, खेलते, हुये बालकको गोदमें लेकर वत्सल माता पिताके जो परिणाम हैं उनका अनुभव मुनि महाराज या वन्ध्य पुरुष अथवा वन्ध्या स्त्रीको नहीं हो पाता है। अतः आर्यपन या म्लेच्छपनका किसीको अनुभव नहीं होय यह उसके क्षयोपशमका दोष है। मनुष्योंमें तो वस्तुभूत आर्यत्व या म्लेच्छत्व व्यवस्थित हो ही रहा है। प्राचीन मार्गसे चली आ रहीं सम्प्रदायोंके प्रामाण्यका निर्णय भी कष्टसाध्य भले ही होय किन्तु असम्भव नहीं है। अनेक संप्रदायोंका निर्णय करना तो बुद्धिपर थोडा बल देनेपर सहजसाध्य हो जाता है। सांख्योंके प्रकृति तत्त्व या वेदान्तियोंके अद्वैतवाद आदिकी कल्पनायें भी नयविवक्षा अनुसार किसी वस्तुभित्तिपर अवलंबित हैं, निष्कारण नहीं हैं। क्वचित् प्रसिद्ध हो रहे धर्मका ही अन्यत्र आरोप किया जा सकता है। अतः गुणोंको कारण मान कर हुये आर्यपन और दोषोंको कारण मान कर हुये म्लेच्छपनकी व्यवस्थाको श्री विद्यानन्द आचार्यने भले प्रकार दर्शा दिया है। वैशेषिकोंकी मानी हुई नित्य, व्यापक, अमूर्त होरही ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व आदि जातियोंका युक्तियोंसे खण्डन किया है। वस्तुतः ऊर्ध्वतासामान्य या तिर्यक्सामान्यको जाति पदार्थ माननेमें महती शोभा है। अनेकान्तवाद तो सर्वत्र फैल रही है। इसके आगे भरत आदि क्षेत्रोंमें कर्मभूमि, भोगभूमिका विवेक करते हुये मनुष्य और तिर्यंचोंकी जघन्य, उत्कृष्ट आयुके प्रतिपादक सूत्रोंका अनतिविस्तारसे विवरण किया है। असंख्याते द्वीप समुद्रोंमेंसे मध्यके ढाई द्वीपोंका ही और जीवतत्त्वका वर्णन करते करते बीचमें द्वीपसमुद्रोंका निरूपण क्यों किया ? इन आशंकाओंका प्रत्याख्यान कर उन द्वीपसमुद्रोंमें मनुष्योंके उत्पादक अभ्यन्तर, बहिरंग कारणोंका विचार किया गया है। जीवोंके आधारस्थानोंको समझानेके लिये अधोलोक, मध्यलोक, का निरूपण करना अत्यावश्यक है। इसके अनन्तर प्रकरण अनुसार श्री विद्यानन्द आचार्यने बडी विद्वत्ताके साथ सृष्टिकर्तृवादका निराकरण किया है। अन्य ग्रन्थोंमें नहीं देखनेमें आयीं ऐसी बहुतसी युक्तियों करके पौराणिक, वैशेषिक, नैयायिकोंको झकझोर डाला है। श्री विद्यानन्द आचार्य जिस विषयको पकड लेते हैं, उसको परिपूर्ण करके ही छोडते हैं। तृतीय अध्यायके चालीस सूत्रोंके पूरे विवरणसे ग्रन्थ अपेक्षा कुछ ही थोडा और गम्भीर अर्थ अपेक्षा बहुत बडा कर्तृखण्डनका प्रकरण इस छोटेसे " तिर्यग्योनिजानां च " सूत्रके नीचे उसी प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यने जोड दिया है, जैसे राजवार्तिकमें " लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् " सूत्रके विवरणमें अनेकान्तवादको हिलगा दिया है। गजघण्टको बलीवर्दपर लगा देनेसे भी एक विनोदपूर्ण शोभा हो जाती है। स्वतन्त्र उद्भट टीकाकारोंके विषयमें हम सारिखे मन्दबुद्धि पुरुषोंको समालोचना करनेका कोई अधिकार नहीं है। केवल गुरुभक्तिवश आचार्योंकी स्तुति करते हुये मुखसे ये शब्द निकल पडते हैं।

कि जहां कहीं जब किसी विषयके प्रतिपादन करनेकी विवक्षा भगवान् श्री विद्यानन्द आचार्यके उपज बैठती है, निराकरणीय उस सदोष विषयका तभी वहां खण्डन कर मटियामेट कर देते हैं, और मण्डनीय निर्दोष प्रमेयको उन्नतिके शिखरपर विराजमान कर देते हैं। ऐसी प्रतिभातत्परता प्रशंसनीय, प्रभावनीय या आदरणीय ही नहीं किन्तु पूजनीय भी है। इसके विना स्वमताग्रही, एकान्तवादी पण्डितोंके अभिमानका निराकरण और अनेकात्मक वस्तुके गूढ गर्भस्थित अतिशयोंका प्रकाश नहीं हो पाता है। ईश्वरके कर्तृवादका प्रत्याख्यान करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्यने वैशेषिकोंके हेतुओंका मुंह फेर दिया है। ईश्वरको सशरीर या अशरीर नित्यज्ञानवान् या अनित्यज्ञानवान् कैसा भी माना जाय वैशेषिकोंके अभीष्ट कर्तृवादकी सिद्धि कथमपि नहीं हो पाती है। अनवस्था, साध्यविकलदृष्टान्त, व्यतिरेकाप्रसिद्धि, कदाचित्कार्यानुत्पत्ति ये दोष झटिति, उपस्थित हो जाते हैं। सर्वथा भिन्न हो रहे छहे पदार्थ समवाय करके सर्वथा भिन्न माने गये ज्ञानका ईश्वरमें वर्तना स्वीकार करनेवाले वैशेषिकोंके यहां ईश्वर कथमपि [illegible] यों ज्ञाता नहीं बन सकता है। लोष्ठके समान अज्ञ ईश्वर या मुक्तात्माके समान अशरीर ईश्वर भला जगत्को कैसे बना देगा? यहां और भी अनेक सूक्ष्म विचार किये गये हैं। ईश्वरको सशरीर माननेवालोंकी विशेष रूपसे अवज्ञा की गयी है। जैसा कोठी आदिमें सन्निवेशविशेष है वैसा जगत्में नहीं है। इस प्रकार किसी एकदेशीय विद्वान्के द्वारा वैशेषिकोंके ऊपर उठाये गये असिद्धत्व दोषको उचित नहीं बताकर सन्निवेशविशेषादि हेतुओंमें व्यभिचार आदि दोष देना आवश्यक बताया गया है। इसके पश्चात् व्यतिरेककी असिद्धि बताकर ईश्वर और जगत्के कार्यकारणभावका भंग कर दिया है। काल, आकाश, आदि भी यदि कूटस्थ नित्य या सर्वथा सर्वगत माने जांय तो ये भी किसी भी अर्थक्रियाको नहीं कर सकेंगे। यह पक्की बात समझो। महेश्वरकी सिसृक्षा द्वारा जगत्की उत्पति माननेपर बहुत अच्छा विवेचन किया है। चक्रक दोषोंके प्रहारका ढंग निराला ही है। क्रम क्रमसे होने वाली अनित्य महेश्वरसिसृक्षाओं अथवा नित्य एक सिसृक्षा द्वारा जगत्की उत्पत्ति होनेमें अनेक दोष आते हैं। नित्य, व्यापक, होरहे ईश्वरज्ञान और ईश्वर इच्छा स्वरूप कारणोंका व्यतिरेक नहीं बननेसे व्यापकके अनुपलम्भ करके व्याप्य होरहे कार्यकारणभावकी असिद्धि दोषमें अरुचि दिखाते हुये अपर विद्वानोंके मुखसे बाधित हेत्वाभास उठाना समुचित बताया गया है। यहांका विचार भी सादर अध्ययनीय है। अन्य एकदेशीय विद्वानोंकी सम्मति अनुसार वैशेषिकोंके ऊपर उठाये गये असिद्ध, विरुद्ध, दोषोंका अनुमोदन किया गया है। इस अवसरपर श्री विद्यानन्द आचार्य महाराजकी मित्रनीति अनुकरणीय है। वैशेषिकोंने कई बार अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिये उद्योग किया, किन्तु असंख्यशून्य भी परस्पर गुणित होकर यदि एकके अंकको परास्त करना चाहें तो उनका दुःसाहस निरर्थक ही समझा जायगा। अस्तु। नित्य गुणी और उसके नित्य गुणको सर्वथा भिन्न ही कह रहे वैशेषिकोंके पूर्वपक्ष पर स्याद्वादियोंने गुण, गुणीका कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध साध दिया है। कार्यत्व, सन्निवेशविशिष्टत्व, आदि हेतुओंमें पर

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दिये । अनेक दोषोंका निराकरण करना वैशेषिकोंकी शक्तिका कार्य नहीं रहा । इसके आगे वैशेषिकोंके करणत्व आदि अन्य हेतुओंकी भी आचार्य महाराजने निःसारता दिखायी है । यहां नैयायिकोंने चिढ कर जो कुचोद्य उठाये हैं उनको अपने ग्रन्थमें पूर्णरीत्या अनुवाद कर पश्चात् उन कुचोद्योंका निराकरण कर दिया है । जगत्में अनेक प्रकारके कार्य हो रहे हैं। सबका प्रयोक्ता कोई प्रधान व्यक्ति होवे ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। एकके ऊपर एक, पुनः उसके भी अन्य अधिकारियोंकी कल्पना करते हुये अनवस्था दोष वैशेषिकोंके यहां दुर्निवार बता दिया है । ईश्वरके अनादिकालीन शुद्धि नहीं सम्भवती है । दृष्ट, इष्ट, प्रमाणोंसे विरुद्ध कथन करनेवाले ईश्वरको सर्वज्ञ कहना भी उपहासास्पद है । वैशेषिकोंके सभी अनुमानोंको आचार्य महाराजने दूषित कर दिया है । वैशेषिकोंका आगम माना गया वेद, प्रमाणभूत नहीं है । हां, समीचीन अनुमानोंसे जिनोक्त आगमसे लोक अकृत्रिम सिद्ध हो जाता हैं । लोकः (पक्ष) बुद्धिमता नैव कृतः (साध्य) दृष्ट, कृत्रिम, कूटादिविलक्षणतया ईक्षण होनेसे (हेतु) समुद्र या खानमें उपजे हुये मणि, मोती, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमानके प्रत्येक अवयवको आचार्योंने बडी पुष्टयुक्तियोंसे सिद्ध कर दिया है । व्यर्थमें उठा दिये गये विरुद्ध आदि हेत्वाभासोंका अचूक विध्वंसन कर दिया है । अन्य भी कितने ही मध्य, मध्यमें सविनोद स्वपक्षमण्डन और परपक्षखण्डन करनेमें युक्तियां दी गयीं हैं, जो कि श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थका प्रविष्ट होकर परिशीलन करनेवालोंके हृदयंगत होकर संतोषाधायक हैं । अनादि कालसे अनन्त कालतक इस जगत्की व्यवस्था जड या चेतन कारणोंके अथवा अनन्त परिणमनोंके अधीन होकर प्रवर्त रही है । एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्य कालद्रव्य, अक्षय अनन्तानन्त जीवद्रव्य और इनसे अनन्तानन्त गुणे अक्षय अनन्त पुद्गलद्रव्य ये सम्पूर्ण द्रव्य सार्वदिक्, नित्य हैं । इनकी स्वाभाविक और जीव पुद्गलोंकी वैभाविक भी पर्यायें न जाने किन किन कारणोंसे हो रहीं उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, स्वरूप व्यवस्थित हैं । अतः छह प्रकारके द्रव्योंका पिण्ड यह लोक अनादिनिधन चला आ रहा, अकृत्रिम, है । किसी एक प्रेरक बुद्धिमान् करके बनाया गया नहीं है । अनेक लौकिक छोटी छोटी युक्तियों द्वारा ही जब कर्तृवादका जीर्ण वस्त्रके समान खण्डन हो जाता है । पुनः निर्दोष अनुमान और त्रिलोक त्रिकाल अबाधित आगमसे तो विद्वानोंके हृदयमें लोकके अकृत्रिमपनका चमत्कारभाव स्थायी हो जाता है । जगत्की विशिष्ट परिणतियोंका अध्ययन करनेवाले सहृदय सज्जन विद्वानों करके इस लोकका पूर्ण स्वरूप समझ लेना चाहिये । श्री उमास्वामी महाराजने तीसरे अध्यायमें जीवोंके अधिष्ठान विशेष अधोलोक और मध्यलोकका बडी गम्भीरतासे सूत्रों द्वारा निरूपण कर दिया है । प्रमाण और नय नामके अव्यर्थ उपाय तत्त्वोंसे लोककी अन्य रचनाओंका भी परिज्ञान कर लिया जाता है । इस अकृत्रिम लोककी रचना इतनी अद्भुत है कि लाखों, करोडों, ग्रन्थों करके भी भरपूर नहीं कही जा सकती है । फिर भी जीवतत्त्वका सांगोपांग परिच्छेद करनेके लिये अथवा धर्म्मध्यानको भावनेके उपयोगी मध्यलोककी विशेषस्थलीय रचनाओंको

जाननेके लिये आचार्य महाराजने भव्योंको आदेश दिया है। प्रबल परचक्रसे विजय प्राप्त कर स्वतःसिद्ध गायनकी उपजी हुई इच्छाके अनुसार विजेताको मालिनी छन्दःका प्रयोग विशेष हृदयग्राही शोभता है। तीसरे अध्यायके निरूपणको संक्षेपसे दिखाते हुये श्री विद्यानन्द स्वामीने शान्तिरस और प्रासादको बढानेवाले शिखरिणी छन्दःकरके सूत्रकारके उद्दिष्ट कर्त्तव्यकी निर्विघ्न परिपूर्णताको दर्शा दिया है। चाहे चारों अनुयोगोंमेंसे किसी भी अनुयोगका विषय होय, श्री विद्यानन्द आचार्य उसको युक्तियों द्वारा साधे विना छोडते नहीं हैं। लोकानुयोग अनुसार तत्त्वार्थसूत्रके करणानुयोग सम्बन्धी तृतीय अध्यायके प्रमेयको द्रव्यानुयोगसम्बन्धी चर्चा करके मढ देनेवाले श्री विद्यानंद आचार्यका प्रयास सर्वथा स्तुत्य है। सद्गुरुओंके हितवाक्य सर्वाङ्गीण पथ्य हैं। समन्तात् भद्रका आश्रय लेकर अकलंक पथपर मुमुक्षुओंको चलानेके लिये श्री विद्यानन्द आचार्यके गम्भीरग्रन्थ विद्या और आनन्दके विधायक होने ही चाहिये। यों तीसरे अध्यायके ऊपर किये गये विवरणको श्री विद्यानन्द स्वामीने दो आह्निकोंमें परिसमाप्त कर दिया है।

चेतः सम्भ्रमकारणत्वविधुरा नोर्वी खवद्भ्राम्यति।
श्वभ्रम्लेच्छकुभोगभोगजगतीत्यादौ जनिं प्राणिनां ॥
स्वस्वाद्दृष्टवशादकृत्रिममिमं लोकञ्च वै श्रद्दधद्-।
भव्यो ज्ञानचरित्रजुद्विबकृते पुष्णातु सद्दर्शनम् ॥ १ ॥

इस प्रकार श्री तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक महान्ग्रन्थकी आगरामण्डलान्तर्गत चावलीग्रामनिवासी सहारनपुरप्रवासी न्यायाचार्योपाह्वित माणिकचन्द्रकृत हिन्दी देशभाषामय " तत्त्वार्थचिन्तामणि " टीकामें

तृतीयाध्याय परिपूर्ण हुआ।

निर्बाधसम्बिदितमुक्तिसुधाः स्रवन्ती । संशीतिविभ्रमविमोहतमांसि हन्त्री ॥
जीवादितत्त्वकुमुदानि विबोधयन्ती । वाक्चन्द्रिका त्रिभुवनं धिनुताज्जिनस्य ॥

—×***×—

॥ ओं नमोर्हत्परमेष्ठिने ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

अब श्री उमास्वामी महाराज अधोलोक और मध्यलोकका निरूपण कर चुकनेपर ऊर्ध्वलोकका निरूपण करनेके लिये " तत्त्वार्थाधिगममोक्षशास्त्रग्रन्थके चौथे अध्यायका प्रारम्भ करते हैं। यद्यपि ऊर्ध्वलोकनिवासी कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवोंसे असंख्याते गुणे ज्योतिषी देव इस मध्यलोकमें निवास करते हैं। रत्नप्रभाके खरभाग और पंकभागमें असंख्यातासंख्यात भवनवासी और व्यन्तर निवास कर रहे हैं। फिर भी पूरे लोकके ठीक ऊपर नीचेके दो टुकडा कर देनेपर मध्यलोककी जड परसे डोरी निकल जाती है। अधोलोकके ऊपरका खरभाग और पंकबहुलभाग निकटवर्ती संयुक्त मित्र होनेसे उपचारतः ऊर्ध्वलोकमें गिन लिया जासकता है। दूसरी बात यह है कि ऊर्ध्वलोकमें विराज रहे अनन्तानन्त श्री सिद्धपरमेष्ठियोंके अनन्तवें भागसे भी थोडे ये भवनत्रिक देव हैं। अतः चतुर्निकायके देवोंका निरूपण करनेवाले इस अध्यायको ऊर्ध्वलोकानुयोग कह देनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है अथवा " देवस्थान " इतना ही इस चौथे अध्यायके प्रतिपाद्य आधारका नाम रख लेना उपपत्तिपूर्ण है।

कई बार देव शब्द आया है। उन देवोंका परिज्ञान कराना आवश्यक है। और अधोलोक, मध्यलोकका वर्णन करनेके पश्चात् क्रमप्राप्त ऊर्ध्वलोकका वर्णन करना भी अनिवार्य है। अतः सम्यग्दर्शनके विषयभूत जीवतत्त्वके कतिपय भेदोंके स्थान निर्णयार्थ श्री उमास्वामी महाराज चतुर्थ अध्यायके आदिमें घनगर्जनोपम शब्द स्वरूप प्रथमसूत्रका उच्चारण करते हैं।

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

देवगति नामकर्मके परवश हो रहे असंख्याते संसारी जीव देव इन भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक चार निकायों (मण्डलियां) को धार रहे विराज रहे हैं।

देवगतिनामकर्मोदये सति दीव्यंतीति देवाः द्युत्याद्यर्थाविरोधात्। बहुत्वनिर्देशोंतर्गतभेदप्रतिपत्त्यर्थः। स्वधर्मविशेषोपपादितसामर्थ्यान्निचीयंत इति निकायाः चत्वारो निकायाः येषां ते चतुर्निकायाः। कुतः पुनश्चत्वार एव निकाया देवानामिति चेत्, निकायिनां तेषां चतुःप्रकारतया वक्ष्यमाणत्वात्। ते हि भवनवासिनो, व्यंतरा, ज्योतिष्का, वैमानिकाश्चेति चतुर्विधानिकायिभेदाच्च निकायभेदा इति। नैक एव देवानां निकायो नापि द्वावेव त्रय एव वा, पंचादयोप्यसंभाव्या एव तेषामत्रांतर्भावात्।

नाम कर्मकी गति नामक प्रकृतिके उत्तरभेदस्वरूप देवगति संज्ञक नामकर्मका उदय होते संते जो दीवते रहते हैं, इस कारण वे जीव " देव " कहे जाते हैं। " दिवुक्रीडाविजिगीषाव्यव-

द्यारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु " इस धातुसे अच् प्रत्यय करनेपर देव शब्द बनाया गया है। प्रायः सभी देव द्युति कान्ति, भगवत् स्तुति, मोद, क्रीडा आदिको धारते हैं। अतः देव शब्दकी व्युत्पत्तिसे प्राप्त हुये द्योतन आदि अर्थोंकी अविरोधरूपसे घटना हो जानेसे भवनवासी आदि चार निकायोंके उद्देश्यदलकी व्यक्तियोंमें देवपना शोभ जाता है। अर्थात्—अन्तरंग कारण हो रहे देव-गति नामकर्मका उदय होनेपर बहिरंगभूत द्युति आदि क्रियाओंके सम्बन्धको धारनेवाले जीव देव कहलाते हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि सूत्रकारको लाघव गुणका लक्ष्य रखते हुये " देवश्चतुर्णिकायः " यों सूत्र कहना चाहिये था। जाति वाचक होनेसे देव शब्द द्वारा स्वतः ही बहुत अर्थोंकी प्रतिपत्ति हो जावेगी। इस प्रकार कटाक्षके प्रवर्तनेके पूर्व ही श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान कर देते हैं कि देव शब्दका बहुवचन रूपसे कथन करना तो देवोंके इन्द्र, सामानिक, आदि या स्थिति, प्रभाव, गति, शरीर, आदि करके हो रहे बहुतसे अन्तर्गत भेदोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये है। अनेक शक्ति आत्मक देवगति नामकर्मके उदयस्वरूप स्वधर्मविशेष करके प्राप्त करायी गयी सामर्थ्यसे निचयको प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात्—देव अपने अपने उपार्जित कर्मकी सामर्थ्यसे कतिपय समुदायमें पुष्टिको प्राप्त हो रहे हैं, इस कारण वे समुदित देवमण्डलियां निकाय मानी जाती हैं। जिन देवोंकी निकायें चार हैं, वे देव चार निकायवाले हैं। यदि यहां कोई वादी यों प्रश्न करे कि फिर देवोंके चार ही निकाय किस प्रकारसे हैं ? यों प्रश्न होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान करें देते हैं कि संघ या मण्डलियोंमें रहनेवाले उन दो सौ छप्पन प्रमाणांगुलोंकी प्रदेशसंख्याके वर्गका जगत्प्रतर प्रदेशोंमें भाग देनेपर लब्ध हुई संख्याप्रमाण ज्योतिषी देवोंसे कुछ अधिक हो रहे देवोंको चार प्रकारवाले स्वरूपसे भविष्यमें कहना है। अतः वे देव भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, और वैमानिक, यों चार प्रकारोंसे महामण्डलस्थ व्यक्तियोंका भेद हो जानेसे नियम करके निकायोंके चार भेदवाले हो जाते हैं। देवोंका निकाय (संघ) एक ही नहीं है। अथवा दो ही या तीन ही देवोंके निकाय भी नहीं हैं। तथा देवोंकी पांच, छः, सात, आठ आदि निकायें (टोलियां) भी असम्भव ही हैं। क्योंकि उन पांच आदिकोंका इन चारमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थात्—पुराणोंमें क्वचित् एक देवता शब्दसे ही सम्पूर्ण देवोंका ग्रहण कर लिया है। अन्यत्र सुर, असुर या दैत्य, आदित्य इन दो भेदोंमें सम्पूर्ण देवोंका संग्रह कर लिया है। सुर असुरोंके साथ परिपूज्य देवोंके मिल देनेसे अन्य भी कतिपय देवोंके भेद हो जाते हैं। गणदेवताओंकी अपेक्षा, आदित्य, विश्व, वसु, तुषित आभास्वर, अनिल, महाराजिक, साध्य, रुद्र ये नौ भेद माने गये हैं। योनिकी अपेक्षा देवोंके विद्याधर, अप्सरस्, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, भूत, ये दश भेद स्वीकृत किये हैं। जैन-सिद्धान्तमें भी इन्द्र, प्रतीन्द्र, अहमिन्द्र आदि अनेक भेद गिनाये हैं। किन्तु इन सबका उक्त चार निकायोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। पीपल, सांप, अन्न, नदी, ब्राह्मण, वायु, योनिज आदि कपोलकल्पित देवताओंके अतिरिक्त वस्तुभूत सम्पूर्ण संसारी देवोंका इन चार ही निकायोंमें अन्तर्भाव हो जाता है।

ननु च ब्राह्मसौम्यप्राजापत्यैंद्रयक्षराक्षसभूतपिशाचानामष्टप्रकाराणामष्टौ निकायाः कुतो न परोक्ता इति चेत्, परागमस्य तत्प्रतिपादकस्य प्रमाणत्वासंभवादित्यसकृदभिधानात्।

यहां पौराणिक पण्डितोंकी एक और शंका है कि ब्राह्म (ब्रह्मासम्बन्धी) २ सौम्य (चन्द्रमासम्बन्धी) ३ प्राजापत्य दक्ष, कश्यप, आदि प्रजापतियोंके अपत्य ४ इन्द्रसम्बन्धी ५ यक्ष ६ राक्षस ७ भूत ८ पिशाच इन आठ प्रकारवाले देवोंकी आठ निकायें दूसरे विद्वानोंके यहां कही गयी हैं। अतः सूत्रकारने देवोंकी ये आठ निकायें क्यों नहीं कहीं ? यों शंका होनेपर तो श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान करते हैं कि उन दूसरे विद्वानोंके आठ निकायोंका प्रतिपादन करनेवाले आगमकी प्रमाणताका असम्भव है, इस बातको हम कई बार अनेक प्रकरणोंमें कह चुके हैं। अपनी, अपनी, पोथियोंमें कोई भी चाहे जैसी अन्ट सन्ट बातोंको लिख देता है। किन्तु प्रमाणभूत आगमोंके विषयका आदर होता है। ब्रह्मा इन्द्र, दिति, अदिति, कश्यप, आदिसे देवोंकी सृष्टि होना कहना अलीक वचन है। अतः देवोंकी चार निकायें ही सत्यार्थ हैं।

ननु च नारकमनुष्याणामिवाधारवचनपूर्वकं देवानां वचनं किमर्थं न कृतमित्याशंकमानं प्रत्यावेदयति।

पुनः किसी शिष्यका जिज्ञासापूर्वक अनुनय है कि तृतीयाध्यायमें जैसे नारकी जीवोंके आधारका पहिले निरूपण कर पश्चात् नारकजीवोंका कथन किया है और मनुष्योंके आधार होरहे जम्बूद्वीप, भरत, आदिका पूर्वमें वर्णन कर पीछे मनुष्योंका प्रतिपादन कर दिया है, उसी प्रकार सूत्रकारको प्रथम देवोंके आधारस्थानोंका वर्णन कर पुनः आधेयभूत देवोंका वचन करना चाहिये था। ऐसा वचन श्री उमास्वामी महाराजने किस लिये नहीं किया ? पद्धतिभंगदोषको क्यों स्थान देते हो ? इस प्रकार आशंका कर रहे विनीत शिष्यके प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी बढिया ढंगसे वार्तिकों द्वारा समाधान वचन कहते हैं।

देवाश्चतुर्णिकाया इत्येतत्सूत्रं यदब्रवीत्।
नारकाणामिवाधारमनुक्त्वा देवसंविदे ॥ १ ॥
सूत्रकारस्तदेतेषां लोकत्रयनिवासिनां।
सामर्थ्यादूर्ध्वलोकस्य संस्थानं वक्तुमैहत ॥ २ ॥

नारकियोंके आधार समान देवोंके आधारको प्रथम नहीं कहकर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज जो " देवाश्चतुर्णिकायाः " यों इस सूत्रको कह चुके हैं। वह तीनों लोकोंमें निवास करनेवाले चतुर्निकायसम्बन्धी इन देवोंकी सामर्थ्यसे ऊर्ध्वलोककी रचना विशेषको कहनेके लिये सूत्र बना दिया

है। अर्थात्—देवोंका कोई विशेष स्थान नियत होता तब तो सातों नरक या मनुष्य लोकके समान देवस्थानोंका भी नियत रूपसे वर्णन कर दिया जाता। किन्तु देव तीनों लोकमें रहते हैं और सूत्रकारको अधोलोक और मध्यलोककी वर्णनाके पश्चात् ऊर्ध्वलोकका वर्णन करना है। अतः आधारपूर्वक आधेयोंका कथन नहीं कर लघु उपाय द्वारा आधेयपूर्वक आधारोंका कथन करना न्यायप्राप्त है। वक्ताकी प्रकरणकी सामर्थ्य इसी ओर झुका रही है।

न हि यथा नारकाणामाधारः प्रतिनियतोऽधोलोक एव मनुष्याणां च मानुषोत्तरान्मध्यलोक एव, तथा देवानामूर्ध्वलोक एव श्रूयते। भवनवासिनामधोलोकाधारतयैव श्रवणात्, व्यंतराणां तिर्यग्लोकाधारतयापि श्रूयमाणत्वात्। ततो लोकत्रयनिवासिनां सामर्थ्यादूर्ध्वलोकस्य संस्थानं च मृदंगवद्वक्तुमैहत सूत्रकारः आधारमनुक्त्वा निकायसंवित्तये सूत्रप्रणयनात्।

जिस प्रकार नारकियोंका आधार अधोलोक ही ठीक नियत हो रहा है और मनुष्योंका आधार मानुषोत्तर पर्वतसे भीतरका मध्यलोक ही प्रतिनियत है, तिस प्रकार देवोंका आधार स्थानप्रामाणिक शास्त्रोंद्वारा केवल ऊर्ध्वलोक ही नहीं ज्ञात किया जा रहा है। क्योंकि भवनवासियोंका अधोलोक ही स्थान आधारपने करके आम्नायप्राप्त शास्त्रोंद्वारा सुना जा रहा है। अर्थात्—त्रिलोकसारमें भी यों लिखा है कि " वेंतर अप्पमहड्ढिय मज्झिमभवणामराणभवणाणि, भूमीदोघो इगिदुगबादालसहस्सइगिलक्खे " रयणप्पहपंकड्ढे भागे असुराण होंति आवासा, भोम्मेसु रक्खसाणं अवसेसाणं खरे भागे " तथा व्यंतर देवोंका आधारपने करके तिर्यग्लोक भी सर्वज्ञ आम्नात शास्त्रद्वारा ज्ञात किया जा रहा है। " चित्तव इरादु जावय मेरुदयं तिरियलोयवित्थारं, भोम्मा हवंति भवणे भवणपुरावासगे जोग्गे "। तथा तृतीयाध्यायके प्रथम सूत्रकी राजवार्तिकमें " तत्र खरपृथिवीभागस्योपर्यधश्चैकैकं योजनसहस्रं परित्यज्य मध्यमभागेषु चतुर्दशसु योजनसहस्रेषु किंनरकिंपुरुषमहोरगगंधर्वयक्षभूत पिशाचानां सप्तानां व्यंतराणां, नागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराणां नवानां भवनवासिनां चावासाः। पंकबहुलभागेऽसुरराक्षसानामावासाः " तिस कारणसे तीनों लोकोंमें निवास करनेके शील (टेव, आदतको) धारनेवाले देवोंकी चार निकायोंके कण्ठोक्त निरूपणकी सामर्थ्यसे ही विना कहे ऊर्ध्वलोकका मृदंग (पखावज) के समान संस्थानको कहनेके लिये सूत्रकार अभिलाषा रखते थे। अतः देवोंके आधारस्थानको नहीं कह कर उनकी निकायोंका सम्वेदन करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराजने प्रथम ही " देवाश्चतुर्णिकायाः " यह सूत्र बना दिया है। भावार्थ—अधोलोक और मध्यलोकका निरूपण कर चुकनेपर ऊर्ध्वलोकका निरूपण तो कुछ आगे पीछेके प्ररूपण द्वारा विना कहे ही ज्ञात कर लिया जाता है। देवोंका स्थान एक ऊर्ध्वलोक ही नियत भी नहीं है। तिर्यञ्च भी तीनों लोकोंमें रहते हैं। अतः देवोंके स्थानविशेषको बतानेके लिये ऊर्ध्वलोक स्थानका निरूपण करना सूत्रकारको अनिवार्य नहीं पड़ा। जो विषय विना कहे ही

केवल सामर्थ्यसे ज्ञात कर लिया जाता है, उसके लिये सूत्र रचना करना पुनरुक्तसारिखा है। अतः आधारविशेषको नहीं कह कर तीनो लोकके यथायोग्य आधेय हो रहे निकायोंका प्रतिपादक सूत्र चतुर्थ अध्यायमें प्रथम स्थान पा गया है।

अब उन देवोंकी लेश्याओंका निर्णय करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

आदितस्त्रिषु पीतांतलेश्याः ॥ २ ॥

भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, और वैमानिक इन चार निकायोंमें आदिसे प्रारम्भ कर भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, इन तीन निकायोंमें पीतपर्यन्त लेश्यावाले देव हैं। अर्थात्—भवनत्रिक देवोंके कृष्ण, नील, कापोत, और पीत ये चार लेश्यायें पायी जाती हैं। क्रोधादि कषाय परिणामोंके साथ जो मन, वचन, कायका अवलम्बन रखनेवाले योगोंकी प्रवृत्ति हो जाती है, आत्माकी इस संकीर्ण परिणतिको लेश्या कहते हैं। कौत्कुच्य या तृतीयगुणस्थान अथवा तृतीय गुणस्थानके दधिगुड-मिश्रित स्वादके समान मिश्रभाव अथवा तीसरे गुणस्थानमें पाये जा रहे सम्यग्मिथ्यापनसे मिले हुये ज्ञान एवं " सदृष्टयोर्ज्ञानयोर्वृत्तौ " और " आलोचनप्रतिक्रमणतदुभय " यहां पडे हुये उभय इनको समझनेवाले विद्वान् लेश्या स्वरूप संकर परिणतिके रहस्यको झटिति समझ लेते हैं। चारित्रमोहनीय-कर्मकी चारो जातिके चार क्रोध या चार मान आदि और हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, एक कोई सा वेद, यों एक साथ नौ प्रकृतियोंका किसी मिथ्यादृष्टिके उदय होनेपर जैसे एक चारित्र गुणकी नौ पर्यायात्मक एक संकर विभाव परिणति होती है, इसी प्रकार कषाय और योगकी मिश्रणात्मक लेश्या नामकी चित्रपरिणति हो जाती है।

संक्षेपार्थमिहेदं सूत्रं लेश्याप्रकरणेऽस्य वचने विस्तरप्रसंगात्। तेन भवनवासिव्यंतर-ज्योतिष्कनिकायेषु देवाः पीतांतलेश्या इति। इह तु देवा इत्यवचनमनुवृत्तेर्भवनवास्याद्य-वचनं च तत एव।

सूत्रकारने ग्रन्थका संक्षेप करनेके लिये लेश्याका प्रकरण नहीं होनेपर भी यहां यह लेश्याका प्रतिपादक सूत्र कह दिया है। यदि लेश्याके प्रकरणमें इस सूत्रको कहा जाता तो शब्द सन्दर्भके अधिक विस्तार होनेका प्रसंग हो जाना, यह तुच्छ दोष लग बैठता। अर्थात्—" पीतपद्मशुक्ल-लेश्या द्वित्रिशेषेषु " इस सूत्रके पहिले या पीछे यदि भवनत्रिक देवोंकी लेश्याको कहा जाता तो वहां ग्रन्थ बढ जाता अथवा इसीको नवीन ढंगसे लेश्याका प्रकरण मानकर यहां पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु " सूत्र कहा जाता तो यहां सौधर्म आदि स्वर्गोंका निरूपण करना आवश्यक होता। अतः संक्षेपके लिये सूत्रकारको यों यथादृष्ट ग्रन्थका गूंथना ही समुचित प्रतीत हुआ है, जो कि सर्वांग सुचारु है। तिस कारण इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार है कि भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, इन

तीन निकायोंमें विराज रहे देव यथोचित पीतपर्यंत यानी कृष्ण, नील, कापोत, पीत, लेश्यावाले हैं। यहां प्रकरणमें संक्षेपसे कथन करनेपर तो देवाः इस शब्दका कथन करना नहीं पडा। क्योंकि पूर्वसूत्रसे " देवाः " पदकी अनुवृत्ति होजाती है और सूत्रकारको भवनवासी, व्यंतर, आदि निकायोंका भी कण्ठोक्त निरूपण नहीं करना पडा। क्योंकि तिस ही कारणसे यानी भवनवासी आदि निकायोंकी पूर्व सूत्रसे ही अनुवृत्ति होरही है।

कथमिह निकायेष्वित्यनुवर्तयितुं शक्यं, तेषामन्यपदार्थे वृत्तौ सामर्थ्याभावात्। चत्वारश्च ते निकायाश्चतुर्णिकाया इति स्वपदार्थायामपि वृत्तौ देवा इति सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरिति चेन्न, उभयथापि दोषाभावात्। अन्यपदार्थायां वृत्तौ तावन्निकायेष्विति शक्यमनुवर्तयितुं। त्रिष्विति वचनसामर्थ्यात् त्रित्वसंख्यायाश्च संख्येयैर्विना संभवाभावादन्येषामिहाश्रुतत्त्वात् प्रकरणाभावाच्च त्रिनिकायैरेव तैर्भवितव्यमित्यर्थसामार्थ्यान्निकायानुवृत्तिः। स्वपदार्थायामपि वृत्तौ तत एव तदनुवृत्तिः प्रधानत्वाच्च निकायानां चतुःसंख्याविशेषणरहितानामनुवृत्तिघटनात् त्रित्वसंख्यया चतुःसंख्याया बाधितत्वात्। देवा इति इति सामानाधिकरण्यं तु निकायनिकायिनां कथंचिदभेदान्न विरुध्यते।

यहां किसी पण्डितका आक्षेप है कि इस दूसरे सूत्रमें त्रिषु शद्वका सामानाधिकरण्य करनेके लिये " निकायेषु " ऐसे सप्तमी बहुवचनान्त पदकी अनुवृत्ति करना आवश्यक है। किन्तु पूर्व सूत्रमें " निकायाः " ऐसा प्रथमा विभक्तिका बहुवचनान्त पद पडा हुआ है। और वह भी " चतुर्निकायाः " यहां समासवृत्ति द्वारा चतुर शद्वके साथ चुपट रहा है। " पदार्थः पदार्थेनान्वेति नत्वेकदेशेन, एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः " इन नियमोंके अनुसार यहां निकायेषु इस प्रकार सप्तमी बहुवचनान्त पदकी भला किस प्रकार अनुवृत्ति की जा सकती है ? क्योंकि उन निकायोंका अन्य पदार्थको प्रधान माननेवाली बहुव्रीहि नामकी वृत्ति होनेपर स्वतंत्र बने रहनेकी सामर्थ्य नहीं रहती है। चत्वारो निकायाः येषां " यों बहुव्रीहि समास करनेपर " समर्थः पदविधिः " के अनुसार दोनों पदोंकी सामर्थ्य परस्परमें भिड रही मानी गयी है। भाण्डागार (खजाना) में दो अधिपतियोंके ताले लग चुकनेपर पुनः एक ही अधिपतिको भाण्डागार खोलनेकी सामर्थ्य नहीं रहती है। उसी प्रकार यहां " चतुर्निकायाः " में से निकायाः अथवा " अर्थवशात् विभक्तेर्विपरिणामः " इस न्यायसे त्रिषु पदके समभिव्याहार अनुसार निकायेषु पदकी अनुवृत्ति नहीं की जा सकती है। हां, चार जो वे निकाय यों विग्रह कर बनाये गये चतुर्निकायाः इस शद्वकी स्वपदार्थप्रधाना कर्मधारय समास नामकी वृत्ति माननेपर यद्यपि स्वतंत्र रूपसे समर्थ हो रहे निकाय शद्वकी अनुवृत्ति की जा सकती है, तो भी " देवा " इस पदके साथ सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता है। क्योंकि अनुवृत्त किये गये "निकायाः" शद्वके साथ " देवाः " यह पद चल रहा है। और " पीतान्तलेश्याः " यह भी देवपरक है। किन्तु

त्रिषु शब्दकी पराधीनतासे विपरिणत हो गया निकायेषु यह पद अपने संसर्गी देवाः इस प्रथमान्त बहुवचनके समानाधिकरणपनको [illegible] रक्षित नहीं रख सकता है। इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि अन्यपदार्थप्रधान या स्वपदार्थप्रधान दोनों प्रकार वृत्ति करनेपर भी कोई दोष नहीं आता है। देखिये, सबसे पहिले अन्य पदार्थको प्रधान रखनेवाली " चार हैं निकाय जिन्होंके " ऐसी बहुव्रीहि समासवृत्ति करनेपर तो निकायेषु यों सप्तमी बहुवचनान्त पदकी अनुवृत्ति की जा सकती है। क्योंकि त्रिषु इस प्रकार सप्तमी बहुवचनान्त पदके कथनकी वैसी सामर्थ्य है। कारण कि त्रित्व नामकी संख्याका गिनने योग्य संख्येयोंके विना ठहर जाना असम्भव है। निकायोंके अतिरिक्त किन्हीं अन्य घट, पट, उदासीन पदार्थोंका यहां श्रुतज्ञान नहीं किया जा रहा है और उनका प्रकरण भी नहीं है। यहां त्रिषु पदके विशेष्य दृढ होने योग्य उन भवनवासी आदि तीन निकायोंको ही होना चाहिये। इस प्रकार अर्थकी सामर्थ्यसे सप्तमी बहुवचनान्त बनाकर निकाय शब्दकी अनुवृत्ति कर ली जा सकती है। तथा दूसरी स्वपदार्थप्रधान कर्मधारय वृत्तिके करनेपर भी तिस ही कारणसे यानी त्रिषुका श्रवण होनेसे उस निकायेषु की अनुवृत्ति की जा सकती है और कर्मधारय समासमें चतुर शब्दके समान निकायोंकी भी प्रधानता हो जानेसे चतुर संख्या नामके विशेषणसे रहित हो रहे केवल निकायोंकी अनुवृत्ति हो जाना घटित हो जाता है। इस सूत्रमें कण्ठोक्त की गयी त्रित्व संख्या करके निकायाः के पुंछला हो रही चतुःसंख्याको बाधा युक्त कर दिया जाता है। अतः चार संख्या निकायेषुका पीछा छोड देती है। रही यह बात कि देवाः इसके साथ निकायेषुका सामानाधिकरण्य बिगड गया, इसपर हमारा यह कहना है कि निकाय (समुदाय) और निकायी (समुदायी) इनका कथंचित् अभेद हो जानेसे " देवाः पीतान्तलेश्याः " यों सामानाधिकरण्य बन जाना तो विरुद्ध नहीं पडता है। यानी निकाय और निकायियोंकी भेदविवक्षा करनेपर निकायेषु देवाः यों भेदसूचक सप्तमी विभक्तिको बीचमें लाकर पीतान्तलेश्याःके साथ अभेद करते हुये वाक्यसन्दर्भ सुघटित हो जाता है। कोई आपत्ति होनेका प्रसंग नहीं है।

त्रिनिकायाः पीतान्तलेश्या इति युक्तमिति चेन्न, इष्टविपर्ययप्रसंगात्। आदित इति वचने त्वत्र सूत्रगौरवमनिवार्यं। ततो यथान्यासमेवास्तु।

लघुता ही को अन्तिमलक्ष्य स्वीकार करता हुआ कोई पण्डित आक्षेप करता है कि " आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः " इतना लम्बा सूत्र नहीं बना कर केवल " त्रिनिकायाः पीतान्तलेश्याः " इतना छोटा सूत्र बनाना ही समुचित है। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क इन तीन निकायवाले देव पीतपर्यंत लेश्याओंको धार रहे हैं। यह अभिप्रेत अर्थ प्राप्त हो ही जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि इष्ट अर्थसे विपरीत अर्थकी प्राप्ति हो जानेका प्रसंग बन बैठेगा। तीन निकायोंमें भवनवासी, व्यंतर, वैमानिक, या व्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक अथवा भवनवासी, ज्योतिष्क, वैमानिक, यों इन तीन

निकायोंके भी पीत पर्यन्त लेश्याका विधान समझा जायगा। जो कि जैन सिद्धान्त अनुसार इष्टसे विपरीत है। यदि वह पण्डित यों कहे कि आदितः शब्द जोडकर "आदितस्त्रिनिकायाः पीतान्तलेश्या" आदिसे लेकर तीननिकाय वाले देव पीतपर्यन्त चार लेश्याओंको धार रहे हैं, यों सूत्रद्वारा कथन किये जानेपर इष्टसे विपरीत अर्थके प्राप्त होजानेका प्रसंग नहीं आवेगा। आचार्य कहते हैं कि यों कहने पर भी तो यहां सूत्रका लम्बा, चौडा गौरव दोष अनिवार्य ही रहा। तुम्हारे "आदितस्त्रिनिकायाः पीतान्तलेश्याः" इसकी अपेक्षा तो सूत्रकारके "आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः" यों सूत्र बनानेमें ही लाघव गुण है, दृष्ट अर्थ भी सुघटित होजाता है। तिस कारण जैसा सूत्रकारने सूत्रका विन्यास किया है वही बहुत अच्छा बना रहो।

किमर्थमिहादित इति वचनं ? विपर्यासनिवृत्यर्थं, अंतेन्यथा वा त्रिष्विति विपर्यासस्यान्यथा निवारयितुमशक्तेः। द्व्येकनिवृत्त्यर्थस्तु त्रिष्विति वचनं। चतुर्निवृत्त्यर्थं कस्मान्न भवति ? आदित इति वचनात् चतुर्थस्यादित्वासंभवात्, अंत्यत्वात्पंचमादि निकायानुपदेशात्।

कोई तटस्थ पुरुष प्रयत्न करता है कि यहां सूत्रमें आदितः यानी आदिसे प्रारम्भ कर या आदौ इति आदितः आदिमें यह तीन अक्षरवाला पद सूत्रकारने किसलिये कहा है ? श्री विद्यानन्द स्वामी इसका समाधान करते हैं कि विपर्यासकी निवृत्तिके लिये आदितः कहा गया है। अन्तमेंके तीन निकाय अथवा अन्य प्रकारोंसे मनुष्य, तिर्यंच, देव इन तीनमें या भवनवासी, कल्पवासी, कल्पातीत इन तीनमें इत्यादि प्रकारसे प्राप्त हो रहे विपर्यासकी अन्यथा यानी आदितः इस पदका कथन किये विना निवृत्ति नहीं की जा सकती है। अतः आदितः पद सार्थक है। आदिसे प्रारम्भ कर तीन निकायोंमें या आदिभूत तीन निकायोंमें पीतपर्यन्त लेश्या है। यह अर्थ सुलब्ध हुआ। तथा इस सूत्रमें त्रिषु इस प्रकार वचन तो दो निकाय और एक निकायकी निवृत्तिके लिये है। अर्थात्—आदिकी दो या एक निकायोंमें पीतपर्यन्त लेश्या नहीं, किन्तु आदिकी तीनों निकायोंमें पीतपर्यन्त लेश्या है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करै कि संख्येयपरक त्रिशब्द करके नियत तीन निकायोंका कथन करते हुये जैसे दो, एक, इन न्यून संख्याओंकी व्यावृत्ति कर ली जाती है, उसी प्रकार प्रकरण प्राप्त अधिक हो रही चार संख्याकी निवृत्तिके लिये किस कारणसे त्रिषु शब्दकी सफलता नहीं कही जाती है ? देखो "पंचेन्द्रियाणि" कह देनेसे एक, दो, तीन, चार, और छः सात, आठ, आदि इन्द्रियोंका पांच पदसे व्यवच्छेद हो जाता है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि आदितः इस प्रकार सूत्रकारने कथन किया है। यदि चारों निकाय ही अभीष्ट होते तो आदितः कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। आदितः कहनेपर चार निकायोंमेंसे कमसे कम एक निकायको तो छोडना चाहिये। तभी आदितः कथन सफल होसकता है। चौथे निकायको आदिपनेका असम्भव है। क्योंकि चौथा वैमानिक निकाय सम्पूर्ण चारों निकायके अन्तमें पडा हुआ है। हां, यदि

पांचवें, छठवें, कोई अन्य निकाय होते तो चौथा भी पांचवे, छठवेंका आदिभूत होसकता था, किन्तु सिद्धान्तमें पांचवें, छठे, आदि देव निकायोंका उपदेश नहीं किया गया है। अतः सूत्रकारने जितना कहा है विपर्यासोंकी निवृत्तिको करता हुआ उतना ही सूत्र सर्वांग सुन्दर है।

आद्येषु पीतान्तलेश्या इत्यस्तु लघुत्वादिति चेन्न, विपर्ययप्रसंगात्। आदौ निकाये भवा आद्या देवास्तेषु पीतान्तलेश्या इति विपर्ययो यथान्यासं शुशकः परिहर्तुं, निःसंदेहार्थं चैवं वचनं।

पुनः लघुताको ही जीवनप्राण स्वीकार कर रहा पण्डित कह रहा है कि लाघव गुण होनेसे "आद्येषु पीतान्तलेश्याः" आदिके दोनों चार निकायोंमें पीतपर्यन्त लेश्या हैं, इतना ही छोटा सूत्र बनाया जाय। चौथी निकायका आद्यपदसे ग्रहण नहीं होसकनेको आप जैन स्वयं स्वीकार कर चुके हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सिद्धान्तसे विपरीत होरहे अर्थके प्राप्त होजानेका प्रसंग होजायेगा। आदिकी निकायमें होनेवाले देव आद्या कहे जायंगे, उन आदि निकायवाले दश प्रकार भवनवासी देवोंमें ही पीतान्तलेश्याका विधान होसकेगा। इस प्रकार विपरीत अर्थकी आपत्ति होगी। हां, जैसा सूत्रकारने सूत्र रचा है उस ढंगसे विन्यासका अतिक्रमण नहीं किया जाय तो सम्पूर्ण विपर्यासोंके प्रसंगका सुलभतया परिहार किया जासकता है और सबसे अच्छा समाधान यह है कि किसी प्रकारका सूत्रप्रमेयमें सन्देह नहीं रह जाय। स्पष्टरूपसे अभिप्रेत अर्थका निर्णय होजाय। अतः संदेहोंके निरासके लिये "आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः" इस प्रकार सूत्र पढा गया है।

अथ पीतान्तवचनं किमर्थं? लेश्यावधारणार्थं, कृष्णा नीला कपोता पीता पद्मा शुक्ला लेश्येति पाठे हि पीतांतवचनात् कृष्णादीनां संप्रत्ययो भवतीति, पद्मा शुक्ला च निवर्तिता स्यात्। तेन त्रिष्वादितो निकायेषु देवानां कृष्णा नीला कपोता पीतेति चतस्रो लेश्या भवंतीति।

यहां अब कोई नवीन प्रकरणकी शंका उठाता है कि सूत्रकारने पीतपर्यन्त यह कथन किस लिये किया है? आचार्य समाधान करते हैं कि सम्भव रहीं लेश्याओंका नियम करनेके लिये पीतान्त पद कहा गया है। "किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्क लेस्साय, लेस्साणं णिद्देसा छच्चेव हवंति णियमेण" (गोम्मटसार जीवकाण्ड) कृष्णा, नीला, कपोता, पीता, पद्मा, शुक्ला ये छह लेश्यायें हैं, इस प्रकार पाठ होनेपर पीतपर्यन्त कथन करनेसे कृष्ण, नील, कापोत, पीत, इन जातिकी चार लेश्याओंका भले प्रकार सम्वेदन हो जाता है। पद्मा और शुक्ला लेश्याकी निवृत्ति कर दी जावेगी। अर्थात्—"सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्, स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापार्थं हि वस्तुनो वस्तुत्वं, स्वचतुष्टयापेक्षयास्तित्वं और परचतुष्टयापेक्षया नास्तित्वं ये दो स्वभाव ही वस्तुको मृत्युसे या सांकर्यसे बचाकर स्वांशोंमें सर्वदा जीवित बनाये रखते हैं। स्वपक्षमण्डन, परपक्षखण्डन जैसे वादी, प्रतिवादी, करते हैं, उसी प्रकार इस युद्धको सम्पूर्ण वस्तुयें या वस्तुके अखिल अंश भी ठाने रहते

हैं। अन्यथा एक समय भी परचक्रसे स्व को रक्षित रखना असम्भव ही समझो। तिस कारण आदिम तीन निकायोंमें देवोंके कृष्ण, नील, कापोत और पीत इस प्रकार चार लेश्यायें होती हैं, यों सूत्रका अर्थ सुसंगठित हो जाता है।

अन्यथा कस्मान्न भवंति तेषु देवा इत्युच्यते।

सूत्रोक्त अर्थमें युक्तियोंकी अभिलाषा करता हुआ कोई संशयालु पण्डित प्रश्न करता है कि उन निकायोंमें देव अन्य प्रकारों करके किस कारणसे नहीं होते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिमवार्त्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

त्रिष्वाद्येषु निकायेषु देवाः सूत्रेण सूचिताः।
संति पीतांतलेश्यास्ते नान्यथा बाधितत्वतः॥ १॥

आदिमें होनेवाली भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, इन तीन निकायोंमें समुदित हो रहे देव तो पीतपर्यन्त लेश्याओंको धार रहे विद्यमान हैं। इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके इस सूत्र द्वारा तत्त्वसूचन किया गया है। वे भवनत्रिक देव भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्कके अतिरिक्त अन्य प्रकारोंसे व्यवस्थित नहीं है। तथा पीतान्त लेश्याधारीपनके सिवाय अन्य प्रकार पद्मशुक्ल लेश्यावाले भी नहीं हैं। क्योंकि यों अन्य प्रकारोंसे भवनत्रिक देवोंकी व्यवस्था माननेपर बाधा प्राप्त हो जावेगी निर्बाध सिद्धान्त सूत्र अनुसार ही है।

न तावद्देवाः सूत्रोक्ताः संतोन्यथा भवंति, सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वात्सुखादिवत्। नापि त्रिषु निकायेषु पीतांतलेश्याः सूत्रेणोक्तास्तदन्यथा पद्मलेश्याः शुक्ललेश्याः वा भवंति, तत एव तद्वत्।

सूत्रमें कहे जा चुके ढंग अनुसार प्रवर्त रहे संते तीन निकायके देव तो अन्य प्रकारोंसे नहीं सम्भव रहे हैं (प्रतिज्ञा) बाधक प्रमाणोंके नहीं संभवनेका बहुत अच्छा निश्चय किया जा चुका होनेसे (हेतु) अपने अपने अनुभूत किये जा रहे सुख, वेदना, शल्य, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान करके देवोंकी आगम द्वारा श्रूयमाण हो रही सूत्रोक्त व्यवस्थाको साध दिया गया है तथा तीन निकायोंमें पीतपर्यंत लेश्यावाले देव जो इस सूत्रकरके कहे गये हैं। वे अन्य प्रकारोंसे पद्मलेश्यावाले अथवा शुक्ललेश्यावाले भी नहीं सम्भवते हैं (प्रतिज्ञा)। तिस ही कारणसे यानी बाधक प्रमाणोंके असम्भवका अच्छा निश्चय किया जा चुका होनेसे (हेतु)। उसीके समान यानी अपनेसे अतिरिक्त प्राणियोंको अतीन्द्रिय हो रहे किन्तु निजको स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा परिगृहीत हो रहे अपने सुख, दुःख, शोक, संतोष, भय, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार दो अनुमानोंकरके सूत्रोक्त उद्देश्यदल और विधेयदल दोनोंके प्रमेयको श्री विद्यानन्द आचार्यने अवधारणका ताला लगाते हुये सिद्ध कर

दिया है। लक्षणके अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव दोषों तथा हेतुके व्यभिचार, विरुद्ध, आदि दोषोंसे रहित हो रहा इस सूत्रका प्रमेय निष्कलंक है।

अब उन चारों निकायोंके अन्तरंगमें प्राप्त हो रहे विकल्पोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ॥ ३ ॥

दश, आठ, पांच, बारह ये विकल्प इन भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक देवोंके हैं। किन्तु वैमानिकोंमें कल्पातीत देवोंको नहीं पकड कर षोडश स्वर्गवासी कल्पोपपन्न देवोंतक ही उक्त व्यवस्था समझ लेनी चाहिये।

देवाश्चतुर्णिकाया इत्यनुवर्तमानेनाभिसंबंधोस्य चतुर्णां निकायानामंतर्विकल्पप्रतिपादनार्थत्वात् न पुनरादितस्त्रिष्वित्यादीनां पीतांतलेश्यानां कल्पोपपन्नपर्यंतत्वाभावात्। तेन चतुर्णां देवनिकायानां दशादिभिः संख्याशब्दैर्यथासंख्यमभिसंबंधो विज्ञायते, तेन भवनवासिव्यंतरज्योतिष्कवैमानिका दशाष्टपंचद्वादशविकल्पा इति। वैमानिकानां द्वादशविकल्पांतःपातित्वे प्रसक्ते तद्व्यपोहनार्थं कल्पोपपन्नपर्यंतवचनं, ग्रैवेयकादीनां द्वादशविकल्पवैमानिकबहिर्भावप्रतीतेः। एतदेवाभिर्धीयते।

देव चार निकायवाले हैं, इस प्रकार अनुवृत्त किये जा रहे प्रथम सूत्रके साथ इस तृतीयसूत्रका चारों ओरसे सम्बन्ध हो रहा है। क्योंकि ग्रन्थकारको चारों निकायोंके अन्तरंग हो रहे भेदोंकी शिष्योंको प्रतिपत्ति करा देना प्रयोजन अभीष्ट हो रहा है। किन्तु फिर इस तृतीयसूत्रका द्वितीय सूत्रके साथ सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि आदिसे लेकर तीन निकायोंमें इत्यादि द्वितीय सूत्रवाक्यकरके कहे गये पीतपर्यन्त लेश्यावाले भवनत्रिक देवोंके कल्पोपपन्न पर्यन्तपनका अभाव है। चारों निकायके देव तो कल्पोपपन्नपर्यन्त कहे जा सकते हैं। तीन निकायके नहीं। तिस करके चारों देवनिकायोंका संख्यावाची दश, आठ, आदि संख्यावाचक शब्दोंके साथ यथासंख्य ठीक सम्बन्ध हो जाना जान लिया जाता है। तिस कारण इस सूत्रका अर्थ यों सुघटित हो जाता है कि भवनवासी देव दश प्रकारके हैं। व्यन्तरनिकायके देव आठ प्रकारके हैं। ज्योतिष्क देव पांच विकल्पोंको धार रहे हैं। और वैमानिक देवोंके अन्तरंग भेद बारह हैं। यहां सूत्रका उत्तरार्ध नहीं करनेपर सम्पूर्ण कल्पोपपन्न और कल्पातीत वैमानिकोंका बारह भेदोंके भीतर ही अन्तःप्रविष्ट हो जानेका प्रसंग प्राप्त हो जाता। उस अनिष्टप्रसंगका निराकरण करनेके लिये सूत्रकार कल्पोपपन्न पर्यन्त ऐसा वचन सूत्रके साथ लगाये देते हैं। क्योंकि ग्रैवेयक आदि विमानवासी कल्पातीत देवोंका बारह भेदवाले कल्पोपपन्न वैमानिक

देवोंसे पृथग्भाव प्रतीत हो रहा है। इस ही सिद्धान्तको श्रीविद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिक द्वारा युक्तिपूर्वक कह देते हैं।

चतुर्ष्वपि निकायेषु ते दशादिविकल्पकाः।
कल्पोपपन्नपर्यंता इति सूत्रे नियामतः ॥ २ ॥

चारों भी निकायोंमें वर्त रहे वे देव (पक्ष) दश, आठ, आदि विकल्पोंको धार रहे हैं। (साध्य) क्योंकि सूत्रमें ही कल्पोपपन्नपर्यन्त इस प्रकार नियम कर दिया गया है (हेतु)। सर्वत्र असंभवद्बाधकत्वात् इस युक्ति करके आगमोक्त सिद्धान्तोंका निर्णय हो जाता है।

चतुर्निकाया देवा दशादिविकल्पा इत्यभिसंबंधे हि वैमानिकानां द्वादशविकल्पांतःपातित्वप्रसक्तौ कल्पोपपन्नपर्यंता इति वचनान्नियमो युज्यते, नान्यथा। इन्द्रादयो दशप्रकारा एतेषु कल्प्यंत इति कल्पाः सौधर्मादयो रूढिवशान्न भवनवासिनः। कल्पेषूपपन्नाः कल्पोपपन्नाः साधनं कृता बहुलमिति वृत्तिः मयूरव्यंसकादित्वाद्वा, कल्पोपपन्नाः पर्यंते येषां ते कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ग्रैवेयकादिभ्य इति यावत्।

पहिले सूत्र और तीसरे सूत्रका दोनों ओरसे सम्बन्ध कर जब कि चार निकायवाले देव दश आदि भेदोंको धार रहे हैं, यह अर्थ बन बैठता है तो कल्पवासी और अहमिन्द्र इन सम्पूर्ण वैमानिक देवोंको बारह भेदोंके भीतर ही प्रविष्ट होनेका प्रसंग आया। ऐसी दशामें सूत्रकारको एक ही अवलम्बनीय उपाय हो रहे " कल्पोपपन्नपर्यन्त " इस कथनसे मर्यादाकी नियति कर देना युक्त पडता है। अन्य किन्हीं भी पातालफोड उपायोंसे उस अनिष्टप्रसंगका निवारण नहीं हो सकता है। इन्द्र, सामानिक, आदिक दश प्रकार इन देवोंमें वस्तुभूत कल्पित किये जा रहे हैं। इस कारण ये देव या सौधर्म आदिक सोलह स्वर्ग कल्प कहे जाते हैं। यद्यपि भवनवासी, व्यंतर, और ज्योतिष्क देवोंके स्थानोंमें भी इन्द्र, सामानिक, आदि यथासम्भव दश या आठ प्रकार वस्तुभूत कल्पे जारहे हैं। तथापि रूढिके वशसे सौधर्म आदि सोलह स्वर्ग ही कल्प हैं। भवनवासी आदिकोंके स्थान कल्प नहीं हैं। रूढि शब्दोंमें धात्वर्थ स्वरूप क्रियाका घटित करना केवल व्युत्पत्तिके लिये ही शोभता है, अर्थांशमें नहीं। उससे अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोषोंका परिहार नहीं होपाता है और करना भी नहीं चाहिये। "कल्पोपपन्ना" इस शब्दमें सप्तमी तत्पुरुष समास तो कल्पोंमें उपपाद जन्म द्वारा उपज चुके यों कर लेना चाहिये। " साधनं कृता बहुलं " इस सूत्रसे यहां तत्पुरुषवृत्ति होजाती है। यद्यपि " नखैर्भिन्नः नखभिन्नः स्वेन कृतं स्वकृतं " इत्यादि स्थलों पर साधनवाची शब्दका कृत् प्रत्ययान्त पदके साथ उक्त सूत्र करके समास होपाता है। फिर भी बहुलं शब्दकी सामर्थ्यसे अधिकरणवाचक सप्तम्यन्त पदका भी कृदन्त

शब्दके साथ सम्भव जाता है। यद्यपि पाणिनीय व्याकरण अनुसार " कर्तृकरणे कृता बहुलं " इस सूत्रोक्त बहुल शब्दको सर्वोपाधिव्यभिचारार्थ नियत किया है। फिर भी " क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति " बहुल शब्दके इस व्यापक अर्थका लक्ष्य कर " साधनं कृता बहुलं " इस सूत्र अनुकूल यहां वृत्ति कर लेनी चाहिये। अथवा इसमें कुछ अस्वरस होय तो " मयूरव्यंसकादयः " इस सूत्र अनुसार मयुरव्यंसक, आदि गणमें प्रविष्ट होनेसे " कल्पोपन्नाः यहां तत्पुरुष वृत्ति कर लेना। जिन देवोंके पर्यन्तमें कल्पोपपन्न देव हैं, वे देव कल्पोपपन्न पर्यन्त हैं यह बहुव्रीहि वृत्ति कर दी जाती है। ग्रैवेयक आदिसे पहिले पहिलके देव दश, आठ, पांच, बारह भेदवाले हैं, यह सूत्रका फलितार्थ हुआ।

अब स्वामीजी सूत्रकार पुनरपि उन निकायोंके विशेषोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये अगले सूत्रको रचते हैं।

इंद्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

१ परम ऐश्वर्यशाली और स्वकीय मण्डलका सर्वाधिकारी प्रभु इन्द्र है २ इन्द्रके समान परिवार, आयु आदिको धारनेवाले सामानिक देव हैं ३ मंत्री, पुरोहित आदि तेतीस देवोंका मण्डल त्रायस्त्रिंश है ४ सभामें बैठने वाले पारिषद हैं ५ इन्द्रकी मानूं रक्षा करनेके लिये नियुक्त होरहे, रुद्र चेष्टावाले और परचक्रको मारनेके लिये ही मानूं उद्यत होरहे तथा इंद्रके पीछे खडे रहनेवाले ऐसे देव आत्मरक्ष हैं ६ स्वकीय अधिकृत लोकप्रान्तको पाल रहे गवर्नर, कमिश्नर, कलक्टर, कौतवाल, आदि सरिखे देव लोकपाल हैं ७ सेनामें नियुक्त हो रहे देव अनीक हैं ८ पुरनिवासी या देशनिवासी जनोंके समान प्रकीर्णक देवोंका मण्डल है ९ वाहन, यान, सेवकत्व आदि क्रिया करनेमें आज्ञा अनुसार झटिति अभिमुख होनेवाले दाससमान देव आभियोग्य हैं १० भंगी, चाण्डाल, कसाई, आदिके समान पापबहुलदेवोंको किल्विषिक कहते हैं। यों एक एक निकायके ये इन्द्र आदिक दश विकल्प हैं।

अन्यदेवासाधारणाणिमादिगुणपरमैश्वर्ययोगादिंदंतीतींद्राः।

इन दशोंका विशेष अर्थ इस प्रकार है कि अन्य देवोंकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली असाधारण हो रहे अणिमा, गरिमा, प्रभुता आदि गुणस्वरूप परम ईश्वरताके योगसे जो प्रभावशाली होकर स्व निकायमें सर्वोपरि विराज रहे हैं, इस कारण वे इन्द्र देव कहे जाते हैं। देवोंमें भवनवासीके चालीस ४० व्यन्तरोंके बत्तीस ३२ कल्पवासियोंके चौबीस २४, ज्योतिषियोंमें सूर्य चन्द्र यों दो इस प्रकार

९८ इन्द्र या प्रतीन्द्र गिनाये गये हैं। किन्तु तीन निकायोंमें व्यक्तिभेदसे गिनती करनेपर ज्योतिष्क निकायमें असंख्याते इन्द्र और असंख्याते प्रतीन्द्र समझ लेने चाहिये। क्योंकि इस मध्यलोकमें असंख्याते चन्द्रमा और असंख्याते सूर्य हैं। चन्द्र विमानोंमें निवास कर रहे प्रधान देव इन्द्र हैं और सूर्यविमानोंके प्रधान अधिकारी देव प्रतीन्द्र हैं। सामानिक देवोंमेंसे प्रधान देव प्रतीन्द्र होता है। सभापति, उपसभापति या मंत्री, उपमंत्री, अथवा कलक्टर, डिप्टी कलक्टर, एवं तहसीलदार, नायब तहसीलदारके समान इन्द्र और प्रतीन्द्रका जोडा सुशोभित है।

आज्ञैश्वर्यवर्जितमायुर्वीर्यपरिवारभोगोपभोगादिस्थानीमैंद्रैः समानं तत्र भवाः सामानिका इन्द्रस्थानार्हत्वात्, समानस्य तदादेश्चेति ठक्। महत्तरपितृगुरूपाध्यायतुल्याः।

सम्पूर्ण अधिकृतोंके ऊपर आज्ञाप्रचार और उन सबके ऊपर ईश्वरता इन दो शक्तियोंको छोडकर शेष आयु, वीर्य, परिवार, भोगोपभोग, स्थान आदि व्यवस्थायें जिन देवोंकी इन्द्रोंके समान हैं उन देवोंके मण्डलको समान कहते हैं। उस समान नामक पिण्डमें होनेवाले देव सामानिक हैं। क्योंकि समय पडनेपर ये देव इन्द्रका स्थान प्राप्त करनेके लिये योग्य हैं, जैसे कि सभापतिकी अनुपस्थितिमें उपसभापति उस सभापति स्थानके योग्य समझा जाता है। समान शब्दसे "समानस्य तदादेश्च" इस तद्धित सम्बन्धी सूत्र करके ठक् प्रत्यय हो जाता है। ये सामानिक देवकुलमें सबसे बडे महत्तर या इन्द्रके माता, पिता गुरु, उपाध्याय, चाचा, ताऊ, आदिके सदृश हो रहे प्रतिष्ठित स्थानोंपर नियत होकर आदरणीय हैं। अर्थात्—जैसे आधुनिक, अत्रत्य, राजाओंके पिता, गुरु, पाठक, आदि पूज्यपुरुषोंका सद्भाव विशेष हर्षोत्पादक है तथैव इन्द्रका भी परिकर विद्यमान है। आवश्यक परिकरके विना सांसारिक सुख फीका रहता है। पुण्यके ठाठ तारतम्यको लिये हुये सर्वत्र एकसे हैं।

त्रयस्त्रिंशति जाताः त्रायस्त्रिंशाः "दृष्टे नाम्नि च जाते च अण्डिद्वा विधीयत" इत्यभिधानमस्तीति अण्डिद्विधीयते, कथं वृत्तिर्भेदाभावात्। मंत्रिपुरोहितस्थानीया हि ये त्रयस्त्रिंशदेवास्त एव त्रायस्त्रिंशा न तत्र जाताः केचिदन्ये संतीति दुरुपपादावृत्तिः। नैतत्सारं, संख्यासंख्येयभेदविवक्षायामाधाराधेयभेदोपपत्तेः, त्रयस्त्रिंशत्संख्या तदाधारः संख्येयास्तु यथोक्तास्तदाधेया इति सूपपादा वृत्तिः। अथवा त्रयस्त्रिंशदेवा एव त्रायस्त्रिंशाः स्वार्थिकोपि हृत" इति बहुत्वनिर्देशात् अंतिमादिवत्।

तेतीस नामक मण्डलीमें सद्भूत हुये देव त्रायस्त्रिंश कहे जाते हैं "तत्र जातः" इस सूत्रद्वारा त्रयस्त्रिंशत् शब्दसे अण् प्रत्यय कर लिया जाता है। दृष्ट अर्थमें और नाम अर्थमें तथा जात अर्थमें किया गया अण् प्रत्यय विकल्प करके डित् कर दिया जाता है, इस प्रकार शब्दशास्त्रका अभिधान है। इस कारण यह अण् प्रत्यय डित् किया गया "डित्यादि लोपः" डित् होनेसे अत् इतनी टि का

लोप होकर वृद्धि करते हुये त्रायस्त्रिंश शब्द बना लिया जाता है। यहां कोई आक्षेप करता है कि स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः यहां सप्तम्यन्त आधारभूत स्रुघ्न (आगरा नगर) से उसमें उत्पन्न हुये देवदत्त आधेयका भेद है। अतः तद्धितवृत्ति सुलभतया होजाती है। किन्तु तेतीसमें उत्पन्न हुये त्रायस्त्रिंश देव यहां आधार और आधेयमें कोई भेद नहीं दीख रहा है। मंत्री, पुरोहित, वाइसराय, वजीर, प्रधान, न्यायाधीश, आदि प्रतिष्ठित स्थानों (पदों) पर विराज रहे जो ही देव त्रयस्त्रिंशत् हैं, वे ही त्रायस्त्रिंश हैं। कोई उन त्रयस्त्रिंशत्में उपजे हुये न्यारे देव नहीं हैं। इस कारण भेद नहीं होनेसे यहां अण् प्रत्यय विधायक तद्धितवृत्ति कठिनतासे भी नहीं बन सकती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस आक्षेपमें कोई सार नहीं है। क्योंकि संख्या नामक भाव और संख्या करने योग्य भाववान् पदार्थोंके भेदको विवक्षा करने पर यहां आधारआधेयभाव बन जाता है। तेतीस नामकी संख्या उन देवोंका आधार है और यथायोग्य कहे गये अनुसार गणना किये गये देव तो उस संख्याके आधेय हैं। इस प्रकार तद्धित वृत्तिका बनना बहुत अच्छा घटित होजाता है। अर्थात्—नैयायिकोंके यहां निष्ठत्व, वृत्तित्व या समवेतत्व सम्बन्धसे जैसे गुणमें गुणी ठहर जाता है, उसी प्रकार गुण, गुणीमें कथंचित् अभेदको माननेवाले जैनोंके यहां तो अतीव सुन्दरतासे संख्यामें संख्येय ठहर जाता है। नैयायिक तो समवेतत्व आदि वृत्त्यनियामक सम्बन्धों करके आधेयोंमें आधारोंको धरते हैं। किन्तु स्याद्वादियोंके यहां डोरोंमें वस्त्र या वस्त्रमें डोरे और शरीरमें हाथ पांव या हाथ पांवोंमें शरीर इस ढंगसे संख्यामें संख्येयका निवास करना वृत्तिनियामक कथंचित् तादात्म्य सम्बन्धसे नियत होरहा है। अथवा कुछ अरुचि रही होय तो संतोषकारी उपाय यह है कि तेतीस देव ही त्रायस्त्रिंश हैं। इस प्रकार केवल निजप्रकृतिके अर्थको ही कहनेवाला स्वार्थक अण् प्रत्यय भी यहां किया जासकता है। जात अर्थमें होनेवाला अण् प्रत्यय स्वार्थमें भी होजाता है। क्योंकि " ह्रत " ऐसा एकवचन नहीं कर ह्रतः (तद्धिताः) यों बहुवचनान्त अधिकार सूत्रका कथन किया है। वह बहुवचन व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि स्वार्थमें भी तद्धित प्रत्यय होरहे हैं। जैसे कि अन्ते भवः अन्त्यः। अन्त्य एव अन्तिम, यहां स्वार्थमें डिमच् प्रत्यय होकर अन्तिम शब्द बना है। भेषजमेव भैषजं, शीलमेव शैली इत्यादिक पदोंमें स्वार्थिक प्रत्यय हुये हैं। इन्हींके समान यहां त्रायस्त्रिंश शब्दमें अण् प्रत्यय स्वार्थको ही कह रहा है, जात अर्थको नहीं।

परिषद्वक्ष्यमाणा तत्र जाता भवा वा पारिषदाः. पारिषत्ताद्भूतां कथंचिद्भेदात्ते च वयस्यपीठमर्दतुल्याः। आत्मानं रक्षंतीतीत्यात्मरक्षास्ते शिरोरक्षोपमाः।

सुधर्मा सभा या बाह्य परिषद, मध्यपरिषद, अभ्यन्तर परिषद, इस ढंगसे सभा या सभायें बखानी जावेंगी, उस (उन) सभामें सभ्य होकर उपज रहे अथवा सभाओंमें सद्भावको धार रहे देव पारिषद हैं। अर्थात्—यद्यपि वस्तुतः विचारा जाय तो सभा कोई जड पदार्थ नहीं है। अनेक जीवोंके समुदायको सभा कहते हैं। तथापि सभा और उस सभावाले देवोंका समुदाय समुदायीकी अपेक्षा कथंचित् भेद होजानेसे जात अर्थ या भव अर्थमें परिषद् शब्दसे अण् प्रत्यय कर दिया गया है।

अन्तिम उपाय स्वार्थिक अण् प्रत्ययका समझ लिया जाय। ये सभामें बैठनेवाले देव उस इन्द्रके समवयस्क मित्र (हम उमर) या पीठमर्द यानी सन्धिको करनेवाले संधानकारीपुरुष आदि सारिखे देव हैं, तथा आत्माकी (इन्द्रकी) रक्षा करते हैं, इस कारण वे देव आत्मरक्ष हैं। जैसे कि वर्तमानमें राजा महाराजाओंके शरीररक्षक या मस्तक (बौडी गार्ड) होते हैं उन्हींके समान ये हैं। यद्यपि इन्द्रोंका कोई शत्रु नहीं है, उनकी आयु मध्यमें छिन्न भी नहीं होसकती है। तीव्र पुण्य होनेसे उनपर कोई अकस्मात् आक्रमण भी नहीं करता है। फिर भी विभूतियों या ऋद्धियोंकी विशेषतया जो स्थापना होरही है, उस वस्तुस्थितिका निरूपण कर देना ही आचार्य महाराजका लक्ष्य है। इन सब परिकरोंके होनेसे प्रभुके प्रकर्ष रूपसे सदा प्रीति उपजती रहती है; आत्मगौरव झलकता रहता है। एक धनपति (सेठ) या महीपति (रईस) के बीस, पचास आदि सवारियां रहती हैं। यद्यपि उन सबका उपयोग नहीं होता है। किसी किसीका तो जन्मपर्यन्त भी उपभोग नहीं हो सका है। फिर भी सांसारिक सुखोंकी उत्पादक विशिष्ट पुण्यानुसारिणी सामग्री जो प्राप्त हुई है, वह टाली भी तो नहीं जा सकती है। अतः शिरोरक्षकोंके समान वे आत्मरक्ष देव इन्द्रके पीछे खडे रहनेवाले, रुद्र प्रवृत्तिक, शस्त्रास्त्रपरिवृत, शोभ रहे हैं।

लोकं पालयंतीति लोकपालास्ते चारक्षकार्थचरसमाः। अनीकानीवानीकानि तानि दंडस्थानीयानि गंधर्वानीकादीनि सप्त। प्रकीर्णा एव प्रकीर्णकाः ते पौरजानपदकल्पाः।

प्रजा समुदाय स्वरूप लोकको पालते रहते हैं, इस कारण वे देव लोकपाल कहे जाते हैं, अर्थचर या आरक्षक कर्मचारी जैसे आधुनिक राजाओंके होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रोंके यहां भी ये ठाठ लग रहे हैं। अर्थात्—गांव आदिमें नियुक्त हो रहे आरक्षिक सिपाहियोंको तलवर कहते हैं। राजाओंके करभाग (तहसील) को गृहीत (वसूल) करनेवाले कार्यमें नियोगी हो रहे अध्यक्षोंको अर्थचर कहते हैं, जो कि तहसीलदार, खजानची, कलक्टर, कमिश्नर आदि हैं। नगरके प्रबंध या रक्षामें नियुक्त हो रहा कोतवाल है। दुर्ग, किला आदिकी रक्षा करनेवाले महातलवर इत्यादिक अधिकारी लोकपाल माने गये हैं। प्रान्तोंके रक्षक चीफ कमिश्नर, लेफ्टीनेण्ट गवर्नर भी इन हीं लोकपालोंमें गणनीय हैं। यद्यपि स्वर्गोंमें तहसील प्राप्त करनेकी या गढकी रक्षा करने आदिकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी प्रकृष्ट हर्षकी उत्पादक सामग्री विद्यमान है। तथा सेनाके समान अनीक जातिके वे देव अनीक कहे जाते हैं। प्रजारक्षणमें विघ्न डालनेवाले परचक्रको दण्डनीति अनुसार दण्डव्यवस्था कर देनेवाला विभाग दण्ड है। ऐसे सेनाके स्थानपर नियुक्त हो रहे गंधर्वानीक १ हस्त्यनीक २ अश्वानीक ३ रथानीक ४ पदात्यनीक ५ वृषभानीक ६ नर्तकी अनीक ७ इन सात प्रकारकी सेनाओंसे उपलक्षित सात जातिके अनीक देव हैं। जैसे यहां राजप्रासादोंके इधर उधर निकटवर्त्ती प्रदेशोंमें नगर निवासी नागरिक अथवा देशनिवासी या प्रान्तनिवासी महोदय सज्जन विराजते हैं, उन पौर या

जानपद, महाशयोंके सदृश इतस्ततः फैल रहे ही वे प्रकीर्णक जातिके देव हैं। जो कि महाराजाके समान इन्द्रके नागरिक या राष्ट्रीय जनोंके तुल्य ये देव भी विशिष्ट हर्षके उत्पादक हैं।

वाहनादिभावेनाभिमुख्येन योगोभियोगस्तत्र भवा अभियोग्यास्त एव आभियोग्याः इति स्वार्थिकः यण् चातुर्वर्ण्यादिवत्, अथवा अभियोगे साधवः आभियोग्याः अभियोगमर्हतीति वा आभियोग्यास्ते च दाससमानाः। किल्बिषं पापं तदेषामस्तीति किल्बिषिकाः तेंत्यवासिस्थानीयाः। एकैकस्य निकायस्यैकश इति वीप्सार्थे शस्।

सवारी ले जाना, ले आना, ऐसे वाहन, या दास्य कर्म आदि परिणतिरूपसे अभिमुखपने करके जो योग यानी कटिबद्धपना है, वह अभियोग कहा जाता है। उस अभियोगमें विद्यमान हो रहे देव अभियोग्य हैं और वे ही देव आभियोग्य कहे जाते हैं। भव अर्थमें अभियोग्य शब्द बनाकर पुनः स्वार्थिक यण् प्रत्यय किया गया है, जैसे कि चतुर्वर्णा एव चातुर्वर्ण्य, चतुराश्रमा एव चातुराश्रम्यं, त्रिलोका एव त्रैलोक्यं, त्रिकाला एव त्रैकाल्यं, आदिक पदोंमें स्वार्थिक यण् प्रत्यय किया गया है। अथवा अभियोगे साधवः आभियोग्याः यों " तत्र साधुः " इस सूत्र द्वारा यण् प्रत्यय किया जा सकता है और अभियोगको करनेके लिये जो समर्थ हो रहे हैं, वे अभियोग्य हैं, इस अर्थमें भी आभियोग्य शब्दको बना लिया जाता है, चाकर, दासों (खिदमदगार) के समान ये देव हैं। किल्बिष यानी पाप जिन देवोंके विशेषतया विद्यमान है, इस कारण वे देव किल्बिषिक हैं। ग्राम या नगरके अन्तिमभागमें बस रहे चाण्डाल, श्वपच, भंगी, चर्मकार आदि निकृष्ट मनुष्योंके स्थानापन्न हो रहे ये देव हैं। यद्यपि यहांके चाण्डालोंके नीचगोत्रका उदय है और देवोंमें सबके उच्चगोत्रका ही उदय है। फिर भी कोई लौकिक विभूतिका परिकर रिक्त नहीं हो जाय, इसलिये यथायोग्य जितना सम्भव हो सके उतना उपमान उपमेयभाव घटित कर लेना चाहिये। एकशः यहां एक एक निकायके यों अर्थ कर वीप्सा अर्थमें शस् प्रत्यय किया गया है। यानी एक एक देव निकायके ये इन्द्र आदिक दश दश भेद पाये जाते हैं।

कुतः पुनरेकैकस्य निकायस्येंद्रादयो दशविकल्पाः प्रतीयंत इत्यावेदयति।

तर्काभिलाषी कोई जिज्ञासु पूंछता है कि फिर यह बताओ कि एक एक निकायके ये इन्द्र, सामानिक, आदिक दश भेद भला किस प्रमाणसे निर्णीत किये जा सकते हैं? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिक द्वारा समाधानकोटिका निवेदन करे देते हैं।

इन्द्रादयो दशैतेषामेकशः प्रतिसूत्रिताः।
पुण्यकर्मविशेषाणां तद्धेतूनां तथा स्थितेः॥ १॥

एक एक निकायके प्रति इनके इन्द्र आदिक दश भेद श्री उमास्वामी महाराजने सूत्र द्वारा ठीक निरूपण किये हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि उन इन्द्र, सामानिक आदिके हेतु हो रहे विशेष विशेष पुण्यकर्मोंकी तिस प्रकार व्यवस्था हो रही है (हेतु)।

यथैव हि देवगतिनामपुण्यकर्मसामान्यादेवास्तद्विशेषभवनवासिनामादिपुण्योदयाच्च भवनवास्यादयस्तथैवेंद्रादिनामपुण्यकर्मविशेषेण इंद्रादयोपि संभाव्यंते, तेषां तद्धेतूनां युक्त्यागमाभ्यां व्यवस्थितेर्बाधकाभावात्।

जिस ही प्रकार गति नामकर्मकी उत्तर प्रकृति हो रही सामान्य देवगति नामक पुण्यकर्मके उदयसे उक्त चारों निकायके जीव देव हो रहे हैं और उस देवगतिके भी उत्तरोत्तर भेद हो रहीं भवनवासी, व्यंतर या असुरकुमार, किन्नर आदि विशेष पुण्यप्रकृतियोंका रसोदय हो जानेसे भवनवासी व्यंतर, असुर, किन्नर, आदि देव हो जाते हैं उसी प्रकार देवगतिके भेद, प्रभेद, हो रहे इन्द्र, सामानिक, आदिक नामकर्म और अन्य शुभनाम, सातावेदनीय, शुभगोत्र इन पुण्यकर्म विशेषोंके उदयसे इन्द्र आदिक भेद भी हो रहे सम्भव जाते हैं, भिन्न भिन्न कारणोंसे भिन्न भिन्न कार्योंकी उत्पत्ति हो जानेका नियम है। उन इन्द्र आदिकोंके सूचक हेतु हो रहे उन पौद्गलिक कर्म विशेषोंकी युक्ति प्रमाण और आगमप्रमाण करके सुव्यवस्था हो रही है। कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः मनुष्यों या पशुओंकी भिन्न भिन्न सूरतें, मूरतें, सुख, दुःख, बुद्धि, वैभव, आदिके समान देवोंके इन्द्र अहमिन्द्र आदि भेद भी पौद्गलिक कर्मविशेषोंके अनुसार सुघटित हो जाते हैं। "असंभवद्बाधकत्वाद्धेतुसिद्धिः"।

यों तो इन्द्र आदिक दशों भेद चारों भी निकायोंमें उत्सर्गविधिद्वारा प्रसंग प्राप्त हुये। तिस कारण अपवाद करनेके लिये विशेषसूत्रको श्री उमास्वामी महाराज कहते हैं।

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यंतरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

व्यन्तर और ज्योतिष्क निकायसम्बन्धी देव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जातिके देवोंसे रहित हैं।

इन्द्रादिदशविकल्पानामुत्सर्गतोऽभिहितानां चतुर्षु निकायेष्वविशेषेण प्रसक्तौ तदर्थमिदमुच्यते।

सामान्यरूपकरके उत्सर्गविधिसे कहे जा चुके इन्द्र, सामानिक, आदि दश भेदोंका जब चारों निकायोंमें विशेषरहित होकरके प्रसंग प्राप्त हुआ तो उस कुछ अनिष्टप्रसंगके निवारणार्थ श्री उमास्वामी महाराज इस अपवाद सूत्रको बखानते हैं। अपवाद नियमोंको ढालकर अतिरिक्त स्थानोंपर अनपोदित उत्सर्गविधियां प्रवर्तती हैं " अपवादा उत्सर्गविधिं बाधन्ते "

कुतः पुनर्व्यंतरा ज्योतिष्काः त्रायस्त्रिंशैर्लोकपालैश्च वर्ज्या येन तेष्टविकल्पा एव स्युरित्यारेकायामिदमाह।

कोई यहां शंका करता है कि क्या कारण है ? जिससे फिर व्यन्तर और ज्योतिष्क निकाय-वाले देव बिचारे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल करके वर्जित हो रहे हैं, जिससे कि वे व्यन्तर या ज्योतिष्क देव इन इन्द्र, सामानिक, पारिषद, आत्मरक्ष, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्विषिक, आठ विकल्पवाले ही समझे जांय, इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्त्तिक द्वारा इस वक्ष्यमाण समाधानको कहते हैं ।

तत्रापि व्यंतरा वर्ज्या ज्योतिष्काश्चोपवर्णिताः ।
त्रायस्त्रिंशैस्तथा लोकपालैस्तद्धेत्वसंभवात् ॥ १ ॥

उन चारों निकायोंमें भी व्यंतर और ज्योतिष्क ये दो निकाय तिस प्रकार तेतीस देव और लोकपाल देवों करके रीते हो रहे आगम द्वारा कहे गये हैं । क्योंकि उन त्रायस्त्रिंश और लोकपालोंके उत्पादक हेतु विलक्षण जातीय पुण्यविशेषका दो निकायोंमें सम्भव नहीं है । अर्थात्—राजाओंको विशेष जातिका पुण्य होनेपर ही निहोरे करते हुये, हितशासक, मंत्री, पुरोहित, आदिक पुरुष प्राप्त हो सकते हैं । वैसा पुण्य इन दो निकायोंमें नहीं है । तथा राजा बने विना ही पूर्ण राज्यपर अधिकार करना, यथायोग्य मनमानी चलाना, अधिकृत प्रजा वर्गसे अपनी प्रार्थना करवाना, आदि जातिका पुण्य भी किन्हीं किन्हीं जीवोंके होता है । वे ही मंत्री, पुरोहित आदिके स्थानापन्न हो सकते हैं । राजाकी हानि हो या लाभ हो इनको दोनों अवस्थाओंमें निश्चिन्तता है । सुकाल पडे, परचक्रके साथ युद्ध नहीं होय अच्छा ही है । किन्तु यदि दुष्काल पड जाय अथवा परचक्रसे लडाई छिड जाय इनको वैसी चिन्ता या आकुलता नहीं है, जैसी कि व्याकुलता राजाको सताती है । अतः दो निकायोंमें उक्त दो भेद नहीं माने गये हैं ।

न हि व्यंतरज्योतिष्कनिकाययोस्त्रयस्त्रिंशल्लोकपालनामपुण्यकर्मविशेषस्त्रायस्त्रिंशलोकपालदेवविशेषकल्पनाहेतुरस्ति यतस्तयोस्त्रायस्त्रिंशलोकपालाश्च स्युरिति तद्वर्ज्यास्ते देवाः तदतिशयविशेषस्य प्रतीतिहेतोर्निकायांतरवत्तत्रासंभवात् ।

उक्त वार्तिकका व्याख्येय अर्थ यह है कि व्यंतर और ज्योतिष्क दो निकायके देव आत्माओंके त्रयस्त्रिंशत् और लोकपाल नामक विशेष पुण्य कर्मोंका सद्भाव नहीं है, जो कि त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जातिके विशेष देवोंकी वस्तुभूत कल्पनाका कारण माना गया है, जिससे कि उन मध्यवर्ती दो निकायोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देव हो जावें। इस कारण वे व्यन्तर और ज्योतिष्कदेव उन त्रायस्त्रिंश और लोकपालोंसे वर्जे गये हैं। क्योंकि त्रायस्त्रिंश और लोकपालकी प्रतीतियोंके कारण हो रहे उन अतिशय उक्त पुण्यविशेषोंका अन्य निकायोंके समान उन दो निकायोंमें असम्भव है । अर्थात्—अन्य दो निकाय भवनवासी और कल्पवासी देवोंके तो तादृश पुण्यविशेष हैं, जिससे कि उनमें त्रायस्त्रिंश और

लोकपाल देव उपज जाते हैं। विशिष्ट कार्यके उत्पादक अतिशयवाले कारणोंके नहीं होनेसे व्यन्तर और ज्योतिष्क देव उन दो कल्पनाओंसे वंचित है। जहां कारण होगा वहीं कार्य उपजेगा। मध्यवर्त्ती निकायोंमें कारणोंके वश इन्द्र आदि आठ भेद हैं। किन्तु भवनवासी और कल्पवासियोंमें दशोंके हेतु सातिशय पुण्यविशेषोंका सद्भाव होनेसे दशों प्रकार जातिके देव पाये जाते हैं।

अब कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उन चारों निकायोंमें क्या एक ही एक इन्द्र है ? अथवा क्या कोई अन्य नियम (अपवाद) है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

पूर्वकी भवनवासी, व्यन्तर, इन दो निकायोंमें समुदित होरहे देव अपने प्रभु दो दो इन्द्रोंको धारनेवाले हैं। अर्थात्—दो दो इन्द्रोंके आधिपत्यमें इन देवोंकी टोलीको रहना पडता है। प्रत्येक देव तो एक ही इन्द्रके अधीन है। किन्तु समुदाय अपेक्षा यह कथन है।

भवनवासिव्यंतरनिकाययोः पूर्वयोर्देवा द्वींद्रा न पुनरेकेंद्रा निकायांतरवदिति प्रतिपत्त्यर्थमिदं सूत्रं। पूर्वयोरिति वचनं प्रथमद्वितीयनिकायप्रतिपत्त्यर्थं, तृतीयापेक्षया द्वितीयस्य पूर्वत्वोपपत्तेः द्विवचनसामर्थ्याच्चतुर्थापेक्षया तृतीयस्य पूर्वत्वेप्यग्रहणादप्रत्यासत्तेः।

पूर्ववर्त्ती भवनवासी और व्यंतर इन दो निकायोंमें देव दो दो इन्द्रवाले हैं। किन्तु फिर ज्योतिष्क या कल्पवासी इन अन्य निकायोंके समान एक एक इन्द्रवाले देव ये नहीं है। इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराजने यह सूत्र रचा है। चाहे हजारों, लाखों, असंख्यों, भी पदार्थ होवें उन सबका पूर्ववर्त्ती (पहिला) पदार्थ एक ही होगा। अतः प्रथम वाचक पूर्वशब्दकी एक वचनमें ही सामर्थ्य है। आद्य अर्थको कह रहे पूर्व शब्दका द्विवचन या बहुवचन अलीक ही समझा जाता है। किन्तु यहां सूत्रमें पूर्वयोः इस प्रकार द्विवचन ओस् विभक्तिवाले पदका वचन है, जो कि पहिली निकाय भवनवासी और दूसरी निकाय व्यन्तरदेवोंकी प्रतिपत्ति करनेके लिये है। प्रथमका प्रत्यासन्न होनेसे द्वितीयको द्विवचनकी सामर्थ्यसे पकड लिया जाता है। तृतीयकी अपेक्षा करके द्वितीयको पूर्वपना न्यायसे भी बन जाता है। द्विवचनकी सामर्थ्यसे पहिले और दूसरे निकायोंका पूर्वपना सुघटित है। यद्यपि चतुर्थ वैमानिक निकायकी अपेक्षासे तीसरी ज्योतिष्क निकायको पूर्वपना है, तो भी निकटवर्त्तिता नहीं होनेसे प्रथमके साथ तृतीयका ग्रहण नहीं किया जा सकता है। हां, निकटवर्त्ती होनेसे प्रथमका संगी द्वितीय बन जाता है। अर्थात्—" उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पने मानाभावः "। प्रधानाध्यापकमें द्वित्वकी अनुपपत्ति होनेपर द्वितीयाध्यापक (सेकिंड मास्टर) को उसका संगी बना कर दोषनकी रक्षा कर ली जाती है। चौथे, पांचवे, अध्यापकको मिला कर नहीं।

द्वौ द्वौ इन्द्रौ येषां ते द्वींद्रा इत्यंतर्नीतवीप्सार्थो निर्देशः । द्विपदिका त्रिपदिकेति यथा वीप्सायां वुनो विधानादिह वीप्सांगतिर्युक्ता न प्रकृते किंचिद्विधानमस्ति । तर्हि सप्तपर्णादिवद्भविष्यति वीप्साविधानाभावेपि वीप्सासंप्रत्ययः । पूर्वयोर्निकाययोर्द्वौ द्वाविंद्रौ देवानामिति निकायनिकायिभेदविवक्षावशादाधाराधेयभावोपपत्तेः सिध्यत्येव ।

निकायवाले जिन देवोंके दो दो इन्द्र हैं वे देव दो इन्द्रोंवाले हैं, इस प्रकार साकल्येन व्यापनेकी इच्छा रखते हुये पुनः पुनः कथन करना स्वरूप वीप्साको अन्तरंग गर्भमें प्राप्त कर इस सूत्रका अर्थ निर्देश किया जाता है । कोई आक्षेप करता है कि जिस प्रकार द्विपदिका, त्रिपदिका, द्विशतिका आदि पदोंमें " पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च " इस सूत्र करके वुन् प्रत्ययका विधान होजानेसे यहां वीप्साका परिज्ञान होना समुचित है । किन्तु प्रकरणप्राप्त " द्वीन्द्राः " इस पदमें कोई प्रत्ययका विभाग नहीं श्रूयमाण है । ऐसी दशामें यहां वीप्साका अन्तर्गर्भ कैसे समझा जायगा ? अर्थात्—द्वौ द्वौ पादौ ददाति इति द्विपदिकां ददाति, दुगुना दुगुना दो भागोंको देरहा है, द्विपदिका शब्दसे दो पादका गीत समझा जाता है । जिस गीत या पदमें दो दो पादोंकी टेक गानी पडती है या तीन तीन पदोंकी टेक जहां गायी जाती है वह त्रिपादिका गीति है । पंक्तिबद्ध तीन तीन पायोंवाली लम्बी, चौडी, तिपाईको भी त्रिपादिका कह सकते हैं । यहां द्विपदिका, त्रिपदिका, शब्दोंमें वुन् प्रत्ययसे वीप्सा अर्थ उक्त होजाता है । वु को अक आदेश कर देते हैं । किन्तु वैसा कोई प्रत्यय द्वीन्द्राः शब्दमें नहीं है । अब आचार्य कहते हैं कि तब तो सप्तपर्ण, अष्टापद आदिके समान वीप्सा वाचक प्रत्ययका विधान नहीं होते हुये भी वीप्सा अर्थकी भले प्रकार प्रतीति होजावेगी । जिस वृक्षके एक एक पर्वमें सात सात पत्ते लग रहे हैं वह वृक्ष सप्तपर्ण है, पंक्ति पंक्तिमें आठ आठ पांववाला द्यूत खेलनेका नकशा अष्टापद है, इसी प्रकार दो दो इन्द्रवाले निकाय द्वीन्द्र हैं । पूर्ववर्त्ती दो निकायोंमें निवास कर रहे देवोंके दो दो इन्द्र हैं । इस प्रकार निकायोंको कह रहे पूर्वयोः यह द्विवचनान्त सप्तमी और देवोंको कह रहे द्वीन्द्राः इस प्रथमान्त विभक्तिसे युक्त होरहे पदोंके वाच्य अर्थोंका निकाय और निकायी यानी समूह और समूहीके भेदकी विवक्षाके वशसे आधार आधेयभाव होजाना विचार लिया जाता है । पूर्वयोः शब्दको षष्ठी विभक्तिवाला पद माना जाय तो भी कोई क्षति नहीं है । अतः धान्योंकी राशि, रुपयोंका ढेर, रुपयेमें चांदी, मेलेमें मनुष्य इस ढंगसे अभिन्न पदार्थोंमें कथंचित् भेद, अभेदकी विवक्षा होजाती है " सिद्धिरनेकान्तात् " ।

द्वींद्रा निकाययोर्देवाः पूर्वयोरिति निश्चयात् ।
तत्रैकस्य प्रभोर्भावो नेति ते स्तोकपुण्यकाः ॥ १ ॥

उक्त सूत्रका युक्तिपूर्वक अर्थ वार्त्तिकमें यों किया जाता है कि पूर्ववर्त्ती दो निकायोंमें बस रहे देव दो दो इन्द्रवाले हैं, यह सिद्धान्तशास्त्रद्वारा निर्णीत है । उन दो निकायोंमें केवल एक ही प्रभूका

सद्भाव नहीं है। कारण कि वे देव स्वल्प पुण्यवाले हैं अथवा वे दो दो इन्द्र स्वयं हीनपुण्य हैं। (प्रतिज्ञा हेतु)। अर्थात्—जब अधिकृतोंका पुण्यमन्दशक्तिक हो जाता है तभी अधिकृत प्रजावर्गके एकसे अधिक दो तीन आदिक नेता प्रभु बन बैठते हैं। अच्छे पुण्यशाली जीव या तो स्वयं प्रभु होते हैं अथवा एक ही प्रभुके तंत्र होकर रहते हैं। " अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायकाः, एकः कृती शकुन्तेषु योन्यं शक्रान् न याचते " इन पद्योंसे उक्त अर्थ ध्वनित होता है। दूसरी बात यह है कि जिस पदार्थके दो अधिकारी हैं वे स्वयं दोनों स्वल्प पुण्यवान् हैं। छोटा या बडा यथायोग्य कोई कार्य होय उसका अधिकार एक व्यक्तिको ही प्राप्त होय तभी आधिपत्यका कर्तव्य पूर्णरीत्या निभता है। संशयालु स्वामीको एक देश, एक काल, एक ही कार्यपर समान शक्तिवाले दो अधिकारियोंका नियुक्त करना दो नावोंपर चढनेके समान भयावह है। "एको गोत्रे स भवति पुमान् यः कुटुम्बं बिभर्ति एकपतिव्रत " आदि वाक्य एकस्वामित्वको प्रतिपादन करनेमें तत्पर हैं। अतः हीनपुण्यवाले पूर्ववर्ती दो निकायोंमें दो दो इन्द्र हैं।

भवनवासिनिकाये असुराणां द्वाविंद्रौ चमरवैरोचनौ, नागकुमाराणां धरणभूतानंदौ, विद्युत्कुमाराणां हरिसिंहहरिकांतौ, सुपर्णकुमाराणां वेणुदेववेणुधारिणौ, अग्निकुमाराणां अग्निशिखाग्निमाणवौ, वातकुमाराणां वैलंबनप्रभंजनौ, स्तनितकुमाराणां सुघोषमहाघोषौ, उदधिकुमाराणां जलकांतजलप्रभौ, द्वीपकुमाराणां पूर्णवशिष्टौ, दिक्कुमाराणां अमितगत्यमितवाहनौ। तथा व्यंतरनिकाये किन्नराणां किन्नरकिंपुरुषौ, किंपुरुषाणां सत्पुरुषमहापुरुषौ, महोरगाणामतिकायमहाकायौ, गंधर्वाणां गीतरतिगीतयशसौ, यक्षाणां पूर्णभद्रमाणिभद्रौ, राक्षसानां भीममहाभीमौ, पिशाचानां कालमहाकालौ, भूतानां प्रतिरूपाप्रतिरूपौ। एवमेतेषामेकैककस्य प्रभोरभावात्ते स्तोकपुण्याः प्रभवो निर्ध्वायंते।

भवनवासी नामक पहिली निकायमें निवस रहे असुरकुमार जातिके देवोंके चमर और वैरोचन नामके दो इन्द्र हैं। नागकुमार जातिके देवोंके प्रभु धरण और भूतानन्द दो इन्द्र हैं, विद्युत्कुमार देवोंके अधिकारी हरिसिंह और हरिकान्त दो इन्द्र हैं, सुपर्णकुमार जातिके असंख्य देवोंके नेता वेणुदेव और वेणुधारी ये दो इन्द्र हैं, अग्निकुमार जातिके असंख्याते भवनवासी देवोंके अधिपति अग्निशिख और अग्निमाणव हैं, वातकुमार भवनवासियोंके स्वामी वैलम्ब और प्रभंजन ये दो इन्द्र हैं, स्तनितकुमार देवोंके परिवृढ तो सुघोष और महाघोष ये दो इन्द्र हैं, उदधिकुमार देवोंके अधिप जलकान्त और जलप्रभ ये दो इन्द्र हैं, द्वीपकुमारोंके नायक पूर्ण और वशिष्ट ये दो इन्द्र हैं तथा असंख्याते दिक्कुमार जातीय भवनवासियोंके ईश अमतिगति और अमितवाहन इन्द्र हैं। तिसी प्रकार व्यन्तर नामकी दूसरी निकाय में किन्नर जातीय देवोंके अधिनायक किन्नर और किम्पुरुष इन्द्र हैं, किम्पुरुष जातीय असंख्य व्यन्तर देवोंके ईश्वर सत्पुरुष और महापुरुष दो इन्द्र हैं, महोरग जातीय व्यन्तरोंके पति अतिकाय और महा-

काय ये दो इन्द्र हैं, गन्धर्व जातीय व्यन्तरोंके नाथ गीतरति और गीतयशा ये दो इन्द्र हैं, यक्ष जातीय व्यन्तरोंके अधीश पूर्णभद्र और माणिभद्र ये दो इन्द्र हैं। राक्षस जातीय असंख्यात व्यन्तर देवोंके ईश्वर भीम और महाभीम दो इन्द्र हैं। पिशाच नामक व्यन्तरोंके अधीश्वर काल और महाकाल दो इन्द्र हैं। भूतोंके आज्ञापक प्रतिरूप और अप्रतिरूप दो दो इन्द्र हैं। इस प्रकार इन असुरकुमार, किन्नर आदि देवोंके एक एक ही प्रभुके नहीं होनेसे वे देव स्तोकपुण्यवाले और वे प्रभु भी स्तोक पुण्यवाले निश्चित किये जाते हैं। " अधिकस्याधिकं फलम् " यह कचित्की नीति यहां लाभप्रद नहीं है। स्त्रीके एक पति समान प्रजाजनोंका एक पति ही बना रहे यही सर्वतोभद्र है। अनेक सदस्योंकी बहुसम्मति या सर्वसम्मतिके अनुसार हो रहे कार्योंका अनुमोदन करनेवाले महाशय भी एक प्रभुताकी नीतिका उल्लंघन नहीं कर सके हैं। इत्यलं प्रपंचेन।

इन देवोंके सुख किस प्रकारका है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको उतारते हैं।

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

ऐशान नामक स्वर्गतक काय द्वारा मैथुन सेवन करनेवाले देव हैं। अर्थात्—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क इन भरपूर तीनों निकायोंमें और सौधर्म, ईशान, स्वर्गसम्बन्धी देवोंमें मनुष्योंके समान काय द्वारा देवदेवियोंके मैथुन व्यवहार है।

प्रतिपूर्वाच्चरेः संज्ञायां घञ् प्रविचरणं प्रवीचारो मैथुनोपसेवनं। काये प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः। असंहितानिर्देशोऽसंदेहार्थः। ऐशानादित्युच्यमाने हि संदेहः स्यात् किमाङन्तर्भूत उत दिक्छब्दोध्याहार्य इति विपर्ययो वा स्यात्। ऐशानात् पूर्वयोरित्यनुवर्तमानेनाभिसंबंधात्। असंहितानिर्देशे तु नायं दोषः।

प्रति उपसर्ग पूर्वक चर धातुसे संज्ञा अर्थमें घञ् प्रत्यय किया गया है। प्रविचरणभाव ही प्रवीचार है, इसका अर्थ मैथुनका उपसेवन करना है। जिन देवोंका प्रवीचार कायमें होता है वे देव कायप्रवीचार हैं, यों बहुव्रीहि समास कर लिया है। इस सूत्रमें आङ्निपात और ऐशान इन दो पदोंमें संधि करके नहीं कथन करना तो असंदेहके लिये है। यदि दोनोंके स्थानमें ऐच् एकादेश कर ऐशानात् यों सूत्र कहा गया होता तो श्रोताओंको संदेह हो सकता था कि यहां आङ् अन्तर्भूत छिपा हुआ है ? अथवा क्या आङ् छिपा हुआ नहीं है ? ऐसी दशामें पूर्व प्रत्यक् आदि दिशावाचक शब्दका अध्याहार करने योग्य है। ऐशानसे पूर्व दिशातक यों अर्थ होगा तभी " अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहि युक्ते " इस सूत्रद्वारा ऐशानात् यह पंचमी विभक्ति होसकती है। अथवा पूर्वयोः इस पदकी पूर्वसूत्रसे अनुवृत्ति करके ऐशानसे पूर्ववर्ती देवोंमें कायप्रवीचार यों

अभिसम्बन्ध होजानेसे विपरीत अर्थ होजानेका प्रसंग होजाता है। ऐशानके पूर्वमें तो कोई निकाय नहीं है। ऐशान स्वयं एक चौथी वैमानिक निकायके व्याप्य माने गये कल्पोपपन्नका व्याप्य होरहा है, तथा ऐशानमें भी तो कायप्रवीचार व्यवस्थित रखना है। हां, सन्धिको नहीं कर सूत्र कथन करनेपर तो यह कोई दोष नहीं आता है। आङ्को उडा देनेपर अनिष्ट होजानेका संशय है। क्योंकि पूर्वयोः का अधिकार चला आरहा है। अतः कथमिमे सन्देह नहीं होय इसलिये सूत्रकारने "आ ऐशानात्" ऐसा संधिरहित सूत्रनिर्देश कर दिया है। कुछ संक्लेश उत्पादक कर्मोंका विपाक होनेसे ये विचारे देव मनुष्योंके समान स्त्रीसम्बन्धी विषयसुखोंका अनुभव करते हैं। यही वहांकी देवियोंकी व्यवस्था है।

देवाः कायप्रवीचारा आ ऐशानादितीरणात्।
चतुर्ष्वपि निकायेषु सुखभेदस्य सूचनं ॥ १ ॥

भवनवासी देवोंसे प्रारम्भ कर ईशान स्वर्गवासी देवोंतक काय द्वारा मैथुनप्रवृत्ति करनेवाले देव हैं, इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके इस सूत्र द्वारा कथन करनेसे चारों भी निकायोंमें सुख विशेषकी सूचना कर दी गयी है। अर्थात्—देवोंके पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोगोंकी पुष्कल सामग्री विद्यमान है। स्पर्शन इन्द्रियजन्य पुष्पशय्यान्वित कोमलवस्त्रोंपर विलोडन, सुन्दर वस्त्र आभूषणोंका परिष्वंग, कल्पवृक्ष या कल्पलताओंके सुकोमल पुष्प, पत्र, प्रवाल आदिका स्पर्शन, चेतोहर सदा युवति देवांगनाओंका माहेन्द्र स्वर्गतक आलिंगनार्थ सोत्साह उपनर्पण, इत्यादिक स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी भोग उपभोग वहां परिपूर्ण हैं। देवोंके मानसिक आहार है। मनुष्य या पशु, पक्षियोंके समान कवलाहारको वे नहीं करते हैं। अतीव मन्द क्षुधावेदनीय कर्मके उदय या उदीरणा होनेपर उसी समय देवोंके कण्ठसे परमदिव्य शक्तिधारी अनेकरसपूर्ण अमृतमय रसीला लारसारिखा पदार्थ झरता है, जो कि महती तृप्तिका सम्पादक है। सूक्ष्मपर्यालोचना करने पर प्रतीत होजाता है कि मनुष्य या पशु भी कवलाहार द्वारा जो षट्रस युक्त पदार्थोंका स्वाद लेते हैं, उस आनन्द प्राप्तिमें भी स्वकीय मुखसे निकली हुई लारको विशेष सहायक मानना चाहिये। यद्यपि पौद्गलिक भोज्य पदार्थोंमें रसपरिणति विद्यमान है। किन्तु भिन्न भिन्न प्रकृतिके जीवोंकी न्यारे न्यारे भोज्य पदार्थोंसे उत्पन्न हुई लारकी बौछारें ही स्वादजन्य सुखविशेषोंको उपजानेमें प्रेरक निमित्त हैं। क्षुधापीडित दो महीनेके बच्चेके मुखमें अंगुली या रबडकी स्तनी मुखमें दे देनेपर उसी समय उसके मुखसे लारके फुव्वारे छूटते हैं। और कुछ देरतक बच्चेको तृप्ति हो जाती है। तीर्थंकरके जन्मकालमें देवों द्वारा भगवान्के अंगूठेमें अमृतका स्थापन करना इसी रहस्यको ध्वनित करता है। भैंस गायके मुखमें लार मिल जानेपर घास या भुस विशेष सुस्वाद हो जाते हैं। ऊंटके मुखमें नींबके पत्ते, उन राजाओंके षट्रसपूर्ण व्यंजनोंसे कहीं अधिक आनंदके उत्पादक हैं। गेंडुआके मुखमें मिट्टीके साथ उसकी लारके मिल जानेपर वह और बहुत सुस्वादु हो जाता है। उपवास या एकासन व्रतकी अवस्थामें कदाचित्

छाती (कलेजा) पर शुष्कता आनेपर या मुंहमें सूखट आनेपर लार करके उस शुष्कताको मिटा लिया जाता है। मुनिजन भी दिन या रातमें स्वकीय पुरुषार्थसे लारको उपजा कर उक्त क्रिया करते हुये दोषभाजन नहीं हो जाते हैं। हां, मुखमें अंगुली डालकर चचोरते हुये अधिक लारको उपजानेके लिये उन्हें आतुर नहीं होना चाहिये। कवलाहारियोंके भोजनमें लार मिल जानेपर वह सुस्वाद्य भी सुपाच्य हो जाता है। कोई मनुष्य तो लार मिलानेके लिये दूध या पानीको रोंधकर पीते हैं, अस्तु। मनुष्य या पशुपक्षियोंके स्पर्शन-इन्द्रियजन्य या रसना-इन्द्रियजन्य सुखोंकी प्राप्ति करनेमें उनके शारीरिक धातुओं या लारोंका क्षय जैसे होता है, उसी प्रकार घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों द्वारा विशिष्ट भोग उपभोग करते हुये भी शरीरसम्बन्धी उपधातुओंका व्यय (खर्च होना) प्रवर्तता रहता है, तभी तो युवा अवस्थामें धातु उपधातुओंकी अधिक उत्पत्ति होते रहनेसे इन्द्रियोंके भोग, उपभोग, विशेष आनन्दोत्पादक होते हैं। और वृद्ध अवस्थामें शरीरकी मूलपूंजीका घाटा हो जानेपर वे के वे ही अथवा उनसे भी अतिशय सुन्दर इन्द्रिय विषय विचारे सुखोत्पादक नहीं हो पाते हैं। " वृद्धस्य तरुणी विषम् "। बात यह है कि जैसे धनका उपार्जन कर विनियोक्ता पुरुष उसके बहुभागको भोग, उपभोग, या दानमें व्यय कर देता है, और अल्प भागको उपार्जक धनकी सन्तानमें मिला देता है, उसी प्रकार शरीरके धातु, उपधातु या वैक्रियिक शरीरके अन्य जातीय शरीरावयव बहुभाग शरीर सुखके लिये ही उपज कर व्यय होते रहते हैं। यदि कंजूस प्रकृतिका प्राणी वीर्य, लार या अन्य वैक्रियिक शरीर या वृक्ष आदि शरीरमें उपज रहे उन अमूल्य पदार्थोंका व्यय नहीं करता है तो त्रैराशिक अनुसार उसके पास माल टाल नहीं मिलता है। तभी तो विशेषतया इन्द्रियोंके उपभोगी रसिक पुरुष और शरीर शक्तियोंका अल्पव्यय करनेवाले संयमी जीवोंके अपेक्षा कृत लार आदिके संचयका तारतम्य नहीं देखा जाता है। अतः न्यायप्राप्त सामग्रीका भोग उपभोग करनेसे ही कूपके स्रोत समान बह रहे लार आदिके अनुसार उपभोग करनेका प्रवाह प्रचलित हो रहा है। हां, पापोंकी प्रतिपक्षभावना या वैराग्यरसमें निमग्न होरहे अथवा भोगोंमें उदासीन होरहे जीवोंके शरीरका कार्यालय (कारखाना) ही दूसरे ढंगका होजाता है। परितृप्त या रोगी अथवा वीतराग साधु एवं शोधी, उदासीन, इनकी प्रवृत्तियोंपर सूक्ष्म लक्ष्य देनेसे सब जीवोंको उक्त सिद्धान्त स्पष्ट प्रतिभासित होजाता है। कुलधारासे जिनके शरीरसंस्थान सुन्दर सुदृढ बने हुये हैं अत्यल्प रूक्ष भोजन करनेपर भी उनके शरीरोंमेंसे लावण्य फटा पडता है, जबकि दुर्व्यवहारी धनपतियोंके मुख या शरीर हतकान्ति हो रहे हैं। पुण्य या सदाचार तो अभ्यन्तर कारण है ही। किन्तु मुखमें लार और शरीरमें धातु, उपधातुओं की पुष्कल उत्पत्ति ही लावण्य, सौन्दर्य, तृप्ति, स्वाद, सुख आदि प्रधान कारण होजाती हैं। देवोंके शरीरमें वही शारिरिक अमृत रसोपम लारसारिखे पदार्थोंकी सुलभ प्राप्ति विद्यमान है। अतः वे रोटी, दाल, फल, मेवा, दूध, घृत, पेडा, घेवर, मोदक, आदि बहिर्भूत पदार्थोंका कवल आहार कदाचित् भी नहीं करते हैं। वस्तुतः आनन्दोत्पादक सम्पूर्ण सामग्रियां शरीरमें ही

विद्यमान हैं। और सच पूछो तो अक्षयसुखका भण्डार आत्मा ही है। शरीरकी माता या पितामही होरहीं आहारवर्गणाओंमें वह आत्माको सुख देनेवाली शक्ति न है और न थी। प्रत्युत आत्माने ही शरीरको सुखोत्पादक शक्तिकी थोडी भीख दे दी है। बस, उसी उपचरित असद्भूतनय अनुसार आत्माके सुखसे होरहे शारीरिक सुखको अपना रहा यह जीव सोंठकी गांठ मिलनेपर बन गये पंसारी चूहेके समान बहिरात्मा बन रहा है। तभी तो मुमुक्षु, व्रती, इन्द्रियजन्य सुखोंपर लात मारकर अतीन्द्रिय स्वात्मोपलब्धिजन्य सुखका रसास्वादन करनेके लिये उद्यत रहते हैं। प्रकरणमें यह कहना है कि देवोंका रसना इन्द्रियजन्य सुख बहिर्भूत पदार्थोंसे नहीं प्राप्त होकर अपनी शारीरिक प्रकृति अनुसार अपने अभ्यंतर कारणों अनुसार उपज जाता है। तथा हृदयहारी पुष्प, शरीर, आदिको दिव्य मणियोंसे सूंघ कर देवोंके घ्राण इन्द्रियजन्य सुख होरहा है। स्वकीय स्थानोंमें होरही सुन्दर रचनायें, देव देवांगनाओंके अनुपम सौन्दर्य, मध्यलोक सम्बन्धी अनेक द्वीप समुद्रोंकी स्वर्गीय छटायें, आदिको निरख कर देवोंके चक्षुः इन्द्रिय द्वारा उपभोग प्रवर्त रहे हैं। स्वयं गाना बजाना अथवा अन्योंके गीत, वादित्र, आदिका श्रवण कर श्रोत्र इन्द्रियजन्य सुख उनके उपजते रहते हैं। परिशेषमें जाकर सब जीवोंको " जगत् कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थं " के अनुसार वैराग्य भावनापर ही झुक जाना आवश्यक पडेगा, तभी तो स्वर्गोंमें ऊपर ऊपर या अहमिन्द्रोंमें गति, शरीर, परिग्रह, अभिमानकी, हीनता है। अहमिन्द्र देवोंकी तो ऐसी विलक्षण परिणति है कि जाने आने या क्रिया करनेकी परिपूर्ण सामर्थ्य होते हुये भी वे तीर्थंकरोंके पंचकल्याणक उत्सवोंमें भी मध्यलोकमें नहीं उतरते हैं। वहीं स्वस्थानसे सात पेंड चलकर भगवान्‌को नमस्कार कर लेते हैं। यहां वहां बहुत भ्रमण करना कुछ अच्छा थोडा ही है। मन्दकषाय या शुक्ललेश्याकी जातियां नाना प्रकारकी हैं। सर्वार्थसिद्धिके एक भवतारी देवोंमें तो परम शुक्ललेश्या सांसारिकसुखोंकी चरमसीमापर पहुंचाती हुई उत्तरभवसम्बन्धी परम वैराग्य भावनाओंकी प्रयोजक हो रही है। उत्तरभवमें सम्पूर्ण पुण्यपापोंका क्षय करानेवाली और इस भवमें उत्कृष्ट पुण्यकी सामग्री बन रही यह सर्वार्थसिद्धिके देवोंकी भेद विज्ञानसे पगी हुई सुखानुभूति तो चमत्कारपूर्ण है। " किमाश्चर्यमतः परम् " भोगोंका चरमफल उपेक्षा है। अस्तु, इस वार्तिकमें चार निकायोंके इन्द्रियजन्य सुखका सूचन कर दिया है।

चतुर्णिकाया देवाः कायप्रवीचाराः इति संबंधाच्चतुर्ष्वपि निकायेषु सुराणां सुरतसुखविशेषस्य कथनं गम्यते आ ऐशानादिति वचनात्। तर्हि वैमानिकनिकाये सर्वसुराणां कायप्रवीचारप्रसक्तौ तन्निवृत्त्यर्थं ऐशानादिति वचनमभ्युपगंतुं युक्तं।

देवोंकी चार निकायें हैं यों अनुवृत्त किये गये पहिले सूत्रके साथ काय प्रवीचारवाले देवोंका वाचक " कायप्रवीचाराः " इस शब्दका सम्बन्ध कर देनेसे चारों भी निकायोंमें देवोंके सुरत सम्बन्धी

सुखविशेषका कथन करना जान लिया जाता है " आ ऐशानात् " ईशान स्वर्गतक ऐसा वचन करनेसे मर्यादा बांध दी गयी है, तब तो चौथी वैमानिक निकायमें सम्पूर्ण देवोंके मनुष्य, पशु, पक्षियोंके समान शरीर द्वारा मैथुनप्रवृत्तिका प्रसंग प्राप्त हो जानेपर उस प्रसंगकी निवृत्तिके लिये ऐशानात् इस प्रकार सूत्रकारका वचन स्वीकार करनेके लिये युक्तिपूर्ण है। वैमानिक, भवनवासी और व्यन्तर ये तीनों जातिके देव उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे अधिक हैं। हां, व्यन्तरोंसे ज्योतिषी देव तो संख्यात गुणे अधिक हैं। परिशिष्ट सम्पूर्ण वैमानिक देवोंसे असंख्यात गुणे देव केवल सौधर्म और ऐशान दो स्वर्गोंमें बस रहे हैं। इस सूत्रद्वारा आदिकी तीनों निकायें और चौथी वैमानिक निकाय मेंसे ईशान स्वर्गवासी देवोंतक एक सांसारिक विशिष्ट सुख माने जा रहे कायप्रवीचारका प्रतिपादन हो चुका है। अब सनत्कुमार आदि अच्युत पर्यन्त वैमानिक देवोंके मिथुनजन्य सुखविभागका प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥

उक्त देवोंसे शेष बच रहे अच्युत पर्यन्त देव तो परस्पर स्वकीय नियत देव, देवियोंके स्पर्शमें, रूप अवलोकनमें, शब्दश्रवणमें और मनोजन्य मानसिक विचारोंमें, मैथुनोपसेवन क्रियाको धार रहे हैं। अर्थात्—उत्तम देवोंमें मैथुनप्रवृत्ति उत्तरोत्तर न्यून होती गयी है। देव सदा प्रवीचारमें ही लवलीन नहीं रहे आते हैं। मनुष्य, स्त्री, पशु, पक्षियोंमें भी सर्वदा ही काम वेदना जागरूक नहीं रहती है। किन्तु अन्तरंग या बहिरंग कारणोंके मिलनेपर कामवासनायें जग जाती हैं या जगा ली जाती हैं। सभी जीवोंको चाहे वे धर्मात्मा न भी होय कामसेवनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक आवश्यक कर्त्तव्य बने रहते हैं। मनुष्योंको शरीरप्रकृतिके अनुसार शौच, स्नान, भोजन, शयन आदि कार्योंमें आवश्यक कालयापन करना पडता है। अनेक पशु, पक्षी, तो स्वकीय नियत ऋतुओंके अतिरिक्त कितने ही महीनोतक अरतिवान् उदासीन रहे आते हैं। हां, शृंगारी पुरुषोंको आत्मबलकी न्यूनता हो जानेसे विषयवासनायें अधिक सताती हैं। देवदेवियोंके भी जब कभी कामवासनायें उपजती हैं तो वे परस्पर स्पर्श, रूपावलोकन, आदि द्वारा लौकिकतृप्तिको प्राप्त होते हुये प्रीतिलाभ कर लेते हैं। " षण्णामिन्द्रियाणां स्वेषु स्वेषु विषयेषु आनुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः " स्पर्शन इन्द्रियके समान या उससे भी अधिक कामसेवन इन अन्य इन्द्रियों द्वारा भी होता है, यह बात इस सूत्रसे ध्वनित हो जाती है।

शेषा इति वचनं उक्तावशिष्टसंग्रहार्थं, ते चोक्तावशिष्टाः सानत्कुमारादयः कल्पोपपन्ना एवाच्युतान्ताः परेऽप्रवीचारा इति वक्ष्यमाणत्वात् कल्पोपपन्नपर्यन्तानामेव द्वादशविकल्पत्वेन निर्दिष्टानां प्रकरणाच्च।

इस सूत्रमें " शेषाः " यह वचन तो कहे जा चुके भवनत्रिक और सौधर्म, ईशानवासी देवोंसे अवशिष्ट बच रहे कल्पवासी देवोंका संग्रह करनेके लिए है और वे उक्तोंसे अवशिष्ट रहे देव तो तृतीय स्वर्गवासी सानत्कुमार आदिक अच्युत स्वर्गपर्यन्तके कल्पोपपन्न देव ही ग्रहण किये जाते हैं। क्योंकि अग्रिम सूत्र द्वारा परले कल्पातीत देव प्रवीचाररहित हैं। यों परिभाषण भविष्यमें किया जानेवाला है। तथा " दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः " इस सूत्र द्वारा बारह विकल्पधारीपने करके कहे जा चुके कल्पोपपन्नपर्यन्त स्वर्गवासी देवोंका ही यहां प्रकरण प्राप्त हो रहा है। अतः कल्पातीत देवोंमें कोई अतिप्रसंग नहीं हो पाता है।

नन्वेवं के स्पर्शप्रवीचाराः के च रूपादिप्रवीचारा इति विषयविवेकापरिज्ञानादगमकोऽयं निर्देश इत्याशंकायामिदमभिधीयते।

यहां किसीकी शंका है कि इस सूत्र करके आधारभूत विषयोंका पृथक्, पृथक् रूपसे विचार नहीं किया गया है कि इस प्रकार कौनसे देव तो स्पर्श द्वारा मैथुनप्रवृत्तिको धार रहे हैं, और कौनसे देव भला रूप, शब्द, आदि करके कायपुरुषार्थमें लवलीन हैं? यों विशेषतया परिज्ञान नहीं होनेसे यह सूत्रका निर्देश करना अभिप्रेत अर्थका गमक नहीं है। यों आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा यह समाधान वचन कहा जाता है।

ते स्पर्शादिप्रवीचाराः शेषास्तेभ्यो यथागमं।
ज्ञेयाः कामोदयापायतारतम्यविशेषतः॥ १॥

उन उक्त देवोंसे शेष रहे वे कल्पवासी देव तो स्पर्श आदिमें मैथुनोपसेवन करनेवाले हैं। इस सिद्धान्तको आम्नायानुसार प्राप्त हुये आगमप्रमाणका अतिक्रमण नहीं कर समझ लेना चाहिये। चारित्रमोहनीय सम्बन्धी वेदकर्मके उदय या उदीरणास्वरूप कामोदयके अपाय (विनाश) की तरतमरूपसे विशेषता देखी जाती है। अतः स्पर्श, रूप, शब्द, इन उत्तरोत्तर विप्रकृष्ट होरहे सहकारियों द्वारा देवोंमें ऊपर ऊपर प्रवीचार अल्प अल्प है। अथवा यों अनुमान कर लेना कि वे उपरिम चौदह स्वर्गवासी देव (पक्ष) कामवेदनाकी न्यूनताके तारतम्य अनुसार स्पर्श, रूप, आदिमें प्रवीचार करनेवाले हैं (साध्य) क्योंकि काम वेदनाके सम्पादक वेदकर्मोंके उदयका नाश होजानेकी तरतमताका विशेष होनेसे (हेतु)। अर्थात्—लुखटिया, सिरकटा, लिहरिया, चीता, सिंह, इनको जैसे उत्तरोत्तर भय हीन हीन है या कृपण, सकुटुम्बधनी, अधमर्ण, व्यापारी, पण्डित, भोगभूमियां, देव, सम्यग्दृष्टि, मुनिमहाराज, उपशमश्रेणीवाले, इन जीवोंमें जैसे भय उत्तरोत्तर न्यून है अथवा शृङ्गारी, रसिया, उपभोक्ता सद्गृहस्थ, मल्ल, अणुव्रती श्रावक, उदासीन, इनमें उत्तरोत्तर कामवेदना स्वल्प है, इसी प्रकार सानत्कुमार आदि देवोंमें ऊपर ऊपर कामपुरुषार्थकी न्यूनता है। कामकी हीनताके तारतम्यसे सुखकी प्रकर्षताका तारतम्य अविनाभावी है।

ते देवाः शेषाः सानत्कुमारादयो यथागमं स्पर्शादिप्रवीचाराः प्रतिपत्तव्याः। सानत्कुमारमाहेंद्रयोः स्पर्शप्रवीचारा देवास्तेषामुत्पन्नमैथुनसुखलिप्सानां समुपस्थितस्वदेवीशरीरस्पर्शमात्रात्प्रीत्युत्पत्तौ निवृत्तेच्छत्वोपपत्तेः। ब्रह्मब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठेषु रूपप्रवीचाराः, स्वदेवीमनोज्ञरूपावलोकनमात्रादेव निराकांक्षतया प्रीत्यतिशयोपपत्तेः। शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेषु शब्दप्रवीचाराः, स्वकांतामनोज्ञशब्दश्रवणमात्रादेव संतोषोपपत्तेः। आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु मनःप्रवीचाराः, स्वांगनामनःसंकल्पमात्रादेव परमसुखानुभवसिद्धेरिति हि परमागमः श्रूयते।

उक्त देवोंसे परिगृहीत हो रहे वे सानत्कुमार माहेंद्र आदिक देव तो आम्नाय प्राप्त आगम अनुसार स्पर्श, रूप, आदिमें प्रवीचार करनेवाले समझ लेने चाहिये। वह आगमविधि इस प्रकार है कि सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गोंमें निवास करनेवाले देव स्पर्श करनेमें मैथुनोपसेवन करनेवाले हैं। क्योंकि मैथुनजन्य सुखके प्राप्त करनेकी अभिलाषा उत्पन्न होते ही उन देवोंके उसी समय उपस्थित हो गयीं निजदेवियोंके शरीरका केवल स्पर्श यानी आलिंगन या स्तन, मुखचुम्बन आदि क्रिया कर लेनेसे प्रीति उत्पन्न हो चुकनेपर उन देवोंकी मैथुन इच्छा की निवृत्ति होनारूप कार्य सध जाता है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ट स्वर्गोंमें निवास कर रहे देव तो रूपमें प्रवीचार करनेवाले हैं। क्योंकि मैथुनकृत्यकी अभिलाषा होते ही उसी समय निकटप्राप्त हुयीं अपनी सुन्दर देवियोंके मनोज्ञ रूप यानी सुन्दर वेष, विलास, विभ्रम, चातुर्य, शृङ्गार, आकार, सौन्दर्यका, केवल अवलोकन कर लेनेसे ही स्वकीय भोगाकांक्षाकी निवृत्ति होते हुये अतिशय युक्त प्रीति उपजनारूप कार्य बन जाता है। तथा नौवें, दशवें ग्यारहवें, बारहवें, शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्रार, स्वर्गनिवासी देवोंके शब्दमें ही प्रवीचार होता है। अपनी अपनी रमणीय कान्ताओंके मनोज्ञ शब्दोंके सुनने मात्रसे संतोषकी सिद्धि हो जाती है। देवियोंके मधुर संगीत, कोमल हास्य, भूषण शब्द, नृत्यकी झंकार आदिका श्रवण कर पूर्व देवोंकी अपेक्षा इनको अत्यधिक प्रेम रस उपजता है। आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, इन स्वर्गोंमें देव मनमें ही प्रवीचार करनेवाले हैं। अपनी अंगनाओंके मानसिक संकल्प मात्रसे ही उक्त देवोंकी अपेक्षा अत्यधिक वैषयिक सुखका अनुभव साध लेते हैं। इस प्रकार प्राचीन परम आगम वाक्य सुने जा रहे हैं। भावार्थ—वर्तमानमें भी इस ढंगसे मनुष्य या स्त्रियोंमें अंशरूप करके यों कामपुरुषार्थ सेवन देखा जाता जाता है। परस्पर स्त्रीपुरुषोंके सुन्दर अवयवोंकी टकटकी लगा कर निरखने वाले रसिकों या बकभक्त धार्मिकोंमें चाक्षुष मैथुन बहुत पाया जाता है। तीव्र वेदना या चलाकर उपजायीं गयी वासनाओंके अनुसार कायप्रवीचारमें प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त समयोंमें कामवेदनाका अल्प आघात होनेकी दशामें स्पर्श प्रवीचारसे ही स्त्रीपुरुषोंकी इच्छायें परिपूर्ण हो जाती है। कदाचित् अत्यल्प वेदनाकी दशाओंमें रूपावलोकन, परस्पर संभाषण, मनोज जन्य मानसिक विचारोंसे ही तृप्ति हो जाती है। उत्तरोत्तर ढलती हुई अवस्थामें

शारीरिक शक्तिकी हानिशीलता अनुसार अर्द्धवृद्ध या वृद्धजनोंमें दृष्टान्तरूपेण उक्त सूत्रार्थ घटित हो जाता है। इसी प्रकार देवोंमें भी उक्त सूत्रार्थको युक्तिपूर्वक घटित कर लेना चाहिये। जो अज्ञ पुरुष शरीरस्पर्श या शुक्रजोमोचनसे ही प्रीति उपजना स्वीकार करते हैं, उनका सिद्धान्त भ्रममूलक है। लौकिक प्रीतियोंकी उत्पत्तिके अनेक साधन हैं। वस्तुतः विचारा जाय तो विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख कोरा सुखाभास है। जितनी जितनी विषयतृष्णा न्यून है उतना ही उतना यह जीव अतीन्द्रिय सुख को परखने लग जाता है। तभी तो देवोंके बहिरंग आलिंगन आदि सामग्री जितनी जितनी हीन होती जायगी उतना ही उतना वे लौकिक सुखकी ओर बढते जायेंगे। अत्यधिक झंझटोंसे लौकिक सुखोंमें भी एक प्रकारका विघ्न ही पड जाता है। श्रृंगारी कवि भी कहता है कि "न पथ्यं नेपथ्यं बहुतरमनंगोत्सवविधौ" कामोत्सवमें बहुत झंझटे लगा लेना अडचनोंको निमंत्रण देना है। छत्तीस प्रकारके व्यंजनोंकी अपेक्षा एक बारमें चार पांच सुन्दर व्यंजन ही अधिक तृप्तिकारक समझे गये हैं। हां, भिन्न समय न्यारी न्यारी छाकोंमें छत्तीस क्या छत्तीस सौ व्यंजन भी विचित्ररुचियोंके अनुसार तृप्तिकारक होसकते हैं। भूखसे कुछ कम भोजन करनेमें जो आनन्द है वह नाकतक भोजनको ठूंस लेनेमें नहीं है। जाडेकी ऋतुमें अत्यल्प शीतबाधा सहते हुये उपयोगी परिमित वस्त्रों द्वारा उपभोग करना जितना स्वास्थ्यप्रद होते हुये मनोहारी है उतना आवश्यकतासे अधिक गूदरा लादे रहना सुखसम्पादक नहीं है। परिशेषमें जाकर ग्रीष्म ऋतुमें जैसे वस्त्रोंका परित्याग ही वांछनीय होजाता है, उसी प्रकार ठोस सुखको चाहनेवाले जीवोंके लिये झंझटोंको हटाकर केवल आत्मस्वरूप इकला रहजाना ही आदरणीय होजाता है। अलम्—पूर्वपूर्ववर्ती देवोंके अवलम्ब उत्तरोत्तर देवोंमें नहीं है। किन्तु उत्तरोत्तर देवोंके स्पर्श, रूप, शब्द, आदिमें होनेवाले प्रवीचार तो पूर्व पूर्व देवोंके आवश्यक रूपसे पाये जाते हैं। यानी जो देव रूप प्रवीचारवाले हैं वो स्पर्शप्रवीचारवाले नहीं हैं। किन्तु स्पर्शप्रवीचारवाले देव रूपप्रवीचार, शब्दप्रवीचार और मनःप्रवीचारोंको भी धारते हैं। परमागम द्वारा की गयी व्यवस्था सर्वथा निर्दोष है।

ततस्तदनतिक्रमेणैव विषयविवेकविज्ञानान्नागमकोऽयं निर्देशः। पुनः प्रवीचारग्रहणादिष्टाभिसंबंधप्रत्ययादन्यथाभिसम्बन्धे चार्षविरोधात्। संभाव्यंते यथागमं स्पर्शादिप्रवीचारा देवाः कामोदयापायस्य चारित्रमोहक्षयोपशमविशेषस्य तारतम्यभेदान्मनुष्य विशेषवत्।

तिस कारणसे उस आप्तोक्त परमागमका अतिक्रमण नहीं करके ही देवोंमें स्पर्श, आदि विषयोंका विभाग जान लिया जाता है। अतः यह सूत्रकारका कथन अबोधक नहीं है। "काय प्रवीचाराः आ ऐशानात्" इस पूर्वसूत्रसे यहां प्रवीचार शब्दकी अनुवृत्ति हो सकती है। फिर जो सूत्रकारने उस सूत्रमें प्रवीचार ग्रहण किया है उस व्यर्थ पड रहे प्रवीचार शब्दके ग्रहणसे आगम विधि अनुसार इष्ट अर्थका अभिसम्बन्ध कर लेना प्रतीत हो जाता है। यदि दो दोमें या चार चार स्वर्गोंमें यों अन्य प्रकारोंसे स्पर्श रूप आदि विषयक प्रवीचारोंका अभिसम्बन्ध किया जावेगा तो ऋषि

प्रोक्त सिद्धान्तग्रन्थोंसे इस सूत्रका विरोध ठन जायगा। स्वल्प भाषण करनेवाले उदात्त उद्भट विद्वानोंके शब्द व्यर्थ नहीं जाते हैं। अतः प्रवीचार शब्दकरके इष्ट अर्थकी ज्ञप्ति कर ली जाती है। इस सूत्रार्थका यों अनुमानवाक्य बना लेना कि सानत्कुमार प्रभृति देव (पक्ष) स्पर्श, रूप आदि विषयक मैथुन प्रवृत्तियोंको धार रहे आगमविधि अनुसार जाने गये सम्भावित हो रहे हैं (साध्यदल) कामसम्पादक वेदकर्मके उदय या उदीरणाके विनाश स्वरूप चारित्रमोहनीयकर्म प्रतियोगिक विशेष क्षयोपशमकी तरतमताका भेद होनेसे (हेतु) मनुष्य विशेषोंके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात— उत्तरोत्तर अधिक धर्मात्मा बन रहे सम्यग्दृष्टि, पाक्षिकश्रावक, दर्शन प्रतिमा, व्रतप्रतिमा, दिवाऽमुक्त प्रतिमावाले श्रावकोंमें जैसे क्षायोपशमिकभाव अणुव्रत ब्रह्मचर्य है। " देसविरदे पमत्ते इदरे य खओवसमियभावोदु, सो खलु चरित्तमोहं पडिच्च भणियं तहा उवरिं " यों गोम्मटसार अनुसार पांचवे देश विरत गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयकी अपेक्षा क्षायोपशमिकभाव माना गया है। यद्यपि नोकषायकी वेद नामक प्रकृति देशघाति है। तथापि देशघातियोंमें अपेक्षाकृत सर्वघातिस्पर्धकोंका सद्भाव पाया जानेसे पाक्षिक आदिमें सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयाभाव क्षय और भविष्यमें उदय आनेवाले सर्वघाति स्पर्धकोंकी उदीरणा नहीं हो सकने योग्य वहांका वहीं उपशम बना रहना तथा देशघाति वेद प्रकृतिके निषेकोंका उदय यों क्षयोपशम बन जाता है। यद्यपि देवोंमें कोई व्रत नहीं है। देशविरतके नहीं होनेसे उनके क्षायोपशमिकचारित्र कहनेके लिये जी हिचकिचाता है। फिर भी अन्तरंग कारणवश कामोदय उत्तरोत्तर देवोंमें अत्यल्प है। अतः कषायोंकी मन्दता होनेसे उन देवोंके निस्सन्देह चारित्र मोहका क्षयोपशम कहनेके लिये सहर्ष उत्साह हो जाता है। जब कि गोम्मटसारमें ही कहीं दर्शन मोह क्वचित् चारित्रमोहका अवलम्ब लेकर दूसरे गुणस्थानमें पारणामिक भाव और क्षपकश्रेणीमें क्षायिक भाव जो कि सिद्धोंमें कहने चाहिये भणित किये हैं, तो अन्तरंग कर्मोंकी शक्ति अनुसार मैथुनसंज्ञाकी उत्तरोत्तर हानिकी ओर झुकनेवाले जीवोंके चारित्रमोहका क्षयोपशम कहना अनुचित नहीं है। अतः यह हेतु पक्षमें वर्त जाता है। सर्वथा प्रवीचाररहित सर्वार्थसिद्धिके देवोंको भले ही चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती कहते रहो और कामतीव्राभिनिवेश नामक अतीचारको धार रहे दर्शन प्रतिमावाले स्त्री—आसक्त मनुष्यको भले ही पंचमगुणस्थानवर्त्ती कहे जाओ, हम टोकते नहीं हैं। किन्तु वेदकर्मोंके उदय, उदीरणा, पर सूक्ष्म लक्ष्य देनेसे सर्वार्थसिद्धिके देवों या लौकान्तिक देवोंमें अखण्ड ब्रह्मचर्य पाया जा रहा है। श्लोकवार्तिकालंकार उक्त सिद्धान्तका पोषक प्रतीत हो रहा है। भगवान्का अभिषेक करनेवाले पुरुषोंका या व्रतधारी श्रावकोंका रस, रुधिर, मल, मूत्र,मयशरीर भले ही पवित्र आत्मारूप उपाधिकी अपेक्षा व्यवहारदृष्टिसे उपचरित पवित्र मान लिया जाय, किन्तु सौधर्म इन्द्र, लौकान्तिक, सर्वार्थसिद्धिस्थ इन देवोंके धातु, उपधातु, मलमूत्रविहीन शरीरों अथवा एकेन्द्रिय जीवके वृक्ष, घास, जल, अग्नि शरीरोंको उपचारकी शरण लिये विना ही पवित्र कहनेके लिये उत्साहके मारे जीव बांसों उछलता है। कर्म, पुद्गल, आत्मा, निज परिणाम, उपादान कारण आदिकी

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शक्तियोंपर विचार करनेसे उक्त सिद्धान्तका नग्नरहस्य स्पष्ट दीख जाता है । अव्रती उच्चवर्ण और व्रती नीचवर्णके तत्त्वको अथवा अहिंसक धीवर या चाण्डाल और हिंसक ब्राम्हणके तत्त्वको समझने-वाले सहृदय उदात्त विद्वानोंको उक्त सिद्धान्तके सन्मुख सिर झुकाना पडेगा । अनुक्त भी चारित्र सिद्धोंमें रखना पडता है । देवोंके क्षायोपशमिक चारित्रका निरूपण कर देनेवाले निर्भीक श्री विद्यानन्द आचार्य महाराजसे अपनी आत्माके उदात्तभाव बनानेकी शिक्षा लो-इत्यलम् पल्लवितेन । समझनेवालोंके लिये संकेतमात्र पर्याप्त है । लज्जालुओंको समुद्र, नद, कूपकी आवश्यकता नहीं है । स्वल्प जल ही पापका संकल्पपूर्वक त्याग करनेके लिये इष्टसाधक हो जाता है ।

किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि गुरुजी महाराज, यदि सोलह स्वर्गतक इस प्रकार व्यवस्था है तो बताओ कि ऊपर ग्रैवेयक विमानवासी अहमिन्द्रोंके किस प्रकारका सुख प्रवर्तता है ? यों प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अहमिन्द्रोंके सुखका निर्णय करनेके लिये अग्रिम सूत्रको यों कह रहे हैं ।

प्रेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

सोलह स्वर्गोंके ऊपर नवग्रैवेयक, नव अनुदिश, और पांच अनुत्तर विमानोंमें उपज रहे परले अहमिंद्र देव तो मैथुनप्रवृत्तिसे सर्वथा रहित हैं । मनसे भी मैथुन सुखके अनुभवसे रीते होरहे वे कल्पातीत अहमिन्द्र परमहर्षका अनवरत अनुभव करते रहते हैं । अर्थात्-किसीको भूंख या प्यास लगे उसकी षट्रस पूर्ण उत्तम, उष्ण, भोजनों या मधुर शीतल जल द्वारा निवृत्ति करके जो सुखका अनुभव किया जाता है, वह सुख अविछिन्न, अनवरत, ठोस, निर्बाध, नहीं है । केवल रोगका प्रतीकार मात्र है । हां, यदि किसी केवलज्ञानीको भूंख, प्यास, या नींद, रोग ही नहीं है, उसके अविछिन्न परम-सुख उच्च श्रेणीका माना जाता है । इसी प्रकार कल्पातीत देवोंके कामवेदनाके प्रतीकारकी झंझटोंमें नहीं पडनेके कारण सतत परम हर्ष होता रहता है ।

परे ग्रहणं कल्पातीतसर्वदेवसंग्रहार्थं । ततोऽनिष्टकल्पनानिवृत्तिः । अप्रवीचारग्रहणं प्रकृष्ट-सुखप्रतिपत्त्यर्थं, ते न मनःप्रवीचाराः । तेभ्यः परे कल्पातीताः सर्वदेवाः प्रवीचाररहिता इत्युक्तं भवति ।

इस सूत्रमें परे शब्दका ग्रहण करना तो सम्पूर्ण कल्पातीत असंख्याते देवोंका संग्रह करनेके लिये है । तिस कारणसे अनिष्टकल्पनाओंकी निवृत्ति होजाती है । अन्यथा यानी परे शब्दका ग्रहण यदि नहीं किया जायगा तो कतिपय स्वर्गवासी देवोंमें वा कुछ ही कल्पातीत देवोंमें प्रवीचाररहितपनकी अनिष्टकल्पना की जासकती है । इस सूत्रमें अप्रवीचार शब्दका ग्रहण करना तो अहमिन्द्रोंके होरहे प्रकृष्ट सुखकी प्रतिपत्ति करानेके लिये है । वे देव मनसे भी प्रवीचार करनेवाले नहीं हैं । यद्यपि प्रथम, द्वितीय, तृतीय, या चतुर्थ गुणस्थानके भावोंको धार रहे ग्रैवेयकवासी अहमिन्द्र और केवल चतुर्थ

गुणस्थानवर्ती नव अनुदिश, पांच अनुत्तर विमानवासी अहमिन्द्रोंके वेदकर्मका उदय है । द्रव्यवेद अनुसार देवोंके पुरुषोचित उपांग भी हैं। किन्तु आत्मीय पुरुषार्थजन्य विलक्षण परिणतियोंके नहीं करनेसे द्रव्यवेद और भाववेद व्यर्थ पड जाते हैं । छठें, सातवें, आठवें, गुणस्थानोंमें भी तो द्रव्यवेद और भाववेदका सद्भाव है। फिर भी देवोंसे अनन्तगुणा निष्काम सुख साधुओंके माना गया है। ब्रह्मचर्य महाव्रतकी बडी महिमा है । कामको अनन्तकालतकके लिये जीतनेवाले क्षीणकषाय या केवलज्ञानियोंके परम अतीन्द्रिय सुख अनन्तानन्त विद्यमान है ; यद्यपि स्त्री, पुरुषोंके मिथुन सम्बन्धी पुरुषार्थजन्य प्रकृति तो वृक्ष, घास, कीट, नपुंसक, नारकी आदिमें भी नहीं है, फिर भी इनके कामजन्य तीव्र दुःखवेदना हैं, जोकि अहमिन्द्रोंके सर्वथा नहीं है। इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार कह दिया गया होजाता है कि उन तीन निकाय सम्बन्धी और स्वर्गवासी देवोंसे परे होरहे सम्पूर्ण कल्पातीत देव तो मैथुनसेवाके घनपंक (दलदल) में निमग्नता (फंसे रहना) स्वरूप प्रवीचारसे रीते हैं । अर्थात्—अनेक मनुष्य धर्मात्मा नहीं होते हुये भी जन्मसे ही स्वभावतः कामवासनाओंसे दूर रहते हैं । उस दशामें उनको बडा गम्भीर सुख मिलता है । प्रथम गुणस्थानवर्ती आधुनिक वीर पुरुषोंमें भी कदाचित् प्रवीचाररहित भाव पाये जाते हैं । कोई आश्चर्य नहीं है ।

कुतः पुनरुक्तेभ्यः परेऽप्रवीचारा इत्याह ।

अब श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति किसीका प्रश्न है कि महाराज, बताओ, कहे जाचुके देवोंसे परले देव फिर प्रवीचारसे रहित भला किस युक्तिसे सिद्ध हो जाते हैं ? आगम उक्त विषयोंके ऊपर युक्तियोंके प्रवर्त जानेसे ही आगमके ऊपर अनुग्रह होसकता है, अन्यथा नहीं । इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिमवार्तिकोंको समाधानवचनस्वरूप कह रहे हैं । उनको सुनो, समझो ।

तेभ्यस्तु परे कामवेदनायाः परिक्षयात् ।
सुखप्रकर्षसंप्राप्तेः प्रवीचारेण वर्जिताः ॥ १ ॥
संभाव्यंते च ते सर्वे तारतम्यस्य दर्शनात् ।
नराणामिह केषांचित् कामापायस्य तादृशः ॥ २ ॥

उन उक्त देवोंसे परली ओरके वे विवादापन्न सम्पूर्ण कल्पातीत देव तो (पक्ष) मैथुनोपसेवनसे वर्जित होरहे सम्भव रहे हैं (साध्य) कामवेदनापीडाका परिक्षय होजानेसे (हेतु) काम सुखको अत्यन्त तुच्छ या मैथुनकर्मको अतीव हानिकारक समझ रहे और व्यायाम, दुग्धपान, निश्चिन्तता, घृतमेवा भोजन, आदिके भोगी मल्लके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमानसे अहमिन्द्रोंमें प्रवीचाररहितपना साध दिया जाता है । तथा सुखके प्रकर्षकी भले प्रकार प्राप्ति होजानेसे (हेतु) अहमिंद्रोंके

कामवेदनाका परिक्षय साध दिया जाता है। यहां वर्तमानकालमें भी किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके तिस प्रकारके कामके विनाशका तारतम्य देखा जाता है। अर्थात्—वर्तमानमें सम्पूर्ण युवा पुरुष कामुक ही होय ऐसा कोई अवधारण नहीं है। कई पुरुष तो जन्मपर्यंत कामसे नहीं सताये देखे गये हैं। हां, स्त्रियोंके मासिकधर्म होनेके कारण मानसिक कामविकारोंसे रहितपना दुर्लभ है। " इगि पुरिसे बत्तीसं "। तभी तो देवोंकी गणनासे बत्तीस गुनी भी गिनतीमें असंख्याती देवियां प्रवीचाररहित नहीं कही गयी हैं। आर्यिका भी उत्कृष्टसंयमको प्राप्त नहीं कर सकती है। किन्तु वीररसप्रेमी, उदासीन, शान्तरसी, पुरुषोंमें कामवेदनाके विनाशकी तरतमता देखी जाती है। इस हेतुद्वारा विवादापन्नजीवोंमें प्रवीचारसे रहितपना साध दिया जाता है। जैसे अनेक पुरुष सदासे ही श्रृंगार रसके प्रेमी होते हैं, तद्वत् अनेक जन कामरससे सर्वांश उदासीन रहनेवाले भी देखे जा रहे हैं। जब कि किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके यहां वैसी कामवेदनाका अपाय है। अतः वे सभी अहमिन्द्र देव विचारे प्रवीचारसे रहित हो रहे सम्भव जाते हैं।

विवादापन्नाः सुराः कामवेदनाक्रांताः सशरीरत्वात् प्रसिद्धकामुकवत् इत्ययुक्तं कामवेदनापायस्य शरीरित्वेन विरोधाभावात्। केषांचिदिहैव मनुष्याणां मंदमंदतमकामानां विनिश्चयात् कामवेदनाहानितारतम्ये शरीरहानितारतम्यदर्शनाभावात् प्रक्षीणशेषकल्मषाणामपि शरीरिणां प्रमाणतः साधनात्।

जगत्‌वर्त्ती सम्पूर्ण देव देवियों यहांतक कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश देवोंको भी मैथुनोपसेवी स्वीकार कर रहा कोई पौराणिक पण्डित आक्षेप करता है कि विवादमें प्रसित हो रहे कल्पातीत देव (पक्ष) कामजन्य पीडासे आक्रान्त हैं (साध्य दल)। शरीरसहित होनेसे (हेतु) वेश्यासक्त या परस्त्रीगामी कामुकपुरुषके समान (अन्वयदृष्टान्त)। ग्रन्थकार कहते हैं कि युक्ति व्याघ्रियोंकी झपटोंको नहीं झेल सकनेवाला यह आक्षेप तो अनुचित है। क्योंकि कामवेदनाके अपायका शरीराधारीपनके साथ कोई विरोध नहीं है। वर्तमानमें यहां ही किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके अतीव मन्द और उससे भी अत्यधिक मन्द हो रही कामप्रवृत्तिका विशेषरूपेण निश्चय हो रहा है। धर्म या व्रतोंका लक्ष्य नहीं रखते हुये भी अनेक मनुष्य मन्दकामी हैं। एक पंजाबके मल्लने यावत् जन्ममें एक ही बार मैथुनसेवन किया था, जिसका फलस्वरूप उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो कि युवा अवस्थामें परिणत होनेपर सम्पूर्ण यूरुपनिवासी मल्लोंका विजेता हुआ, जो इस समय विद्यमान है। सुना जाता है कि एक विशिष्ट जातिका सिंह जन्मभरमें एक ही बार मैथुनसेवा करता है। किन्हीं श्रृंगारी पुरुषोंके परिणाम जैसे विटत्वकी विपुल तृष्णामें डूबे रहते हैं, उसी प्रकार अनेक उदासीन जीवोंके परिणाम स्वभाव हा से कामरहित प्रतीत हो रहे हैं। कामवेदनाकी हानिका तारतम्य होनेपर शरीरकी हानिके तारतम्यका दर्शन नहीं हो रहा है। यानी कामवेदनाके हीन हीन होते होते जीवोंके शरीरकी भी हानि होती जाय ऐसा नियम नहीं है। बहुभाग स्थलोंमें तो इसके विपरीत दीन, हीन,

रुग्ण, क्षीण, शरीरधारी श्रृंगार रसिक पुरुषकी अपेक्षा वीर, योद्धा, मल्ल, प्रतिमल्ल पुरुषोंके शरीर दृढ, पुष्ट, बलिष्ठ, लम्बे चौडे, सुडौल होते हैं। निकृष्ट वेश्याओंके काममय घृणित शरीरोंसे ब्रह्मचारिणी या स्वदेशरक्षणतत्परा लज्जालु स्त्रियोंके शरीर उन्नत देखे जाते हैं। कहांतक कहें, सम्पूर्ण कामवासना सम्बन्धी पापोंका प्रकर्षरूपसे नाश कर देनेवाले या ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन सम्पूर्ण घातिया कर्मोंका प्रक्षय कर चुके श्री जिनेन्द्र देवोंका भी शरीर महितपना प्रमाणोंसे सधा हुआ है। जब कि वेदकर्मका या घातियाकर्मोंका प्रक्षय कर चुके शरीरधारी जिनेन्द्र भगवान्के अनन्त बलशाली, सर्वांग सुन्दर, लम्बा चौडा सुडौल, पवित्र, परम औदारिक शरीर है, तो शरीरधारीपन हेतुकी कामवेदनासहितपन साध्यके साथ व्याप्ति नहीं बन पाती है। हां, कामवेदनाकी त्रुटि होते होते साथमें यदि शरीरकी भी त्रुटि होती जाती तो शरीरधारी देवोंका या तीर्थंकरोंका भी कामपीडितपना साधनेमें सहायता मिल सकती थी। किन्तु यहां तो इसके विपरीत प्रस्ताव उपस्थित होगया, अतः पौराणिकोंका हेतु व्यभिचार दोषग्रसित है।

एतेन कामित्वे साध्ये सत्त्वप्रयेयत्वादयोपि हेतवः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिका इति प्रतिपादितं ततः संभाव्या एव केचिदप्रवीचाराः।

इस इक्त कथन करके इस बातका भी ग्रन्थकारनें प्रतिपादन कर दिया है कि कल्पातीत देवोंमें कामीपना साध्य करनेपर कहे जाने योग्य सत्त्व, प्रमेयत्व, जीवत्व, चेतनत्व आदिक हेतुओंकी भी विपक्षसे व्यावृत्ति होना संदिग्ध है। क्योंकि कामसेवी जीवोंके समान मन्दकामी या सर्वथा प्रविचार रहित जीवोंमें भी सत्त्व आदिक हेतु पाये जाते हैं। जब कि व्यभिचारीपुरुष भी कभी कभी तीव्र रोग, गाढ सुषुप्ति, आदि अवस्थाओंमें कामपीडासे वर्जित हैं तो मल्ल, जितेन्द्रिय साधु, महामना त्यागी, क्षीणकषाय आदि जीवोंके विषयमें तो कहना ही क्या है? विपक्षमें हेतुके ठहर जानेका निश्चय नहीं भी होय, किन्तु विपक्षमें वर्तनेका पौराणिकोंको भी सन्देह होजायगा। अतः शरीरधारीपन या सत्त्व आदिक हेतु उस कामपीडितपनको साधनेमें संदिग्ध व्यभिचार हेत्वाभास दोषग्रस्त हैं। तिस कारणसे कोई देव यानी कल्पातीत देव या लौकांतिक देव बिचारे प्रवीचारसे रहित होरहे सम्भवने योग्य ही हैं, जैसा कि उक्त वार्तिकोंमें कहा गया है।

इत्येवं नवभिः सूत्रैः निकायाद्यंतरस्य या।
कल्पना संशयश्चात्र केषांचित्तन्निराकृतिः ॥ ३ ॥

किन्हीं किन्हीं अजैन विद्वानोंके यहां चार निकायोंके अतिरिक्त दूसरे दूसरे ढंगसे देवोंकी दो ही तीन ही अथवा पांच आदिक ही निकाय मानी गयीं हैं। लेश्या या देवोंके अन्तर्गत भेद, इन्द्रव्यवस्था,

प्रवीचार आदिकी दूसरे प्रकारोंसे कल्पनायें गढी जारही हैं और किन्हीं किन्हीं पण्डितोंके यहां देवोंकी निकाय, लेश्या, भेद, प्रभेद, आदिका जो संशय होरहा है, यहां चतुर्थ अध्यायकी आदिमें इस प्रकार नौ सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने उन सब कल्पनाओं या संशयोंका निराकरण कर दिया है। अर्थात्—उक्त नौ सूत्रोंके प्रमेयमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष नहीं हैं।

प्रथमेन सूत्रेण तावत्केषांचिन्निकायांतरस्य कल्पना तत्संदेहः चात्र निराकृतिः। द्वितीयेन लेश्यांतरस्य, तृतीयेन संख्यांतरस्य, चतुर्थेन कल्पांतरस्य, पंचमेन तदपवादांतरस्य, षष्ठेनेंद्रसंख्यांतरस्य, सप्तमेनाष्टमेन चानिष्टप्रवीचारस्य, नवमेन सर्वप्रवीचारस्येति नवभिः सूत्रैर्निकायाद्यंतरकल्पनसंशयनिराकृतिः प्रत्येतव्या।

उक्त वार्तिकका विवरण यों है कि यहां चौथे अध्यायमें सबसे आदिके पहिले सूत्र करके तो किन्हीं किन्हीं पुराणकारोंके यहां मानी गयीं देवोंकी दूसरी निकायोंकी कल्पना और दूसरे ढंगकी उन निकायोंका जो संशय हो रहा है उसका निराकरण कर दिया गया है। " आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः " इस दूसरे सूत्रकरके भवनत्रिक देवोंमें अन्य पद्म, शुक्ल, लेश्याओंकी निराकृति कर दी गयी है। तथा " दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः " इस सूत्र करके तो नियत हो रही दश, आठ, पांच, बारह, संख्याओंसे अतिरिक्त संख्याओंकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। चौथे " इन्द्र सामानिक " आदि सूत्रकरके दश विध कल्पनाके सिवाय अन्यविकल्पोंका निराकरण कर दिया है। पांचवें " त्रायस्त्रिंश " आदि सूत्र करके उन दश विकल्पोंके दो निकायोंमें हो रहे अपवादके सिवाय अन्य अपवादोंका निरास कर दिया गया है। छठे " पूर्वयोर्द्वीन्द्राः " सूत्र करके इन्द्रोंकी उक्त संख्याके अतिरिक्त संख्याओंका वारण कर दिया है। सातवें, आठवें, " कायप्रवीचारा आ ऐशानात् " और " शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः " सूत्रों करके अनिष्ट प्रवीचारोंका प्रत्याख्यान किया गया है। नौवें " परेऽप्रवीचाराः " सूत्र करके सब कल्पातीत देवोंके प्रवीचारसहितपनका व्यवच्छेद किया गया है। इस प्रकार नौ सूत्रों करके अन्य निकाय आदिकी असद्भूत या सदसद्भूत उभयकोटिस्पर्शी संशयकी निराकृति हो रही समझ लेनी चाहिये। उक्त सूत्रोंके नौ वाक्य सावधारण हैं। कण्ठोक्त कहो चाहे न कहो, वाक्यमें विना बुलाये ही एवकार द्वारा अवधारण लग बैठता है। " वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये "।

आदिनिकायसम्बन्धी जो दश विकल्पवाले देव कहे जाचुके हैं, उन देवोंकी सामान्य संज्ञा और विशेष संज्ञाका विज्ञापन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितो-दधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥

भवनोंमें निवास करनेके शीलको धारनेवाले देव भवनवासी हैं। वे १ असुरकुमार.२ नागकुमार ३ विद्युत्कुमार ४ सुपर्णकुमार ५ अग्निकुमार ६ वातकुमार ७ स्तनितकुमार ८ उदधिकुमार ९ द्वीपकुमार १० दिक्कुमार इन दश विशेषसंज्ञाओंको धार रहे हैं।

भवनवासिनामकर्मोदये सति भवनेषु वसनशीला भवनवासिन इति सामान्यसंज्ञा प्रथमनिकाये देवानां। असुरादिनामकर्मविशेषोदयादसुरकुमारादय इति विशेषसंज्ञा। कुमारशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबंधात् तेषां कौमारवयोविशेषविक्रियादियोगः।

गति संज्ञक नामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रहे भवनवासी नामक नामकर्मका उदय होते सन्ते, भवनोंमें निवास करनेकी टेववाले, देव भवनवासी हैं। इस प्रकार पहिले निकायमें यह देवोंकी अखिल विशेषोंमें घटित हो रही सामान्य संज्ञा है। हां, उस भवनवासी नामकर्मके भी उत्तर भेद स्वरूप असुर, नाग, आदि विशेष नामकर्मोंका उदय हो जानेसे असुरकुमार, नागकुमार, आदिक विशेष संज्ञायें प्रवर्त जाती हैं। " द्वन्द्वादौ द्वन्द्वांते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते " इस नियम अनुसार अन्तके कुमार शब्दका प्रत्येक असुर आदिमें पीछे सम्बन्ध जुड जाता है। उन भवनवासी देवोंके कुमार अवस्थामें हो रहे सारिखे आयुष्यविशेष, विक्रिया करना, वेष, भूषा, आयुध, क्रीडन, यान, वाहन, आभरण, आदिसे अत्यधिक प्रीति होनेका योग है, इस कारण उनको कुमार कह दिया जाता है। भावार्थ—लोकमें भी कई बालकोंका अजितकुमार, भानुकुमार आदि नामनिर्देश कर लिया जाता है। किन्तु वृद्ध अवस्थामें ये नाम शाद्विकोंके यहां उसी प्रकार खटकते हैं, जैसे कि वृद्ध विवाह आक्षेप करने योग्य है। नाम परिवर्तनके लिये देवोंमें उतनी आवश्यकता नहीं उपजती है। जितनी कि बुड्ढे अजितकुमार आदि मनुष्योंमें है। किन्तु क्या किया जाय? नामपरिवर्तन करना अभीष्ट नहीं है। यद्यपि सम्पूर्ण देवोंके जन्मसे अन्तर्मुहूर्त्तके पीछे और मरनेके छह मास पूर्वतक भरपूर युवा अवस्था नियत रहती है, फिर भी कुमारोंके समुचित विक्रिया, वेष, क्रीडापरता आदिमें अत्यधिक प्रेमभाव होनेके कारण इनको कुमार शब्दसे कह दिया जाता है।

केचिदाहुः देवैः सहास्यंतीति असुरा इति, तदयुक्तं, तेषामेवमवर्णवादात्। सौधर्मादिदेवानां महाप्रभावत्वादसुरैः सह युद्धायोगात् तेषां तत्प्रातिकूल्येनाद्वत्तेर्वैरकारणस्य च परदारापहारादेरभावात्।

कोई कोई पौराणिक पण्डित ऐसा कह रहे हैं कि " देवैः सह अस्यन्तीति असुराः " अदितिके पुत्र आदित्य देवोंके साथ दितिके पुत्र दैत्य यानी असुर सदा लडते रहते हैं। देवोंके साथ युद्धमें प्रहरण आदिकोंको क्षेपते हैं अथवा लडाईमें मारकर देवोंको नदी आदिमें फेंक देते हैं, इस कारण वे असुर हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह उन स्मृतिकारोंका कथन युक्तिशून्य है। क्योंकि उन देवोंके ऊपर इस प्रकार कहनेपर अवर्णवाद यानी झूंठा दोष लग बैठता है। देखो, चौथी निकायके सौधर्म आदिक

देवों या अहमिन्द्र आदि देवोंका महान् प्रभाव है। विचारे अल्पबली असुरकुमारोंके साथ सौधर्म आदि देवोंका कथमपि युद्ध होनेका योग नहीं लग पाता है। दूसरी बात यह है कि जैनसिद्धान्त अनुसार उन असुरकुमारोंकी उन देवोंके या देवोंकी असुरोंके प्रतिकूलपन करके प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि जन्मकल्याणक या समवसरण आदिमें प्रवर्तेंगे भी तो अनुकूल होकर ही प्रवृत्ति करेंगे! वचन और कायसे तो क्या मनसे भी प्रतिकूलताको नहीं ठान सकते हैं। तीसरी बात यह है कि परस्त्रीहरण या परधनप्रमोष अथवा दूसरेके अधिकृत देशपर स्वाधिकार जमाना आदि चेष्टायें ही वैरके कारण हैं। इन द्वेषके हेतुओंका अभाव हो जानेसे देव और असुरोंमें युद्ध कथमपि नहीं ठनता है। मिथ्याज्ञानी आग्रहीजन चाहे कैसी भी झूंठी, सांचीं, कल्पनायें करें, प्रामाणिक विद्वानोंके यहां उन गपोडोंका कोई मूल्य या आदर नहीं है। भले जीवोंपर झूंठा कलंक लगाना कोई अच्छा थोडा ही है।

अथैतेषां भवनवासिनां दशानामपि निरुक्तिसामर्थ्यादाधारविशेषप्रतिपत्तिरिति प्रदर्शयति।

अब महाराज यह बतलाओ कि इन दशों भी प्रकारके भवनवासी देवोंके भवन कहां हैं? इसके उत्तरमें श्री विद्यानन्द स्वामी "भवनवासी" इस सामान्य संज्ञावाचक शब्दकी निरुक्तिके सामर्थ्यसे ही हो रही विशेष आधारकी प्रतिपत्ति बन बैठती है, इस सूत्रकारके रहस्यको भले प्रकार दिखा लाये देते हैं।

दशासुरादयस्तत्र प्रोक्ता भवनवासिनः।
अधोलोकगतेष्वेषां भवनेषु निवासतः॥ १॥

उन देवोंमें असुरकुमार, आदिक दश भवनवासी देव भले प्रकार कहे गये हैं (प्रतिज्ञा)। क्योंकि नीचे अधोलोकमें प्राप्त हो रहे भवनोंमें इन देवोंका निवास हो रहा है (हेतु)। यों अनुमान द्वारा भवनवासी शब्दकी निरुक्तिके अर्थको साध दिया है।

क्व पुनरधोलोके तेषां भवनानि श्रूयंते? रत्नप्रभायाः पंकबहुलभागे भवनान्यसुरकुमाराणां, खरपृथिवीभागे चतुर्दशयोजनसहस्रेषु नागादिकुमाराणां। तत्रोपर्यधश्चैकैकस्मिन् योजनसहस्रे तद्भवनाभावश्रवणात्। तत्र दक्षिणोत्तराधिपतीनां चमरवैरोचनादीनां भवनसंख्याविशेषः परिवारविभवविशेषश्च यथागमं प्रतिपत्तव्यः।

फिर महाराज यह बताओ कि अधोलोकमें कहां उन देवोंके भवन सर्वज्ञप्रतिपादित शास्त्र द्वारा ज्ञात किये जाते हैं? आचार्योंकी ओरसे इसका उत्तर इस प्रकार है कि इस रत्नप्रभाके दूसरे पंकबहुल भागमें असुरकुमारोंके भवन अनादिकालीन रचे हुये हैं। और रत्नप्रभाके पहिले खरपृथिवी भागमें चौदह हजार योजन मोटे और असंख्यात योजन लम्बे चौडे स्थानोंपें अवशिष्ट नागकुमार,

सुपर्णकुमार, आदि नौ प्रकार भवनपासियोंके भवन हैं। एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी रत्नप्रभा पृथ्वीके ऊपरले उस सौलह हजार योजन मोटे खरपृथिवी भागमें ऊपर नीचे एक एक हजार योजन मोटे स्थानमें उनके भवनोंका अभाव आम्नाय द्वारा सुना जाता है। उन देवोंमें दक्षिणदिशाके अधिपति और उत्तरदिशाके अधिपति हो रहे चमर, वैरोचन आदि इन्द्रोंके अधिकृत भवनोंकी संख्या और परिवार, विभूतिविशेषको आप्तोपज्ञ शास्त्र आम्नाय अनुसार समझ लेना चाहिये। त्रिलोकसार, राजवार्त्तिक आदि ग्रन्थोंमें भवनवासी देवोंके सात करोड बहत्तरलाख भवनोंका निरूपण किया है। देवोंका ऐश्वर्य संख्यात, असंख्यात, योजन लम्बे चौडे विमान, चैत्यालय आदिका वर्णन किया गया है। युक्तिवादके प्रदर्शनका स्थल नहीं होनेसे या अन्य ग्रन्थोंमें मिल जानेके कारण यहां कह देनेपर कोई विशेष अत्यधिक श्रद्धाभाव नहीं उपजनेकी सम्भावना अथवा चमत्कृतिजनक कोई विशेष उपयोगिता नहीं प्रतीत होनेसे यहां ग्रन्थविस्तार नहीं किया गया है।

अब श्री उमास्वामी महाराज द्वितीय–निकायसम्बन्धी देवोंकी सामान्यसंज्ञा और विशेषसंज्ञाका अवधारण करनेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

व्यंतराःकिंनरकिंपुरुषमहोरगगंधर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः

दूसरे व्यन्तरदेव तो किंनर १ किम्पुरुष २ महोरग ३ गंधर्व ४ यक्ष ५ राक्षस ६ भूत ७ और पिशाच ८ इन विशेषसंज्ञाओंको धार रहे हैं।

व्यंतरनामकर्मोदये सति विविधांतरनिवासित्वाद्व्यंतरा इत्यष्टविकल्पानामपि द्वितीयनिकाये देवानां सामान्यसंज्ञा। किंनरादिनामकर्मविशेषोदयात् किंनरादय इति विशेषसंज्ञा। किंनरान् कामयंत इति किंनराः, किंपुरुषान् कामयंत इति किंपुरुषाः, पिशिताशनात् पिशाचा इत्याद्यन्वर्थसंज्ञायामवर्णवादप्रसंगात्, देवानां तथाभावासंभवात्। पिशाचानां मत्स्यादिप्रवृत्तिदर्शनात् पिशिताशित्वसंभव इति चेत् न, तस्याः क्रीडासुखनिमित्तत्वात् तेषां मानसाहारत्वात्।

गति नामकर्मके भेद, प्रभेद, स्वरूप हो रहे किंनर, किम्पुरुष, आदि विशेष नामकर्मोंका अन्तरंगमें उदय होते संते और बहिरंगमें नाना प्रकारके देशान्तरोंमें निवास करनेवाले होनेसे ये देव व्यन्तर कहे जाते हैं। दूसरी निकायमें पाये जा रहे आठों विकल्पवाले भी देवोंकी यह सामान्यसंज्ञा अन्वर्थ है। भवनवासी और व्यन्तरशब्दोंकी निरुक्तिसे ही उक्त देवोंके निवासस्थानोंका निर्णय हो जाता है। असंख्यात विकल्पवाले नामकर्मके उत्तरोत्तर भेदरूप किंनर आदि विशेष प्रकृतियोंके उदय से हो रहीं किन्नर, किम्पुरुष, आदिक यों विशेषसंज्ञायें हैं। जो पौराणिक पण्डित अपनी व्याकरणज्ञताको यों प्रकाश करते हैं कि कुत्सित नरोंकी अभिलाषा रखते हैं, तिस कारण ये देव किन्नर हैं, घोडेके

मुख समान मुख होनेसे कुत्सित नर हो रहे रमणकुशल देवोंकी अनेक देवदेवियोंको अभिलाषा नहीं आती है, " विरूपोऽप्यनुरूपते पुंसावपुः " इत्यादि श्लोक करके माघ कविने स्वरचित शिशुपालवध काव्यमें इसी भावको दिखलाया है। और किंपुरुषोंकी कामना कर रहे हैं, इस कारण किंपुरुष देव कहे जाते हैं। " पिसितमाचामति या पिशितमश्नाति " इस निरुक्ति द्वारा मांसका भक्षण करनेसे पिशाच हैं। महान् सर्पका आकार धारनेसे महोरग हैं, इत्यादिक शब्दनिरुक्ति अनुसार उक्त देवोंकी अन्वर्थसंज्ञा माननेपर आचार्य कहते हैं कि बडे भारी अवर्णवाद होनेका प्रसंग आता है। क्योंकि देवोंके तिस प्रकार किन्नरोंके साथ रमण, मांसभक्षण, सर्पचेष्टा, आदिका असम्भव है। देव स्वतः बडे भोगी और सर्वांगसुंदर हैं। देवोंके वैक्रियक शरीर अत्यधिक पवित्र हैं। अशुद्ध, दुर्गन्धि, घृणायोग्य, मनुष्योंके निकृष्ट औदारिक शरीरोंकी वे कभी अभिलाषा नहीं करते हैं। मांस, मद्य, सेवन नहीं करते हैं। यदि कोई यों आक्षेप करें कि पिशाचोंकी मछली, मांस, मदिरा, नैवेद्य आदिमें प्रवृत्ति होरही दीखनेसे मांसभक्षण करना उनके सम्भव जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि क्रीडाजन्य सुखका निमित्तकारण मात्र वह प्रवृत्ति है। आहारके लिये मत्स्य, मांस, आदिमें प्रवृत्ति नहीं है। क्योंकि उन देवोंके मानस आहार है। मनमें आहारकी अभिलाषा उपजते ही झट कण्ठसे अमृतोपम, सुस्वादु, रस झरकर पूर्ण तृप्तिको कर देता है। अर्थात्—देवोंमें तीव्र कषायवान् या जीवोंको दुःख देकर भी क्रीडा करनेवाले अनेक देव हैं। म्लेच्छ या कसाइयोंके छोकरे मेंडक, चूहा, बर्र, ततैया, चिरैया, पिल्ला, मछली, मांसखण्ड, हण्डी आदिके साथ निर्दय होकर खेलते हैं। उसीमें विशेष हर्षका अनुभव करते हैं। विद्रोह कालमें प्रतिपक्षियोंके बालकोंको गेंद बनाकर दुष्ट खिलाडियोंका क्रीडा करना सुना जाता है। इस क्रियामें अनेक बालकोंकी मृत्युयें भी होचुकी हैं। किन्तु कषायवानोंको कोई चिन्ता (परवा) नहीं है। इसी प्रकार क्रीडा सुखके लिये अनेक मिथ्यादृष्टि देव मत्स्य आदिमें प्रवृत्ति करते हैं। तांत्रिक विद्वान् मत्स्य, मांस, आदिको दिखाकर देवोंका परितृप्त होना मानते हुये मत्स्य, मांस, मद्य, रक्त, मल, शव आदि द्वारा जीवोंकी भूतबाधाओंको मिटा देते हैं। ये सब क्रियायें क्रीडाप्रकृतिक देवोंके सुखनिमित्त भले ही होजांय, किन्तु आहारसामग्री यह नहीं हैं। देवोंके मांसभक्षण या मानुष शरीरके साथ रमण अथवा धातु, उपधातु, सन्तानोत्पत्ति आदि स्वीकार कर लेना यह देवोंका सबसे बडा तिरस्कार है। देवोंके लिये इससे बडी गाली नहीं होसकती है। अतः व्यन्तरोंकी उक्त संज्ञायें या विधाता नामकर्मकी किन्नर आदि संज्ञायें रूढि शब्दमात्र है। धात्वर्थ उतना ही घटाया जाय जितना कि युक्ति, शास्त्र, और अनुभवसे अबाधित होय। शेषको विचारशाली विद्वान् लात मारकर फेंक देते हैं।

क्व पुनर्व्यंतराणां विविधान्यंतराण्यवकाशस्थानाख्यानि यतो निरुक्तिसामर्थ्यादेतेषामाधारप्रतिपत्तिरित्याह।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि महाराजजी, फिर बताओ कि इन व्यन्तर देवोंके नाना प्रकारक देशान्तरवर्त्ती अवकाशस्थान नामके आवास और नगर कहां कहां हैं ? जिससे कि व्यन्तर शब्दकी निरुक्तिके सामर्थ्यसे इन किन्नरादि देवोंके आधारकी प्रतिपत्ति हो सके ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान करते हुये अग्रिमवार्तिकको कहते हैं ।

अष्टभेदा विनिर्दिष्टा व्यन्तराः किन्नरादयः ।
विविधान्यंतराण्येषामधोमध्यमलोकयोः ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराज करके किन्नर, आदिक आठ भेदवाले व्यन्तरदेव तो विशेषरूपसे नाम मात्रतया उद्दिष्ट कर दिये हैं । इन व्यन्तरोंके अधोलोक और मध्यलोकमें अनेक प्रकार अन्तर यानी भवनपुर, आवास, और भवन, नामके अवकाशस्थान निजी द्वीप या समुद्रमें होनेवाले मध्यभाग प्राप्त स्थानोंको भवनपुर कहते हैं । ह्रद, पर्वत, वृक्षोंमें बने हुये ऊर्ध्वगत स्थानोंको आवास कहते हैं, चित्रा, पृथिवीमें बने हुये अधःप्राप्त स्थानोंको भवन कहते हैं ।

अधोलोके तावदौपरिष्टे खरपृथिवीभागे किंनरादीनामष्टभेदानां व्यंतराणां दक्षिणाधिपतीनां किंपुरुषादीनां चोत्तराधिपतीनामसंख्येयनगरशतसहस्राणि श्रूयंते, मध्यलोके च द्वीपाद्रिसमुद्रदेशग्रामनगरत्रिकचतुष्कचतुरस्रगृहांगणरथ्याजलाशयोद्यानदेवकुलादीन्यावासशतसहस्राणामसंख्येयानि तेषामाख्यायंते । तद्विशेषसंख्यापरिवारविभूतिविशेषो यथागमं प्रतिपत्तव्यः पूर्ववत् ।

अधोलोकमें रत्नप्रभाके सोलह हजार योजन मोटे उपरिम प्रदेश सम्बन्धी खरपृथिवी भागमें किंनर, सत्पुरुष आदिक आठ भेदवाले दक्षिण दिशाके अधिपति हो रहे व्यन्तरोंके निवासस्थान बने हुये हैं तथा खरपृथिवीभागमें ही उत्तरदिशाके अधिपति किम्पुरुष, महापुरुष, आदि व्यन्तर इन्द्रोंके असंख्याते लाख नगर विद्यमान हैं, ये आप्तोक्त शास्त्रोंद्वारा जाने जा रहे हैं । अर्थात्—इस जम्बूद्वीपसे तिरछे असंख्याते द्वीप समुद्रोंका उल्लंघन कर परली ओरके द्वीपसमुद्रोंमें ऊपरले खरपृथिवी भागमें उत्तरदिशाकी ओर किंनर, सत्पुरुष आदि सात दक्षिण इन्द्रोंके असंख्याते लाख नगर आदि अनादिकालसे विद्यमान हैं और इसी प्रकार उत्तरदिशामें किम्पुरुष आदि सात व्यन्तरेन्द्रोंके उतने ही असंख्याते नगर रचे हुये हैं । हां, राक्षसजातीय व्यन्तरोंके आवास तो रत्नप्रभाके चौरासी हजार योजन मोटे पंकबहुल भागमें असंख्याते लाख नगर बने हुये हैं और उत्तरदिशामें रत्नप्रभाके पंकबहुल भागमें राक्षसेन्द्र दक्षिणदिशाधिपतिके असंख्याते लाख नगर शास्त्रद्वारा वर्णित हो रहे हैं । खरपृथिवी भागमें ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोडकर मध्यम चौदह हजार योजन मोटे और असंख्याते योजन लम्बे चौडे स्थानोंमें सात प्रकारके व्यन्तर और नौ प्रकार

भवनवासियोंके आवास बने हुये हैं। शेष बचे हुये असुरकुमार और राक्षसोंके आवास तो पंकबहुल-भागमें हैं। तीसरे अब्बहुलभागमें तीस लाख नरक हैं। तथा असंख्यात योजन लम्बे, चौडे, और ऊंचाईमें मेरुसम एक लाख चालीस योजन मध्यलोकमें भी द्वीप, पर्वत, समुद्र, देश, ग्राम, नगर, तीन ओर पथवाला त्रिक, चार ओर मार्ग जानेवाले चौक, चौकौर प्रान्त, घर, आंगन, गली, कूंचा, सरोवर, उद्यान (बगीचा) देवस्थान, गुरुकुल, वसतिका, शून्यगृह, प्राचीन खण्डहर आदिक असंख्याते लाख उन व्यन्तरोंके आवासोंको शास्त्रोंमें वर्णन किया है। अर्थात्—द्वीप, समुद्र, आदिमें असंख्याते अकृत्रिम स्थान, अनादिसे, अनन्त, कालतक रचे हुये हैं। हां, गली, कूंचे, सरोवर, उप-वन, खण्डहर, शून्यगृह आदिमें भी क्रीडातत्पर व्यन्तरोंके अनेक कृत्रिमस्थान नियंत होरहे हैं। आजकल भी अनेक स्थलोंपर व्यन्तरदेवोंका आवास या उपद्रव होरहा, कचित् अनुग्रह हुआ सुना जाता है। वह बहुभाग सत्य है। हां, वंचक धूर्तपुरुषोंने जो मायाजाल रच रक्खा है अथवा अनेक बालक, स्त्री, पशुओंमें भूतबाधा, (खोर) की आकुलताओंकी जो भरमार छारही है, उसमें तथ्यांश अत्यल्प है। जगत्में भोली भाली जनताको ठगनेके लिये स्याने तांत्रिक, मांत्रिक, पुरुषोंने व्यर्थका प्रपंच अधिकतर फैला रखा है। अखण्ड सम्यग्दर्शन सूर्यके विना मिथ्यात्व मोहअंधकारका भला विनाश कैसे होसकता है ?। उन नगरोंकी विशेष विशेष संख्यायें तथा व्यन्तरेन्द्रोंके परिवार या विभूतिविशेषकी आगम अनुसार प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये, जैसे कि पूर्वमें भवनवासियोंके भवनसंख्या परिवार, विभूति, आदिको आगम अनुसार सपक्ष लेना स्वीकार कर चुके हो। त्रिलोकसार आदि ग्रन्थोंमें इनका विशेष वर्णन मिलता है। भवनवासियोंके सात करोड बहत्तर लाख भवनोंमें एक एकमें असंख्याते देव निवास करते हैं। किन्तु व्यन्तरोंके असंख्याते नगरोंमें संख्याते देव या किसी किसीमें असंख्याते देव भी बस रहे हैं। " तिण्णिसय जोयणाणं कदिहिदपदरस्स संखभागमिदे। भौमाणं जिणगेहे गणणातीदे णमंसामि " इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार उक्तध्वनि निकलती है। आवास स्थानोंको समझनेके लिये " चित्तरणिलयतियाणि य भवणपुरावासभवणणामाणि, दीवसमुद्दे दहगिरितरुम्हि चित्तवणिम्हिकमे। उड्ढगया आवासा अधोगया चित्तराण भवणाणि, भवणपुराणि य मज्झिमभागगया इदि तियं णिलयं ॥ चित्तवइरादु जावय मेरुदयं तिरियलोयवित्थारं, भोम्मा हवंति भवणे भवणपुरावासगे जोग्गे ॥ ये तीन गाथायें उपयोगी हैं। अतीन्द्रिय ज्ञानीको प्रत्यक्ष होरहे सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, पदार्थोंमें भी यद्यपि कतिपय युक्तियोंका प्रवेश है, फिर भी प्रतिवादियोंका विशेष आक्षेप नहीं प्रवर्त-नके कारण और अन्य ग्रन्थोंमें विस्तृत कथन होनेसे यहां सविस्तर निरूपण नहीं किया गया है। अत्यधिक मनोहर दृश्योंका कितना ही अधिक वर्णन किया जाय, जिनेन्द्रगुणकीर्तनके समान वह अत्यल्प ही गिना जायगा। अतः प्रथम हीसे संकोचपर संतोष कर लेना अच्छा जचता है।

अब तीसरे निकायकी सामान्यसंज्ञाका निर्देश करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥

जिन देवोंके निवासस्थान हो रहे विमानोंका स्वभाव चमकते रहना है या शरीर, आभरण, आदिमें चमक, दमक, जिनको अभीष्ट हो रही है, वे देव ज्योतिष्क इस सामान्यसंज्ञाको धारते हुये सूर्य, चन्द्रमा, और ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णकतारक इन पांच विशेषसंज्ञाओंको प्राप्त हो रहे हैं। यद्यपि विमानोंके नाम सूर्य, चन्द्रमा, आदिक हैं। तथापि उनमें निवास करनेवाले देवोंको भी " तात्स्थ्यात्तच्छब्दसिद्धिः " उसमें ठहरना होनेके कारण इस आधेयको भी उस अधिकरणवाचक शब्द करके उक्त कर दिया जाता है। अर्थात्—ज्योतिष्कदेवोंके गण सूर्य १ चन्द्रमा २ ग्रह ३ नक्षत्र ४ प्रकीर्णकतारक ५ इन पांच विशेषजातियोंमें विभक्त हो रहे हैं। इन्द्रस्वरूप एक चन्द्रमा सम्बन्धी विमानोंके परिवारका परिमाण यों है कि एक चन्द्रमाके साथ एक १ सूर्य प्रतीन्द्र है, अट्ठासी ८८ ग्रह विमान हैं। अट्ठाईस २८ नक्षत्र विमानोंके पिण्ड हैं। यानी कृत्तिका नक्षत्रमें ६ छह तारे हैं, रोहिणीकी पांच तारे हैं। मृगशीर्षमें तीन हैं, इत्यादि तथा छियासठ हजार नौसौ पिचत्तर कोटाकोटी ६६९७५०००००००००००० तारक विमान हैं। इस प्रकार मध्यलोकमें असंख्याते सूर्य और चन्द्रमा हैं। उन्हींके अनुसार ग्रह आदिकोंकी संख्या लगा लेना। ढाई द्वीपमें एक एक चन्द्रमाका उक्त परिवार नियत है। अन्यत्र आगम अनुसार समझ लेना। एक एक ज्योतिष्क विमानमें सैकडों, हजारों, यों संख्याते देव निवास करते हैं। सम्पूर्ण देवोंमें ज्योतिषियोंकी संख्या बहुत बडी हुई है। दिन या रातके समय नभोमण्डलमें जो चमकते हुये पदार्थ दीख रहे हैं, वे देवोंके निवास स्थान हो रहे विमान है। स्वयं देव नहीं हैं। बीचमेंसे काटे गये आधे लड्डूके समान ये विमान निचले परिदृष्ट भागमें ढाढ्ढ प्रदेशवाले हैं। और ऊपर सपाट, चौरस, भागमें ज्योतिष्क देवोंके प्रासाद उनमें बने हुये हैं। केवल प्रसिद्ध हो रहे सूर्य, चन्द्रमा, ही ज्योतिष्क नहीं हैं। किन्तु ग्रह, नक्षत्र, और उछाले हुये पुष्पोंके समान अनियत स्थानोंपर बिखर रहे अनादिनिधन तारक भी ज्योतिष्क हैं। अथवा केवल ग्रह आदिक ही ज्योतिष्क नहीं हैं। किन्तु सूर्य, चन्द्रमा, भी ज्योतिष्कोंमें ही परिगणित हैं। यों सूत्रोक्त चकार द्वारा परस्परमें समुच्चय कर लिया जाता है।

ज्योतींषि एव ज्योतिष्काः को वा यावादेरिति स्वार्थिकः कः ज्योतिः शब्दस्य यावादिषु पाठात्। तथाभिधानदर्शनात् प्रकृतिलिंगातिवृत्तिः कुटीरः समीर इति यथा।

द्योतन या कान्तिस्वरूप ज्योतिः ही ज्योतिष्क हैं। ज्योतींषि एव ज्योतिष्काः चमक रहीं अनेक ज्योतियां ही ज्योतिष्क हैं। यों नपुंसकलिंग ज्योतिः शब्दके बहुवचनान्त रूपवाले विग्रह करके स्वार्थमें क प्रत्यय कर ज्योतिष्क शब्द बना लिया है। " को वा यावादेः " इस सूत्र द्वारा याव, मणि, आदि अनेक शब्दवाले यावादि गणमें ज्योतिष शब्दका पाठ होनेसे स्वार्थको ही कहनेवाले क प्रत्ययको लाकर ज्योतिष्क शब्द सधु बना लिया जाता है। कोई आक्षेप करता है कि स्वार्थिक

प्रत्ययवाले पदका लिंग भी प्रकृतिके अनुसार होना चाहिये। जैसे सिंह एव सिंहकः, मृत् एव मृत्तिका, कर्मैव कार्मणं, यहां प्रकृतिके लिंग अनुसार ही स्वार्थिक प्रत्ययान्त पदोंका भी लिंग वही है। उसी प्रकार ज्योतिष् शब्द नपुंसकलिंग है। स्वार्थमें क प्रत्यय करनेपर भी ज्योतिष्क शब्द नपुंसकलिंग ही बना रहेगा, किन्तु यहां ज्योतिष्काः ऐसा पुल्लिंग शब्दस्वरूप सुना जा रहा है। सो क्यों? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि तिस प्रकार लिंगका अतिक्रमण करते हुये भी शब्दव्यवहार हो रहा देखा जाता है। स्वार्थिक प्रत्ययवाले पदका कहीं कहीं प्रकृतिके लिंगसे अतिक्रमण हो जाना कहा गया है। अतः ज्योतिष्क शब्दमें भी ज्योतिष् प्रकृतिके लिंग नपुंसकका उल्लंघन होकर पुल्लिंग देव या निकाय शब्दकी विशेषणताको धार रहा ज्योतिष्कशब्द पुल्लिंग हो गया है। जिस प्रकार कि " कुटी-शमीशुण्डाभ्यो रः " इस सूत्र करके कुटीर शमीर आदि शब्द बना लिये जाते हैं। ह्रस्वा कुटी कुटीरः, ह्रस्वा शमी शमीरः, छोटी कुटिया (झोंपडी) कुटीर है। छोटी शीशोंका पेड शमीर है। यहां स्त्रीलिंग कुटी और शमी शब्दसे स्वार्थमें र प्रत्यय कर पुल्लिंग कुटीर, शमीर, शब्द बना लिये गये हैं। कुटी या शमीका ह्रस्वपना उसका निजशरीर ही है। अतः ह्रस्व अर्थको कह रहा र प्रत्यय अवयवोंका छोटापन होते हुये भी स्वार्थको ही कह रहा है। किसी पुरुषके एक अंगुली कमती होय या बढती होय, एतावता वह विशिष्ट मंत्रसम्बन्धी विधियोंमें भले ही उपयोगी नहीं समझा जाय, किन्तु उपांगहीन या उपांगआधिक पुरुषका निज डील कोई विभिन्न नहीं हो जाता है। इसी प्रकार कृत एव कृतकः तालु एव तालुकः यहां शुद्ध प्रकृतिका जो अर्थ है, वही स्वार्थिक प्रत्ययान्त पदका है। न्यून, अधिक, नहीं है। किन्तु ह्रस्वा कुटी कुटीरः, प्रशस्ता मृत् मृत्स्ना, कुत्सितोऽश्वः अश्वकः, लघुतमो लघिष्ठः, अंगुलीव आंगुलिकः, यहां अवयवोंके न्यून, अधिक, प्रकृष्ट, निकृष्ट या सादृश्य होते हुये भी स्वार्थिकपनेका कोई विरोध नहीं है। अतः कुटीर या देव एव देवता, ओषधि-रेव औषधम्, शर्करैव शार्करम्, यहां भी कारणवश हो रही लिंगकी अतिवृत्तिके समान ज्योतिष्क शब्दमें लिंगका परिवर्तन हो जाता है। यों शब्दशास्त्रके साथ अर्थशास्त्रका सम्बन्ध समझते हुये न्याय प्राप्त अर्थका ग्रहण कर लिया करो।

सूर्याचन्द्रमसा इत्यत्रानङ् देवताद्वंद्ववृत्तेः। ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारका इत्यत्र नानङ्। पुनर्द्वन्द्वग्रहणात्तस्येष्टविषये व्यवस्थानादसुरादिवत् किंनरादिवच्च।

सूर्यश्च चन्द्रमाश्च इति सूर्याचन्द्रमसौ इस प्रकार द्वन्द्व होनेपर यहां देवता वाचक शब्दोंकी द्वन्द्वसमास नामक वृत्ति हो जानेसे " देवता द्वन्द्वे " इस सूत्रकरके आनङ् हो जाता है। देवता होनेपर भी ग्रहाश्च, नक्षत्राणि च, प्रकीर्णकतारकाश्च, यों द्वन्द्व करनेपर बन गये ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णक-तारकाः यहां आनङ् प्रत्यय नहीं हो पाता है। क्योंकि " आनङ् द्वन्द्वे " इस सूत्रसे द्वन्द्व इस शब्दकी अनुवृत्ति हो सकती थी। किन्तु व्याकरण सूत्रकारने " देवता द्वन्द्वे " इस सूत्रमें पुनः द्वन्द्वग्रहण किया है। वह द्वन्द्व पद व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अभीष्ट विषयोंमें यह व्यवस्था है, जैसे कि

असुर, नाग, विद्युत् इत्यादि सूत्रमें और किन्नर किम्पुरुष आदि सूत्रमें देवता वाचक पदोंका द्वन्द्व समास होनेपर भी आनङ् नहीं किया गया है। इस कारण पुनः द्वन्द्वपदके ग्रहण करनेसे उस आनङ्की इष्ट हो रहे विषयमें व्यवस्था है। भट्टोजि दीक्षितने भी " पुनर्द्वन्द्वग्रहणं प्रसिद्धसाहचर्यस्य परिग्रहार्थं " कहकर इसी अर्थको व्यक्त किया है।

कथं ज्योतिष्काः पंचविकल्पाः सिद्धा इत्याह।

यहां कोई तर्क उठाता है कि सूत्रमें कहे जा चुके पांच विकल्पवाले ज्योतिष्कदेव भला किस प्रकार सिद्ध हैं ? सूर्य, चन्द्रमा, आदि विमान तो प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा प्रतीत हो रहे हैं। किन्तु उनमें रहनेवाले ज्योतिष्क निकायके देवोंका अस्मादृश पुरुषोंको प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। ऐसी दशामें देवोंकी सिद्धि किस प्रमाणसे निर्णीत कर ली जाय ? बताओ। यों बैंडी तर्कके उपस्थित होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्त्तिक द्वारा इस प्रकार वक्ष्यमाण समाधान वचनको कहते हैं।

ज्योतिष्काः पंचधा दृष्टाः सूर्याद्या ज्योतिराश्रिताः।
नामकर्मवशात्तादृक् संज्ञासामान्यभेदतः॥ १॥

दिन या रातको आकाशमें चमक रहे सूर्य आदिक पांच प्रकारके विमान देखे गये हैं। विमान और विमानोंमें रहनेवाले देव दोनों ही ज्योतिके आश्रय हो रहे ज्योतिष्क निर्णीत किये जाते हैं। तिस तिस जातिके उदयापन्न नामकर्मकी अधीनतासे उन देवोंकी सामान्य और विशेषरूप करके ज्योतिष्क और सूर्य आदि तैसी संज्ञायें हो जाती हैं।

ज्योतिष्कनामकर्मोदये सति तदाश्रयत्वाज्ज्योतिष्का इति सामान्यतस्तेषां संज्ञा सूर्यादिनामकर्मविशेषोदयात्सूर्याद्या इति विशेषसंज्ञाः। त एते पंचधापि दृष्टाः प्रत्यक्षज्ञानिभिः साक्षात्कृतास्तदुपदेशाविसंवादान्यथानुपपत्तेः।

गतिकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रही ज्योतिष्क संज्ञक नामकर्मका उदय होते संते उस ज्योतिः (कान्ति) का आश्रय होनेसे देव ज्योतिष्क हैं। इस प्रकार उन देवोंकी ज्योतिष्क यह सामान्यरूपसे संज्ञा हो रही है। हां, जीवविपाकी उस देवगति प्रकृतिके उत्तरोत्तर भेद, प्रभेद, हो रहे सूर्य, चन्द्रमा, आदि विशेष नामकर्मोंके उदयसे विशेषदेवोंकी सूर्य, चन्द्रमा, आदिक ये विशेषसंज्ञायें अनादिकालसे प्रवृत्त रही हैं। जैसे कि मनुष्यगतिका उसके विशेष कहे गये आर्य, म्लेच्छ, भोगभूमि, आदि पौद्गलिक प्रकृतियोंका विपाक होनेपर हम, तुम, आदि जीव मनुष्य या आर्य आदि कहे जा रहे हैं, उसी प्रकार अन्तरंग कारणोंकी भित्तिपर ज्योतिष्कदेव या सूर्य आदिक देवोंकी व्यवस्थायें सयुक्तिक प्रतिभासित हो जाती हैं। अनन्तानन्त सूक्ष्मविषयोंका केवलज्ञानियोंने प्रत्यक्ष किया है। हां, उनके उपदिष्ट शास्त्रोंद्वारा साधारणज्ञानी श्रद्धालु जीव भी अतिप्रकृष्ट पदार्थोंका श्रुतज्ञान कर लेते हैं।

वे प्रसिद्ध हो रहे पांचों भी प्रकारके ये प्रकरण प्राप्त ज्योतिषी देव तो अवधि, मनःपर्यय, और केवल इन प्रत्यक्षज्ञानोंको धारनेवाले अतीन्द्रियदर्शी प्रत्यक्षज्ञानियोंकरके देखे जा चुके हैं। यानी मुख्यप्रत्यक्ष ज्ञानोंकरके वे देव विशदरूपेण साक्षात्कार किये जा चुके हैं। क्योंकि उन प्रत्यक्षज्ञानियोंके उपदेशका अविसम्वादीपना (निर्बाधपना) अन्यथा यानी किसी प्रत्यक्षज्ञानी द्वारा विषयोंका प्रत्यक्ष किये जा चुके विना नहीं बन सकता है। अर्थात्—वर्तमानमें सूर्य, चन्द्र, ग्रहणव्यवस्था, विमानोंकी गति, ग्रहोंका बारह राशियोंपर संक्रमण आदिको ज्योतिष विषयके पण्डित ठीक ठीक बता देते हैं। इस दिशासे इतना टेडा, नौकीला, अर्धग्रास, या खग्रास, इतनी देरतक, आदि बखाना गया सूर्यग्रहण पडेगा, या चन्द्रग्रहण पडेगा, अमुक दिन शुक्र अस्त हो जायगा, फलाने दिन बृहस्पतिका उदय होगा, इत्यादि व्यवस्थाओंको यद्यपि ज्योतिषशास्त्र निर्णीत कर देता है, फिर भी उन प्रत्यक्षज्ञानीको धन्य है, जिसने अनादि, अनन्त, कालतक होनेवाली ज्योतिष्क विमानोंकी परिणतियोंका प्रत्यक्ष अवलोकन कर तदनुसार अव्यभिचरित नियमोंको ज्योतिषशास्त्रोंमें गूंथ दिया है। प्रत्यक्षज्ञानीको सिद्ध करनेके लिए यह भी बडी अच्छी एक युक्ति है। अतः ज्योतिष्क विमान और उनके निवासी देवोंका प्रत्यक्षपूर्वक और तदुपदिष्ट आगम प्रमाणोंद्वारा निर्णय कर लिया जाता है। रूपी और रूपवान् पुद्गलके साथ सम्बद्ध हो रहे जीवका यथायोग्य प्रत्यक्ष करनेवाले अवधिज्ञानियों और मनःपर्यय ज्ञानियोंको भी देवोंका प्रत्यक्ष हो जाता है। यदि मनुष्य या तिर्यंच जीवोंके जीवित शरीरोंका प्रत्यक्ष होकर उन उन आत्माओंका भी उपचारसे प्रत्यक्ष हो जाना अभीष्ट है तब तो देवदेवियोंको भी परस्परमें अथवा स्वयंको भी स्वकीय वैक्रियिकशरीरोंका इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष होना अभीष्ट कर लिया जाय, कोई क्षति नहीं पडेगी। देव चाहे तो अपने वैक्रियिक शरीरका मनुष्य, तिर्यंच या नारकियोंको भी प्रत्यक्ष करा सकते हैं। विप्रकृष्ट पदार्थोंकी सिद्धि करनेका उपाय इतना क्या थोडा है ! अलम्।

सामान्यतोऽनुमेयाश्च छद्मस्थानां विशेषतः।
परमागमसंगम्या इति नादृष्टकल्पना ॥ २ ॥

अर्वाग्दर्शी छद्मस्थ जीवोंके अनुमान प्रमाण द्वारा वे ज्योतिष्क देव सामान्य रूपसे जानने योग्य हैं। और आयुः, शरीर, लेश्या, प्रभाव, आधारस्थान, आदि विशेष रूपोंसे तो ज्योतिषी देवोंको सर्वज्ञोक्त परम आगमप्रमाण द्वारा भले प्रकार समझ लेना चाहिये। इस कारण सूत्रकार द्वारा कहे गये ज्योतिष्क देवोंकी व्यवस्था यह अदृष्ट या अप्रमाणिक पदार्थकी कल्पना नहीं है। छद्मस्थ जीवोंके प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण विचारे अल्प पदार्थोंमें ही प्रवर्तते हैं। इनसे अनन्तानन्त गुना प्रमेय श्रुतज्ञान या केवलज्ञान द्वारा निर्णय करनेके लिये अवशिष्ट पडा रहता है। कूपमण्डूकबुद्धिसे पदार्थोंका निर्णय नहीं हो पाता है। समुद्रहंसकीसी उदार बुद्धियोंसे त्रिलोक, त्रिकालवर्त्ती वस्तुभूत पदार्थ

परिज्ञात कर लिये जाते हैं। हां, अप्रामाणिक, विसम्वादी उपदेशोंसे सदा बचते रहना चाहिये। नहीं तो अज्ञानकूपमें पतन होना अनिवार्य समझो।

अब श्री उमास्वामी महाराज विशेषतया ज्योतिष्क विमानोंकी और विमानोंके साथ हो रही ज्योतिष्क देवोंकी गतिके विशेषका प्रतिपादन करनेके लिये प्रवचनैकदेश अग्रिम सूत्रका उच्चारण करते हैं।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

ढाई द्वीप और दो समुद्रोंके समुदित स्थानस्वरूप पैंतालीस लाख योजन लम्बे, चौडे, गोल मनुष्य लोकमें (के ऊपर) ज्योतिष्क देव सुदर्शन मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुये, विश्रान्ति लिये विना सतत भ्रमणरूप गतिको करते रहते हैं। आधार और आधेयमें एकताका उपचार कर लेनेसे ज्योतिष्क देवों करके आरूढ हो रहे विमान भ्रमण करते रहते हैं, यों सूत्रका अर्थ कर लेना चाहिये।

ज्योतिष्का इत्यनुवर्तते। नृलोक इति किमर्थमित्यावेदयति।

पूर्वसूत्रसे " ज्योतिष्काः " इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। अतः इस सूत्रका यह अर्थ हो जाता है कि मनुष्यलोकमें मेरुकी प्रदक्षिणा कर रहे नित्य गतिवाले ज्योतिष्क देव हैं। कोई विनीत श्रोता प्रश्न करता है कि श्री उमास्वामी महाराजने सूत्रमें " नृलोके " इस प्रकार अधिकरण वाचकपद किस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये प्रयुक्त किया है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी शिष्य प्रबोधनार्थ अग्रिमवार्तिकका आवेदन कर रहे हैं।

निरुक्त्यावासभेदस्य पूर्ववद्वृत्त्यभावतः।
ते नृलोक इति प्रोक्तमावासप्रतिपत्तये ॥ १ ॥

पूर्वकी दो निकायें हो रहे भवनवासी और व्यन्तरोंके समान शब्दनिरुक्ति द्वारा ज्योतिषियोंके विशेष आवास स्थानोंकी इति नहीं हो सकती है। अतः ज्योतिषियोंके आवासकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकारने " नृलोके " ऐसा अधिकरण ठीक कहा है। अर्थात्—मेरुकी प्रदक्षिणा देते हुये नित्यगतिको कर रहे वे ज्योतिष्क देव मनुष्यलोकमें ही हैं। यद्यपि नृलोकसे बाहर भी असंख्याते ज्योतिष्क हैं। किन्तु वे नित्यगतिमान् नहीं होते हुये स्थिर हैं। इस कारण नित्यगतिवाले ज्योतिष्क और नृलोके इन दोनों पदोंमें एवकार लगाकर अनिष्ट अर्थकी व्यावृत्ति कर लेनी चाहिये। एवकार तो विना कहे ही बीचमें कूद पडता है।

न हि ज्योतिष्काणां निरुक्त्यावासप्रतिपत्तिर्भवनवास्यादीनामिवास्ति यतो नृलोक इत्यावासप्रतिपत्त्यर्थं नोच्यते क पुनर्नृलोके तेषामावासाः श्रूयंते ?

भवनवासी आदि देवोंके शब्दनिरुक्ति करके जैसे निवासस्थानोंकी प्रतिपत्ति हो जाती है, अर्थात्—भवनोंमें निवास करनेकी टेव रखते हुये भवनवासी हैं और विविध देशान्तरोंमें अवकाश पा रहे व्यन्तर हैं, विमानोंमें निवास कर रहे वैमानिक हैं, इस प्रकार ज्योतिष्क देवोंके निवास स्थानोंकी परिच्छित्ति केवल "ज्योतिष्क" शब्दकी निरुक्ति कर देनेसे नहीं हो पाती है जिससे कि ज्योतिषियोंके निवासस्थानोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार द्वारा "त्रिलोके" यह नहीं कहा जाय ! ज्योतिष्क शब्द तो केवल द्युति, प्रकाश, या चमकना मात्र स्वभावोंका प्रतिपादन कर रहा है। किन्तु यहां ज्योतिषियोंके आवासका परिज्ञान कराना अत्यावश्यक है। कोई नम्र श्रोता पूंछता है कि मनुष्यलोकमें उन ज्योतिष्कोंके नियत हो रहे आवासस्थान फिर कहां शास्त्र द्वारा ज्ञात किये जा रहे हैं ? बताओ, ऐसी बुभुत्सा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिकोंको कहते हैं।

अस्मात्समाद्धराभागादूर्ध्वं तेषां प्रकाशिताः ।
आवासाः क्रमशः सर्वज्योतिषां विश्ववेदिभिः ॥ २ ॥

समस्तवस्तुओंके सम्पूर्ण यथार्थोंका साक्षात् वेदन करनेवाले केवलज्ञानी महाराजने वादी, प्रतिवादी या वक्ता श्रोताको परिदृष्ट हो रही इस रत्नप्रभा भूमिके समतल भागसे ऊपर स्थानोंमें उन सम्पूर्ण ज्योतिषी देवोंके आवासस्थानोंको यों वक्ष्यमाण प्रकार करके क्रम क्रमसे प्रकाशित किया है। अर्थात्—छट्ठे दुःषमा कालके अन्तमें चलनेवाले संवर्तक नामा वायु करके इस आर्यखण्डके गिरि, वृक्ष, भूप्रदेश ये सब कार्य नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। एक हजार योजन नीचे तक भूमि चकनाचूर हो जाती है। ऐसी दशामें नाप बिगड जाता है। अतः समतल भूभागसे यानी सुदर्शन मेरुकी जडसे ठीक एक हजार योजन ऊपर जम रही मध्यलोक व्यापिनी इस विद्यमान दृश्यमान चित्राभूमिके ऊपर तलसे योजनोंको नापकर ज्योतिष्क विमानोंका विन्यास हो रहा समझ लेना चाहिये तथा लवणसमुद्रका जल इस चित्रा भूमिके समतलसे जलहानि दशामें ग्यारह हजार और जलवृद्धि दशामें सोलह हजार योजनतक ऊंचा उठ रहा है, लवणसमुद्र सम्बन्धी सूर्य, चन्द्रमा, आदि तो जलमें ही घूमते रहते हैं। कोई आतुर पण्डित जलके उपरिमतलमें ज्योतिषियोंको ऊंचा नहीं नाप बैठे इसलिए पृथिवीके "समभागसे ऊपर" यह ग्रन्थकारका वाक्य साभिप्राय है। गणित शास्त्रज्ञोंको एक एक अंगुल यहांतक कि एक एक प्रदेश, एवं शून्य बिन्दु आदि तकका लक्ष्य रखना पडता है। इस ग्रन्थको सुनने समझनेवाले यदि गृहोंकी छतपर बैठे हुये हों या कई सीढियां चढकर ऊपरके स्थानोंमें बैठे हुये हैं अथवा कालदोषसे हुये चित्राभूमिके नीचे ऊंचे प्रदेशोंपर विराज रहे होंय तो ऐसी दशामें नाप करनेवाले ठीक ठीक नाप नहीं कर पायेंगे। अतः गणितज्ञोंका सूक्ष्म लक्ष्य कराने के लिये धराके समतल भागको ध्रुव अपादान नियत कर दिया है। चित्राभूमिके उपरिमभागसे ठीक एक हजार योजन ऊंचा चित्राका अपरला समतल है। बस, वहां ही जमकर बैठ जाइये।

योजनानां शतान्यष्टौ हीनानि दशयोजनैः ।
उत्पत्य तारकास्तावच्चरंत्यध इति श्रुतिः ॥ ३ ॥
ततः सूर्या दशोत्पत्य योजनानि महाप्रभाः ।
ततश्चंद्रमसोशीतिं भानि त्रीणि ततस्त्रयः ॥ ४ ॥
त्रीणि त्रीणि बुधाः शुक्रा गुरवश्चोपरि क्रमात् ।
चत्वारोंगारकास्तद्वच्चत्वारि च शनैश्चराः ॥ ५ ॥

इस चित्रा पृथिवीसे दश योजनों करके हीन होरहे आठसौ यानी सातसौ नब्बे ७९० योजनोंके ऊपर उछल कर आकाश मण्डलमें सबसे पहिले तो तारे गमन कर रहे देखे जाते हैं । जो कि सम्पूर्ण ज्योतिषियोंके निचले भागमें विचरण करते हैं, ऐसा शास्त्रवाक्य है । उन तारोंसे दश योजन ऊपर उछल कर देखा जाय तो महती प्रभाको धार रहे सूर्यविमान चर रहे हैं । उन सूर्यविमानोंसे अस्सी योजन ऊपर उछल कर वर्तरहे किसी पदार्थको देखा जाय तो उन आकाश प्रदेशोंमें चन्द्रमा गमन कर रहे प्रतीत होते हैं। उन चंद्रविमानोंसे तीन योजन ऊपर अश्विनी आदि नक्षत्र विमान भ्रमण कर रहे हैं । उन नक्षत्रोंसे तीन, तीन, योजन ऊपर उछल कर क्रमसे बुध, शुक्र और बृहस्पति ग्रहोंके विमान रचित हैं । उसी प्रकार यानी उस गुरुसे चार योजन ऊपर उछल कर मंगल विमान है । उससे चार योजन ऊपर चल कर शनिश्चर ग्रह चर रहे हैं । त्रिलोकसारमें " णउदुत्तर सत्तसये दस सीदी चदुदुगे तियचउक्के, तारिणससिरिक्खबुहा सुक्कगुरुंगारमंदगदी " ऐसा पाठ है । और राजवार्त्तिकमें " णवदुत्तर सत्तसया दससीदीचदुतिगं च दुगचदुक्कं, तारारविससिरिक्खा बहुभग्गवगुरुअंगिारसणी " इस गाथाको उक्तं च कहकर उद्धृत किया गया है । सर्वार्थसिद्धि, त्रिलोकसार और श्रुतसागरीका मत एकसा बैठ जाता है । किन्तु श्री विद्यानन्द स्वामीका मन्तव्य राजवार्त्तिकके कथित अनुसार है । यानी राजवार्त्तिकमें चन्द्रमाके तीन योजन ऊपर नक्षत्रोंका भ्रमण माना है, जब कि त्रिलोकसारमें चन्द्रमाओंके चार योजन ऊपर नक्षत्रोंका भ्रमण माना गया है । इसी प्रकार अन्य बुध आदिमें अन्तर समझ लेना चाहिये । यों आम्नायके भेदका जैसे अन्यत्र निवारण कर लिया जाता है उसी प्रकार यहां भी ग्रन्थकर्त्ताओंके गुरुपरिपाटी द्वारा स्मरण रहे यथायोग्य प्रमेय अनुसार आगमवाक्योंका श्रद्धान कर लेना चाहिये तिसही कारण ग्रन्थकार यहां आगमप्रमाणकी प्रधानता अनुसार " श्रुति " ऐसा शब्द लिख रहे हैं। एकसौ दश योजनोंकी मुटाई अविरुद्ध है । जिन स्थानोंपर ज्योतिष्क मण्डल स्थिर है वहां भी उक्त क्रमसे ही रचनायुक्त होरहा है और मनुष्य लोकमें भ्रमण कर रहा भी इसी उक्त विन्यासको धार रहा है ।

चरंति तादृशादृष्टविशेषवशवर्तिनः ।
स्वभावाद्वा तथानादिनिधनाद्द्रव्यरूपतः ॥ ६ ॥

सूर्य आदि विमानोंमें निवास कर रहे ज्योतिष्क देव तिस जातिके अदृष्टविशेषके पराधीन वर्त रहे सन्ते भ्रमण कर रहे हैं। अथवा अनादि, अनन्त द्रव्य रूपसे तिस प्रकारका स्वभाव होनेसे मनुष्य लोकमें वे विचरते रहते हैं तथा बाहर स्थित बने रहते हैं। परिशेषमें सबसे अच्छा सिद्धान्त यही है कि जीवन, मरण, चलना, ठहरना, पृथिवीकी स्थिरता, वायुकी चंचलता, गुरुपदार्थका अधःपतन-स्वभाव, लोककी स्थिरता, आकाशकी व्यापकता, कालद्रव्यका अणुपरिमाण, जीवोंका चेतनत्व, पुद्गल द्रव्यका जडत्व, नरकोंमें दुःखोत्पादक कारणोंका सद्भाव, स्वर्गोंमें सुखोत्पादक सामग्री, मुक्ति अवस्थामें अनन्त सुख, ये व्यवस्थायें अनादिनिधन द्रव्यके निजगांठके स्वभावों अनुसार व्यवस्थित हैं। नृलोकमें ज्योतिषियोंका भ्रमण और नृलोकसे बाहर असंख्याते ज्योतिषियोंका वहांके वहीं बने रहना निजगांठकी परिणतियोंपर अवलम्बित है। भ्रमण और गमन दोनोंके लिये कारणोंका ढूंढना एकसा आवश्यक है। जीवन और मरण दोनों ही सकारण हैं। कार्यकारणभावके वेत्ता विद्वानोंके यहां उत्पाद, व्यय और स्थिति तीनोंको कारणजन्य माना गया है। ज्योतिष्कोंको भ्रमण करानेके लिये जितने शक्तिशालीकी आवश्यकता है उतना शक्तिशाली कारण उनको स्थिर रख सकता है। कचित् वह कारण बहिरंग भी होता है। किन्तु बहुभाग स्थलोंमें अन्तरंग ही कारण प्रधान माना गया है। धर्म, अधर्म, दोनों द्रव्योंकी शक्ति समान है उत्कट रौद्रध्यान और प्रकृष्ट शुक्लध्यानकी शक्ति तौलमें बराबर है। एक सातवें नरकमें पहुंचा देता है, दूसरा मोक्षमें धर देता है। ज्योतिष चक्रको ठहराये रखनेमें अल्पबल कारणसे कार्य होजाय और ज्योतिष चक्रका भ्रमण करानेमें महान् शक्तिशाली कारण उपयोगी होय ऐसा चित्तमें नहीं धार लेना चाहिये। संसार, सामायिकी, वातवलय आदि करके घोडा, मन, लोक, शुक्र, अस्थि, स्वकीय पाठ आदिको एकाग्र धारे रखनेमें बडी शक्ति लगानी पडती है। अतः प्रकरणमें ज्योतिष्क विमानोंका परिभ्रमण अनादि निधन द्रव्यरूप स्वभावसे निर्णीत कर दिया है। यह समाधान बहुत बढिया रुचिकर है। सभी दार्शनिकोंको इसी समाधानपर मस्तक झुकाना पडेगा।

एष एव नभो भागो ज्योतिः संघातगोचरः ।
बहलः सदशकं सर्वो योजनानां शतं स्मृतः ॥ ७ ॥

ज्योतिष्क विमानोंके या तत्सम्बन्धी देवोंके समुदायका विषय हो रहा यह आकाश भाग ही सर्व दशसहित सौ योजनोंका मोटा सिद्धान्तज्ञ ऋषियोंकी परिपाटी अनुसार स्मरण किया जा रहा है। अर्थात्—यहां सम भागसे सात सौ नब्बे बडे योजन ऊपर चलकर ज्योतिष्क चक्रका प्रारम्भ हो जाता है। १०+८०+३+३+३+३+४+४=११० यों मध्यलोक सम्बन्धी एक सौ दश योजन

मोटे सवरे आकाशमें वे इस दो सौ छप्पन प्रमाणांगुलोंके वर्गका जगत्प्रतर प्रदेशोंमें भाग देनेपर प्राप्त हुई संख्या प्रमाण ज्योतिषी देव या उन देवोंके संख्यातवें भाग प्रमाण ज्योतिष्क विमान निवस रहे हैं। एक एक विमानमें हजारों, लाखों यों संख्याते देव रह जाते हैं। जैसा कि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्त्तीने सम्पूर्ण विमानोंमें अकृत्रिम बन रहे अनादि अनन्त अकृत्रिम चैत्यालयोंको इस गाथा करके नमस्कार किया है। " वेसदछप्पण्णंगुल कदिहिदपदरस्स संखभागमिदे, जोइसजिणंदगेहे गणणातीदे णमंसामि "।

स घनोदधिपर्यंतो नृलोकेऽन्यत्र वा स्थितः ।
सिद्धस्तिर्यगसंख्यातद्वीपांभोधिप्रमाणकः ॥ ८ ॥

और वह ज्योतिष्क विमानोंका व्यूह मनुष्य लोकमें अथवा मनुष्य लोकसे बाहर भी तिरछा असंख्यात द्वीप और असंख्याते सम्पूर्ण समुद्रप्रमाण लम्बा, चौडा, होकर घनोदधिपर्यन्त व्यवस्थित हो रहा सिद्ध है। अर्थात्—मध्यलोकस्थ त्रसनाली सम्बन्धी एक सौ दश योजन मोटे आकाश भागमें पूर्व, पश्चिम, बारह योजन मोटे वातवलयको छोडकर लोकपर्यन्ततक फैला हुआ है। और दक्षिण, उत्तरमें, त्रसनालीतक ज्योतिषचक्र स्थित है। यानी सात राजू लम्बा, एक राजू चौडा, और मेरुसम एक लाख चालीस योजन ऊंचा मध्यलोक है। दक्षिण और उत्तरसे तीन तीन राजू स्थावर लोकके भागको घटा कर इसके ठीक बीचमें एक राजू लम्बा, एक राजू चौडा, त्रसनालीका भाग है। उस त्रसनालीमें पूर्व और पश्चिम बारह योजन मोटे वातवलय प्रमाण कमती एक राजू चौडे और उत्तर दक्षिणमें पूरे एक राजू लम्बे तथा एक सौ दश योजन ऊपर नीचे मोटे चौकोर आकाश प्राङ्गणमें ज्योतिश्चक्र प्रतिनियत है। मध्यलोक सम्बन्धी पूर्व, पश्चिम, लोकप्रान्तमें पांचयोजन मोटे पहिले घनोदधिवातपर्यंत ज्योतिष्क विमान फैल रहे हैं। हां, दक्षिण, उत्तरकी ओर त्रसनालीसे घनोदधि वात निकट नहीं है। तीन तीन राजू दूर है।

सर्वाभ्यंतरचारीष्टः तत्राभिजिदथो बहिः ।
सर्वेभ्यो गदितं मूलं भरण्योधस्तथोदिताः ॥ ९ ॥
सर्वेषामुपरि स्वातिरिति संक्षेपतः कृता ।
व्यवस्था ज्योतिषां चिंत्या प्रमाणनयवेदिभिः ॥ १० ॥

नृलोक सम्बन्धी उस ज्योतिष्क मण्डलमें सम्पूर्ण स्वकीय ज्योतिष्क विमानोंके अभ्यन्तर (भीतर) चरनेवाला अभिजित् नामका नक्षत्र इष्ट किया गया है और अपने अपने द्वीप या समुद्रसम्बन्धी सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलके बाहर चर रहा मूलनामका नक्षत्र कहा गया है। तिसी प्रकार सबसे नीचे

भरणी नक्षत्र सम्बन्धी पांच तारे चर रहे कहे गये हैं तथा सबके ऊपर स्वातिनक्षत्रका एक तारा चर रहा है। विशेष यह है कि यहां सर्व शब्दसे यदि सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डल अभिप्रेत है तब तो सबसे नीचे तारे और उनसे तिरानवे योजन ऊंचे नक्षत्र तथा सबके ऊपर शनिश्चरको कहनेवाले सिद्धान्तवचनका इस भरणी नक्षत्रको सबसे नीचे और स्वाती नक्षत्रको सबके ऊपर कहनेवाले सिद्धान्तको अपवाद कथन समझा जाय। हां, यदि " उत्तरदक्खिण उड्ढा-धोमज्झे अभिजिमूलसादीय, भरणी कित्तिय रिक्खा चरंति अवराणमेवं तु " इस त्रिलोकसारसम्बन्धी गाथाकी " अथाकाशे चरतां कियन्नक्षत्राणां दिग्विभागमाह " " अब श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कितने ही एक नक्षत्रोंकी दिशाके विभागको कहते हैं " इस श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यकृत उत्थानिका अनुसार केवल नक्षत्रोंका ही दिग्विभाग मानना अभीष्ट होय, तब सर्व नक्षत्रोंके अधः (भीतर) भरणी और सर्व नक्षत्रोंके ऊपर स्वाती नक्षत्रके विचरनेकी व्यवस्था ठीक बैठ जाती है। यों सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलके नीचे तारायें, मध्यमें नक्षत्र, ऊपर शनिश्चर ग्रह, इस सिद्धान्तकी रक्षा भी होजाती है। अभिजित्को भीतरकी ओर और मूलको बाहरकी ओर भले ही सम्पूर्ण नक्षत्रोंकी अपेक्षा या सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलकी अपेक्षा भी कह देनेसे कोई विरोध नहीं आता है। इस प्रकार संक्षेपसे ज्योतिष्क विमानोंकी यह स्मरण अनुसार आगमोक्त व्यवस्था कर दी गयी है। प्रमाण और नयके वेत्ता विद्वानों करके ज्योतिषियोंकी अन्य विस्तृत व्यवस्थाका भी उपरिष्टात् चिन्तन कर लेना चाहिये। ग्रन्थकर्त्ताके एक एक अक्षरपर तर्कवादका बक्खर चढवानेके लिये उत्सुक बैठे हुये प्रतिवादियोंके सम्मुख विप्रकृष्ट विषयोंका इतना ही निरूपण करना पर्याप्त है। श्रद्धालु श्रोता अन्य विद्यानन्द महोदय, त्रिलोकसार, आदि ग्रन्थोंसे अपनी विस्तृत अभिलाषाको परितृप्त करें।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतय इति वचनात् किमिष्यत इत्याह।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि ज्योतिष्क देवोंके लिये सुदर्शन मेरुकी प्रदक्षिणा देते रहना और नित्य गतिमान् बने रहना इस सूत्र प्रतिपादित वचनसे श्री उमास्वामी महाराजको कौनसा प्रमेय अभीष्ट हो रहा है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान वचनको कहते हैं।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयस्त्विति निवेदनात्।
नैवाप्रदक्षिणा तेषां कादाचित्कीष्यते न च ॥ ११ ॥
गत्यभावोपि चानिष्टं यथा भूभ्रमवादिनः।
भुवो भ्रमणनिर्णीतिविरहस्योपपत्तितः ॥ १२ ॥

इस सूत्रमें कहे गये सम्पूर्ण पद इतरका व्यवच्छेद करते हुये सफल हैं, निरर्थक नहीं। देखो, मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुये ज्योतिष्क नित्य गतिवाले हैं, इस प्रकार सूत्रकर्त्ता करके निवेदन करनेसे

तो उन ज्योतिष्क देवोंकी गति प्रदक्षिणारहित नहीं हो पाती है और कभी कभी होनेवाली गति भी इष्ट नहीं की गयी है तथा ज्योतिष्क विमानोंकी गतिका अभाव भी अनिष्ट है, जैसा कि ज्योतिष्कोंका गत्यभाव भू का भ्रमण कहनेवाले विद्वान् मान रहे हैं। क्योंकि पृथिवीका भ्रमणरहितपना युक्तियोंसे निर्णीत हो चुका है। अर्थात्—मेरुप्रदक्षिणा शब्दसे ज्योतिष्कोंके प्रदक्षिणारहितपनकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। गति होनेमें नित्यपना लगा देनेसे बहुत दिनोंतक स्थिर ठहरते हुये ज्योतिष्कोंके कभी कभी गति कर लेनेका व्यवच्छेद कर दिया है। पृथिवीका भ्रमण माननेवाले आर्यभट्ट या यूरप, अमेरिका, इटलीनिवासी कतिपय आधुनिक विद्वानोंने ज्योतिष चक्रको स्थिर मानकर सूर्य आदिमें गतिका अभाव इष्ट कर लिया है। ज्योतिष्कोंकी गतिका प्रतिपादन करते हुये सूत्रकारने ज्योतिष्चक्रके गत्यभाव और पृथिवीके भ्रमणकी व्यावृत्ति कर दी है। क्योंकि उन विद्वानोंके बूते भू का भ्रमण निर्णीत नहीं हो सका है। और ग्रन्थकारने तृतीय अध्यायमें पृथिवीके भ्रमणरहितपनका युक्तियोंसे निर्णय कर दिया है।

न हि प्रत्यक्षतो भूमेर्भ्रमणनिर्गीतिरस्ति, स्थिरतयैवानुभवात्। न चायं भ्रांतः सकलदेशकालपुरुषाणां तद्भ्रमणाप्रतीतेः। कस्यचिन्नावादिस्थिरत्वानुभवस्तु भ्रांतः परेषां तद्भ्रमनानुभवेन बाधनात्।

प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे इस अचला भूमिके भ्रमणका निर्णय नहीं हो सकता है। क्योंकि स्पार्शन प्रत्यक्ष, चाक्षुष प्रत्यक्ष तथा स्थिर भूमिके होते सन्ते हो रही असम्भ्रान्ति (अव्याकुलता) को धारनेवाले मनसे हुये प्रत्यक्षप्रमाणों करके भूमिका स्थिरस्वरूप करके ही अनुभव हो रहा है। यह अनुभव होना भ्रमज्ञान नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण देश और कालमें वर्त रहे पुरुषोंको उस भूमिका भ्रमण प्रतीत नहीं होता है। देखो सीपमें हुआ चांदीका ज्ञान या मृगतृष्णामें हुआ जलका ज्ञान तथा शुक्लशंखमें पीतत्वका ज्ञान अबाधित नहीं है। अनेक देश कतिपयकाल और कई सम्वादी पुरुषोंकी अपेक्षा बाधा उत्पत्ति होजानेपर पूर्वज्ञान भ्रान्त माने जाते हैं। किन्तु सम्पूर्ण देश, सम्पूर्ण काल और सम्पूर्ण पुरुषोंकी अपेक्षा अबाधित होरहा पृथिवीकी स्थिरताका ज्ञान कथमपि भ्रान्त नहीं है। यदि भूभ्रमणवादी पण्डित यों कहें कि अनभ्यस्त किसी नगरके नीचे बहनेवाली नदियां या समुद्रमें नावके ऊपर किसीको भ्रमण करनेका अवसर मिल जाता है, उस मुग्धबुद्धि पुरुषको चलती हुयी नाव तो स्थिर प्रतीत होती है और नगर या समुद्रतट भ्रमण करते हुये दृष्टिगोचर होते रहते हैं। दिशाकी भ्रान्ति भी होजाती है। इसी प्रकार पृथिवीके भ्रमण होनेपर भी सूर्य आदिकी स्थिर दशामें हम स्थूल बुद्धि पुरुषोंको पृथिवीके स्थिरत्वका अनुभव हो जाता है, जो कि भ्रान्त ज्ञान है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों किसी किसी असंज्ञी सरीखे पोंगा पुरुषको चल रहे नाव, वायुयान, रेलगाडी आदिके स्थिरपनका हो रहा अनुभव तो भ्रान्त है। क्योंकि दूसरे विचारशील पुरुषोंको उन नाव आदिके गमनके हो रहे अनुभव करके उस अनुभवकी बाधा कर दी जाती है। किन्तु पृथिवीकी स्थिरता तो सम्पूर्ण देश, सम्पूर्ण काल

और अखिल पुरुषोंके यहां बाधारहित हैं। यों प्रत्यक्षप्रमाणसे भूभ्रमणका निर्णय नहीं हो सका। अतः आर्यभट्ट पण्डितने जो यह कहा है। " अनुलोम गतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्, अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम् " नावमें बैठा हुआ अनुकूल सीधा जा रहा मनुष्य किनारेके स्थिर हो रहे वृक्ष, पर्वत, आदि पदार्थोंको जैसे उलटी ओरको चलता हुआ देखता है, उसी प्रकार लंकामें अचल ज्योतिष्क मण्डलको पश्चिमकी ओर चलते हुये देखता है। यह आर्यभट्टका कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। दृष्टान्त विषम है।

नाप्यनुमानतो भूभ्रमणविनिश्चयः कर्तुं सुशकः तदविनाभाविलिंगाभावात्। स्थिरे भचक्रे सूर्योदयास्तमयमध्यान्हादिभूगोलभ्रमणे अविनाभाविलिंगमिति चेन्न, तस्य प्रमाणबाधितविषयत्वात् पावकानौष्ण्यादिषु द्रव्यत्वादिवत्। भचक्रभ्रमणे सति भूभ्रमणमंतरेणापि सूर्योदयादिप्रतीत्युपपत्तेश्च। न तस्मात् साध्याविनाभावनियमनिश्चयः। प्रतिविहितं च प्रपंचतः पुरस्तात् भूगोलभ्रमणमिति न तदवलंबनेन ज्योतिषां नित्यगत्यभावो विभावयितुं शक्यः। नापि कादाचित्कीष्यते गतिर्नित्यग्रहणात्।

तथा अनुमानप्रमाणोंसे भी भूभ्रमणका विशेषतया भले प्रकार निश्चय नहीं किया जा सकता है। क्योंकि उस भूभ्रमणरूप साध्यके साथ अविनाभावको धारनेवाले ज्ञापकलिंगका अभाव है। भू के भ्रमण और ज्योतिश्चक्रकी स्थिरता मान लेनेपर होनेवाले दिन, रात, ग्रहण, राशिसंक्रमण, आदि कार्य तो पृथिवीकी स्थिरता और ज्योतिष्कोंका भ्रमण माननेपर भी सुलभतया उपपन्न हो जाते हैं। यदि ज्योतिष्क मण्डलको स्थिर माननेवाला यों कहे कि नक्षत्र मण्डलके स्थिर होनेपर और भूगोलका भ्रमण होते सन्ते सूर्यका उदय होना, सूर्यका अस्त होना, मध्याह्न (दुपहर) होना, ग्रहण पड जाना आदि ही अविनाभावी लिंग हैं। ग्रन्थकार कहते हैं, यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस लिंगके साध्यरूप विषयकी प्रमाणोंसे बाधा प्राप्त हो जाती है। जैसे कि अग्निमें अनुष्णता, अदाहकता आदिकी सिद्धि करनेमें प्रयुक्त हुये द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, आदि हेतु बाधित हेत्वाभास हैं। इसी प्रकार तुम्हारे भूभ्रमणके लिंगके विषय हो रहे साध्यकी प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा बाधा उपस्थित हो रही है। दूसरी बात यह है कि ज्योतिष्कचक्रका भ्रमण होते सन्ते भूभ्रमणके विना भी सूर्योदय, सूर्यास्त, आदिकी प्रतीति होना युक्तियोंसे सध जाता है। इससे भी भू का भ्रमण सिद्ध नहीं हो पाता है। तिस कारण हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव बन जानास्वरूप नियमका निश्चय नहीं हो सका है। विद्वान् आर्यभट्टने लिखा है। " भपञ्जरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्य प्रतिदैवसिकौ उदयास्तमयौ सम्पादयति ग्रहनक्षत्राणाम् " सूर्य आदिक सब नक्षत्र मण्डल स्थिर है। पृथिवी ही बार बार घूम घूम कर प्रत्येक दिनमें होनेवाले ग्रह और नक्षत्रोंके उदय और अस्तका सम्पादन करती है। ऐसी युक्ति रहित आर्यभट्टकी प्रतिज्ञायें आदरणीय नहीं हैं। तथा अधिक विस्तारसे भूगोलके भ्रमणका खण्डन

हम पूर्व प्रकरणमें कर चुके हैं। इस कारण उस भूभ्रमणका अवलम्ब लेकरके ज्योतिषियोंको नित्य गतिका अभाव नहीं विचारा (निर्णय) जा सकता है। यों प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणसे ज्योतिश्चक्रकी नृलोकमें गति निर्णीत की जा सकती है। वह ज्योतिष्कोंकी गति कभी कभी होनेवाली भी नहीं इष्ट की गयी है। क्योंकि गतिका विशेषण देनेके लिये सूत्रकारने " नित्य " शब्दका ग्रहण किया है। अतः नृलोकमें ज्योतिष्कोंकी गति नित्य हो रही मानी गयी है। कतिपय ज्योतिष्कोंकी हो रही नित्य गतिका बालक बालिकाओंतकको प्रत्यक्ष हो जाता है।

तद्गतेर्नित्यत्वविशेषणानुपपत्तिरध्रौव्यादिति न शंकनीयं, नित्यशब्दस्याभीक्ष्ण्यवाचित्वान्नित्यप्रहसितादिवत्।

कोई यहां शंका करता है कि ज्योतिष्कोंकी उस गतिका नित्यपना यह विशेषण नहीं बन सकता है। क्योंकि कोई गति ध्रुव नहीं है। बौद्ध, वैशेषिक, मीमांसक, यहांतक कि जैन भी क्रियाओंको अनित्य स्वीकार करते हैं। नृत्यकारिणीकी झटझट पूर्वक्रियायें नष्ट होरही संती उत्तरक्रियायें उपजती हुई दिखती हैं। " कर्मण्यडनित्यमेव " कोई भी क्रिया नित्य कालतक स्थिर नहीं रह सकती है। क्षणक्षणमें अन्य ही क्रिया होजाती है, ऐसी दशामें ज्योतिष्कोंकी नित्यगति आपने कैसे कही? बताओ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि नित्य शब्द अभीक्ष्णताका वाचक व्यवस्थित होरहा है, जैसे कि नित्य ही हंसनेवाला देवदत्त है या नित्य बकवाद करनेवाला यज्ञदत्त है, नित्यभोजी बालक है इत्यादि स्थलोंमें नित्यका अर्थ अभीक्ष्णता यानी पुनः पुनः या असकृत् है, देवदत्त नित्य हंसता रहता है, इसका अर्थ शौच जाते, सोते आदि अवस्थाओंमें भी सदा हंसते रहना नहीं है। किन्तु अनेकवार पुनः या पुनः बहुतसी क्रियाओंमें दिनरात बहुभाग अवसरोंपर हंसते रहना है। प्रातःसे लेकर सायंकालतक हंसना ही जब अत्यन्त कष्टसाध्य है, ऐसी दशामें नित्य हंसते रहना तो असम्भव ही समझियेगा। कुछ देरतक हंसते रहनेपर भी शरीर या आत्मामें प्रतिक्षण अनेक हांसियां विनशतीं, उपजतीं, रहती हैं। इसी प्रकार ज्योतिष्कोंकी गतिमें नित्यका अर्थ पुनः पुनः एकके पीछे झट दूसरी गति, अनेकवार गति यों अभीक्ष्णता करना चाहिये। जैसा कि नित्य हंसना, नित्य बक बक करना, नित्य रोना, नित्य टोटा होना, नित्य पूजन करना आदिमें शोभता है।

ऊर्ध्वाधोभ्रमणं सर्वज्योतिषां ध्रुवतारकाः।
मुक्त्वा भूगोलकादेवं प्राहुर्भूभ्रमवादिनः ॥ १३ ॥
तदप्यपास्तमाचार्यैर्नृलोक इति सूचनात्।
तत्रैव भ्रमणं यस्मान्नोर्ध्वाधोभ्रमणे सति ॥ १४ ॥

ध्रुव तारोंको छोडकर सम्पूर्ण ज्योतिषियोंका भूगोलसे ऊपर, नीचे, भ्रमण होरहा है, इस प्रकार भूभ्रमणवादी विद्वान् बढिया कह रहे हैं। सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थमें लिखा है " ध्रुवोन्नतिर्भचक्रस्य नतिर्मेरुं प्रयास्यतः। निरक्षाभिमुखं यातुर्विपरीते नतोन्नते " उत्तरीय मेरुकी ओर जानेवाले मनुष्यको ध्रुवतारा ऊंचा उठता हुआ दीखता है और दक्षिणका नक्षत्र मण्डल नीचेको जानेवाला दीखता है तथा दक्षिणीय ध्रुवकी ओर जानेवाले पथिकको इसके विपरीत नीचे, ऊंचे, दीखते हैं। यानी ध्रुवतारा नीचा जारहा है और दक्षिणीय नक्षत्र मण्डल ऊपरको जारहा भासता है। सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थके गोलाध्यायमें " उदग्ध्रुवं याति यथा यथा नरस्तथा तथा खान्नतमृक्षमण्डलम् उदग्ध्रुवं पश्यति चोन्नतं क्षितेः " मनुष्य जितना जितना उत्तर दिशाकी ओर जाता है, वैसा वैसा दक्षिणभागके नक्षत्र मण्डलको आकाशसे नीचा नम्र होरहे देखता है और उत्तरध्रुवको पृथिवीसे उन्नत उन्नत होते जारहेको देखता है। योरपके अनेक विद्वान् इन बातोंका समर्थन करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि भूभ्रमणवादियोंका यह चन्द्रमा, मंगल आदि ज्योतिषियोंका ऊपर नीचे घूमना स्वीकार करना भी निराकृत कर दिया गया है। क्योंकि सूत्रकार श्री उमास्वामी आचार्य महाराजने इस सूत्रमें " नृलोके " ऐसा सूत्रण किया है। यदि तुम्हारे मन्तव्य अनुसार ज्योतिश्चक्रका ऊपर, नीचे, की ओर भ्रमण माना जावेगा तैसा होते सन्ते तो उस मनुष्य लोकमें ही ज्योतिष्कोंका भ्रमण होना नहीं बन सकेगा।

घनोदधेः पर्यंते हि ज्योतिर्गणगोचरे सिद्धे नृलोक एव, भ्रमणं ज्योतिषामूर्ध्वाधः कथमुपपद्यते ? भूविदारणप्रसंगात्। तत एव विंशत्युत्तरैकादशयोजनशतविष्कम्भत्वं भूगोलश्चाभ्युपगम्यत इति चेन्न, उत्तरतो भूमंडलस्येयत्तातिक्रमात् तदधिकपरिमाणस्य प्रतीतेः तच्छतभागस्य च सातिरेकैकादशयोजनमात्रस्यैव समभूभागस्याप्रतीतेः कुरुक्षेत्रादिषु भूद्वादशयोजनादिप्रमाणस्यापि समभूतलस्य सुप्रसिद्धत्वात्। तच्छतगुणविष्कंभभूगोलपरिकल्पनायामनवस्थाप्रसंगात्।

पूर्व, पश्चिमकी ओर घनोदधि पर्यन्त तथा दक्षिण, उत्तरकी ओर त्रसनालीकी मर्यादातक जब कि ज्योतिश्चक्रका विषयभूत यह लोक सिद्ध हो चुका है तो ऐसा होते सन्ते फिर मनुष्य लोकमें ही ज्योतिषियोंका ऊपर नीचे भ्रमण होना भला किस तरह युक्तसिद्ध हो सकता है ? यों तो ऊपर नीचे भ्रमण मानने पर पृथिवीके फटजानेका प्रसंग आ जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात्— भूगोलका भ्रमण माननेवाले अन्य नक्षत्रमण्डलका भी अपनी कक्षा अनुसार भ्रमण होना स्वीकार करते हैं। सिद्धान्ताशिरोमणिके गणिताध्यायमें कहा है कि " सृष्ट्वा भचक्रं कमलोद्भवेन ग्रहैः सहैतद् भगणादिसंस्थैः। शश्वद्भ्रमे विश्वसृजा नियुक्तं तदन्ततारे च तथा ध्रुवत्वे "। यदि नक्षत्रमण्डल ऊपर नीचे घूमेगा तो पृथिवी अवश्य फट जायगी। यदि भूभ्रमणवादी यों कहें कि तिस ही कारण अर्थात्— पृथिवीका विदारण नहीं हो जाय। अतः हमारे यहां ग्यारह सौ बीस योजन चौडा भूगोल स्वीकार

किया जाता है। इतनी चौडी पृथिवी अपनी धुरी पर या सूर्यका चक्कर देती हुई घूमती रहती है। अन्य नक्षत्र या ग्रह भी स्वकक्षामें घूमते रहते हैं। " ततोऽपराशाभिमुखं भपञ्जरे सखेचरे शीघ्रतरे भ्रमत्यपि। तदल्पगत्येन्द्रदिशं नभश्चराश्चरन्ति नीचोच्चतरात्मवर्त्मसु "। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उत्तरकी ओरसे भूमण्डलके इतने ग्यारहसौ बीस योजन चौडे परिमाण होनेका अतिक्रमण हो रहा है। उस ग्यारहसौ बीस योजन चौडाईसे अधिक परिमाणवालेकी प्रतीति हो रही है। उस ग्यारहसौ बीसके सौमे भाग केवल कुछ अधिक ग्यारह योजन ११ योजनके ही समतल हो रहे भूभागकी प्रतीति नहीं होती है। कुरुक्षेत्र आदि स्थानोंमें बारह योजन आदि प्रमाणवाली या इससे भी अधिक समतल (सपाट) हो रही पृथिवीकी भी अच्छी प्रसिद्धि हो रही है। यदि उस बारह आदि योजन प्रमाण समतलसे पुनः सौगुना चौडा भूगोल कल्पित किया जायगा तब तो अनवस्थाका प्रसंग हो जायगा। भावार्थ—भूगोलवादियोंने पृथिवीकी चौडाई ग्यारहसौ बीस योजन स्वीकार की। किन्तु यह ठीक नहीं बैठता है। उत्तरकी ओर पृथिवी अधिक विस्तारवाली माननी पडेगी। दूसरी बात यह है कि गोलपदार्थका सौमा भाग समतल दीखा करता है। सिद्धान्तशिरोमणिमें कहा है कि " समो यतः स्यात्परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरां तनीयान्। नरश्च तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा " इसका अर्थ यह है कि जिस कारण गोलपरिधिका सौमा भाग सम दीखा करता है, यह पृथ्वी बडी लम्बी, चौडी, मोटी है और मनुष्य अत्यन्त छोटा है। उस पृथिवीकी पीठपर प्राप्त हो रहे उस मनुष्यको थोडी दूर दृष्टि जानेसे इस कारण वह पृथ्वी समतल ही दीखती है। इस नियम अनुसार केवल एक योजनका पांचवां भाग अधिक ग्यारह योजन ही समतल भूमि दीखनी चाहिये। किन्तु कुरुक्षेत्र (पानीपत) आदिमें बारह, चौदह, बीस योजनवाले भी समतल (मैदान) पाये जाते हैं। सिद्धान्तशिरोमणि गणिताध्यायमें " प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिः सप्तांगनन्दाब्धयः। तद्व्यासः कुमुजंगसायकमुखोऽथ प्रोच्यते योजनम्। याम्योदक्पुरयोःपलान्तरहतं भूवेष्टनं भांशहृत्। तद्वक्तस्य पुरान्तराच्चन इह ज्ञेयं समं योजनम् ॥ १ ॥ इस श्लोक द्वारा पृथिवीकी परिधि चार हजार नौ सौ सडसठ ४९६७ योजन और व्यास पन्द्रह सौ इक्यासी १५८१ योजन बताया है। कोई यूरोपनिवासी पण्डित सात हजार नौ सौ बारह मील ७९१२ मील पृथिवीका व्यास मानते हैं। अन्य इससे भी न्यून या अधिक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कोई ठीक पृथिवीके नापकी व्यवस्था नहीं हो सकी है। अनेक विद्वानोंके परस्पर विरुद्ध मन माने नापोंसे पृथिवीके परिमाणकी यथार्थ व्यवस्था नहीं समझी जायगी। वस्तुतः यह रत्नप्रभा पृथिवी सात राजू लम्बी, एक राजू चौडी, और एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी समतल है। क्वचित् इसके प्रदेश ऊंचे, नीचे, भी हो गये हैं। गेंद या नारंगीके समान गोल माननेपर अनेक दोष आते हैं। सूर्यसिद्धान्तमें जो यह लिखा है कि " अल्पकायतया मर्त्याः स्वस्थानात्सर्वतो मुखम्, पश्यन्ति वृत्तामप्येतां चक्राकारां वसुन्धराम् " पृथिवीकी अपेक्षा मनुष्योंका अत्यल्प शरीर

होनेसे छोटे छोटे मनुष्य गोल भी इस पृथिवीको अपने स्थानसे चक्रके समान चपटी आकारवाली देखते हैं। बात यह है कि मनुष्यकी चक्षुयें बहुत दूर तक लम्बे, चौडे, फैले हुये पदार्थको पूरा नहीं देख पाती हैं। अतः गोल दीखना या चक्रके समान दीखना दोनों ही भ्रान्तिज्ञान हैं। गोल पृथिवी यदि भ्रमण करती हुयी मानी जावेगी तो ध्रुवतारा एक ही स्थानपर नहीं दीखना चाहिये। सूर्यके समान ध्रुवतारा भी घूमनेवाले मनुष्योंको न्यारे न्यारे स्थानपर दीखना चाहिये था। किन्तु ऐसा नहीं है। ध्रुवतारा रातभर एक ही स्थानपर दीखता है। पृथिवीका नाम गौ है। गच्छति इति गौः जो चलती है, अतः वह पृथिवी गौ है, ऐसी पोली, लचर, युक्तियोंसे पृथिवी चलायमान सिद्ध करना शब्दव्यवहारको नहीं समझना है। यों तो अचला, स्थिरा, अनन्ता ये नाम भी पृथिवीके हैं। जो कि असंख्य योजन लम्बी पृथिवीको स्थिर सिद्ध करते हैं, भूगोलवादियोंका कहना है कि किनारेसे देखनेपर दूरवर्त्ती जहाजका पहिले ऊर्ध्वभाग (मस्तूल) दीखता है, इसी प्रकार दूरसे ताड वृक्षको देखकर ऊपरला झप्पा पहिले दीखता है। क्योंकि अधोभाग पृथिवीकी गोलाईकी ओटमें आ जाता है। लल्ल सिद्धान्तमें यह कहा है। " समता यदि विद्यते भुवस्तरवस्तालनिभा बहूच्छ्रयाः कथमेव न दृष्टिगोचरं नु रहो यान्ति सुदूरसंस्थिताः " ऐसी ढीली पोली युक्तियोंको सुन कर हमें हंसी आती है। जब कि सौ हाथ ऊंचे पदार्थको दो कोससे देखनेपर दस हाथका अन्तर पड जाता है। जहाज या तालवृक्षका निचला दस हाथ भाग नहीं दीखता है। इतनेसे ही यदि पृथिवीको गोल मान लिया जावेगा, तब तो भूमि पचास या सौ कोसकी ही सिद्धि हो सकेगी। ऐसी दशामें आगरेको यदि गोलभूमिके ऊपर मान लिया जाय तो कानपुर पृथिवीके नीचे मानना पडेगा। किन्तु कुछ योरपवासिओंने अमेरिका (न्यूयार्क) को आगरेके नीचे स्वीकार किया है। इसी प्रकार सिद्धान्त शिरोमणिके भूलोकाध्यायमें पृथिवीके चपटी होनेमें यह आक्षेप किया गया है कि " यदि समा मुकुरोदरसन्निभा भगवती धरणी तरणिः क्षितेः। उपरि दूरगतोऽपि परिभ्रमन् किमु नरैरमरैरिव नेक्ष्यते ॥ यदि निशाजनकः कनकाचलः किमु तदन्तरगः स न दृश्यते। उदगमन्ननु मेरुरथांशुमान् कथमुदेति च दक्षिणभागके ॥ २ ॥ " इसका अर्थ यह है कि यदि दर्पणके पेटसारिखी भूमि समतल मानी जायगी, तो पृथिवीके ऊपर बहुत दूर प्राप्त हुआ भी घूमता हुआ सूर्य देवोंके समान मनुष्योंको क्यों नहीं दीखता है ? दूसरी बात यह कही गयी है कि सूर्यकी ओट करनेवाला सुमेरु पर्वत यदि रातको कर देता है तो दृष्टा और सूर्यके अन्तरालमें प्राप्त हो रहा वह सोनेका बना हुआ सुमेरु पर्वत क्यों नहीं दीखता है। तथा मेरुकी आडसे निकलकर सूर्यका उदय माना जायगा तो उत्तर दिशामें सूर्यका उदय होना चाहिये। क्योंकि मेरु उत्तरकी ओर है। शीतकालमें जो पूर्वसे भी हट कर दक्षिणकी ओर सूर्य उदय हो रहा है, वह कैसे भी नहीं हो सकेगा। इस आक्षेपपर हमको यह कहना है कि यहांसे दो हजार कोसके एक योजन अनुसार आठ सौ योजन ऊपर सूर्य है। आजकल इतना ऊंचा मनुष्यका जाना दुर्लभ है। हां, देवता अवश्य ही सूर्यको घूमता हुआ देख

लेते हैं। जब यहींसे सूर्य चलता हुआ दीख रहा है तो ऊपर जानेकी क्या आवश्यकता है ? पृथिवी दर्पणके समान समतल ही है। आंखोंके देखनेका स्वभाव ऐसा ही है, जिससे कि दूरवर्ती पदार्थका ऊपरला भाग दृष्टिगोचर होता है। दूसरी बातपर यह कहना है कि कनकाचलकी ओटमें सूर्यके आ जानेसे कनकाचल कैसे दीख सकता है। रातके समय दीपक यदि भींतकी आडमें आजाय तो क्या भींत दीख जाती है ? " यथा प्रकाशस्थितमन्धकारस्थायीक्षतेऽसौ न तथा तमस्थम् " अन्धकारमें बैठा हुआ पुरुष प्रकाशमें धरे हुये पदार्थको देख सकता है, किन्तु प्रकाश या अन्धेरेमें बैठा हुआ पुरुष अन्धकारमें स्थित पदार्थको नहीं देख सकता है। कणाद, गौतम, आदि ऋषियोंने भी " सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः " माना है। सूर्य जब सुमेरुकी आडमें आ जाता है तो यहांसे एक लाख योजन दूर पहुंच जाता है। किन्तु आंखें सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठि योजन दूरवर्ती पदार्थसे अधिक दूरके पदार्थको नहीं देख सकती हैं। अतः जम्बूद्वीपकी वेदीके ऊपर भ्रमण कर रहा सूर्य जब निषध पर्वतपर आता है तब यहां भरतक्षेत्रसे दीखता है। अतः पूर्व दिशासे उदय होना माना जाता है और पश्चिम निषधके ऊपर पहुंचनेपर हम लोगोंको सूर्य नहीं दीख पाता है। सूर्यकी किरणोंके नहीं पहुंचनेसे यहां रात हो जाती है। यही उदय, अस्त या दिन, रात, होनेका बीज है। किरणें पहुंचने या फैलनेका सिद्धान्तदृष्टिसे यह विचार है कि सूर्य, अग्नि या प्रदीप अपने परिमित लम्बे, चौडे, स्वकीयशरीरमें ही नियत है। उनके निमित्तसे यहां फैल रहे भिन्न पुद्गलोंकी चमकीली पर्यायें हो जाती हैं। सूर्य देशसे यहां कोई किरणें नहीं आती है। यूरोपके कतिपय विद्वानोंने भी सूर्यका घूमना और पृथिवीकी स्थिरता सिद्ध करनेके लिए अब अनेक युक्तियां उपस्थित की हैं। विशेषज्ञ विद्वान् इस विषयका गम्भीर अन्वेषण कर सकते हैं।

कथं चास्थिरेपि भूगोले गंगासिंध्वादयो नद्यः पूर्वापरसमुद्रगामिन्यो घटेरन् ? भूगोलमध्यतः प्रभवादिति चेत्, किं पुनर्भूगोलमध्यं ?। उज्जयिनीति चेत्, न ततो गंगासिंध्वादीनां प्रभवः समुपलभ्यते। यस्मात्तत्प्रभवः प्रतीयते तदेव मध्यमिति चेत्, तदिदमतिव्याहतं। गंगाप्रभवदेशस्य मध्यत्वे सिन्धुप्रभवभूभागस्य ततोतिव्यवहितस्य मध्यत्वविरोधात्। स्वबाह्यदेशापेक्षयात्वस्य मध्यत्वे न किंचिदमध्यं स्यात् स्वसिद्धान्तपरित्यागश्चोज्जयिनीमध्यवादिनां।

दूसरी बात हम भूगोलभ्रमण वादियोंसे यह पूंछते हैं कि भूगोलको अस्थिर माननेपर गंगा, ब्रह्मपुत्र, या सिन्धु, नर्मदा, आदि नदियां भला पूर्वसमुद्रकी ओर और पश्चिमसमुद्रकी ओर जारहीं कैसे घटित हो सकेंगी ? गोल पृथिवीके संचलन होनेपर यहां वहां अस्तव्यस्त होकर फैल जावेंगी, जैसे कि घूमते हुये लट्टूपर या घूम रही चाकीपर बहा दिया गया पानी यहां वहां कहीं भी विदिशाओंमें वह निकलता है। यदि तुम भूगोलवादी यों कहो कि भूगोलके मध्यसे इन नदियोंकी उत्पत्ति

हुयी है। इस कारण ये पूर्वपश्चिम समुद्रकी ओर बह जाती हैं। यों कहनेपर हमारा प्रश्न उठता है कि भूगोलका मध्य फिर कौनसा स्थान माना गया है ? बताओ। यदि तुम उज्जैनको भूगोलका मध्य कहोगे जैसा कि "सिद्धान्तशिरोमणि" में भूमध्य रेखाको कहते हुये लिखा है "पल्लंकोज्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत्, सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः" ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं पडेगा। क्योंकि उस उज्जैनसे तो गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंकी उत्पत्ति कथमपि नहीं देखी जाती है। मालवदेशमें विराज रही उज्जैनसे कोई छोटी नदी भी नहीं उत्पन्न हुयी है। हां, ऊपरले प्रान्तसे आरही एक पतली शिप्रा नदी उज्जैन होकर अवश्य बह रही है। गंगा, और सिन्धुकी उत्पत्ति स्थान तो वहांसे सैकडों कोस दूर है। यदि तुम यों कहो कि जिस स्थानसे इन नदियोंकी उत्पत्ति होगई प्रतीत होती है वही स्थान भूगोलका मध्य है। ग्रन्थकार कहते है कि सो यह कहना तो अत्यधिक रूपसे व्याघातदोष युक्त हैं। गंगाके प्रभवस्थानको यदि मध्य माना जायगा तो सिन्धुनदीके आद्यप्रवाही स्थानके भूभागको जोकि उस गंगोत्तरीसे बहुत व्यवधान युक्त होरहा है, मध्यपनका विरोध होजायगा। भावार्थ— तिब्बतमें पडे हुये कैलाश पर्वत इस नामसे पुकारे जानेवाले स्थानसे क्षुद्रसिन्धु नदी निकलती है। और हिमालयमें गंगोत्तरी पर्वतसे क्षुद्रगंगा नदी निकलती है। दोनों स्थानोंमें बीसों कोसका अन्तर है। इतने बडे अन्तरको ले रहे दो स्थानोंको पृथिवीका मध्यस्थान कहनेवालोंके ऊपर व्याघातदोष आपडता है। हां, अपने अपने छहों ओर फैले हुये बाह्यदेशकी अपेक्षा यदि इन दोनों प्रभव स्थानोंको मध्य माना जायगा तब तो कोई भी स्थान मध्यरहित नहीं हो सकता है। अपने अपने इधर उधर स्थानकी अपेक्षा सभी स्थल मध्य हो जायंगे। पृथिवीको चपटी या प्रान्तभागवाली माननेवालोंके यहां कुछ अन्तस्थान या आदि स्थान, उपरिम स्थान, नीचे स्थल भले ही अमध्य स्वरूप मिल जांय, किन्तु पृथिवीको गोल माननेवालोंके यहां तो इस ढंगसे सभी मध्यस्थल बन बैठेंगे। दूसरी बात यह है कि यों माननेपर उज्जैनको पृथिवीका मध्य कहनेवालोंके यहां अपने स्वीकृत सिद्धान्तका परित्याग हुआ जाता है।

तदपरित्यागे चोज्जयिन्या उत्तरतो नद्यः सर्वा उदङ्मुख्यस्तस्या दक्षिणतोऽवाङ्मुख्यस्ततः पश्चिमतः प्रत्यङ्मुख्यस्ततः पूर्वतः प्राङ्मुख्यः प्रतीयेरन्, भूम्यवगाहभेदान्नदीगतिभेद इति चेन्न, भूगोलमध्ये महावगाहप्रतीतिप्रसंगात्। न हि यावानेव नीचैर्देशेवगाहस्तावानेवोर्ध्वभूगोले युज्यते। ततो नदीभिर्भूगोलानुरूपतामतिक्रम्य वहंतीति भूगोलविदारणमिति सममेव धरातलमवलंबितुं युक्तं समुद्रादिस्थितिविरोधश्च तथा परिहृतः स्यात्।

यदि उस सिद्धान्तका परित्याग नहीं करोगे यानी भूगोलवादी उस उज्जैनको मध्यदेश मानते रहनेका आग्रह करेंगे, तब तो उज्जैनसे उत्तर ओरवाली नदियां सब उत्तरकी ओर मुख करके आगे

बहती रहेंगी और उस उज्जैनसे दक्षिण ओरसे बह रहीं नदियां सब दक्षिण मुखवालीं ही रहेगीं, उस उज्जैनके पश्चिम बाजूसे बह रहीं नदियां सब पश्चिमको मुख करतीं हुई और उस उज्जैनसे पूर्वकी ओरसे चालू हो रहीं नदियां सब पूर्वमुखवाली ही बहती हुई प्रतीत होनी चाहिये। अर्थात्—गोल वस्तुके मध्यस्थलसे जिस ओरको पानी बह जायगा ठीक उसी ओर सीधी रेखामें चलता रहेगा। पूर्व मुखवालीं नदियां दक्षिण या उत्तरकी ओर कथमपि नहीं जा सकेंगी। किन्तु इसके विपरीत एक नदीकी भी गति न्यारी न्यारी दिशाओंमें हो रही टेढी, मेढी भिन्न भिन्न देखी जा रही है। छोटीसी सिप्रा नदी ही कहीं किसी दिशाकी ओर क्वचित् अन्य दिशाकी ओर मुखकर बह रही है। यदि तुम भूमिकी गहराईके भेदसे नदीकी गतिमें भेद हो जाना स्वीकार करोगे, यानी जहां जैसी गहरी भूमि मिल जाती है उधरकी ओर नदी ढुलक पडती है। गोल वस्तुमें भी नीचे, ऊंचे प्रदेश हैं ही। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो भूगोलके मध्यमें महान् अवगाहकी प्रतीति हो जानेका प्रसंग होगा। पृथिवीको गेंदके सदृश गोल या नारंगीके समान माननेवालोंके यहां भूमध्यदेशमें बडी गहराई मानी ही जावेगी। ऐसी दशामें नदीका बहुतसा जल वहां ही एकत्रित हो जावेगा। देखो, नीचे प्रदेशमें जितनी ही गहराई है उतनी ही गहराई ऊपर ले भूगोलमें मानना समुचित नहीं। तिस कारणसे तो यह ज्ञात होता है कि ये नदियां भूगोलका अतिक्रमण कर बह रही हैं। ऐसी दशामें नदियों करके भूगोलका विदारण हो जावेगा। अतः इस पृथिवीतलको दर्पणके समान समतल माननेका ही पक्ष अवलम्ब करना युक्त है। पृथिवीको समतल माननेसे एक यह भी लाभ है कि समुद्र, सरोवर आदिकी हो रही स्थितीके विरोधका भी परिहार तिस प्रकार चपटी माननेपर हो चुकता है। अर्थात्—गोलभूमिपर अरबों खरबों मन समुद्र जल ठहर नहीं पाता है, ढुलक पडेगा गिर पडेगा, द्वीपोंको बहा ले जायगा, कभी कहीं और कदाचित् कहीं समुद्र या तालाब बन जायेंगे, नियत स्थलोंपर समुद्र आदिकी स्थिति नहीं रह सकेगी।

तद्भूमिशक्तिविशेषात्स परिगीयत इति चेत्, तत एव समभूमौ छायादिभेदोस्तु। शक्यं किं वक्तुं लंकाभूमेरीदृशी शक्तिर्यतो मध्यान्हे अल्पछाया मान्यखेटाद्युत्तरभूमेस्तु तादृशी यतस्तदधिष्ठिततारतम्यभा छाया।

यदि आप भूगोलवादि यों कहो कि उस भूमिकी विशेषशक्तिसे वह समुद्रादि स्थितिके विरोधका परिहार किया गया बखाना जावेगा, तब तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी भूमिकी शक्तिसे ही समतल भूमिमें छाया, परछाई आदि पडनेका भेद भी बन जाओ। चूंकि यों कहा जासकता है कि लंका भूमिकी इस प्रकार शक्ति है, जिससे कि दुपहरके समय मध्यान्हमें वहां छोटी छाया पडती है और मनखेडा आदिसे प्रारम्भ कर उत्तरदिशावाली भूमिकी तो उस प्रकारकी शक्ति है जिससे कि भूमिपर अधिष्ठित होरहे पदार्थोंकी तरतमभावसे शोभित होरही छाया पडती है। अर्थात्—तुमको

पृथिवीमें आकर्षणशक्ति मानती ही पडती है। आर्यभट्टने गोलपादमें कहा है कि " यद्वत् कदम्बपुष्प-ग्रन्थिः प्रचितः समंततः कुसुमैः। तद्वद्धि सर्वजलजैः स्थलजैश्च भूगोलः " आकर्षणशक्ति अनुसार पृथिवीमें सब ओरसे पदार्थ खिचकर चुपट रहे हैं। सिद्धान्तशिरोमणिमें यों कहा है " आकृष्टि शक्तिश्च महीतया यत् स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या, आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क पतत्वियं खे " पृथिवीमें आकर्षणशक्ति विद्यमान है, उस निजकी शक्ति करके गुरु पदार्थको अपने अभिमुख खैंच लेती है और अपनेपर टिका लेती है। वे पदार्थ पडते हुये सारिखे दीखते हैं, वस्तुतः वे खिच रहे हैं। सब ओरसे सम हो रहे आकाशमें यह माटी पृथिवी भला कहां गिरे ? इस आकर्षण शक्तिसे सम्पूर्ण पदार्थ पृथिवीपर गिरकर ठहर जाते हैं। " यो यत्र तिष्ठत्यवनिं तलस्था मात्मानमास्या उपरि स्थितं च, स मन्यतेऽतः कुचतुर्य संस्था मिथश्चते तिर्य्यगिवामनन्ति। अधः शिरस्काः कुदलान्तरस्थाश्छाया मनुष्या इव नीरतीरे, अनाकुलास्तिर्य्यगवः स्थिताश्च तिष्ठन्ति ते तत्र वयं यथात्र " अर्थ यह है कि जो मनुष्य जहां ठहर रहा है वह अपनेको इस पृथिवीके ऊपर ठहरा हुआ और पृथिवीको अपने नीचे स्थिर हो रही मानता है इस कारण पृथिवीके चारों ओर ठहर रहे मनुष्य परस्पर अपनेको वे तिरछा समान मान रहे हैं, यानी अपनेको ऊपर और दूसरोंको नीचे ठहर रहा समझ बैठते हैं। जैसे कि जलके तीरपर खडे होकर मनुष्य नीचेकी ओर सिरवाले और ऊपर पृथिवीकी ओर चुपटे हुये पांववाले होते सन्ते छायाको देखते हैं। किन्तु तिरछे, नीचे, स्थित हो रहे वे मनुष्य आकुलतारहित होकर वहीं निवास करते हैं जैसे कि हम यहां सानन्द रहते हैं। आकाशकी ओर गिर नहीं पडते हैं और भी कहा है कि " सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यचयैश्चितः। कदम्बकुसुमग्रन्थिः केसरप्रकटैरिव " गोलाध्यायमें कदम्बके फूलकी गांठ समान पृथिवीको सब ओरसे पर्वत, गांव, बाग, नदी समुदाय करके गिरा हुआ माना है। इस भास्कराचार्यजीके कथनपर हमको यह कहना है कि आकर्षणशक्तिको पृथिवीमें भले ही माना जाय। किन्तु इतनी बडी आकर्षणशक्ति पृथिवीमें नहीं है जो कि समुद्र, पर्वत, आदि महान् स्कन्धोंको खींचती रहे नीचेको नहीं गिरने देवे। पौद्गलिक पदार्थोंमें गुरुत्वशक्ति (भारीपन) भी विद्यमान है जिससे कि वे अधःपतन स्वभाववाले हैं। चुम्बककी आकर्षणशक्ति सूईको गिरनेसे रोक सकती है, पहाडको गिरनेसे नहीं रोक सकती है। छायाका दृष्टान्त तुम्हारे या नैयायिकके मत अनुसार विषम पडता है, वैशेषिकोंने छायाको तेजोऽभाव माना है। अतः वह तुच्छ पदार्थ गिर नहीं सकता है। जैनसिद्धान्त अनुसार " छेत्तुं भेत्तुं अन्यत्र नेतुं नैव शक्यते " ऐसे गौरवरहित और प्रकाशको रोकनेवाले निमित्तोंसे हो रही छाया मानी गयी है। विषम दृष्टान्तसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अन्यथा स्वप्नका दृष्टान्त पाकर ज्ञानाद्वैत या ब्रह्माद्वैत भी साधा जा सकता है, जो कि तुमको अनिष्ट पडेगा। पदार्थोंमें अनेक शक्तियोंको हम स्वीकार करते हैं। दुपहरके समय लंकामें मनुष्यकी दो, तीन, अंगुल छाया पडती है। और पूनाके निकट प्रान्तमें बस रहे मान्यखेटसे उत्तरकी ओर निवासवाले मनुष्योंकी छांह बढती जाती है। यों पृथिवीकी गांठकी शक्तियों

अनुसार या कुछ नीचा ऊंचा प्रदेश होनेसे छांह घट बढ जाती है। कई निमित्त कारणोंसे अनेक न जाने क्या क्या नैमित्तिक कार्य बन जाते हैं। कठिन लोहे (ईस्पात) का छुरा नरम शाणसे पैना हो जाता है। चमडा या कपडासे भी कुछ पैना कर लिया जाता है। ऊनी कपडेपरसे मैल या तेलकी चीकट अथवा डामर तार कोलको मट्टीका तेल या पैट्रोल धो डालता है। जैसे कि आत्मापर चुपटे हुये कर्मकलंकको तपस्या करके हटा दिया जाता है।

तथा दर्पणसमतलायामपि भूमौ न सर्वेषामुपरिस्थिते सूर्ये छायाविरहस्तस्यास्तद्भेदनिमित्तशक्तिविशेषासद्भावात्। तथा विषुमति समरात्रमपि तुल्यमध्यंदिने वा भूमिशक्तिविशेषादस्तु।

तिसी प्रकार दर्पणके समान समतल भी भूमिमें सम्पूर्णके ऊपर सूर्यके स्थित हो जानेपर छायाका अभाव नहीं हो सकता है। क्योंकि उस छायाका निमित्त कारण उस पृथिवीकी अभिन्न हो रही विशेष निमित्त शक्तियोंका असद्भाव है। सद्भाव पाठ योग्य है। भावार्थ—जल, लहरवाला जल, खड्ग, रञ्जित पात्र (कलईदार गिलास) आदिमें जो नाना प्रकार प्रतिबिम्ब पडते हैं। उसका निमित्त कारण उन पदार्थोंकी आत्मभूत हो रहीं विभिन्न शक्तियां हैं। उसी प्रकार मध्याह्नमें जब सिरके ऊपर सूर्य आ जाता है तब भी भूमिकी विभिन्न शक्तियों अनुसार थोडीसी छाया पड जाती है। सूर्यकी ठीक सीधी अधोरेखापर आजानेका किसी मनुष्यको कदाचित् ही अवसर पडता है। सीधी अधोरेखाके थोडा भी इधर उधर हो जानेपर छाया पड जायगी। तथा विषुमान् अवस्थामें दिनके समान रातका होना अथवा तुल्य मध्यदिनका होना भी भूमिकी शक्तिविशेषसे हो जाओ। अर्थात्—सिद्धान्तशिरोमणिके अनुसार लंका और उज्जैनके ऊपर जाती हुई कुरुक्षेत्र आदि देशोंके छू रही दोनों ध्रुवोंके ऊपरकी रेखाको भूमध्यरेखा या विषुमत् रेखा माना गया है। विषुमद् वृत्त अवस्थामें दिन और रात समान हो जाते हैं। ये सब बातें भूमिकी शक्ति और सूर्यके भ्रमण विशेषोंसे साध्य हैं।

प्राच्यामुदयः प्रतीच्यामस्तमयः सूर्यस्य तत एव घटते। कार्यविशेषदर्शनाद्द्रव्यस्य शक्तिविशेषानुमानस्याविरोधात् अन्यथा दृष्टहानेरदृष्टकल्पनायाश्चावश्यंभावित्वात्। सा च पापीयसी महामोहविजृंभितमावेदयति।

तिस ही कारणसे यानी भूमिकी विशेषशक्तिओंसे पूर्व दिशामें सूर्यका उदय और पश्चिम दिशामें सूर्यका अस्त होना घटित होजाता है। क्योंकि विशेषकार्योंके देखनेसे द्रव्यकी विशेष शक्तिओंके अनुमान होजानेका कोई विरोध नहीं है। अन्य प्रकारोंसे यदि सूर्यके उदय, अस्त, होने माने जायंगे तो देखे जारहे की हानि और अदृष्टपदार्थकी कल्पना अवश्य होजावेगी। जो कि वह दृष्टहानि और अदृष्टकल्पना अत्यधिक पापिनी होरही भूगोल भ्रमणवादियोंके महान् मोहकी चेष्टाको बता रही है।

अर्थात्—ऋतुओंका परिवर्तन, वृष्टि, आंधी, जाडा, गरमी आदि पडना, नियत वनस्पतियोंकी उत्पत्ति, विभिन्न समयोंमें अनेक वृक्षोंका फलना, फूलना, आदि कहीं सोना, क्वचित् केसर, कहीं रत्न, आदि का उत्पन्न होना कहीं उष्णकालमें भी शीत पडना, हिम (बरफ) गिरना, क्वचित् शीत कालमें भी उष्णता होना इत्यादिक सम्पूर्ण कार्य जैसे भूमिकी शक्तिसे होजाते हैं, उसी प्रकार पर्वतमय भूमिके उरली ओर आजानेपर सूर्यका उदय और परली ओर जानेसे सूर्यका अस्त होना बन जाता है। भूमिकी शक्ति अनुसार सूर्यकी किरणें कहीं दूरतक फैलती हैं और कहीं निकट प्रदेशोंतक ही जा पाती हैं। चौमासेमें दिन फूलनेपर देख सकते हो। भगोनामें पानी भर देनेपर बीचमें धरा हुआ रुपया ऊंचा उठा हुआ दीखता है। बादलोंमें कभी सूर्य भी इसी प्रकार देरतक प्रकाश कर फिर झट रात होजाती देखी जाती है। बाल गोपालोंतकमें प्रसिद्ध होरही बातको टाल देना और बिलकुल नई बातको गढ लेना उचित नहीं है। " शक्तयः कार्यानुमेयाः "। भूमिकी विलक्षण शक्तियां तुमको भी माननी पडेगी। बडे भारी पापको महामोही जीव भले ही करें, विचारशील विद्वान् ऐसे अयुक्त सिद्धान्ताभासोंको नहीं गढते फिरते हैं।

न च वयं दर्पणसमतलामेव भूमिं भाषामहे प्रतीतिविरोधात् तस्याः कालादिवशादुपचयापचयसिद्धेर्निम्नोन्नताकारसद्भावात्। ततो नोज्जयिन्या उत्तरोत्तरभूमौ निम्नायां मध्यं दिने छायावृद्धिर्विरुध्यते। नापि ततो दक्षिणक्षितौ समुन्नतायां छायाहानिरुन्नतेतराकारभेदद्वारायाः शक्तिभेदप्रसिद्धेः। प्रदीपादिवादित्यान्न दूरे छायाया वृद्धिघटनात् निकटे प्रभातोपपत्तेः।

हम जैन सर्वत्र दर्पणके समान सपाट, समतलवाली होरही ही भूमिको नहीं बखानते हैं। क्योंकि अनेक स्थलोंपर ऊंची, नीची, देखी जारही भूमिकी प्रतीतिओंसे विरोध होजायगा। काल आदि निमित्तोंके वशसे उस भूमिका घट जाना, बढ जाना, सिद्ध है। अतः भूमिके नीचे, ऊंचे, आकारोंका सद्भाव होनेसे समरात्र आदि व्यवस्थायें बन जातीं हैं। तिसही कारणसे यानी पृथिवीके ऊंचे नीचे प्रदेशवाली होनेसे उज्जैनसे उत्तर, उत्तर, की ओर निचली भूमिमें दिनके मध्य अवसरपर छायाका बढना विरुद्ध नहीं पडता है और उस उज्जैनसे दक्षिणकी ओर अधिक ऊंची होरही पृथिवीमें छायाकी हानि होना भी विरुद्ध नहीं पडता है। क्योंकि ऊंचे, नीचे, आकारवाले भिन्न भिन्न प्रदेशों द्वारा उस भूमिकी शक्तियोंके भेदोंकी प्रसिद्धी होरही है। दूर होजानेपर जैसे प्रदीपसे छायाका बढना घटित होजाता है, उसी प्रकार सूर्यसे दूर होनेपर छाया बढ जाती है। अतः निकट प्रदेशोंमें प्रातःकाल होना बन जाता है। भावार्थ—इस चित्रा पृथिवीपर अनेक ऊंचे, नीचे, स्थल बन जाते हैं। कुएमें बैठे हुये मनुष्य और पहाडकी चोटीपर चढे हुये मनुष्यकी अपेक्षा घाम और छांहमें जैसे अंतर पड जातें हैं, उसी प्रकार कालवश होगये भूमिके ऊंचे, नीचे, स्थानोंपर छायावृद्धि या छायाहानि होजाती है। एकसौ चौरासी गतिओंमेंसे भीतरली गलीमें सूर्यके घूमनेपर दिन बढ जाता है। प्रभात शीघ्र हो जाता है और पांचसौ दश योजन परे बाहरली गलीमें घूमनेपर यहां भरतक्षेत्रमें दिन छोटा होजाता है।

तत एव नोदयास्तमययोः सूर्यादेर्बिंबार्धदर्शनं विरुध्यते । भूमिसंलग्नतया वा सूर्यादिप्रतीतिर्न संभाव्या, दूरादिभूमेस्तथाविधदर्शनजननशक्तिसद्भावात् । न च भूमात्रनिबंधनाः समरात्रादयस्तेषां ज्योतिष्कगतिविशेषनिबंधनात्वादित्यावेदयति ।

तिस ही कारणसे यानी ऊंचे, नीचे, प्रदेशों अनुसार उदय समय और अस्त समयपर सूर्य, चन्द्रमा आदिके बिम्बोंका आधा दर्शन होना विरुद्ध नहीं पडता है । यहां पक्षान्तर अनुसार भूमिमें संलग्न होकरके सूर्य, चंद्र, आदिकी प्रतीति होना सम्भावना योग्य नहीं है । क्योंकि दूर, अतिदूर, आदि भूमिके तिस प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्षको उपजानेकी शक्तिका सद्भाव है। यानी पृथिवीको गोल मानने वाले यह हेतु देते हैं कि चारों ओर दृष्टि पसार देखनेपर सब ओर गोल दीखता है और आकाशमण्डल गोल कटोरेके समान होकर भूमिको ढक रहा प्रतीत होता है । दूर वर्त रहे सूर्य, चन्द्रमा गोल पृथिवीसे स्पर्श कर रहे हैं । अतः पृथिवी गोल है। किन्तु यह युक्ति निर्बल है। द्रव्य इन्द्रिय मानी गयीं आंखोंकी आकृति मसूरकी दाल समान गोल होनेसे चारों ओर गोल गोल घेरेमें वस्तुयें दीख जाती हैं। दूरका पदार्थ यहांसे नीचा होता हुआ दीख जायगा । यह दृष्टिका भ्रम है । अलीक ज्ञानोंसे परमार्थ सिद्धान्तकी पुष्टि नहीं होसकती है। दूसरी बात यह है कि समरात्रि दिन, बढना, आदि होनेमें हम जैन केवल पृथिवीको ही कारण नहीं मानते हैं । उनके कारण अन्य भी हैं । ज्योतिष्क विमानोंकी गति विशेषको कारण मानकर भी समरात्र आदिक होजाते हैं, इसी बातका श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिकों द्वारा प्रकटीकरण करते हैं ।

समरात्रं दिवावृद्धिर्हानिर्दोषाच्च युज्यते ।
छायाग्रहोपरागादिर्यथा ज्योतिर्गतिस्तथा ॥ १५ ॥
स्वखंडभेदतः सिद्धा बाह्याभ्यंतरमध्यतः ।
तथाभियोग्यदेवानां गतिभेदात्स्वभावतः ॥ १६ ॥

दिनके ठीक बराबर रात्रि होना या दिन बढना, रात घटना और दिन घटना, रात बढना अथवा छाया पडना या ग्रहोंका उपराग (ग्रहण) होना राशिसंक्रमण आदिक जैसे ज्योतिषियोंकी गतिसे हो रहे युक्तिसिद्ध हैं । अथवा उन ज्योतिषियोंकी गति अनुसार हो जाते हैं । उसी प्रकार बाहरकी गली, अभ्यन्तर वीथी, मध्यम वीथीके, अनुसार आकाशके खण्डोंके भेदसे वह ज्योतिषियोंकी गति न्यारी न्यारी सिद्ध है । क्योंकि उन सूर्य आदि विमानोंको खींचनेवाले तिस प्रकार गतिप्रेमी आभियोग्यजातिके देवोंकी गतियां भिन्न भिन्न प्रकारकी हैं । यथार्थ बात यह है कि तिस प्रकार अनादि कालसे सूर्य आदिक विमान स्वभावसे ही उन उन प्रति दिनके लिये नियत हो रहीं गलियोंमें

भ्रमण करते हैं। अर्थात्—समरात्र आदि कार्य तो ज्योतिष्क विमानोंकी भिन्न भिन्न आकाश खण्डोंमें हो रही गतिके अनुसार हो जाते हैं। ढाई द्वीपके ज्योतिष्क विमानोंकी गतिका भेद भी आभियोग्य जातिके देवोंकी विशेषगतिसे या स्वकीय स्वकीय स्वभावसे ही बन रहा है।

सूर्यस्य तावच्चतुरशीतिशतं मंडलानि। तत्र पंचषष्टिरभ्यंतरे जंबूद्वीपस्याशीतिशतयोजनं समवगाह्य प्रकाशनाज्जंबूद्वीपाद्बाह्यमंडलान्येकान्नविंशतिशतं लवणोदस्याभ्यंतरे त्रीणित्रिंशानि योजनशतान्यवगाह्य तस्य प्रकाशनात्। द्वियोजनमेकैकमंडलांतरं द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागाश्चैकैकमुदयांतरं।

उक्त वार्त्तिकोंका विवरण यह है। सबसे प्रथम यों कहना है कि जम्बूद्वीपमें सूर्यके एकसौ चौरासी मण्डल माने गये हैं। पांचसौ दश और अडतालीस बटे इकसठि योजन चौडे एवं कुछ अधिक तीन लाख परिधिवाले गोल चार क्षेत्रमें सूर्यके एकसौ तिरासी तो दो दो योजन चौडे अन्तराल हैं। और एक सौ चौरासी सूर्य मण्डलके भ्रमण स्थान हैं। उनमें पैंसठ तो जम्बूद्वीपके भीतर हैं। क्योंकि जम्बूद्वीपकी वेदीसे एक सौ अस्सी योजनतक भीतर घुसकर सूर्य प्रकाशता रहता है। हां, जम्बूद्वीपसे बाहर लवणसमुद्रमें एकसौ उन्नीस मण्डल हैं। क्योंकि लवणसमुद्रके तीनसौ तीस और अडतालीस बटे इकसठि योजन भीतर जाकर उस सूर्यका प्रकाशना आगमोक्त है। एक एक मण्डलका अन्तराल दो दो योजन है और अडतालीस बटे इकसठ योजनसे अधिक हो रहे दो योजन तो एक एक उदय अवस्थाका अन्तराल कहा जाता है। अडतालीस बटे इकसठ योजनका सूर्य है और दो योजन बीचमें रीता स्थान है। अतः यह पूरा स्थान पांचसौ दस और अडतालीस बटे इकसठ योजन हो जाता है। जम्बूद्वीपकी वेदीके ऊपर यह चार क्षेत्र पांचसौ दस योजन चौडा होकर तीन लाख अठारह हजार तीनसौ चौदह योजन परिधिवाला गोल व्यवस्थित है। सूर्यका चार क्षेत्र यहांसे आठसौ योजन ऊपर और चन्द्रमाका इतना ही चार क्षेत्र आठसौ अस्सी योजन ऊंचा जाकर समझना चाहिये।

तत्र यदा त्रीणि शतसहस्राणि षोडशसहस्राणि सप्तशतानि द्व्यधिकानि परिधिपरिमाणं बिभ्रति तुलेपपवेशदिनगोचरे सर्वमध्यमंडले मेरुं पंचचत्वारिंशद्योजनसहस्रैः पंचसप्ततियोजनैश्चतुर्विंशत्या योजनैकषष्टिभागैश्चामाप्य सूर्यः प्रकाशयति तदाहनि पंचदशमुहूर्ता भवंति रात्रौ चेति समरात्रं सिध्यति। विषुमति दिने द्वाविंशत्येकयोजनषष्टिभागसातिरेकाष्टसप्ततिद्विशतपंचसहस्रयोजनपरिमाणैकमुहूर्तगतिक्षेत्रोपपत्तेः।

उन एकसौ चौरासी मण्डलोंमें जब सूर्य सम्पूर्ण मण्डलोंके मध्यमें स्थित हो रहा प्रकाश रहा है, तब दिन और रात्रिमें पन्द्रह पन्द्रह मुहूर्त होते हैं यों समान दिन रात सिद्ध हो जाता है। उस समय जम्बूद्वीपके सूर्यका भ्रमण तीन लाख सोलह हजार और दो अधिक सातसौ ३१६७०२ योजन परिधिके

परिमाणको धारता है। दक्षिणायनमें तुलाराशिके प्रवेश अवसरपर और उत्तरायणमें मेषराशिके प्रवेशके दिनका विषय होनेपर सूर्य मेरुको पैंतालीस हजार योजन और पिचत्तर योजन तथा योजनके इकसठ भागोंमेंसे चौबीस भागों करके दूर अप्राप्त होकर चमक रहा है। अर्थात्—जम्बूद्वीपकी वेदीके ऊपर जम्बूद्वीपका सूर्य घूमता रहता है। उत्तरायणका प्रकरण मिलनेपर वेदीके एकसौ अस्सी योजन भीतरतक घुसकर प्रकाशता है और दक्षिणायनके दिनोंका विषय मिलनेपर वेदीसे तीनसौ तीस और अडतालीस बटे इकसठि योजनतक बाहर लवण समुद्रमें जाकर प्रकाशता है। चार क्षेत्र पांचसौ दशको आधा कर यानी एक ओरके दोसौ पचपनमेंसे द्वीपके चार क्षेत्र एकसौ अस्सीको घटा कर पिचत्तर योजन वेदीसे बाहर हटकर बीचली गली आती है। दश हजार योजन चौडे सुमेरु पर्वतके आधे पांच हजारको अर्ध जम्बूद्वीप पचास हजारमेंसे घटा देनेपर वेदीसे मेरुका व्यवधान पैंतालीस हजार समझा जाता है। चूंकि बीचकी गली वेदीसे पिचत्तर योजन बाहर हटकर पडी है। अतः मध्यम गलीसे मेरुका अन्तर पैंतालीस हजार पिचत्तर योजन ४५०७५ है। " इदि जोयण एगारह भागो जदि बट्टदे यहा यदि वा " इस नियम अनुसार आठसौ योजन ऊंचे सूर्यके समतलपर सुदर्शन बहत्तर और आठ बटे ग्यारह योजन घट गया है। एक ओरकी घटाईके लिये आधा करनेपर छत्तीस और बढ जाते हैं। अतः मध्यम गलीसे मेरुका अन्तर पैंतालीस हजार एकसौ ग्यारह योजन हो जाता है। किन्तु यहां मेरुकी ग्यारहमें भाग घटाईके अनुसार छत्तीस और चार बटे ग्यारह योजनोंकी विवक्षा नहीं की गयी है। मध्यम वीथीतकका व्यास एक लाख एकसौ पचास १००१५० योजन है। " विक्खंभवग्गदहगुण करणी वट्टस्स परिरयो होदि " इस नियमके अनुसार इसका वर्ग दस अरब तीन करोड बाईस हजार पांचसौ होता है, इसको दस गुना करनेपर एक खरब तीस करोड दो लाख पचीस हजार १००३००२२५००० होता है। इसका वर्गमूल निकालनेसे तीन लाख सोलह हजार सातसौ दो कुछ अधिक योजन मध्यम वीथीकी परिधि (घेरा) बन जाती है। चार क्षेत्र पांचसौ दसके आधे दो सौ पचपनमेंसे एकसौ अस्सी योजन भीतरला भाग घटा देनेपर वेदीसे पिचत्तर योजन लवण समुद्रमें घुसकर मध्यम गली मिलती है। भीतरले एकसौ अस्सीमें पिचत्तर जोड देनेसे या बाहरले तीनसौ तीसमेंसे पिचहत्तर घटा देनेपर मध्यम मार्ग दो सौ पचपन योजन आ जाता है। जो कि चार क्षेत्र पांचसौ दसका आधा है। छह छह महीनेके उत्तरायण, दक्षिणायन गमनके ठीक विचले एक एक दिनके लिये दिन और रात समान हो जाते हैं। " छम्मासद्धगयाणं जोइसयाणं समाणदिणरत्ती, तं इसुवं " (त्रिलोकसार) इसको विषुमान् या विषुव कहते हैं। विषुमान् दिनमें पांच हजार दोसौ अठहत्तर और एक योजनके साठ भागोंमेंसे बाईस भागसे अधिक परिमाणवाला स्थान एक मुहूर्त यानी दो घडी अथवा अडतालीस मिनटमें हो रही सूर्यकी गतिका क्षेत्र बन जाता है। अर्थात्—ढाई द्वीपके सभी सूर्य साठ मुहूर्त्तमें अपनी योग्य परिधीको घूमकर पूरा कर लेते हैं। जब कि जम्बूद्वीपका सूर्य मध्यम वीथीपर भ्रमण कर रहा साठ मुहूर्तमें तीन लाख, सोलह हजार सात सौ दो योजन कुछ

अधिक परिधिको पूरा करता है तो एक मुहूर्त्तमें कितनी परिधिपर चक्कर लगायगा ? इस त्रैराशिकके अनुसार एक मुहूर्त्तकी गतिका क्षेत्र निकल आता है। जम्बूद्वीपमें आमने सामने सदा वर्त्त रहे दो सूर्य हैं जो कि जम्बूद्वीपके अन्तमें वेदीके ऊपर एकसौ चौरासी गलियोंमें घूमते रहते हैं। लवणसमुद्रमें जम्बूद्वीपकी वेदीसे पचास हजार भीतर घुसकर उठे हुये जलभागमें घूम रहा लवणसमुद्रका पहिला सूर्य है। इससे एक लाख योजन भीतर और घुसकर दूसरा सूर्य है जो कि लवणसमुद्रकी वेदी (परली) से पचास हजार योजन उरली ओर जलमें है। यों लवणसमुद्रमें एक ओर दो सूर्य हैं और इसी प्रकार सुमेरुको बीचमें देकर इनके ठीक सामने परली ओर लवणसमुद्रमें दो अन्य सूर्य हैं, जो कि साठि मुहूर्तमें अपनी अपनी परिधिका पूरा भ्रमण कर लेते हैं। यों चारों सूर्य ग्यारह हजारसे लेकर सोलह हजार योजनतक ऊपर उठे हुये जलमें स्वकीय नियत स्थानोंपर घूमते रहते हैं। दो लाख योजन चौडे लवणसमुद्रमें एक ओर दो सूर्य इधर उधरकी वेदियोंसे पचास हजार योजन घुसकर हैं। अतः सूर्यकी चौडाई अडतालीस बटे इकसठि योजनको एक लाखमें घटा देनेसे निन्यानवे हजार नौ से निन्यानवें और तेरह बटे इकसठि योजन लवण समुद्र सम्बन्धी एक सूर्यसे दूसरे सूर्यका अन्तर निकल आता है। धातकीखण्डमें बारह सूर्य हैं। " दो दो वग्गं बारस बादाल बहत्तरिदु इणंसखा पुक्खर दलेत्ति परदो अवट्ठिया सव्व जोइगणा "। जो कि एक ओर छह और ठीक उसके सामने सुमेरु पर्वतका अन्तराल देकर परली ओर छह घूम रहे हैं। " सगरविदलविंवूणा लवणादी सगदिवायरद्धहिया, सूरंतरं सुजगदी आसण्ण पइंतरं तु तस्स दलं " इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार सूर्य सूर्यका अन्तर और वेदिकासे सूर्यका अन्तर निकाल लेना चाहिये। इसी प्रकार कालोदक समुद्र और पुष्करार्ध द्वीपके ब्यालीस और बहत्तरि सूर्योको भी जान लो। एक ओर आधे और इसी प्रकार दूसरी ओर सुदर्शन मेरुका व्यवधान देकर इकईस और छत्तीस सूर्य तारतम्यको ले रही गतिसे भ्रमण कर रहे हैं। दो दो सूर्य और दो दो चन्द्रमाका चार क्षेत्र एक एक नियत है। हां, ढाई द्वीपसे बाहर द्वीपों और समुद्रोंकी वेदीसे पचास हजार योजन और उससे परे एक लाख योजन चल कर गोल द्वीप, समुद्रोंमें वलय रचलिये गये हैं। उनमें एक सौ चवालीस, एक सौ अडतालीस, आदि नियत हो रहे सूर्यबिम्ब सूक्ष्म परिधिके विभाग अनुसार अवस्थित हैं। यों ढाई उद्धारसागरके समयों प्रमाण असंख्याते द्वीप समुद्रोंमें असंख्याते सूर्य और चन्द्रमा आदि हैं। इसका विशेष त्रिलोकसारमें द्रष्टव्य है।

दक्षिणोत्तरे समश्रेणिधीनां च व्यवहितानामपि जनानां प्राच्यमादित्यप्रतीतिश्च लंकादिकुरुक्षेत्रांतरदेशस्थानामभिमुखमादित्यस्योदयात्। अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागत्वात् प्रमाणयोजनापेक्षया सातिरेकत्रिनवतियोजनशतत्रयप्रमाणत्वादुत्सेधयोजनापेक्षया दूरोदयत्वाच्च स्वाभिमुखलंबीद्धप्रतिभाससिद्धेः।

दक्षिण और उत्तरदेशोंमें समान रेखान्तरपर प्राप्त हो रहे और दूरदेशका व्यवधान झेल रहे भी मनुष्योंके पूर्वदिशामें ही सूर्यके उदयकी प्रतीति हो रही है। क्योंकि लङ्कासे आदि लेकर

कुरुक्षेत्रतक अनेक मध्यवर्त्ती देशोंमें स्थित हो रहे मनुष्योंके अभिमुख होकर सूर्यका उदय हो रहा है। कारण कि बडे माने जा रहे प्रमाण योजनकी अपेक्षा एक योजनके इकसठि भागोंमें अडतालीस भाग परिमाण सूर्य है। चूंकि चार कोसके छोटे योजनसे पांचसौ गुना बडा योजन होता है। अतः अडतालीसको पांचसौसे गुणा कर देनेपर और इकसठिका भाग देनेसे तीनसौ तिरानवे सही सत्ताईस बटे इकसठि छोटे योजनका सूर्य बैठता है। यह उत्सेध अंगुलसे बनाये गये योजनकी अपेक्षा कुछ अधिक तीनसौ तिरानवै योजनप्रमाण है। आठ पडे जौका एक अंगुल, चौबीस अंगुलका एक हाथ, चार हाथका एक धनुष, दो हजार धनुषका एक कोस और चार कोसका एक योजन, ऐसे तीनसौ तिरानवे योजन अन्य चौबीस सूर्य है। सूक्ष्म बात यह है कि उगते समय यहांसे हजारों बडे योजनों दूर सूर्यका उदय होनेसे व्यवहित हो रहे मनुष्योंके भी अपने अपने अभिमुख आकाशमें लटक रहे दैदीप्यमान सूर्यका प्रतिभासना सिद्ध है। भावार्थ—सूर्य भी बडा है और चमकदार है तथा उदय होते समय सूर्य यहांसे बहुत दूर है। सबसे बडा दिन हो जानेपर सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठि बडे योजन दूरपर रहता है और छोटे दिनके अवसरपर इकत्तीस हजार आठसौ इकत्तीस योजन दूर है। अतः लङ्का, उज्जैन, कुरुक्षेत्र, आदि दूर दूर देशोंपर ठहरे मनुष्योंको भी अपनी पूर्व दिशाकी ओर सन्मुखरेखापर दीख जाता है। जितना बडा या दूरवर्त्ती पदार्थ होता है उतनी ही देखनेवालोंको उसकी सरल रेखाकी टेढ कमती होती जाती दीखती है।

द्वितीये अहनि तथा प्रतिभासः कुतो न स्यात्तदविशेषादिति चेन्न, मंडलांतरे सूर्यस्योदयात् तदंतरस्योत्सेधयोजनापेक्षया द्वाविंशत्येकषष्टिभागयोजनसहस्रप्रमाणत्वात्, उत्तरायणे तदुत्तरतः प्रतिभासस्योपपत्तेः दक्षिणायने तद्दक्षिणतः प्रतिभासनस्य घटनात्।

कोई प्रतिवादी आक्षेप करता है कि दूसरे दिन तिस प्रकार अपने ठीक सन्मुख गगनतलमें अवलम्बित हो रहे सूर्यका प्रतिभास किस कारणसे नहीं हो पाता है? जब कि उतने ही बडे सूर्यका उतनी ही दूरपर उदय होना अन्तररहित विद्यमान है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि दूसरे दिन अगले दूसरे मण्डलमें सूर्यका उदय हो जाता है। पहिले दिनके सूर्योदयसे इस दूसरे दिनके सूर्योदयका अन्तर छोटे उत्सेध योजनोंकी अपेक्षा एक हजार योजनप्रमाण हो जाता है। अर्थात्—एक एक मण्डलका अन्तर बडे योजनोंसे दो योजन है। पांच सौ से गुणा कर देनेपर छोटे एक हजार योजन हो जाते हैं। "दीडवहिचारखित्ते बेदीए दिणगदीहिदे उदया" इस नियमके अनुसार बाईस बटे इकसठि बडे योजन प्रमाण संख्या निकाल लेनी चाहिये। स्थूल रूपसे सर्वत्र जम्बूद्वीप सम्बन्धी एक सौ चौरासी मण्डलोंमें प्रत्येकका एक एक हजार छोटे योजनका व्यवधान पडा हुआ है। अतः सूर्यके उत्तरायण होनेपर उन लंका, कुरुक्षेत्र आदिके उत्तरकी ओर झुकता हुआ पूर्वमें प्रातःकाल सूर्योदयका प्रतिभास होना बन जाता है। और दक्षिणायनमें उन देशोंसे दक्षिणकी ओर हो रहे सूर्योदयका प्रतिभास जाना घटित

हो जाता है। छोटे हजार योजन हट हटकर प्रति दिन उदय होनेसे उत्तर दक्षिणकी ओर सूर्योदयका प्रतिभासना उचित ही है।

सूर्यपरिणामदक्षिणोत्तरसमप्रणिधिभूभागादन्यप्रदेशे कुतः प्राची सिद्धिरिति चेत्, बदनंतरमंडले तथा सर्वाभिमुखमादित्यस्योदयादेवेति सर्वमनवद्यं, क्षेत्रांतरेपि तथा व्यवहारसिद्धेः।

कोई पूंछता है कि सूर्योदय परिणामके धारी पूर्वदेशों या उसके समतल निकटवर्ती उत्तर दक्षिण भूभागोंमें सूर्योदय अनुसार पूर्वदिशाकी भले ही प्रसिद्धि हो जाय, किन्तु उनसे न्यारे अन्य प्रदेशोंमें भला पूर्वदिशाकी सिद्धि किस ढंगसे करोगे ? इस प्रकार पूछनेपर तो हम समाधान करते हैं कि उसके अव्यवहित परली ओरके मण्डलपर तिस प्रकार दूरवर्त्ती होकर सबके सन्मुख तीन सौ त्रानवै छोटे योजन लम्बे चौडे सूर्यके उदय होनेसे ही पूर्वदिशाकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात्—जम्बूद्वीपके आमने सामने हो रहे दो सूर्य जब जम्बूद्वीपकी वेदीके ऊपर पांच सौ दस योजन क्षेत्रमें सब ओर घूम रहे हैं तो सबसे पहिले उदय अनुसार सब देशवालोंको पूर्वदिशाकी सिद्धि हो जाती है, सूर्योदय अनुसार पूर्वदिशाकी कल्पना करनेपर भिन्न भिन्न देशवालोंको दिशाओंका सांकर्य भी हो जाता है, तभी तो " सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः " यह नियम अक्षुण्ण बन जाता है। इस प्रकार जैनसिद्धान्त अनुसार सम्पूर्ण व्यवस्था निर्दोष बन जाती है। हैमवत, हरि, विदेह, आदि न्यारे न्यारे क्षेत्रोंमें भी तिस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, दिशाओंके व्यवहार प्रसिद्ध हो जाते हैं। कोई दोष नहीं आता है।

तदेतेन प्राचीदर्शनाद्धरायां गोलाकारतासाधनमप्रयोजकमुक्तं तत्र तत्र दर्पणाकारतायामपि प्राचीदर्शनोपपत्तेः। यदा तु सूर्यः सर्वाभ्यंतरमंडले चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्रैरष्टाभिश्च योजनशतैर्विंशैर्मेरुमप्राप्य प्रकाशयति तदाहन्यष्टादश मुहूर्ता भवन्ति। चत्वारिंशपट्छताधिकनवनवतियोजनसहस्रविष्कंभस्य त्रिगुणसातिरेकपरिधेस्तन्मण्डलस्यैकान्नत्रिंशद्योजनषष्ठिभागाधिकैकपंचाशद्विशतोत्तरयोजनसहस्रपंचकमात्रमुहूर्तगतिक्षेत्रत्वसिद्धेः सैषा प्रकर्षपर्यन्ततः प्राप्ता दिवावृद्धिहानिश्च रात्रौ सूर्यगतिभेदादभ्यंतरमंडलात् सिद्धा।

तिस कारण इस कथन करके उस भूगोलको माननेवालेका यह हेतु अनुकूलतर्करहित कह दिया जा चुका है कि प्राची दिशाके देखनेसे पृथिवीमें गोल आकारका साधन कर लिया जाता है। क्योंकि उन उन प्रान्तोंमें भूमिका दर्पणके समान समतल आकार होनेपर भी पूर्वदिशाका दीख जाना बन जाता है। अर्थात्—न्यारे न्यारे मण्डलोंपर सूर्यका उदय हो जानेसे अनेकदेशीय पुरुषोंको भिन्न भिन्न दिनोंमें अपने अपने सन्मुख सूर्योदय अनुसार पूर्वदिशा दीख जाती है। हां, जिस समय सूर्य सबसे बडे दिनके अवसरपर सम्पूर्ण मण्डलोंके भीतरले मण्डलमें चवालीस हजार योजन और आठ

सौ बीस योजन मेरुसे दूर अप्राप्त होकर प्रकाशता है, तब तो दिनमें अठारह मुहूर्त हो जाते हैं। आधा मेरु ५००० योजनका है। और सूर्य १८० योजन भीतर आ गया है। दोनों ओर छह सौ चालीस योजनोंसे अधिक निन्यानवे हजार ९९६४० योजन अभ्यन्तर वीथीकी चौडाई हो जाती है। " विक्खम्भवग्गदहगुण करणी वट्टस्स परिरयो होदि " इस नियम अनुसार कुछ अधिक तिगुनी अर्थात्—तीन लाख पन्द्रह हजार नवासी ३१५०८९ योजन इसकी परिधि है। एक सूर्य साठ मुहूर्तमें जब इतनी परिधिका भ्रमण करता है, तो एक मुहूर्तमें कितनी परिधिको पूरा करेगा ? इस त्रैराशिक विधिके अनुसार पांच हजार दो सौ इक्यावन योजन और एक योजनके उन्तीस बटे साठि भाग अधिक एक मुहूर्तकी गतिका क्षेत्र होना सिद्ध हो जाता है। सो यह सूर्यके सबसे भीतरली गलीपर घूमनेके दिन अठारह मुहूर्त यानी चौदह सही दो बटा पांच घन्टे प्रकर्षपर्यन्तको प्राप्त हो रही दिनकी वृद्धि है। और इसी दिन बारह मुहूर्तकी रात है। अतः यह रातकी सबसे बढी हुयी हानि है। जो कि सूर्यकी गति विशेषसे हो रही उसके अभ्यन्तर मण्डलपर आनेसे सिद्ध हो जाती है।

यदा च सूर्यः सर्वबाह्यमंडले पंचचत्वारिंशत्सहस्रैस्त्रिभिश्च शतैस्त्रिंशैर्योजनानां मेरुमप्राप्य भासयति तदाहनि द्वादशमुहूर्ताः। षष्ट्यधिकशतषट्कोत्तरयोजनशतसहस्रविष्कंभस्य तत्त्रिगुणसातिरेकपरिधेः तन्मंडलस्य पंचदशैकयोजनषष्टिभागाधिकपंचोत्तरशतत्रयसहस्रपंचकपरिमाणगतिमुहूर्तक्षेत्रत्वात् सैषा परमप्रकर्षपर्यन्तप्राप्ता तावद्दिवाहानिर्वृद्धिश्च रात्रौ सूर्यगतिभेदाद्बाह्यगनखंडमंडलात् सिद्धा।

तथा जिस समय सूर्य जम्बूद्वीपकी वेदीसे समुद्रकी ओर तीन सौ तीस अडतालीस बटे इकसठि योजन अधिक हटकर सबसे बाहरके मण्डलपर पैंतालीस हजार तीन सौ तीस ४५३३० योजनों करके मेरुको अप्राप्त होकर प्रकाशता है, तब दिनमें बारह मुहूर्त हो जाते हैं। एक लाख छह सौ साठ १००६६० योजन बाहरली वीथीकी चौडाई है। दोनों ओरके पथ व्यास पिण्ड छयानवें बटे इकसठ योजनकी विवक्षा नहीं की गयी है। उस बाहरले मण्डलकी इससे कुछ अधिक तिगुनी यानी तीन लाख अठारह हजार तीन सौ चौदह ३१८३१४ योजन परिधि है। साठि मुहूर्तमें इतनी परिधिको पूरा घूमता है, तो एक मुहूर्तमें सूर्य कितना घूमेगा ? इसका उत्तर एक योजनके साठि भागोंमें चौदह या पन्द्रह भागसे अधिक पांच हजार तीन सौ पांच योजन है। इतने योजन परिमाणवाला एक मुहूर्तकी गतिका क्षेत्र होता है। सो यह तो परमप्रकर्षके पर्यन्तको प्राप्त हो रही दिनकी हानि है। अर्थात्—बाहरकी गलीमें घूमनेपर बारह मुहूर्त यानी $9\frac{3}{5}$ घन्टाका दिन होता है। तथा यह रातमें सबसे बढी हुयी वृद्धि है। अर्थात्—इस दिन सबसे बडी अठारह मुहूर्तकी रात होती है। जो कि सूर्यकी गति विशेष अनुसार पांचसौ दस योजन सम्बन्धी आकाश खण्डके बाहरले मण्डलसे हो रही सिद्ध हो जाती है।

मध्ये त्वनेकविधा दिनस्य वृद्धिहानिश्चानेकमण्डलभेदात् सूर्यगतिभेदादेव यथागमं मंडलं यथागणनं च प्रत्येतव्या तथा दोषावृद्धिहानिश्च युज्यते ।

दिनकी सबसे बडी वृद्धि अठारह मुहूर्त और सबसे प्रकर्ष हानि बारह मुहूर्तकी सिद्ध कर दी गयी है । मध्यमें होनेवाली अनेक प्रकार दिनकी वृद्धियां और हानियां तो अनेक मण्डलोंके भेदसे सूर्यकी गतिके भेद अनुसार ही हो जाती हैं । आगम अनुकूल और मण्डलपर गति अनुसार तथा परिधि गणनाका अतिक्रम नहीं कर समझ लेनी चाहिये । तिस ही प्रकार रात्रिकी वृद्धि और हानियां भी समुचित हो रहीं युक्त बन जाती हैं । भावार्थ—" सूरादो दिणरत्ती अट्ठारस बारसा मुहुत्ताणं अब्भन्तरम्हि एदं विवरीयं बाहिरम्हि हवे " " कक्कडमयेर सव्वब्भन्तर बाहिर पहट्ठिओ होदि, मुहभूमीण विसेसे बीथीणंतरहिदे पचयं " (त्रिलोकसार) । यों प्रति दिन दिन और रातकी हानि या वृद्धिका चय दो बटे इकसठि मुहूर्त समझ लेना चाहिये ।

तदेतेन दिनरात्रिवृद्धिहानिदर्शनाद्ध्रुवो गोलाकारतानुमानमपास्तं, तस्यान्यथानुपपत्तिवैकल्यादन्यथैव तदुपपत्तेः ।

तिस कारण इस कथन करके भूगोलवादियोंके इस अनुमानका भी खण्डन कर दिया गया समझो कि पृथिवीका आकार गोल है (प्रतिज्ञा) क्योंकि दिन या रातकी वृद्धि और हानियां देखी जा रही हैं (हेतु) । बात यह है कि उस हेतुकी अपने साध्यके साथ अविनाभाव बने रहनेकी विकलता है । साध्यके विना ही उस हेतुकी उपपत्ति हो जाती है । भावार्थ—पृथ्वीके वृत्त आकारके साथ दिन या रातकी हानि, वृद्धियोंका नियम नहीं है । सूर्यकी अनेक मण्डलोंपर हो रही गतिके अनुसार वह दिन और रातका घटना, बढना दूसरे प्रकारोंसे ही बन जाता है ।

तथा छाया महती दूरे सूर्यस्य गतिमनुमापयति अंतिकेऽतिस्वल्पा न पुनर्भूमेर्गोलकाकारतामिति छायावृद्धिहानिदर्शनमपि सूर्यगतिभेदनिमित्तकमेव । मध्यान्हे क्वचिच्छायाविरहेपि परत्र तद्दर्शनं भूमेर्गोलाकारतां गमयति समभूमौ तदनुपपत्तेरिति चेन्न, तदापि भूमिनिम्नत्वोन्नतत्वविशेषमात्रस्यैव गतेः तस्य च भरतैरावतयोर्दृष्टत्वात् " भरतैरावतेयार्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां इति वचनात् ।

उक्त वार्तिकोंमें इसके आगे छाया पडी हुई है । इसका विवरण यों है कि तिसी प्रकार सूर्यके दूर होनेपर बडी लम्बी पड रही छाया और सूर्यके निकट होनेपर अति अल्प हो रही छाया भी सूर्यकी गतिका ही अनुमान कराती है । किन्तु फिर पृथिवीके गोल आकारसहितपनकी अनुमिति नहीं कराती है । इस प्रकार छायाकी वृद्धि और छायाकी हानिका दीखना भी सूर्यकी भिन्न भिन्न गतिओंको निमित्त पाकर ही हुआ कहना चाहिये । अतः प्रातःकाल सूर्यके दूर रहनेपर वृक्ष, गृह,

मनुष्य आदिकी छाया लम्बी पडती है और मध्यान्हतक सूर्यके निकट आ जानेपर छाया छोटी छोटी होती जाती है। पुनः मध्यान्हसे सायंकालतक सूर्यके अधिक अधिक दूर होते जानेपर छाया बढती चली जाती है। दैदीप्यमान पदार्थोंके दूर निकट जाने आ जानेपर छाया बढती, घटती, हो रही प्रसिद्ध है। कवि कहता है कि "आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लम्बी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्, दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम्"। यदि यहां कोई यों कटाक्ष करे कि मध्यान्हके समय किसी देशमें छायाका अभाव होनेपर भी दूसरे देशोंके दुपहरके समय उस छायाका दर्शन हो रहा (हेतु) भूमिके गोल आकारको साध देवेगा। क्योंकि समतल भूमिमें वह कहीं छायाका न होना और कहीं होना नहीं बन सकता है। भावार्थ—सूर्यकी निचली ओर ठीक सीधी रेखा पर खडे हुये मनुष्यकी छाया नहीं पडती है। हां, गोल पृथिवीके कुछ इधर उधर बगलमें खडे हो जानेसे तिरछे होगये मनुष्यकी दोपहरको छाया अवश्य पड जायगी। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तब भी भूमिके केवल नीचेपन या ऊंचेपन विशेषोंकी ही उस हेतुसे ज्ञप्ति हो सकेगी और वह भूमिका नीचा ऊंचापन भरत ऐरावत क्षेत्रोंमें कालवश हो रहा देखा जा चुका है। स्वयं पूज्यचरण सूत्रकारका इस प्रकार वचन है कि भरत ऐरावत क्षेत्रोंके वृद्धि और ह्रास छह समयवाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोंकरके हो जाते हैं। अर्थात्—भरत और ऐरावतमें आकाशकी चौडाई न्यारी न्यारी एक लाखके एकसौ नब्बेवें भाग यानी पांचसौ छब्बीस सही छह बटे उनईस योजनकी ही रहती है। किन्तु अवगाहन शक्तिके अनुसार इतने ही आकाशमें भूमि बहुत घट, बढ, जाती है। न्यूनसे न्यून पांचसौ छब्बीस छह बटे उन्नीस योजन भूमि अवश्य रहेगी। बढनेपर इससे कई गुनी अधिक हो सकती है। इसी प्रकार अनेक स्थल कहीं बीसों कोस ऊंचे, नीचे, टेढे, तिरछे, कौनियाये, हो रहे हो जाते हैं। अतः भ्रमण करता हुआ सर्य जब दुपहरके समय ऊपर आ जाता है, तब सूर्यसे सीधी रेखापर समतल भूमिमें खडे हुये मनुष्योंकी छाया किंचित् भी इधर उधर नहीं पडेगी। किन्तु नीचे, ऊंचे, तिरछे, प्रदेशोंपर खडे हुये मनुष्योंकी छाया इधर उधर पड जायगी। क्योंकि सीधी रेखाका मध्यम ठीक नहीं पडा हुआ है; भले ही लकडीको टेडी या सूधी खडी कर उसकी छायाको देखलो।

तन्मनुष्याणामुत्सेधानुभवायुरादिभिर्वृद्धिह्रासौ प्रतिपादितौ न भूमेरपरपुद्गलैरिति न मंतव्यं, गौणशब्दाप्रयोगान्मुख्यस्य घटनादन्यथा मुख्यशब्दार्थातिक्रमे प्रयोजनाभावात्। तेन भरतैरावतयोः क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासौ मुख्यतः प्रतिपत्तव्यौ, गुणभावतस्तु तत्स्थमनुष्याणामिति तथावचनं सफलतामस्तु ते प्रतीतिश्चानुल्लंघिता स्यात्।

थोडे आकाशमें बडी अवगाहनावाली वस्तुके समा जानेमें आश्चर्य प्रगट करते हुये कोई विद्वान् यों मान बैठे हैं कि भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंकी वृद्धि हानि नहीं होती है, किन्तु उनमें रहनेवाले

मनुष्योंके शरीरउच्चता, अनुभव, आयु, सुख, आदि करके वृद्धि और ह्रास होरहे सूत्रकार द्वारा समझाये गये हैं। अन्य पुद्गलोंकरके भूमिके वृद्धि और ह्रास सूत्रमें नही कहे गये हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये। क्योंकि गौण होरहे शब्दोंका सूत्रकारने प्रयोग नहीं किया है। अतः मुख्य अर्थ घटित हो जाता है। अन्य प्रकारोंसे यानी तत्में स्थित होनेसे तत् शब्दपनेकी सिद्धि या " भरतऐरावतयोः " को सप्तमी विभक्तिका रूप मान लेना इन ढंगोंसे मुख्य शब्दके अर्थका अतिक्रमण करनेमें कोई प्रयोजन नहीं दीख रहा है। " मंचाः क्रोषन्ति " " गंगायां घोषः " आदि स्थलोंपर तात्पर्यकी अनुपपत्ति होनेसे मुख्य अर्थका उल्लंघन कर गौण अर्थका आदर कर लिया जाय। किन्तु यहां वृद्धि और ह्रास इन कृदन्त क्रियाओंका योग हो जानेसे " भरतऐरावतयोः " इस षष्ठ्यन्तपदका उनमें आधेय हो रहे मनुष्य, पशु, आदिक यह गौण अर्थ नहीं किया जा सकता है। विचारशाली दार्शनिक सूत्रकार आलंकारिक कवियोंकी छटामें निमग्न नहीं हैं। अतः भरत ऐरावत शब्दका मुख्य अर्थ पकडना चाहिये। तिस कारण भरत और ऐरावत दोनों क्षेत्रोंकी वृद्धि और हानि हो रही मुख्यरूपसे समझ लेनी चाहिये। हां, गौणरूपसे तो उन दोनों क्षेत्रोंमें ठहर रहे मनुष्योंके अनुभव आदि करके वृद्धि और ह्रास हो रहे समझ लो, यों तुम्हारे यहां सूत्रकारका तिस प्रकार वचन सफलताको प्राप्त हो जाओ और क्षेत्रकी वृद्धि या हानि मान लेने पर प्रत्यक्षसिद्ध या अनुमान सिद्ध प्रतीतियोंका भी उल्लंघन नहीं किया जा चुका है। भावार्थ—समयके अनुसार अन्य क्षेत्रोंमें नहीं केवल भरत ऐरावतोंमें ही भूमि ऊंची, नीची, घटती, बढती हो जाती है। तदनुसार दुपहरके समय छायाका घटना बढना या क्वचित् सूर्यका देर या शीघ्रतासे उदय, अस्त, होना, घटित हो जाता है। तभी तो अगले " ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः " इस सूत्रमें पडा हुआ " भूमयः " शब्द व्यर्थ सम्भव होकर ज्ञापन करता है कि भरत और ऐरावत क्षेत्रकी भूमियां अवस्थित नहीं हैं। ऊंची, नीची, घटती, बढती हो जाती हैं।

सूर्यस्य ग्रहोपरागोपि न भूगोलछायया युज्यते तन्मते भूगोलस्याल्पत्वात् सूर्यगोलस्य तच्चतुर्गुणत्वात् तया सर्वग्रासग्रहणविरोधात्।

सूर्यका ग्रहोंके द्वारा उपराग होना (सूर्यग्रहण) भी भूगोलकी छाया करके होरहा मानना उचित नहीं है। क्योंकि उन भूभ्रमण वादियोंके मतमें भूगोलका परिमाण अल्प माना गया है। सूर्य गोल उससे चौगुना स्वीकार किया है, तिस प्रकार होनेपर सर्वग्रासरूपग्रहण होजानेका विरोध पडेगा। अर्थात्—भूगोलवादी प्राचीन पण्डितोंने पृथिवीसे सूर्यको चौगुना स्वीकार किया है। यदि पृथिवीकी छायासे सूर्यग्रहण माना जावेगा तो भरपूर सूर्यका ढक जाना ऐसा खग्रास ग्रहण नहीं पड सकेगा। क्योंकि छोटा पदार्थ बडे पदार्थको पूरा नहीं ढक पाता है। आधुनिक कई युरोपीय विद्वान सूर्यको भूमिसे एक सौ आठ गुना या तेरह लाख गुना अथवा पन्द्रह लाख गुना स्वीकार करते हैं। आर्यभट्ट,

लल्लाचार्य, आदि भारतवर्षीय विद्वान् भी पृथिवीसे सूर्यको बडा मान बैठे हैं। ऐसी दशामें भूगोलकी छायासे सर्वांग सूर्यग्रहण नहीं हो सकेगा।

एतेन चंद्रछायया सूर्यस्य ग्रहणमपास्तं चंद्रमसोपि ततोल्पत्वात्। क्षितिगोलचतुर्गुणछायावृद्धिघटनाच्चंद्रगोलवृद्धिगुणछायावृद्धिघटनाद्वा ततः सर्वग्रासे ग्रहणमविरुद्धमेवांतं चेत् कुतस्तत्र तथा तच्छायावृद्धिः। सूर्यस्यातिदूरत्वादिति चेन्न, समतलभूमावपि तत एव छायावृद्धिप्रसंगात्।

चन्द्रकी छाया करके सूर्यका ग्रहण पडना भी इस कथन करके खण्डित कर दिया गया है। क्योंकि उस सूर्यसे चन्द्रमाका भी परिमाण अल्प माना गया है। अल्प परिमाणवाले पदार्थसे बडी परिमाणवाली वस्तुका एक अंश भले ही ढक जाय, किन्तु परिपूर्ण ग्रास कथमपि नहीं हो सकता है। भावार्थ—आर्यभट्टकृत श्लोक है कि " छादयति शशी सूर्यं शशिनं च न महती भूच्छाया " ग्रहणके अवसरपर चन्द्रमा सूर्यको और बडी पृथिवीकी छाया चन्द्रमाको ढक लेती है। सूर्य सिद्धान्तमें भी कहा है कि " छादको भास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद्भवेत्, भूच्छायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ " बृहत्संहितामें " भूच्छायां स्वग्रहणे भास्करमर्कग्रहे, प्रविशतीन्दुः ग्रग्रहणे मतः पश्चान्नेन्दोर्भानोश्च पूर्वार्धात् " भास्कराचार्यने सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्यायमें कहा है कि " पूर्वाभिमुखो गच्छन् कुच्छायानन्तर्यतः शशी विशति, तेन प्राक् ग्रग्रहणं पश्चात् मोक्षोऽस्य निस्सरतः " " भूमिर्विधुं विधुं दिनं ग्रहणोऽपि धत्ते " इत्यादिक मन्तव्य उचित नहीं है। यहां कोई भूगोलवादी कहते हैं कि दूर होनेपर छोटे पदार्थसे भी बडा पदार्थ ढक जाता है। आंखोंसे एक गज दूरपर एक छोटी सी किताबके आडे आ जानेसे पांच सौ गज दूर वर्त्ती सैकडों गज लम्बा चौडा पदार्थ भी ढक कर ओझिल हो जाता है। दूरपर पदार्थोंकी छाया भी बढ जाती है। तदनुसार भूगोलसे चौगुनी छायाकी वृद्धि घटित हो जाती है। अथवा चन्द्रगोलसे भी कई गुनी वृद्धिरूप छायाकी वृद्धि घटित हो जाती है। अतः उस बढी हुयी छाया अनुसार सूर्यका सर्वग्रास ग्रहण पड जाना विरुद्ध नहीं है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि वहां सूर्यमण्डलके निकट तिस प्रकार उस छायाकी वृद्धि किस कारणसे बनेगी? बताओ। यदि तुम भूगोलवादी यों कहो कि सूर्य अत्यन्त दूर है, इस कारण धतूरेके फल समान छाया उत्तरोत्तर बढती हुयी जा रही बन जाती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि समतलमें भी तिस ही कारण यानी सूर्यके अति दूर होनेसे ही छायाकी वृद्धि होजानेका प्रसंग आजाता है। फिर तुमने छायाकी वृद्धिसे भूमिके गोल आकारको क्यों साधा था? अर्थात्—भ्रमण करते हुये सूर्यके दूर देश या निकट देशमें वर्तनेपर छायाका बढना या घटना सध जाता है।

कथं च भूगोलादेरुपरि स्थिते सूर्ये तच्छायाप्राप्तिः प्रतीतिविरोधात् तदा छायाविरहप्रसिद्धेर्मध्यंदिनवत् ततः तिर्यक् स्थिते सूर्ये तच्छायाप्राप्तिरिति चेन्न, गोलात्पूर्वदिक्षु स्थिते खौ पश्चिमदिगभिमुखछायोपपत्तेस्तत्प्राप्त्ययोगात्। सर्वदा तिर्यगेव सूर्यग्रहणसंप्रत्ययप्रसंगात्।

मध्यं दिने स्वस्योपरि तत्प्रतीतेश्च क्षितिगोलस्याधःस्थिते भानौ चंद्रे च तच्छायया ग्रहणमिति चेन्न, रात्राविव तददर्शनप्रसंगात् ।

दूसरी बात यह कहनी है कि भूगोल, चन्द्रगोल, आदिके ऊपर जब सूर्य स्थित होजावेगा तो ऐसी दशामें उनकी छाया सूर्यपर किस प्रकार प्राप्त होजावेगी ? क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध होजावेगा । उस समय तो मध्यान्हके समान छायाका विरह प्रसिद्ध होरहा है । यदि भूभ्रमणवादी पण्डित यहां यों उत्तर कहे कि उन भूगोल आदिसे सूर्यके तिरछा स्थित होनेपर सूर्यमें उनकी छाया प्राप्त होजाती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि भूगोलसे पूर्व दिशाओंमें सूर्यके स्थित होजानेपर पश्चिमदिशाके अभिमुख छाया होना बनेगा। अतः उस सूर्यपर पृथिवी या चन्द्रमाकी छाया प्राप्त होनेका योग नहीं बन पावेगा। सर्वदा तिरछे ही सूर्यग्रहण होनेके भले प्रकार ज्ञान होनेका प्रसंग आवेगा, किन्तु दिनके मध्यभागमें आकाशके ऊपर उस सूर्यग्रहणकी प्रतीति होरही है। फिर भी कोई यों कहे कि भूगोलके नीचे सूर्य और चन्द्रमाके स्थित होजानेपर उनकी छाया करके सूर्यग्रहण पड जावेगा । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि रातमें जैसे सूर्यग्रहणका दर्शन नहीं होता है, उसीके समान दिनमें भी उस सूर्यग्रहणके नहीं दीखनेका प्रसंग आवेगा । अर्थात्—राहु अरिट्ठ विमाणा किंचूणं जोयणं अधोगंता छम्मासे पव्वंते चंदरवी छादयंति कमे " इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार नीचे, नीचे चल रहे राहु और अरिष्ट विमानों करके सूर्य और चन्द्रमाका ग्रहण पडना मानना चाहिये । यों छाया पड जानेसे ग्रहण नहीं होजाते हैं । चन्द्रविमानके चार प्रमाणांगुल नीचे राहुका विमान और सूर्य विमानके नीचे चार अंगुल नीचे अरिष्टका विमान भ्रमण करता रहता है । अन्य दिनोंमें ये विमान अगल बगल रहते हुये घूमते हैं । अमावस्या या पूर्णिमाके दिन कदाचित् नीचे आजानेपर ग्रहण दिवस मान लिया जाता है। यों पूर्णिमाके अतिरिक्त चन्द्रमाके नीचे सदा ही राहुका विमान तारतम्य अनुसार भ्रमण करता रहता है । जोकि प्रत्यक्षसिद्ध है । इस विषयके तलस्पर्शी विद्वान् भूगोल या सूर्यग्रहण आदिका अन्य समीचीन युक्तियों द्वारा अच्छा विवेचन कर लेवें। " नहि सर्वः सर्वविद् "। मेरे निकट इस विषयके साधन अत्यल्प हैं। श्री विद्यानन्द स्वामीकी युक्तियां अकाट्य हैं । हां, मेरे लेखमें त्रुटियां होना सम्भव है । " तद्वि जानन्ति तद्विदः " उस विषयको उसीके परिपूर्ण अन्तःप्रवेशी विद्वान् जान सकते हैं । मनीषिणः शोधयन्तु ।

ननु च न तयावरणरूपया भूम्यादिछायया ग्रहणमुपगम्यते तद्विद्भिर्यतोऽयं दोषः । किं तर्हि ? उपरागरूपया चंद्रादौ भूम्याद्युपरागस्य चंद्रादिग्रहणव्यवहारविषयतयोपगमात् । स्फटिकादौ जपाकुसुमाद्युपरागवत् तत्र तदुपपत्तेरिति कश्चित्, सोपि न सत्यवाक् तथा सति सर्वदा ग्रहणव्यवहारप्रसंगात् भूगोलात्सर्वदिक्षु स्थितस्य चंद्रादेस्तदुपरागोपपत्तेः । जपाकु-

सुमादेः समंततः स्थितस्य स्फटिकादेस्तदुपरागवत् । न हि चंद्रादेः कस्यांचिदपि दिशि कदाचिदव्यवस्थितिर्नाम भूगोलस्य येन सर्वदा तदुपरागो न भवेत् ।

भूभ्रमणवादी स्वपक्षका अवधारण करते हैं कि भूमि आदिकी छायारूप तो नहीं छाया करके सूर्य आदिका ग्रहण पडना उस ग्रहणके वेत्ता विद्वानों करके नहीं स्वीकार किया जाता है। जिससे कि यह उपर्युक्त दोष लग बैठे, तो ग्रहणवेत्ता विद्वान् क्या स्वीकार करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि उपरागस्वरूप छाया करके ग्रहण पडना माना जाता है। चन्द्र, सूर्य, आदिमें भूमि आदिके उपराग पड जानेको ही चन्द्र आदिका ग्रहण पड जाना, इस व्यवहारके विषयपन करके स्वीकार किया गया है। जैसे कि स्फटिक, मोटे काच, आदिमें जपाका पुष्प, गुलाबका फूल, डंक आदिका उपराग पड जाता है। अतः उन चन्द्र आदिमें भूमि आदिके उपरागसे उस ग्रहण पडनेकी उपपत्ति हो जाती है। भावार्थ—दीप्यमान सूर्य, चन्द्रमाओंके ऊपर धुंधली पृथिवी आदिकी छाया करके ग्रहण होना हम नहीं मानते हैं। किन्तु धुंधले पदार्थकी चमकीले पदार्थपर आभा पड जाने मात्रसे ग्रहण हो जाता है। स्फटिकमें जपाकुसुमकी छाया नहीं पडती है, केवल जपा कुसुमकी आभासे स्फटिक लाल दीखने लग जाता है। जैसे घाममें लाल या हरा वस्त्र टांग देनेसे कुछ यहां वहां लाल या हरी कान्ति पड जाती है। हां, दर्पण या खड्गमें छाया पडती है। छाया और उपरागमें यही अन्तर है। यहांतक कोई भूभ्रमणवादी कह रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि वह भी सत्य बोलनेवाला नहीं है। क्योंकि तिस प्रकार होनेपर सदा ही ग्रहणके व्यवहार होनेका प्रसंग आवेगा। जब कि भूगोलसे सम्पूर्ण दिशाओंमें चन्द्रमा आदि स्थित हो रहे हैं ऐसी दशामें चन्द्र आदिमें उस भूगोलका उपराग पडना सदा बन जायगा जैसे कि जपाकुसुम, गेंदाका फूल, प्रदीप, आदिके सब ओर स्थित हो रहे स्फटिक आदिपर उन जपाकुसुम आदिकी कान्ति पडना स्वरूप उपराग बन बैठता है। चन्द्र आदिकी किसी भी एक दिशामें कभी भूगोलकी भला व्यवस्था नहीं होय यह तो कथमपि तुम नहीं कह सकते हो जिससे कि सदा उस भूगोलका उपराग चन्द्र आदिके ऊपर नहीं हो सके। अर्थात्—आधुनिक भूगोलवादी भी सूर्यकी प्रदक्षिणा दे रही पृथिवीको मानते हैं। और चन्द्रमाको पृथिवीकी परिक्रमा दे रहा स्वीकार करते हैं। ऐसी दशामें चन्द्रमा या सूर्यके ऊपर भूमिका उपराग पडना सुलभ कार्य है। चमकीले पदार्थपर यहां वहांके पदार्थकी आभा अतिशीघ्र पड जाती है।

तस्य ततोतिविप्रकर्षात् कदाचिन्न भवत्येव प्रत्यासत्त्यातिदेशकाल एव तदुपगमादिति चेत्, किमिदानीं सूर्यादेर्भ्रमणमार्गभेदोभ्युपगम्यते ? बाढमभ्युपगम्यत इति चेत्, कथं नानाराशिषु सूर्यादिग्रहणं प्रतिराशि मार्गस्य नियमात् प्रत्यासन्नतममार्गभ्रमण एव तदघटनात् अन्यथा सर्वदा ग्रहणप्रसंगस्य दुर्निवारत्वात् ।

यदि पूर्वपक्षी विद्वान् यों कहैं कि वे चन्द्र आदिक उस भूगोलसे अत्यधिक दूर देशमें हैं। अतः देशका व्यवधान होनेसे कदाचित् चन्द्रादिके ऊपर भूगोलका उपराग नहीं हो पाता ही है। हां, अतिनिकटवर्त्ती देशमें सम्बन्ध हो जानेके अवसरपर ही उस उपरागका होना माना गया है। यों कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि क्या इस समय सूर्य आदिके चारों ओर भ्रमणका भिन्न भिन्न मार्ग स्वीकार किया जाता है? अर्थात्—चन्द्रमा या भूमिका भिन्न भिन्न मार्गोंपर भ्रमण होना स्वीकार करनेपर ही दूर देशमें पहुंच जाना या निकट देशमें आकर चमकीले पदार्थोंपर उपराग डाल देना बन सकता है। यदि तुम परपक्षी विद्वान् यों कहो कि क्या आश्चर्य है। हम अत्यर्थ रूपसे भ्रमणके मार्गका भेद बडी प्रसन्नतासे स्वीकार करते हैं। यों कहनेपर तो हम जैन आक्षेप करेंगे कि बताओ अनेक राशिओंमें सूर्य आदिका भ्रमण कैसे होगा? जब कि प्रत्येक राशिपर भ्रमणका मार्ग नियत कर दिया गया है। तब तो तुम्हारे विचार अनुसार अतिशय निकटवर्ती मार्गपर भ्रमण करनेपर ही वह ग्रहण पडना घटित हो सकता है। अन्य प्रकारोंसे माननेपर सर्वदा ही ग्रहण पडते रहनेके प्रसंगका कठिनतासे भी निवारण नहीं किया जा सकता है।

प्रतिराशि प्रतिदिनं च तन्मार्गस्याप्रतिनियमात् समरात्रदिवसवृद्धिहान्यादिनियमाभावः कुतो विनिवार्येत? भूगोलशक्तेरिति चेत्, उक्तमत्र समायामपि भूमौ तत एव समरात्रादिः नियमोस्त्विति। ततो न भूछायया चंद्रग्रहणं चंद्रछायया वा सूर्यग्रहणं विचारसहं।

एक बात यह भी तुमसे पूंछना है कि प्रत्येक राशि या प्रत्येक दिन जब उन भूगोल, चन्द्रमा, आदिके मार्गका कोई प्रतिनियम नहीं हैं, तो ऐसी दशा हो जानेसे समान दिन रातके होने या दिनकी वृद्धि, हानि आदिके होने नियमका अभाव हो जाना भला किससे निवारित किया जा सकता है? अर्थात्—चाहे कभी दिन, रात, समान हो जायंगे। छह छह महीने पीछे समान दिन रात होनेका नियम नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार चाहे जब दिन रात घट, बढ, जायंगे। कोई नियत व्यवस्था नहीं रह सकेगी। यदि तुम यों कहो कि भूगोलकी शक्तिसे समान दिन रात आदिकी नियत व्यवस्था हो जायगी, ग्रन्थकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो हम पहिले ही कह चुके हैं कि समतल भूमिमें भी तिस ही कारणसे यानी भूमिकी शक्ति और सूर्य आदिकी गतिविशेषसे ही समान रात, दिन, आदिका नियम हो जाओ। व्यर्थमें अलीक सिद्धान्तोंके गढनेसे कोई लाभ नहीं है। तिस कारण पृथिवीकी छायासे चन्द्रमाका ग्रहण मानना और चन्द्रमाकी छायासे सूर्यका ग्रहण स्वीकार करना परीक्षा आत्मक विचारोंको सहन नहीं कर सकता है। सिद्धान्तशिरोमणिके कर्त्ता भास्कराचार्य या आर्यभट्ट आदि विद्वानोंका मन्तव्य समुचित नहीं है।

राहुविमानोपरागोत्र चंद्रादिग्रहणव्यवहार इति युक्तमुत्पश्यामः सकलबाधकविकलत्वात्।

हां, नीचे चल रहे राहुके विमान द्वारा उपराग होना यहां चन्द्र आदिके ग्रहणका व्यवहार करानेवाला है। इस सिद्धान्तको हम युक्तिपूर्ण देख रहे हैं। क्योंकि यह मन्तव्य सम्पूर्ण बाधक प्रमा-

प्रवचनकर्ता आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

णोंसे रहित है। अर्थात्—ग्रहणके समय नीचे राहु या अरिष्टका विमान आ जानेसे सूर्य और चन्द्रमाकी कान्ति दब जाती है। त्रिलोकसारमें कहा है। " राहुअरिट्ठविमाणधयादुवरि पमाण अंगुल चउक्कं। गन्तूण ससि विमाणा सूरविमाणा कमे होन्ति " राहु और अरिष्ट विमानकी ध्वजाके ऊपर बडे चार अंगुल प्रमाण ऊपर चलकर क्रमसे चन्द्र विमान और सूर्य विमान भ्रमण करते हैं। ढाई द्वीपमें कभी कभी बारह महिनेमें राहुके विमान सूर्यके ठीक नीचे भी आ जाते हैं। हां, अन्य समयोंमें अगल, बगल, कुछ दूर ही रहते हैं। शेष ढाई द्वीपके बाहर असंख्यात द्वीप समुद्र सम्बन्धी राहु विमान तो असंख्यात सूर्यचन्द्रमाओंके ठीक नीचे न रहकर कुछ इधर उधर विराज रहे हैं। यहां भी चन्द्रमाके नीचे राहुविमान केवल पूर्णिमाको छोडकर सदा कमती बढती बना रहता है। चन्द्रग्रहणके अवसरपर पूर्णिमाको भी नीचे आ जाता है।

न हि राहुविमानानि सूर्यादिविमानेभ्योल्पानि श्रूयंते। अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागविष्कंभायामानि तत्त्रिगुणसातिरेकपरिधीनि चतुर्विंशतियोजनैकषष्टिभागबाहुल्यानि सूर्यविमानानि, तथा षट्पंचाशद्योजनैकषष्टिभागविष्कंभायामानि तत्त्रिगुणसातिरेकपरिधीन्यष्टाविंशतियोजनैकषष्टिभागबाहुल्यानि चन्द्रविमानानि, तथैकयोजनविष्कंभायामानि सातिरेकयोजनत्रयपरिधीन्यर्धतृतीयधनुःशतबाहुल्यानि राहुविमानानीति श्रुतेः।

राहु या अरिष्टके अनेक विमान तो सूर्य चन्द्रमा आदि विमानोंसे छोटे हैं, यों शास्त्रद्वारा प्रतीत नहीं होते हैं। यानी सूर्य आदिके विमानोंसे राहु विमान बडे हैं। अनेक अन्तरित पदार्थोंमें आगम प्रमाणका ही साम्राज्य है। सर्वत्र युक्तियोंके प्रदर्शनकी टेव रखना प्रशस्त नहीं है। प्रकरणमें यह कहना है कि एक योजनके इकसठि भागोंमें अडतालीस भागप्रमाण लम्बे, चौडे, और उस चौडाईसे कुछ अधिक तिगुनी परिधिवाले तथा चौडाईसे आधी चौबीस बटे इकसठि योजन मोटाईवाले असंख्याते सूर्य विमान हैं। तिस ही प्रकार छप्पन बटे इकसठि योजन चौडाई, लम्बाईवाले अर्द्ध गोल और उसके कुछ अधिक तिगुनी परिधिवाले तथा अट्ठाईस बटे इकसठि बडे योजनप्रमाण मोटाईको धार रहे असंख्यात, चन्द्र विमान हैं। तथा इनके नीचे कुछ आगे पीछे वर्त रहे पूरे बडे एक योजनकी लम्बाई चौडाईको धार रहे और कुछ अधिक तीन योजन परिधिवाले तथा ढाई सौ बडे धनुष प्रमाण मोटाईको धार रहे राहुविमान हैं। इस प्रकार लोकानुयोग शास्त्रोंद्वारा सुना जा रहा है। अर्थात्—सूर्यका विमान बडे योजनोंसे अडतालीस बटे इकसठि योजन लम्बा चौडा और इससे आधा मोटा आधे लड्डूके समान गोल है। नीचेकी ओर गोलाई है। और ऊपरली ओर सपाट तलपर अनेक देवोंके महल बने हुये हैं। उन सबका अधिष्ठाता एक सूर्य देव (प्रतीन्द्र) है। इस सूर्य विमानकी परिधि एकसौ इक्यावन बटे इकसठि बडे योजनकी है। और चन्द्रमाका विमान छप्पन बटे इकसठि योजन ठीक आधे मोदकके समान है। इसकी परिधि एकसौ सतहत्तरि बटे इकसठि योजन जान लेनी चाहिये।

राहु या अरिष्ट विमानकी लम्बाई, चौडाई, इनसे बडी पूरा एक योजन है जिसकी परिधि तीन सही एक बटे छह योजन होजाती है। हां, मोटाई राहु विमानकी केवल बडे ढाईसौ धनुष प्रमाण है। काले राहु विमानों करके सूर्य, चन्द्रमाओंकी किरणोंका फैलना यानी उनके निमित्तसे अन्य पुद्गल पिण्डोंका चमक जाना रुक जाता है। यही ग्रहण पडनेका रहस्य है। भले ही ग्रहण दिन शुभकार्योंमें ग्राह्य नहीं है, फिर भी सूतक, पातकका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जो कि पौराणिक वैष्णव पण्डितोंने मान रखा है।

ततो न चंद्रबिंबस्य सूर्यबिंबस्य वाऽर्धग्रहोपरागो कुंठविषाणत्वदर्शनं विरुध्यते। नाप्यन्यदा तीक्ष्णविषाणत्वदर्शनं व्याहन्यते राहुविमानस्यातिवृत्तस्य अर्धगोलकाकृतेः परभागेनोपरक्ते समवृत्ते अर्धगोलकाकृतौ सूर्यबिंबे चंद्रबिम्बे तीक्ष्णविषाणतया प्रतीतिघटनात्। सूर्याचंद्रमसां राहूणां च गतिभेदात्तदुपरागभेदसंभवाद्ग्रहयुद्धादिवत्। यथैव हि ज्योतिर्गतिः सिद्धा तथा ग्रहोपरागादिः सिद्ध इति स्याद्वादिनां दर्शनं।

तिस कारण चन्द्रबिम्ब अथवा सूर्यबिम्बका आधा ग्रहोपराग होना या मौथरे सींग समान दीखना, स्थूलनोंकवाले, हँसिया सारिखा दीखना, आदि विरुद्ध नहीं घटते हैं। तथा अन्य समयोंमें सूर्य या चन्द्रमाका तीक्ष्ण (पैने) विषाणपने करके दीखना भी व्याघात दोषवान् नहीं है। कारण कि राहुका विमान अत्यधिक रूपसे ठीक गोल है। चपटे आधे गोलेकी आकृतिवाले राहुविमानके परभाग करके उपरागको प्राप्त होरहे चारों ओर समान गोल और नीचे अर्धगोल आकृतिवाले सूर्यबिंब या चन्द्रबिम्बमें तीक्ष्ण सींगके स्वरूप करके प्रतीति होना घटित होजाता है। गोल रुपयेपर कुछ हटाकर दूसरा गोल रुपया धर दिया जाय तो ऐसी दशामें नीचले रुपयेका भाग पैना सींगवाला दीख जायगा। कोई विरोध नहीं आता है। चमकदार पदार्थोंकी कान्ति या आवरण पडना संध्यारागके समान अनेक ढंगोंसे होजाता है। सूर्य और चन्द्रमा तथा नीचे वर्त रहे राहु विमानोंकी गतिका भेद होजानेसे उन उनके उपरागोंमें भेद होना सम्भव जाता है जैसे कि केतु, मंगल आदि ग्रहोंके युद्ध, संक्रमण आदि उनकी विशेष गतिओं अनुसार होजाते हैं। चूंकि जिस ही प्रकार युक्तियों द्वारा ज्योतिष्क विमानोंकी गति सिद्ध है, उसी प्रकार ग्रहों द्वारा होरहे उपराग आदि भी प्रसिद्ध हैं। यों स्याद्वादियोंका दार्शनिक सिद्धान्त है। जोकि त्रिलोक त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ आप्त द्वारा प्रतिपादित होरहा अबाधित है। अतएव विचारशीलोंको उसपर अटल श्रद्धान करना चाहिये।

न च सूर्यादिविमानस्य राहुविमानेनोपरागोऽसंभाव्यः, स्फटिकस्येव स्वच्छस्य तेनासितेनोपरागघटनात्। स्वच्छत्वं पुनः सूर्यादिविमानानां मणिमयत्वात्। तप्ततपनीयसमप्रभाणि लोहिताक्षमणिमयानि सूर्यविमानानि, विमलमृणालवर्णानि चंद्रविमानानि अंकमणिमयानि अंजनसमप्रभाणि राहुविमानानि अरिष्टमणिमयानीति परमागमसद्भावात्।

सूर्य आदि विमानका राहुके विमान करके उपराग यानी धुंधली कान्तिवाला या कान्तिरहित होजाना असम्भव करने योग्य नहीं है। क्योंकि स्वच्छ स्फटिकका जैसे लाल जपापुष्पसे उपराग होजाता है, उसी प्रकार अंजन समान काले उस राहु विमान करके सूर्यादिका उपराग होना सम्भव जाता है। सूर्य आदि विमानोंका स्वच्छपना तो फिर मणिमय होनेके कारण व्यवस्थित है। तपाये गये लाल सुवर्णके समान प्रभाको धारनेवाले और लोहिताक्ष मणिकी प्रचुरताके धारी अनेक सूर्य विमान हैं। और निर्मल मृणाल (कमलकी डंडी) समान वर्णवाले और मध्यमें कतिपय काले मणियुक्त चिन्होंको गोदमें धार रहे अनेक चन्द्रविमान हैं। एवं अंजनके समान प्रभाके धारी काली अरिष्टमणिके प्राचुर्यको लिये हुये असंख्याते राहुविमान हैं। इस प्रकार सर्वज्ञोक्त परम आगमका सद्भाव है। भावार्थ—सूर्यका विमान तपाये सुवर्णके समान कुछ रक्तिमा लिये हुये चमकदार हैं। इससे बारह हजार उष्ण किरणें नैमित्तिक बनती रहती हैं। सूर्य, चन्द्रमा, शुक्र, आदि ज्योतिष्क विमान मूलमें उष्ण नहीं हैं। केवल सूर्य, मंगल, अग्निज्वाल, अगस्त्य आदि विमानोंकी प्रभायें उष्ण हैं। चन्द्रमाकी तो प्रभा भी शीतल है। चन्द्र विमान कुछ हरितपनको लिये हुये चमकदार हैं। चन्द्रमाकी बारह हजार शीतल किरणें हैं। चन्द्र विमानोंके बीचमें कई काले नीले मणिमय चिन्ह हैं तथा राहुका विमान अंजनसमान कुछ कालिमाको लिये हुये है। जैनसिद्धान्त यह है कि सूर्य चन्द्र विमानोंके अधोभागमें कुछ अन्तराल देकर कदाचित् राहुविमान आ जाते हैं। अतः उनकी प्रभा नीचेकी ओर नहीं फैल पाती हैं। हां, अपने पूर्ण स्वरूपमें वे सर्वदा अक्षुण्ण रहते हैं। यथायोग्य नीचेके पुद्गल स्कन्धोंपर चाकचक्य नहीं पड पाता है, जैसे कि डिबियामें धरे हुये रत्नकी कान्ति चारों ओर नहीं फैल पाती है। अथवा राहुके पूर्णरीत्या या कुछ भाग नीचे आ जानेपर परिस्थिति अनुसार स्वभावसे ही वैसी अत्यल्प कान्ति हो जाती है। स्वच्छ पदार्थके उन्मुख दृष्टा और दृश्यके अन्तरालमें पडे हुये काले नीले या धुंधले पदार्थ आ रही नैमित्तिक कान्तिको रोक देते हैं। ये सब बातें प्रत्यक्षसिद्ध हैं। यहां कुतर्कोंकी गति नहीं है। प्रत्यक्षप्रमाण और परमागम प्रमाणसे बाधित हो रहे कुसिद्धान्तोंका परीक्षकोंके हृदयमें आदर नहीं है।

शिरोमात्रं राहुः सर्पाकारो वेति प्रवादस्य मिथ्यात्वात् तेन ग्रहोपरागानुपपत्तेः वराहमिहरादिभिरप्यभिधानात्।

राहु नामक एक विमान है जो कि कृष्ण या शुक्लपक्षमें चन्द्रमाके नीचे भ्रमण कर रहा दीखता रहता है। इस विमानके ऊपर अनेक सुन्दर प्रासाद बने हुये हैं। उनमें अपने परिवारसहित एक राहु नामका सुन्दर, दिव्य शरीरधारी, अधिष्ठाता निवास करता है। जो कोई पौराणिक पण्डित ऐसा कह रहे हैं कि ऊपरका केवल सिरका भाग राहु है और नीचेका धड केतु है। अर्थात्—पुराणचर्चा है कि विष्णु जब अमृतको बांट रहे थे उस समय राहु नामका एक राक्षस देवताका वेष धारण कर देवोंकी पंक्तिमें आ बैठा था, मोहिनी रूपधारी विष्णु भगवान्ने उसको अमृत परोस

दिया। वह झट पी गया। इस अवसरपर सूर्य और चन्द्रमाने पैशून्य (चुगली) कर दिया। विष्णुने क्रोधवश हो करके राहुका शिर काट डाला। किन्तु वह अमृत पी चुका था। अतः मरा नहीं। इसी कारण सूर्य और चन्द्रमाको राहु और केतु ग्रस लेते हैं। कोई राहुका आकार सर्प सरीखा मानते हैं। किन्तु ये सम्पूर्ण प्रवाद मिथ्या हैं। ऐसे ऊपर राहु या केतु करके ग्रहों द्वारा उपराग होना नहीं बनता है। वराहमिहर, आदि विद्वानोंने भी ऐसा ही कहा है। बृहत्संहितामें लिखा है, " एवमुपरागकारण-मुक्तमिदं दिव्यदृग्भिराचार्यैः राहुरकारणमस्मिन्नित्युक्तः शास्त्रसद्भावः "।

कथं पुनः सूर्यादिः कदाचिद्राहुविमानस्यार्वाग्भागेन महतोपरज्यमानः कुंठविषाणः स एवान्यदा तस्यापरभागेनाल्पेनोपरज्यमानस्तीक्ष्णविषाणः स्यादिति चेत्, तदाभियोग्यदेवगाते-विशेषात्तद्विमानपरिवर्तनोपपत्तेः। षोडशभिर्देवसहस्रैरुह्यंते सूर्यविमानानि प्रत्येकं पूर्वदक्षिणोत्तरापरभागात् क्रमेण सिंहकुंजरवृषभतुरंगरूपाणि विकृत्य चत्वारि देवसहस्राणि वहंतीति वचनात्। तथा चंद्रविमानानि प्रत्येकं षोडशभिर्देवसहस्रैरुह्यंते, तथैव राहुविमानानि प्रत्येकं चतुर्भिर्देवसहस्रैरुह्यंते इति च श्रुतेः।

जैनोंके ऊपर कोई आक्षेप करता है कि यदि ग्रहोपरागकी व्यवस्था यों है तो फिर बताओ कि सूर्य आदिक कभी कभी राहुविमानके उरले बडे भाग करके उपरागको प्राप्त हो रहे सन्ते तिस प्रकार मौथरे सींग सरिखे आकारवाले कैसे हो जाते हैं ? और वही सूर्य आदिक अन्य समयोंमें उस राहुके परले छोटे भागकरके उपरागको प्राप्त हो रहे सन्ते भला पैने सींगसारिखे आकारवाले कैसे दीखने लग जाते हैं ? बताओ, यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि उन अवसरोंपर उन विमानोंके वाहक आभियोग्य जातिके देवोंकी गति विशेषसे उन सूर्य आदि विमानोंका परिवर्तन बन जाता है। देखो, सोलह हजार देवों करके सूर्य विमान धारे जाते और चलाये जाते हैं। प्रत्येक सूर्यको एक एक पूर्व, दक्षिण, उत्तर और पश्चिम भागोंसे क्रम करके सिंह, हाथी, बैल, और घोडेके रूप अनुसार विक्रिया कर चार चार हजार देव धारे रहते हैं, ऐसा शास्त्रोंका वचन है। यानी पूर्वकी ओर चार हजार देव सिंहका रूप धारण कर सूर्यको चला रहे हैं। नियत गतिसे इधर उधर नहीं होने देते हैं। दक्षिण दिशामें हाथियोंका रूप धारे हुये चार हजार आभियोग्य देव सूर्यको नियतगति अनुसार ढो रहे हैं। उत्तरमें बैलका रूप धार रहे चार हजार देव सूर्य विमानको नियत व्यवस्था अनुसार लादे हुये हैं। तथा पश्चिम भागसे अश्वरूपधारी चार सहस्र देव सूर्यको डाटे हुये हैं। मनुष्यों द्वारा चलायी गयी पर्वतीय गाडीको जिस प्रकार चारों ओरसे लगा कर मनुष्य ढोते हैं, उसी प्रकार सूर्यविमानोंकी व्यवस्था है। तिसी प्रकार चन्द्रविमान भी प्रत्येक सोलह हजार देवों करके ढोये जाते हैं। उस ही प्रकार राहुविमान भी एक एक चार हजार देवों करके धारे जाते हैं।

इस प्रकार आप्तोपज्ञ शास्त्रोंसे निर्णीत किया जाता है। अतः ऊंचा नीचा, टेढा, मेढा, गमन हो जानेसे कुण्ठविषाण या तीक्ष्णविषाण सारिखा हो गया ग्रहोपराग प्रतीत हो जाता है।

तदाभियोग्यदेवानां सिंहादिरूपविकारिणां कुतो गतिभेदस्तादृक् इति चेत्, स्वभावत एव पूर्वोपात्तकर्मविशेषनिमित्तकादिति ब्रूमः। सर्वेषामेवमभ्युपगमस्यावश्यंभावित्वादन्यथा स्वेष्टविशेषव्यवस्थानुपपत्तेः तत्प्रतिपादकस्यागमस्यासंभवद्बाधकस्य सद्भावाच्च।

यदि यहां कोई यों प्रश्न करे कि उन सूर्य आदिके वाहक सिंह आदि रूपोंकी विक्रियाको धारनेवाले आभियोग्य देवोंकी तिस प्रकारकी विशेष गति भला किस कारणसे होजाती है ? यों पूछनेपर तो हम सगौरव यह उत्तर कहते हैं कि स्वभावसे ही उन देवोंकी वैसी वैसी गति होजाती है। वायु या रक्तकी होरहीं गतियोंपर कुचोद्य चलाना व्यर्थ है। दो चार कोटीसूक्ष्म कारण बताते हुये भी अन्तमें जाकर स्वभावपर ही टिककर सन्तोष प्राप्त होता है। पूर्व जन्मोंमें उपात्त किये गये कर्मविशेषोंका निमित्त पाकर उन आभियोग जातीय देवोंकी स्वभावसे ही वैसी वैसी नाना प्रकारकी गति होजाती है, जिससे कि शुक्लपक्षकी द्वितीयाको कभी ऊंचे खड्ग समान, कभी तिरछे खड्ग समान, कदाचित् मौथरा, पैना, सींगसारिखा चन्द्रमा दीख जाता है। ग्रहणमें भी ऐसी ही दशा प्राप्त हो जाती है। ग्रहणके अवसरपर किरणों या कलाओंके ढक जानेकी अपेक्षा यह सिद्धान्त सर्वांगसुंदर प्रतीत होता है कि वैसी परिस्थिति अनुसार उतनी ही मन्दकान्ति स्वभावसे ही उपज जाती है। जैसे कि गाढ अन्धकार होजानेपर दर्पणमें प्रतिबिंब नहीं पडता है, या प्रयोगके विना पानी ऊपरको नहीं चढता है। सम्पूर्ण वादी प्रतिवादियोंके यहां इस प्रकार स्वभावका स्वीकार करना आवश्यक रूपसे होनेवाला कार्य है। अग्निज्वालाका स्वभाव ऊपरको जाना है, गुरुपदार्थ अधःपतन स्वभाव वाले हैं। ज्ञान आत्माका स्वभाव है। पुद्गलके स्वभाव रूप आदिक हैं। यों सभीको वस्तुओंके स्वभाव मानने पडते हैं। अन्यथा अपने अभीष्ट विशेष तत्त्वोंकी व्यवस्था नहीं बन सकती है। दूसरी बात यह है कि उन वाहक आभियोग्य देवोंकी गतिविशेषका प्रतिपादन करनेवाला आगम विद्यमान है। जिसके कि बाधक प्रमाणोंका असम्भव होरहा है। ज्योतिषशास्त्रके विषयमें आगमकी शरण प्रायः सबको लेनी पडती है। इसके विना कोई ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष दर्शनका अभिमान (शेखी) बखाननेवाले दो दो चार चार जन्मतक भी एक नक्षत्रकी मुक्तिका भी निर्णय नहीं कर सकते हैं। सम्पूर्ण ज्योतिषशास्त्रका जानना तो अतीव दुर्लभ है। हां, त्रिलोक त्रिकालज्ञ आप्तके द्वारा कहे गये शास्त्रों द्वारा स्तोककालमें पूर्ण निर्णय कर लिया जाता है।

गोलाकारा भूमिः समरात्रादिदर्शनान्यथानुपपत्तेरित्येतद्बाधकमागमस्यास्येति चेत् न, अत्रहेतोरप्रयोजकत्वात्। समरात्रादिदर्शनं हि यदि तिष्ठद्भूमेर्गोलाकारतायां साध्यायां हेतुस्तदा न प्रयोजकः स्यात् भ्राम्यद्भूमेर्गोलाकारतायामपि तदुपपत्तेः। अथ भ्रमद्भूमेर्गोलाकारतायां साध्यायां तथाप्यप्रयोजको हेतुस्तिष्ठद्भूगोलाकारतायामपि तदघटनात्।

कोई भूभ्रमणवादी कटाक्ष करते हैं कि भूमि (पक्ष) गोल आकारवाली है (साध्य) क्योंकि समान रात दिन होना, दिनका घटना बढना, रातका घटना बढना, अनेक देशोंमें एक ही समय न्यारी तिरछी टेढी, आदि छायाओंका पडना, ग्रहोपराग होना आदिका दर्शन अन्यथा यानी गोल भूमिको माने विना बन नहीं सकता है (हेतु) यह अनुमान आप जैनोंके इस उक्त आगमका बाधक खडा हुआ है। फिर आपने स्वकीय आगमको बाधकरहित कैसे कहा ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि इस अनुमानमें कहा गया हेतु अप्रयोजक है। अपने साध्यके साथ नियतव्याप्तिको नहीं धार रहा है। विचारिये कि समरात्र आदिका दीख जाना यदि ठहर रही भूमिके गोल आकार होनेको साध्य करनेमें हेतु है ? तब तो हेतु साध्यका प्रयोजक नहीं हो सकेगा। व्यभिचार दोष आता है। भ्रमण कर रही भूमिके गोल आकार होनेमें भी वह समरात्र आदिका दीख जाना बन सकता है। अतः विपक्षसे व्यावृत्त नहीं होनेके कारण तुम्हारा हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है। अब यदि तुम भूभ्रमण-वादी बनकर सूर्यके चारों ओर घूम रही भूमिके गोल आकार होनेको साध्य करनेमें उस हेतुका प्रयोग करोगे तो भी तुम्हारा हेतु अनुकूल कालका नहीं है। क्योंकि ठहर रही भूमिके गोल आकार होनेपर भी वह समरात्र आदिका दीख जाना घटित हो जाता है। फिर भी व्यभिचार दोष तदवस्थ रहा, जैसे कि सौन्दर्यको साधनेमें धनिकपना हेतु व्यभिचारी है। समान दिन रात आदिका दीखना तो भूमिकी चल और अचल दोनों दशाओंमें सध जाते हैं। ऐसे विपक्षवृत्ति हेतुसे भूमि गोल आकारवाली नहीं सध पाती है।

अथ भूसामान्यस्य गोलाकारतायां साध्यायां हेतुस्तथाप्यगमकस्तिर्यक्सूर्यादिभ्रमण-वादिनामर्धगोलकाकारतायामपि भूमेः साध्यायां तदुपपत्तेः। समतलायामपि भूमौ ज्योतिर्गति-विशेषात्समरात्रादिदर्शनस्योपपादितत्वाच्च । नातः साध्यसिद्धिः कालात्ययापदिष्टत्वाच्च । प्रमाणबाधितपक्षनिर्देशानंतरं प्रयुज्यमानस्य हेतुत्वेतिप्रसंगात्। ततो नेदमनुमानं हेत्वाभासोत्थं बाधकं प्रकृतागमस्य येनास्मादेवेष्टसिद्धिर्न स्यात्।

अब यदि तुम यों कहो कि भूमिके ठहरने या घूमनेका विशेष विचार नहीं कर भूमि सामान्यके गोल आकारसहितपनको साध्य करनेमें वह हेतु कहा जायगा ग्रन्थकार कहते हैं कि तो भी तुम्हारा हेतु साध्यका ज्ञापक नहीं है। क्योंकि सूर्य आदिका तिरछा भ्रमण कहनेवाले या पृथिवीका सूर्यादिके ऊपर तिरछा भ्रमण कह रहे पण्डितोंके यहां भूमिके आधे गोल आकार होनेको भी साध्य करनेपर वह सम रात आदिका दीखना बन जाता है। अर्थात्—पूरा गोल आकार या आधा गोल आकार दोनों प्रकार भूमिकी रचना माननेपर वह हेतु बन जाता है। अतः फिर भी व्यभिचार दोष तदवस्थ रहा। दूसरी बात यह है कि दर्पणके समान समतल हो रही भूमिमें भी ज्योतिष्क विमानोंकी विशेष विशेष गतियोंसे समरात्र आदिका दीखना युक्त सिद्ध कर दिया गया है। अर्थात—सात राजू लम्बी एक राजू

चौडी और एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी इस हमारे तुम्हारे आश्रय हो रही रत्नप्रभा भूमिको या इस छोटेसे भरतक्षेत्रको सपाट समतल मान लिया जाय तो भी प्रत्यक्ष ऊपर दीख रहे इन ज्योतिष्क विमानोंकी गति अनुसार समान दिन रात आदि हो जाते हैं। इन सिद्धान्तोंको साधनेमें अभी पूर्व ग्रन्थद्वारा हम उपपत्ति दे चुके हैं। इस कारण इस समरात्र आदि दीखनास्वरूप हेतुसे भूमिके गोल आकार साध्यकी सिद्धि नहीं होसकती है। व्यभिचारके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि तुम्हारा हेतु कालात्ययापदिष्ट यानी बाधित हेत्वाभास है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण और आगमप्रमाणसे बाधे जाचुके प्रतिज्ञाकथनके अनन्तर प्रयुक्त होरहा है। यदि प्रमाणबाधित पक्षके होनेपर भी पुनः बलात्कारसे हेतुका प्रयोग कर दिया जायगा तो अतिप्रसंग दोष बन बैठेगा। "अग्निरनुष्णः द्रव्यत्वात्, प्रेत्य दुःखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वात्" आदि असत् हेतु भी समीचीन हेतु बन जायेंगे। तिस कारण हेत्वाभाससे उत्पन्न हुआ यह तुम्हारा अनुमान हम जैनोंके प्रकरणप्राप्त आगमका बाधक नहीं है। जिससे कि इस आगमसे ही हमारे इष्ट सिद्धान्तकी सिद्धि नहीं होजाती। अर्थात्—आप्तोपज्ञ आगम द्वारा ज्योतिष्क देवोंकी गति, भूमिका समतल आकार, आदिक सब सध जाते हैं। व्यर्थकी शंकाओंमें कोई लाभ नहीं है। कतिपय यूरोपीय विद्वान भी पृथिवीको अचल सिद्ध करनेके लिये अनेक युक्तियों द्वारा उन्मुख होरहे हैं। अन्तमें जाकर सबको वही सर्वज्ञोक्त आम्नाय अनुसार सिद्धान्त मानना पडेगा।

ज्योतिःशास्त्रमतो युक्तं नैतत्स्याद्वादविद्विषां ।
संवादकमनेकांते सति तस्य प्रतिष्ठिते ॥ १७ ॥

इस कारण स्याद्वादियोंके यहां ज्योतिषशास्त्र युक्तिपूर्ण सध जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्तके साथ विद्वेष रखनेवाले पण्डितोंके यहां यह ज्योतिषशास्त्र समुचित होकर सम्वादक नहीं व्यवस्थित होरहा है। क्योंकि अनेकान्तसिद्धान्तके प्रतिष्ठाप्राप्त हो चुकनेपर उस ज्योतिषशास्त्रका सम्वादकपना निर्णीत होता है। बाधकप्रमाणोंसे रहितपना या सफलप्रवृत्तिका जनकपनास्वरूप संवाद तो पदार्थोंमें अनेक धर्म माननेपर ही घटित होता है।

न हि किंचित्सर्वथैकांते ज्योतिःशास्त्रे संवादकं व्यवतिष्ठते प्रत्यक्षादिवत् नित्याद्येकांतरूपस्य तद्विषयस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वाभावात् तस्य दृष्टेष्टाभ्यां बाधनात्। ततः स्याद्वादिनामेव तद्युक्तं, सत्यनेकांते तत्प्रतिष्ठानात् तत्र सर्वथा बाधकविरहनिश्चयात्।

ज्योतिषशास्त्रको सर्वथा एकान्तस्वरूप मान लिया जावे तो कुछ भी सूर्यग्रहण आदि परिणाम बाधारहित सिद्ध नहीं होते हैं। जैसे कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें संवादकपना सर्वथा एकान्तपक्ष माननेपर घटित नहीं होता है। अथवा सर्वथा एकान्त पक्षमें ज्योतिषशास्त्र सफल प्रवृत्तिका जनक नहीं बन पाता है। जैसे कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिक प्रमाण सर्वथा एकान्त माननेपर संवादक नहीं है।

उस तुम्हारे ज्योतिष शास्त्रके विषय होरहे नित्यपन, चलपन, आदि एकान्तरूपोंके बाधक प्रमाणोंके असंभवनेका अच्छा निर्णय नहीं होचुका है। क्योंकि उन एकान्तस्वरूपकी प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोंसे बाधा होजाती है। तिस कारण स्याद्वादियोंके यहां ही वह ज्योतिषशास्त्र समुचित माना गया है। कारण कि अनेकान्त होनेपर ही उस ज्योतिषशास्त्रकी प्रतिष्ठा है। जैनोंके अनेकान्त आत्मक उस ज्योतिषशास्त्रमें सभी प्रकारोंसे बाधक प्रमाणोंके विशेषतया रहितपनका निश्चय होरहा है। यहांतक विद्यानन्द स्वामीने गम्भीरयुक्तियों और आम्नायप्राप्त शास्त्रों द्वारा ज्योतिषविषयका निर्णय करा दिया है। मुझ स्तोकबुद्धि भाषाकारने स्वकीय स्वल्प क्षयोपशम अनुसार आचार्य महाराजके शब्दोंका तात्पर्य लिखा है। किन्तु मुझसे यथायोग्य विवरण नहीं होसका है। विशेषज्ञ विद्वान् इस विषयपर अच्छी छानबीन कर जैनसिद्धान्तकी प्रभावना करें, यह मेरी समीचीन भावना है। जिनोक्त, लोकानुयोग, अतीव गम्भीर महोदधि है। उसमें जितना भी गहरा प्रविष्ट होकर अन्वेषण किया जावेगा, उतनी ही अटूट प्रमेयरत्नोंकी प्राप्ति होती जावेगी।

इत्यलं प्रतिभाशालिभ्यो महोदयेभ्यो नीरक्षीरविवेचनहंसायमानेभ्यः ॥

अब इस समय श्री उमास्वामी महाराज मनुष्य लोकस्थ ज्योतिष्कोंकी गतिके सम्बन्ध करके जगत्भरमें प्रवर्त रहे व्यवहार कालकी प्रतिपत्ति करानेके लिये अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

उन गतिमान् ज्योतिषियों करके किया जाचुका समय, आवलि, उच्छ्वास, मुहूर्त आदि व्यवहार कालोंका विभाग होरहा है।

किं कृत इत्याह।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि उन ज्योतिषी देवोंकरके क्या किया गया है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिकको कहते हैं।

ये ज्योतिष्काः स्मृता देवास्तत्कृतो व्यवहारतः।
कृतः कालविभागोयं समयादिर्न मुख्यतः ॥ १ ॥
तद्विभागान्तया मुख्यो नाविभागः प्रसिद्धयति।
विभागरहिते हे तौ विभागो न फले क्वचित् ॥ २ ॥

त्रिलोक त्रिकालदर्शी तीर्थंकर श्रीजिनेन्द्रनाथ भगवान् समवसरणमें विराजकर भव्यजीवोंको तत्त्वोंका उपदेश देते हैं। द्वादशांग वेत्ता गणधरदेव उस अर्थका स्मरण रख कर श्रुतज्ञान द्वारा उसको

गूंथते हैं। पश्चात्—अनेक आचार्य आम्नाय द्वारा स्मरण होते चले आ रहे उस प्रमेयको शास्त्रोंमें लिपिबद्ध करते हैं। अतः सर्वज्ञोक्त अर्थका अविच्छिन्न सम्प्रदाय द्वारा स्मरण कर परिज्ञात हो रहे शास्त्रोक्त अर्थको स्मृत यानी स्मरण किया जा चुका ऐसे कहनेकी परिपाटी चली आ रही है। अजैन विद्वान् भी ईश्वरोक्त या वेदोक्त अर्थोंको मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, पाराशर स्मृति आदि ग्रन्थोंमें ग्रन्थकर्त्ता ऋषियों द्वारा स्मरण किया जाकर लिपिबद्ध कर दिया गया मानते हैं। गुरुपरिपाटी अनुसार श्री उमास्वामी महाराज करके जो ज्योतिष्क देव स्मरणपूर्वक कहे जा चुके हैं, उन देवों करक गति द्वारा किया गया यह समय, आवलिका, दिन, वर्ष, आदि स्वरूप कालविभाग व्यवहारसे नियमित किया गया समझना चाहिये। मुख्यरूपसे यह कालविभाग ज्योतिष्कों करके नहीं किया जा सकता है। अर्थात्—मुख्य कालद्रव्य तो नित्य है। किसी द्वारा किया नहीं जा सकता है। हां, व्यवहारकालोंकी नापको ज्योतिष्कों द्वारा साधा जाता है। किन्तु यह अवश्य है कि उस व्यवहार कालके समय आवलि आदि विभागोंसे मूल कारण वह मुख्य काल तो विभाग रहित नहीं प्रसिद्ध हो पाता है। तिस प्रकार व्यवहारकालोंके अनन्तानन्त भेद, प्रभेद, स्वरूप विभागोंके समान मुख्यकाल भी द्रव्यरूपसे असंख्यात विभागोंको धार रहा है। क्योंकि यदि हेतुको विभाग रहित माना जायगा तो फल यानी कार्यमें कहीं भी विभाग नहीं हो सकता है। विभागवाले कारण ही विभागवाले कार्योंको उत्पन्न कर सकते हैं।

विभागवान् मुख्यः कालो विभागवत्फलनिमित्तत्वात् क्षित्यादिवत्।

ग्रन्थकार अनुमान बनाते हैं कि मुख्यकाल (पक्ष) विभागोंको धारता है (साध्य)। विभागवाले फलोंका निमित्त कारण होनेसे (हेतु) पृथिवी, जल, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्—नाना जातिवाली पत्थर, मट्टी, लोहा आदि पृथिवियोंसे जैसे चूना, घडा, सांकल, आदि विभक्त कार्य बनते हैं, अथवा मेघजल, क्षारकूपजल, नदीजल, समुद्रजल, भिन्नदेशीय जल, आदिसे किसान या माली जैसे भिन्न भिन्न प्रकारके वनस्पति आदि कार्योंकी उत्पत्ति कराते हैं, उसी प्रकार विभागयुक्त कालद्रव्य ही विभागवाले व्यवहारकालोंको फलस्वरूप उपजा सकेगा। हां, यह बात दूसरी है कि अनन्तानन्त जीवोंसे अनन्तगुणे पुद्गलद्रव्य हैं और पुद्गलद्रव्योंसे भी अनन्तगुणा व्यवहारकाल है। किन्तु निश्चयकालद्रव्य तो लोकप्रदेशप्रमाण असंख्यात ही हैं। फिर भी मूलमें असंख्यात द्रव्यों करके बहिरंग उपाधियों द्वारा कार्योंके अनन्तानन्त भेद किये जा सकते हैं। मूलमें विभागरहित हो रहे कोरे एक द्रव्यसे असंख्यात या अनन्त भेद नहीं हो सकते हैं। यहां इस समय ग्रन्थकारको केवल विभागवान् कारणसे ही विभागवान् कार्योंकी सिद्धि कराना अभीष्ट है। वैशेषिक या नैयायिक कालद्रव्यको एक ही मानते हैं। उनके प्रति इस अनुमानका प्रयोग है। जो विद्वान् पक्षपात रहित होकर सूक्ष्मतत्त्वोंके जाननेमें अवगाह करेगा, उसके प्रति लघु उपाय करके असंख्य मूल कारणोंसे अनन्तस्वभावों द्वारा अनन्तानन्त फलोंकी सिद्धि झटिति कराई जा सकती है। सूक्ष्म परम

अतीन्द्रिय छोटी छोटी गलियोंमें या सिद्धान्तसम्बन्धी उन्नत सतखने प्रासादोंके ऊपर भी अनुमान स्वरूप गजरथोंपर चढकर चलनेका आग्रह किये जाना केवल बालकपन है। व्याप्तिग्रहण, व्याप्तिस्मरण, हेतुदर्शन, पक्षधर्मता ज्ञान, आदि सामग्री स्वरूप मोटे शरीरको धारनेवाला विचारा अनुमान उस सूक्ष्म सिद्धान्तोंमें नहीं प्रवेश कर सकता है। जो कि परम अतीन्द्रिय हैं, वहां श्रुतज्ञान या सब ज्ञानोंके गुरुमहाराज केवलज्ञानका ही प्रवेशाधिकार है।

समयावलिकादिविभागवद्व्यवहारकाललक्षणफलनिमित्तत्वस्य मुख्यकाले धर्मिणि असिद्धत्वात् नाप्याश्रयासिद्धः, सकलकालवादिनां मुख्यकाले विवादाभावात् तदभाववादिनां तु प्रतिक्षेपात्। गगनादिनानैकांतिकोऽयं हेतुरिति चेन्न, तस्यापि विभागवदवगाहनादिकार्योत्पत्तौ विभागवत एव निमित्तत्वोपपत्तेः।

मन्दगति द्वारा एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर परमाणुके पहुंचनेमें जितना काल लगता है, वह समय कहा जाता है। असंख्यात समयोंका पिण्ड आवलि काल है। संख्यात आवलियोंका एक श्वास होता है। तीन हजार सातसौ तिहत्तर श्वासोंका मुहूर्त होता है। तीस मुहूर्तका दिन रात होता है। तीनसौ पैंसठि या तीनसौ छियासठि दिनोंका एक सौरवर्ष होता है। पूर्व, पल्य, सागर, कल्प कालोंकी भी गणना कर लेना। यहां हेतुकी निर्दोषता दिखलानी है कि समय, आवलि, नाडी, श्वास, आदि विभागवाले व्यवहारकालस्वरूप अनेक फलोंका निमित्तकारणपना यह हेतु मुख्यकाल द्रव्य स्वरूप पक्षमें प्रसिद्ध हो रहा है। अतः हम जैनोंका हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं है। हेतुके पक्षमें वर्तजाने मात्रसे स्वरूपासिद्धि दोषका निराकरण हो जाता है। तथा हमारा उक्त हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। क्योंकि कालको स्वीकार करनेवाले सम्पूर्ण वादी विद्वानोंके यहां मुख्यकालको स्वीकार करनेमें कोई विवाद नहीं उठाया गया है। हां, उस मुख्यकालका अभाव माननेवाले चार्वाक, श्वेताम्बर आदि वादी विद्वानोंका तो युक्तियों द्वारा तिरस्कार (निराकरण) कर दिया जाता है। ग्रन्थकर्ताके सम्मुख इस समय कालको माननेवाले विद्वान् उपस्थित हैं। जब कालको सर्वथा नहीं माननेवाले वादी कोई आक्षेप करेंगे तब दूसरे अनुमानों द्वारा उसको समझा दिया जायगा। उतावले नहीं बनो, धीरतापूर्वक ग्रन्थकारके अपूर्व प्रमेयोंका गम्भीरबुद्धिसे परिशीलन करो, जो कि सद्बोधका निदान है। यहां कोई आक्षेप करता है कि तुम जैनोंका यह विभागवाले फलोंका निमित्तपना हेतु तो आकाश, दिशा, धर्मद्रव्य, आदि करके व्यभिचारदोषवान् है। देखो, अखण्ड गगन आदिक स्वयं विभागवाले नहीं होते हुये भी विभागवाले अवगाह्य, पूर्व-पश्चिमवर्त्ती, गमनयोग्य, इन विभागवाले फलोंके निमित्त कारण हो जाते हैं। एक अखण्ड आकाशमें छोटे छोटे परिमाणवाले अनेक विभक्त पदार्थ ठहर जाते हैं, इत्यादि। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि विभागवाले ही उन आकाश, दिशा, धर्मद्रव्य आदिकोंको भी विभागवाले गृह आदिके अवगाहनरू

गमन, आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तपना बन रहा है। आकाश, धर्मद्रव्य, इन सबके प्रदेश माने गये हैं। अपने न्यारे न्यारे प्रदेशोंपर न्यारे न्यारे अवगाह्योंको आकाश अवगाह दे रहा है। एक प्रदेशमें अनन्त जीव भी ठहर सकते हैं। इसके लिये भी अनन्तानन्त स्वभावोंकी शरण लेना अष्टसहस्रीमें पुष्ट कर दिया गया है। अतः हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है।

ननु च यद्यवयवभेदो विभागस्तदा नासौ गगनादावस्ति तस्यैकद्रव्यत्वोपगमात्। पटादिवदवयवारभ्यत्वानुपपत्तेश्च। अथ प्रदेशवत्त्वोपचारो विभागस्तदा कालेप्यस्ति, सर्वगतैककालवादिनामाकाशादिवदुपचरितप्रदेशकालस्य विभागवत्त्वोपगमात् तथा च तत्साधने सिद्धसाधनमिति कश्चित्।

कालको वस्तुतः एक ही माननेवाला कोई पण्डित (वैशेषिक) यों पूर्वपक्ष उठाता है कि आप जैनोंने कालको विभागवाला जो सिद्ध किया है, वहां विभागका अर्थ यदि स्वकीय अवयवोंका भिन्न भिन्न होना है! तब तो वह विभाग इन आकाश, ईश्वर, दिशा, आदिमें नहीं है। क्योंकि उस गगन आदि अखण्डपदार्थोंको एक द्रव्यपना स्वीकार किया गया है। तथा पट, गृह, घटीयंत्र आदिक जैसे स्वकीय छोटे छोटे अवयवोंके द्वारा बनाये गये हैं, उस प्रकार स्वकीय अवयवोंसे आरब्धपना आकाश आदिमें नहीं बन पाता है। ऐसी दशामें आप स्याद्वादियोंके हेतुका गगन आदिसे व्यभिचार बना रहना तदवस्थ रहा, यानी विभागवाले फलोंका निमित्तकारण गगन है। किन्तु स्वयं अवयवोंके भेदस्वरूप विभागको नहीं धार रहा है। अब यदि आप जैन विभागका अर्थ आकाशमें मुख्य प्रदेशोंको नहीं मानते हुये प्रदेशसहितपनका उपचार होना मात्र करेंगे, तब व्यभिचारका वारण तो हो जायगा। गगनमें हेतुके रहते हुये उपचरित प्रदेश स्वरूप विभागोंसे सहितपना विद्यमान है। किन्तु तब तो कालमें भी प्रदेशसहितपनका उपचारस्वरूप विभाग विद्यमान है। क्योंकि सर्वत्र व्यापक एक ही कालद्रव्यको स्वीकार करनेवाले वैशेषिकोंके यहां आकाश आदिके समान उपचरित प्रदेशवाले कालद्रव्यका विभागसहितपना स्वीकृत कर लिया है। और ऐसा होनेपर काल द्रव्यमें उस उपचरित प्रदेशस्वरूप विभागको साधनेमें तुम स्याद्वादियोंके ऊपर सिद्ध साधन दोष लागू होता है। एक कालके उपचरित प्रदेश हमारे यहां सिद्ध ही हैं। उन्हींको आप जैन साध रहे हैं। यहांतक कोई वैशेषिक या नैयायिक कह रहा है।

परमार्थ एव गगनादेः सप्रदेशत्वनिषेधात् तस्य सर्वदावस्थितप्रदेशत्वात् एकद्रव्यत्वाच्च द्विविधा अवयवाः सदावस्थितवयुतोऽनवस्थितवयुतश्च। गुणवत्तत्र सदावस्थितद्रव्यप्रदेशाः सदावस्थिता एवान्यथा द्रव्यस्यानवस्थितत्वप्रसंगात्। पटादिवदनवस्थितद्रव्यप्रदेशास्तु तंत्वादयोऽनवस्थितास्तेषामवस्थितत्वे पटादीनामवस्थितत्वापत्तेः। कादाचित्कत्वस्येयत्तयावधारिता-

वयवत्वस्य च विरोधात् । तत्र गगनं धर्माधर्मैकजीवाश्चावस्थितप्रदेशाः सर्वे यतोवधारितप्रदेशत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् प्रदेशप्रदेशिभावस्य च तेषां तैरनादित्वात् ।

अब आचार्य महाराज इसका प्रत्याख्यान करते हैं कि गगन, धर्मद्रव्य आदिके प्रदेशसहितपनका परमार्थरूपसे ही निश्चय हो रहा है । क्योंकि उन गगन आदिके सर्वदा अवस्थित हो रहे अनन्तानन्त प्रदेश या असंख्याते प्रदेश वस्तुतः निर्णीत हैं । अर्थात्—त्रिलोकसारकी टीकामें अनन्तानन्त नामकी विशेष संख्याके मध्य भेदोंको निकालते हुये श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यने द्विरूपवर्गधारामें जीवराशिके ऊपर अनन्त स्थान चल कर पुद्गल राशिको बताया है । और पुद्गलराशिसे अनन्तस्थान चल कर द्विरूपवर्गधारामें भूत, भविष्यत् कालके समयोंकी राशिको उपजाया है । उस काल समयोंकी राशिसे अनन्त स्थान चल कर द्विरूपवर्ग धारामें अलोकाकाशकी श्रेणीको उपजाया है । एक प्रदेश लम्बी, एक प्रदेश चौडी और पूरे आकाश प्रमाण ऊंची आकाशकी श्रेणि हो श्रेणि आकाश है । इसका एक बार वर्ग कर देनेपर प्रतराकाश होजाता है । आकाश श्रेणिके प्रदेशोंका घन कर देनेपर पूरे आकाशके प्रदेश गिन लिये जाते हैं । जोकि मूलग्रन्थ अनुसार वहां ही द्विरूप घन धारामें सर्वाकाशको त्रैविद्य महोदयने गिना दिया है । यों आकाशद्रव्यके मुख्य प्रदेशोंकी संख्या सर्वदा नियत होरही अवस्थित है । धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके भी लोकप्रदेश प्रमाण असंख्याते प्रदेश नियत हैं । दूसरी बात यह है कि गगन, धर्मद्रव्य, आदिको एक एक द्रव्यपना निर्णीत है । अतः इनका अवयवोंसे बनाया जाना हमको भी अभीष्ट नहीं है । हां इनके मुख्यप्रदेश स्वरूप अवयव माने जा सकते हैं । चूंकि अवयव दो प्रकारके होते हैं । एक तो सर्वदा स्वकीय शरीरोंको सदा अवस्थित रखनेवाले अवयव हैं । और दूसरे स्वकीय शरीरको अवस्थित नहीं रखनेवाले अवयव हैं । उन दो प्रकारके अवयवोंमें द्रव्यके सदा अवस्थित होरहे प्रदेश तो गुणोंके समान सर्वदा अवस्थित ही रहते हैं । अन्यथा यानी प्रदेशोंको अनवस्थित माना जायगा तो द्रव्यके भी अनवस्थितपनेका प्रसंग होगा । किन्तु द्रव्य तो अनादि अनन्तकालतक अपनी नियत संख्याओंमें व्यवस्थित रहती हैं । घटती बढती नहीं हैं । " नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः " । अर्थात्—द्रव्यकी ऊर्ध्वांश कल्पना अनुसार जैसे गुण उसमें अनादि अनन्त कालतक जडे हुये हैं, उसी प्रकार तिर्यग् अंश कल्पना अनुसार द्रव्योंके प्रदेश भी सदा अवस्थित हैं । हां, अशुद्ध द्रव्यस्वरूप पुद्गल पर्यायोंके प्रदेश अवस्थित नहीं हैं । दूसरे पट, पुस्तक, आदिके समान अवस्थित अशुद्ध द्रव्योंके प्रदेश तो तंतु, पत्र, आदिक अनवस्थित हैं । क्योंकि उन तंतु आदिकोंके यदि अवस्थित माना जायगा तो पट आदि अशुद्धद्रव्योंको भी अवस्थितपनेका प्रसंग होगा । अर्थात्—तंतुओंके यहां वहां सरक जानेपर या न्यून अधिक होजानेपर पट आदिका सरकना या न्यूनता, अधिकता जो दिखाई देरही है वह अनवस्थित नहीं दीख सकेगी । अतः घट पट, पुस्तक आदिके प्रदेश दूसरी जातिके अनवस्थित शरीरवाले माने गये हैं । कभी कभी उपज रहे या कभी न्यून और कदाचित्

अधिक प्रदेशोंको धार रहे पदार्थोंको इतने नियत परिमाण करके निर्णीत किये गये अवयवोंसे सहितपनका विरोध है। भावार्थ—जो कदाचित् होनेवाला अशुद्ध द्रव्य है, वह इतने ही यों नियत किये गये अवयवोंको धारनेवाला नहीं है। और जो सदासे नियतप्रदेशोंको धार रहा द्रव्य है, वह कदाचित् होनेवाला अशुद्धद्रव्य नहीं है। उन द्रव्योंमें आकाशद्रव्य तथा धर्म अधर्म और एक जीवद्रव्य ये सब नियत अवस्थित प्रदेशोंको धार रहे हैं, जिस कारणसे कि नियत संख्यामें अवधारे गये प्रदेशोंसे साहितपन करके आकाश आदि द्रव्योंको पांचवे अध्यायमें स्वयं सूत्रकार द्वारा कह दिया जावेगा। " आकाशस्यानन्ताः " " असंख्येया प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् " इन दो सूत्रों करके आकाशके अनन्तानन्त प्रदेश और धर्म, अधर्म, एक जीव इनके असंख्याते प्रदेश नियत हो रहे कह दिये जावेंगे। संसारमें परिभ्रमण कर रहा जीव चींटी, हाथी, मत्स्य, नारकी सूक्ष्म निगोदिया, वृक्ष आदि अनेक छोटी बडी पर्यायोंको धारता है। इन पर्यायोंमें जीवके प्रदेश कमती बढती नहीं हो जाते हैं। किन्तु जीवकी रबडके समान संकोच या विस्तार अवस्थामें वे सभी लोकाकाशप्रमाण प्रदेश सदा विद्यमान रहते हैं। जो जीव मोक्षको प्राप्त नहीं करता है, उस जीवको कदाचित् भी लोक प्रदेश बराबर अपने प्रदेशोंको फैलाकर लम्बी चौडी पर्यायको धारनेका अवसर नहीं मिलता है। हां, जो मोक्षको जाते हैं, उनमेंसे कतिपय जीवोंको तेरहवें गुणस्थानमें केवली समुद्घात करते समय केवल एक समय अपने सम्पूर्ण प्रदेशोंके फैलानेका अवसर मिल जाता है। यह भी एक बडा विलक्षण विस्मयकारी प्रसंग है कि अनन्तानन्त जीवोंमेंसे कतिपय अनन्त जीव ही अनादि अनन्त कालोंकी अनन्तानन्त संकोच विस्तारवाली परिणतियोंको सदा धारते हुये एक ही बार लोकप्रदेश बराबर व्यक्त स्वकीय पर्यायको धार सके हैं। अस्तु। कुछ भी हो, एतावता संकोच, विस्तार, अवस्थामें भी जीवके असंख्यात प्रदेशोंका सद्भाव मर नहीं जाता है। यदि कोई धनपति कृपणतावश अपने विद्यमान लाखों रुपयेका व्यय नहीं कर पाता है, इतने ही से उसके लाखों रुपयोंकी संख्या न्यून नहीं हो जाती है। तथा उक्त सूत्र अनुसार उन गगन आदि द्रव्योंका अपने उन अनन्त या असंख्याते प्रदेशोंके साथ हो रहा प्रदेशप्रदेशीभाव अनादि है। अतः ऐसे नियतप्रदेशस्वरूप अवयव उन आकाश आदि द्रव्योंके विद्यमान हैं। अतः हमारा हेतु व्यभिचारी नहीं है। यह बात दूसरी है कि अखण्ड आकाशका विभागसहितपना हम प्रदेशोंकी अपेक्षा मान रहे हैं। और कालका विभागसहितपना हम जैन द्रव्योंकी अपेक्षा उक्त अनुमान द्वारा साध रहे हैं।

कथमनादीनां गगनादितत्प्रदेशानां प्रदेशप्रदेशिभावः परमार्थपथप्रस्थायी ? सादीनामेव तंतुपटादीनां तद्भावदर्शनात् इति चेत्, कथमिदानीं गगनादितन्महत्त्वादिगुणानामनादिनिधनानां गुणगुणिभावः पारमार्थिकः सिध्येत् ? तेषां गुणगुणिलक्षणयोगात्तथाभाव इति चेत्, तर्हि गगनादि तत्प्रदेशानामपि प्रदेशिप्रदेशलक्षणयोगात् प्रदेशप्रदेशिभावोस्तु। यथैव

हि गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति गगनादीनां द्रव्यलक्षणमस्ति तन्महत्त्वादीनां च " द्रव्याश्रिता निर्गुणा गुणा " इति गुणलक्षणं तथावयवानामेकत्वपरिणामः प्रदेशिद्रव्यमिति प्रदेशिलक्षणं गगनादीनामवयुतोऽवयवः प्रदेशलक्षणं तदेकदेशानामस्तीति युक्तस्तेषां प्रदेशप्रदेशिभावः ।

यहां किसीका आक्षेप प्रवर्तता है कि आकाश आदि द्रव्य और उनके नियत अनन्ते या असंख्याते प्रदेश जब अनादिकालके हैं तो ऐसी दशामें उनका " प्रदेशप्रदेशीभाव " होना भला वास्तविक मार्गमें प्रस्थान करनेवाला कैसे समझा जायगा ? बताओ । देखो, सादि हो रहे ही तंतु पट, कपाल घट, पत्र, पुस्तक आदिकोंका वह प्रदेशप्रदेशीभाव या अवयवअवयवीभाव देखा जाता है, जैसे थैली और रुपयोंका आधार आधेयभाव है या पुत्र और पिताका जन्य जनकभाव है ! यों कटाक्ष करनेपर तो ग्रन्थकार उस कटाक्षकर्ता वैशेषिकको पूंछते हैं कि भाई इस अवसरपर तुम्हारे यहां भी अनादिनिधन हो रहे आकाश, दिशा, जल, परमाणु, मन आदिक द्रव्य और उनके परम महापरिमाण, एकत्व संख्या, नित्यसंयोग, शुक्लरूप, अणुपरिमाण आदि गुणोंका भला गुणगुणीभाव बिचारा पारमार्थिक कैसे सिद्ध हो सकेगा ? बताओ, प्रथम गुणी उपजे, पश्चात् यदि उसमें गुण आकर समवायसम्बन्धसे प्रविष्ट हो जाय, तब तो घट घटरूप, आम्र, आम्ररस, आदि सादि पदार्थोंका गुणगुणीभाव शोभता है । अनादि अनन्तद्रव्य या अनादि अनिधन गुणोंमें गुणगुणीभाव अच्छा नहीं लगता है, यों यह चोद्य तुम्हारे ऊपर भी उठाया जा सकता है । यदि तुम वैशेषिक यों कहो कि अनादिनिधन हो रहे द्रव्यगुणोंका भी गुण और गुणीके लक्षणका योग हो जानेसे तिस प्रकार " गुणगुणीभाव " (सम्बन्ध) हो जायगा । यों कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो अनादि अनिधन गगन आदि और उनके प्रदेशोंके भी प्रदेशी और प्रदेशके लक्षणका योग हो जानेसे " प्रदेशप्रदेशीभाव " हो जाओ । अखण्डित अनेक देशवाले गगन आदिमें प्रदेशीका लक्षण घटित हो जाता है, और तिर्यग्अंश–कल्पनस्वरूप प्रदेशोंमें उनके प्रदेश हो जानेका लक्षण घटित हो रहा है । देखो, जिस ही प्रकार " गुण और पर्यायोंको धारनेवाले द्रव्य होते हैं " यह श्री उमास्वामी आचार्य करके कहा गया द्रव्यका लक्षण गगन, धर्म द्रव्य आदिके विद्यमान है । और " द्रव्यके आश्रित हो रहे सन्ते स्वयं जो निर्गुण पदार्थ हैं । वे गुण होते हैं, " इस प्रकार गुणका लक्षण उन गगन आदिमें सम्बन्धी हो रहे परम महत्त्व, रूप, आदि गुणोंके घटित हो रहा है, उसी प्रकार " अनेक अवयवोंका पिण्डस्वरूप एकत्व परिणामसे आक्रान्त हो रहा प्रदेशी द्रव्य है " इस प्रकार प्रदेशीका लक्षण आकाश आदिमें विद्यमान है और " अखण्ड द्रव्यमें अब यानी पश्चात् तिर्यग्अंश कल्पना द्वारा अभेदरूपसे युत यानी मिश्रण होचुके अवयव पदार्थ तो प्रदेश हैं " यह प्रदेशोंका लक्षण उन आकाश आदिके एक देश होरहे प्रदेशोंको विद्यमान है । इस कारण अनादि अनन्त भी आकाश आदि और उनके प्रदेशोंका " प्रदेशप्रदेशीभाव " बन जाना युक्तिपूर्ण है ।

कालस्तु नैकद्रव्यं तस्यासंख्येयगुणद्रव्यपरिणामत्वात् । एकैकस्मिल्लोकाकाशप्रदेशे कालाणोरेकैकस्य द्रव्यस्यानंतपर्यायस्यानभ्युपगमे तद्देशवर्तिद्रव्यस्यानंतस्य परमाण्वादेरनंतपरिणामानुपपत्तेरिति द्रव्यतो भावतो वा विभागत्वे साध्ये कालस्य न सिद्धसाधनं । नापि गगनादिनानैकांतिको हेतुः ।

किन्तु कालपदार्थ तो एक पदार्थ नहीं है । क्योंकि वह काल अनन्त गुण और अनन्त पर्यायोंके साथ तदात्मक होरहा संता असंख्यात द्रव्यस्वरूप है । अर्थात्—एक एक जीव द्रव्यके समान एक एक कालाणुमें वर्तनाहेतुत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनेक नित्यशक्ति स्वरूप गुण विद्यमान हैं । और उन गुणोंकी प्रतिक्षण होनेवाली पर्यायें अथवा पर्यायोंमें पाये जारहे अनन्तानन्त या असंख्यात अविभागप्रतिच्छेदस्वरूप परिणाम विद्यमान हैं । वे कालाणुयें द्रव्यरूपसे असंख्यात माने गये हैं । जगच्छ्रेणीके घन प्रमाण लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक द्रव्य होकर कालाणुयें अवस्थित हैं । यों कालाणु द्रव्य असंख्याते हैं । एक एक कालाणु द्रव्यकी १ अगुरुलघु २ अस्तित्व ३ वस्तुत्व शक्ति ४ सप्तभंगी विषय इन चार प्रकारके गुणोंकी जातियों अनुसार अनन्तानन्त सहभावी पर्यायें हैं । तथा लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर उस कालाणुको निमित्त पाकर अनन्तानन्त कार्य हो रहे हैं । उन कार्योंके अनुरूप अनन्तस्वभावरूप पर्यायें कालाणुमें एक समयमें विद्यमान हैं । एक समयमें एक गुणकी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यशालिनी परिणति अवश्य होती है । यों अनन्तानन्त गुणोंकी अनन्तानन्त परिणतियां कालाणुमें एक समय पायी जाती हैं । यदि लोकाकाशके एक प्रदेशपर अनन्तानन्त पर्यायों (स्वभावों) वाले एक एक कालाणु द्रव्यको स्वीकार नहीं किया जायगा तो उस आकाश देशमें वर्त रहे अनन्त परमाणु या अनंत जीवद्रव्य अथवा अन्य भी धर्म आदि द्रव्योंके हो रहे अनन्त परिणामोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी । क्योंकि सभी द्रव्य परिणामी माने गये हैं । कोई द्रव्य कूटस्थ नहीं है । भावार्थ—सम्पूर्ण द्रव्योंका और स्वयंका वर्तयिता काल द्रव्य है । न्यारे न्यारे काल द्रव्य तो लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर विद्यमान हो रहे अनन्तद्रव्योंके भिन्न भिन्न परिणामोंके वर्तयिता हो सकते हैं । आकाशके समान यदि अकेला कालद्रव्य मान लिया जायगा तो सर्व द्रव्योंका एक ही जातिका कार्य तो हो जायगा, जैसे कि अकेले आकाश द्रव्यसे भंगी, ब्राह्मण, नारकी, मुक्त, दरिद्र, राजा, रोगी, निरोग, पापी, पुण्यात्मा, जड, चेतन, धर्म, अधर्म, सब ऊंच नीचको कोरा अवकाश मिल जाता है । किन्तु अनेक काल द्रव्योंसे जो असंख्य कार्य एक समयमें होरहे प्रतीत होते हैं वे काल द्रव्यसे नहीं हो सकते हैं । देखिये, एक ही स्थलपर कोई जीव बुड्ढा होरहा है, वहीं कोई युवा होरहा है, बालक भी वहीं खेल रहा है, जहां ही किसीके चोरीके परिणाम होरहे हैं वहां ही किसीका धर्मध्यान या शास्त्र चर्चामें मन लग रहा है । इन सब क्रियाओंको करानेमें कालद्रव्य निमित्तकारण होरहा है । जिसी कालद्रव्यको निमित्त पाकर नित्य निगोदिया जीवकी व्यवहार राशिमें आने योग्य परिणति होजाती है वहीं बैठे हुये पंचेन्द्रिय जीवके इतरगति निगोदमें प्राप्त होजानेके समर्थ कारण

उपज बैठते हैं। छोटासा काल परमाणु एक कुटुम्बाधिपतिके समान वर्त रहा उन भिन्न भिन्न प्रकृति-वाले अनेक प्राणियों या जडपदार्थोंको अनुकूल वर्तानेमें उपयोगी होता रहता है। सूक्ष्म दृष्टिसे विचारा जाय तो आकाशके एक एक प्रदेशपर अनेक द्रव्योंके सदृश, विलक्षण, विरुद्ध, महाविरुद्ध अपरिमित परिणाम कार्य होरहे हैं। बस, अनन्त स्वभावोंवाला एक काल परमाणु ही उन सम्पूर्ण कार्योंको संभाल लेता है। इसी प्रकार आकाशके दूसरे प्रदेशपर अनेक द्रव्योंके होरहे पुण्यक्रिया, पाप-क्रिया, सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन, व्यभिचार, ब्रह्मचर्य, नरकगमन, स्वर्गगमन, निगोदप्राप्ति, मोक्षप्राप्ति, अर्थहानि, अर्थलाभ, शृंगाररस, वैराग्यरस, वीरता, कायरता, स्मरण विस्मरण, जीवन मृत्यु, तरुणपन अतिवृद्धपन, रोग स्वस्थता, न्याय अन्याय, दया हिंसा, पतन उत्थान, मान अपमान, सौन्दर्य कुरूपता, अथवा मेघवर्षण वाय्या, सुगन्ध दुर्गंध, जलवर्षण आतप, सुस्वादु दुःस्वादु, फलोंका सडना पकना, पुष्पप्राप्ति फलप्राप्ति, औषधिउत्पादन विषउत्पादन, हीरा उपजना कोयला उपजना, एक ही वृक्षमें कफजनक कफनाशक शक्तियें बनना, सीपमें हड्डी या मोती बनना, स्थान प्रस्थान, धातुधारण धातुपात, जीर्णता नवीनता, मृत्तिका उत्पत्ति सुवर्ण उत्पत्ति, विधुरता विवाहिता, पागलपन चातुर्य, आदि परिणामोंको दूसरा कालाणु अपने अनेक स्वभावों द्वारा संभाल लेता है। जैसे कि एक प्रधाना-ध्यापक अपने अधीन होरहे अनेक अध्यापक अथवा छात्रगण एवं अन्य कर्मचारियोंको अंतरंग बहिरंग कारणों द्वारा कर रहे नियत कार्योंकी ओर वर्ता देता है। इस कारण द्रव्य रूपसे अथवा भाव रूपसे कालका विभाग सहितपना साध्य करनेपर हम जैनोंके ऊपर कोई सिद्ध-साधन दोष नहीं है। क्योंकि तुम न तो कालको द्रव्यरूपसे अनेक मानते हो और गुण, परिणाम, स्वभाव इन भावोंकी अपेक्षा भी कालको अनेक नहीं मानते हो। अतः असंख्य काल द्रव्य और उन एक एकके अनन्त स्वभावोंको उक्त अनुमान द्वारा जो हम साध रहे हैं, वहां वादी जैनकी अपेक्षा सिद्ध होते हुए भी प्रतिवादी नैयायिक, मीमांसक, वैशेषिक आदिकी अपेक्षा असिद्ध हो रहे पदार्थको ही साध्य बनाया जा रहा है तथा हमारा हेतु आकाश आदि करके व्यभिचारी भी नहीं है। क्योंकि द्रव्य अपेक्षा तो नहीं, किन्तु प्रदेश या पर्यायोंकी अपेक्षा हम जैन आकाशको भी विभागवाला स्वीकार करते हैं। अतः हमारा हेतु निर्दोष है।

क्षित्यादिनिदर्शनं साध्यसाधनविकलमित्यपि न मंतव्यं तत्कार्यस्यांकुरादेर्विभागवतः प्रतीतेः, क्षित्यादेश्च द्रव्यतो भावतश्च विभागवत्त्वसिद्धेरिति सूक्तं " विभागरहिते हेतौ विभागो न फले क्वचित् " इति।

फिर भी वैशेषिक यदि यों मान बैठें कि क्षिति, जल आदि दृष्टान्त तो साध्यदल या साधन दलसे विकल हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी मनमें नहीं मान बैठना चाहिये। क्योंकि उन क्षिति आदिकोंके कार्य हो रहे अंकुर, पाषाण, कोयला, कंसड, आदिक पदार्थ तो विभागवाले प्रतीत

हो रहे हैं। अर्थात्—एक खेतमें उसी मट्टीसे गेंहू, जौ, चना, मटर सरसों आदिके अनेक अंकुर उपज रहे हैं, चाहे कैसा भी ऊंचा, नीचा, टेडा, मुख करके बीजको डाल दो, मट्टी उसका अंकुर ठीक ऊपरकी ओर निकाल देती है। वही मट्टी तत्काल जल, वायु, आतप, की आदि या शुष्क परिणतियोंका आकर्षण कर लेती है। खात पदार्थोंका अंकुर पुष्प, फल, घास आदि रूप परिणाम करा देती है, जैसे कि सुयोग्य कुटुम्बिनी पत्नी अपने कुटुम्बसम्बन्धी जेठ, पति, देवर, लडके, बच्चे बहू बेटियों, वृद्ध सास ससुर आदिके लिये यथोचित भोग्य उपभोग्य पदार्थोंका विभाग कर देती है। पृथिवीसे अनेक कार्य हो रहे प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। जलसे भी अनेक कार्य हो रहे हैं, एक मेघजल ही अनेक वनस्पतिओंमें भिन्न भिन्न परिणतियें कर रहा है। सांपके मुखमें, सीपमें, उष्ण तेलमें, तप्त लोहेपर अनेक विभक्त कार्योंको कर रहा है। सरोवरका जल तूंबीको ऊपर उछाल रहा है और कंकडको नीचे गिरा रहा है। ऊपरसे तूंबीको नीचे नहीं गिरने देता है और कंकडको ऊपर नहीं उछलने देता है। अग्नि या वायुके भी विभिन्न जातीय कई विभक्त कार्य युगपत् हो रहे दीखते हैं। कृत्रिम बिजिली द्वारा अंजन, पंखा, चक्कियां चलायी जाती हैं। अनेक दीपक ज्योतियां चमक रही हैं। बिजिली द्वारा रोगीकी चिकित्सायें भी होती हैं। तारों द्वारा या बिना तारके शब्द फेंके जाते हैं। दूर प्रदेशोंसे गायन यहां सुना जाता है। तस्वीरें ली जाती हैं। और अकृत्रिम बिजुलीसे अनेक उत्पात हो जाते हैं। वायु द्वारा जगत्की बडी भारी प्रक्रिया सध रही है। असंख्य मनों भारी पदार्थ वायु-पर डट रहा है। जीवनके आधार श्वासोच्छ्वास वायुस्वरूप है। समुद्रकम्पन, वातव्याधि, आंधी, आदि सब विभिन्न वायुओंके फल हैं। पृथिवी आदिक पुद्गल द्रव्योंकी अचिंत्य शक्तियां हैं। अचेतन पदार्थोंमें भी अनन्त बल है। "जीवाजीवगदमिति चरिमे" यों गोम्मटसारमें भी कहा है। विभिन्न जातिके भेद प्रभेदोंको धारनेवाले पृथिवी, जल, आदि प्रसिद्ध ही है। अतः क्षिति आदिक दृष्टान्तोंमें विभागवाले फलोंका निमित्तपना यह हेतु और विभागसहित-पना इतना साध्य सुलभ्य होकर ठहर रहा है। कारण कि द्रव्यरूपसे और परिणामों स्वरूपसे क्षिति आदिकोंको मूलमें ही विभागसहितपना सिद्ध है। इस कारण श्री विद्यानन्द आचार्यने उक्त वार्त्तिकमें यह बहुत अच्छा कहा था कि विभागरहित हेतुके होनेपर कार्यमें कहीं भी विभाग नहीं हो सकता है। स्फटिकमणि जब मूलमें रूपवान् है तो जपाकुसुम आदिके योगसे लाल, पीला, आदि हो सकता है। मूलमें रूपरहित होरहे आकाशको कोई लाल, पीला नहीं कर सकता है। अतः यहांतक आकाश को केवल भावोंकी अपेक्षा विभागसहितपन और कालको द्रव्य और भाव दोनोंकी अपेक्षा विभाग-सहितपन साधनेका प्रकरण समाप्त हो चुका है।

मनुष्य लोकसे बाहर ज्योतिष्क विमान हैं भी ? या नहीं हैं ? यदि हैं तो किस प्रकार वर्त रहे हैं ? शिष्योंको इस विषयकी प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको कहते हैं।

बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

मनुष्य लोकसे बाहर वे ज्योतिष्क विमान या उनमें निवास करनेवाले ज्योतिषी देव जहांके तहां निश्चल हैं। अर्थात्—मनुष्य लोकसे बाहर भी ज्योतिष्कदेव असंख्यातासंख्यात विद्यमान हैं। किन्तु वे विमान गतिशील नहीं हैं। जहांके तहां अवस्थित हैं।

किमनेन सूत्रेण कृतमित्याह।

इस सूत्रकरके सूत्रकार महाराजने क्या स्वपक्षमंडन और परपक्षखण्डन किया है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्दस्वामी समाधान कहते हैं।

बहिर्मनुष्यलोकांतेऽवस्थिता इति सूत्रतः।
तत्राऽसत्ताव्यवच्छेदः प्रादक्षिण्यगतिक्षतिः ॥ १ ॥

मनुष्य लोकके अन्तमें बाहर ज्योतिष्क विमान अवस्थित हैं, इस प्रकार सूत्र कर देनेसे वहां मनुष्य लोकसे बाहर ज्योतिषियोंकी असत्ताका व्यवच्छेद कर दिया जाता है और प्रदक्षिणारूपसे होनेवाली गतिकी क्षति कर दी जाती है। अर्थात्—यदि यह "बहिरवस्थिताः" सूत्र नहीं बनाया जाता तो पूर्वसूत्र अनुसार मनुष्य लोकमें ही ज्योतिष्कोंका अस्तित्व सिद्ध होता। मनुष्य लोकसे बाहर उनका असत्त्व होजाता। तथा "बहिस्सन्ति" या "बहिरपि" ऐसा सूत्र बनाया जाता तो मनुष्य लोकसे बाहर ज्योतिष्कोंका अस्तित्व तो सिद्ध होजाता, किन्तु उनकी पूर्व सूत्रानुसार मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुये नित्यगति भी सिद्ध होजाती, जोकि इष्ट नहीं है। हां, इस सूत्रमें अवस्थिता कह देनेसे उनकी प्रदक्षिणापूर्वक गति या और भी दूसरे प्रकारकी गतियोंका व्यवच्छेद कर दिया गया है।

कृतेति शेषः।

इस वार्त्तिकमें कोई तिङन्त या कृदन्तकी क्रिया नहीं पडी हुयी है। अतः "कृता" इस शेष रही क्रियाको जोड लेना चाहिये। व्यवच्छेदके साथ पुल्लिंग "कृत" शब्दको जोड देना और स्त्रीलिंग क्षतिः शब्दके साथ वाक्यमें शेष रह गयी "कृता" इस कृदन्त सम्बन्धी क्रियाको जोड लेना। क्योंकि कोई भी वाक्य धात्वर्थस्वरूप क्रियासे रीता नहीं हुआ करता है।

एवं सूत्रचतुष्टयाज्ज्योतिषामरचिंतनं।
निवासादिविशेषेण युक्तं बाधविवर्जनात् ॥ २ ॥

इस प्रकार बाधक प्रमाणोंसे विवर्जित हो रहे चारों सूत्रोंके प्रमेयसे श्री उमास्वामी महाराजने निवासस्थान, प्रकार, गति, अथवा स्थिति आदि विशेषों करके ज्योतिष्क देवोंका समुचित चिंतवन

कर दिया है। अथवा इस वार्त्तिकको अनुमान वाक्य बना लिया जाय कि उक्त चार सूत्रों द्वारा निवास आदिकी विशेषता करके ज्योतिष्क देवोंका चिंतवन करना (पक्ष) युक्ति पूर्ण है (साध्य)। बाधक प्रमाणोंका विशेषतया वर्जन होनेसे (हेतु) यों बाधकोंका असम्भव होनेसे उक्त सूत्रोंके अतीन्द्रिय प्रमेयकी अप्रतिहतसिद्धि हो जाती है।

श्री उमास्वामी महाराज देवोंकी आदिम तीन निकायोंका वर्णन कर चुके हैं। अब चौथी निकायवाले देवोंकी सामान्यसंज्ञाका प्ररूपण करनेके लिये अधिकार सूत्रको कहते हैं।

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

इससे आगे जिन पुण्यवान् जीवोंका वर्णन किया जायगा, वे " वैमानिकनिकायवाले देव हैं।" यह अधिकार सूत्र है।

स्वान्सुकृतिनो विशेषेण मानयंतीति विमानानि तेषु भवा वैमानिकाः। परेपि वैमानिकाः स्युरेवमिति चेन्न, वैमानिकनामकर्मोदये सति वैमानिका इति वचनात्। तेन श्रेणींद्रकपुष्पप्रकीर्णकभेदात् त्रिविधेषु विमानेषु भवा देवा वैमानिकनामकर्मोदयाद्वैमानिका इत्यधिकृता वेदितव्याः।

विमान शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है कि स्वसम्बन्धी यानी अपनेमें बैठे हुये पुण्यशाली जीवोंका " वि " यानी विशेषरूपकरके " मानयंति " यानी मान कराते हैं, इस कारण वे विमान कहे जाते हैं। उन विमानोंमें उपज रहे देव जीव वैमानिक हैं। विमान शब्दसे भव अर्थमें ठण् प्रत्यय कर लेना चाहिये। यदि यहां कोई पण्डित यों अतिप्रसंग उठावे कि विमानोंमें तो भवनवासी आदि देव भी विचरते हैं। ज्योतिष्क देव तो सदा विमानोंमें ही बस रहे हैं तथा विमानोंमें विद्याधर मनुष्य या आजकालके उडाके मनुष्य भी विद्यमान हैं। यों इस निरुक्ति द्वारा तो ये दूसरे देव या मनुष्य भी वैमानिक हो जायेंगे। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि गतिनामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रहे वैमानिक संज्ञक नामकर्मका उदय होते सन्ते जो जीव विमानोंमें वर्तमान हैं वे वैमानिक हैं। ऐसा विशेषणाक्रान्त वचन कर देनेसे अतिव्याप्तिका वारण कर दिया जाता है। सिद्धान्त या न्यायविषयोंमें केवल शब्दकी निरुक्तिसे ही निर्दोष लक्षण नहीं बन जाता है। तिस कारण श्रेणी, इन्द्रक, पुष्पप्रकीर्णक, इन भेदोंसे तीन प्रकारके विमानोंमें विद्यमान हो रहे और वैमानिक नामक नामकर्मका उदय हो जानेसे वे देव वैमानिक हैं। इस प्रकार इस सूत्र द्वारा वे वैमानिक देव अधिकार प्राप्त हो चुके समझ लेने चाहिये। अर्थात्—यहांसे आगे उत्तरवर्ती सूत्रोंमें सर्वत्र वैमानिकका अधिकार ओत पोत रहेगा। अखिलोंके अधिपति होरहे इन्द्रके समान ठीक बीचमें अवस्थित होरहे विमान इंद्रक विमान हैं तथा आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणी समान चारों दिशाओंमें ठीक पंक्तिबद्ध होकर विन्यस्त होरहे विमान श्रेणीविमान हैं।

और उछाले हुये फल जैसे अव्यवस्थित यहां वहां टेढे मेढे स्थानोंपर गिर जाते हैं, उसी प्रकार श्रेणियोंके बीचमें अस्तव्यस्त फैल रहे विमान पुष्पप्रकीर्णक हैं। ये तीनों प्रकारके विमान अनादि कालसे अनन्तकालतक उसी स्थानपर जमे हुये हैं। उडाके विमानोंके समान यहां वहां नहीं उडते फिरते हैं। भले ही कृत्रिम छोटे छोटे विमानोंमें बैठकर देव यहां वहां, नंदीश्वर द्वीप, समुद्र, पर्वत, आदिमें भ्रमण करें, भूमियोंमें प्रतिष्ठित नहीं होनेसे इन अकृत्रिम विमानोंको भवन, आवास या नगर नहीं कहा जासकता है। कुछ विमान तो जलके ऊपर या भापके ऊपर प्रतिष्ठित हैं और कतिपय विमान वायुपर प्रतिष्ठित हैं। किन्तु शेष बहुभाग विमान आकाशमें ही विना सहारेके अवलम्बित होरहे हैं। पराश्रयकी अपेक्षा स्वाश्रयपक्ष ही अन्तमें निश्चयसे आदरणीय है। अब श्री उमास्वामी महाराज उन् वैमानिक देवोंके मूल दो भेदोंका निरूपण करनेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

कल्पोंमें उत्पन्न होकर ऊपर उत्पन्न हुये देव और कल्पोंका अतिक्रमण कर ऊपर उपज रहे देव यों कल्पोपपन्न और कल्पातीत ये दो वैमानिक देवोंके भेद हैं।

सौधर्मादयोऽच्युतांताः कल्पोपपन्ना इंद्रादिदशतयकल्पनासद्भावात् कल्पोपपन्ननामकर्मोदयवशवर्तित्वाच्च न भवनवास्यादयस्तेषां तदभावात्। नवग्रैवेयका नवानुदिशाः पंचानुत्तराश्च कल्पातीताः कल्पातीतनामकर्मोदये सति कल्पातीतत्वात् तेषामिंद्रादिदशतयकल्पनाविरहात् सर्वेषामहमिंद्रत्वात्।

प्रथमस्वर्गवासी सौधर्मको आदि लेकर सोलहवें अच्युत स्वर्गपर्यन्त ठहरनेवाले देव कल्पोपपन्न हैं। क्योंकि उनमें इन्द्र, सामानिक, आदि दश अवयववाली कल्पनाका सद्भाव हो रहा है। दूसरी बात यह है कि गतिनामकर्मके व्याप्य तद्व्याप्य हो रहे कल्पोपपन्न संज्ञक नामकर्मके उदयकी अधीनतामें वर्तना होनेके कारण सोलह स्वर्गके देव कल्पोपपन्न हैं। हां, भवनवासी आदिक तीन निकायोंके देव तो कल्पोपपन्न नहीं हैं। क्योंकि उनके भले ही इन्द्र, सामानिक, आदि दश या आठ विकल्प पाये जाते हैं। फिर भी उस कल्पोपपन्नसंज्ञक नामकर्मके उदयका अभाव है। कल्पोपपन्नत्वकी सिद्धि करनेके लिये इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाका सद्भाव होते हुये कल्पोपपन्न संज्ञक नामकर्मके उदयकी वशवर्तिता इतना लम्बा ज्ञापकहेतु या कारक हेतु उपयोगी है। अर्थात्—कर्मोंके उदयके पराधीन बने रहना इसलिये कहा गया है कि ध्रुव उदयवाले गतिकर्मका कभी कभी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके नहीं मिलनेपर रसोदय नहीं हो पाता है। देवपर्यायमें अपनी स्थितिके परिपूर्ण हो जानेपर उदय प्राप्त हो गई मनुष्यगति विना फल दिये ही खिर जाती है। इसी प्रकार कदाचित् देवगति कर्मकी मनुष्य अवस्थामें स्थिति पूरी हो जानेपर फल दिये विना ही कोरा प्रदेश उदय हो

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जाता है। ऐसी दशामें जीव कर्मोदयके पराधीन नहीं हो सका। अतः ग्रन्थकारने हेतुके विशेष्य दल कर्मोदय द्वारा हुई पराधीनतापर अधिक बल डाला है। कल्पातीत देवोंमें हेतुका विशेषण दल और विशेष्यदल दोनों भी नहीं घटते हैं। अधोग्रैवेयक तीन, मध्यग्रैवेयक तीन और उपरिमग्रैवेयक तीन यों ऊपर ऊपर वर्त रहे नौ ग्रैवेयक सम्बन्धी देव तथा चार दिशाओं चार विदिशाओं और एक मध्यमें ठहर रहे, यों नौ अनुदिश विमान सम्बन्धी देव एवं विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित, सर्वार्थसिद्धि यों पांच अनुत्तर विमानवासी देव तो कल्पातीत हैं। क्योंकि गति कर्मके भेद, प्रभेद, हो रहे कल्पातीत नामक नाम कर्मका उदय होते सन्ते आत्म विपाकी कही गयी गति प्रकृतिकी अधीनता वश ये कल्पातीत देव हैं। भले ही इनमें अधः आदिपनेकी या नौ, नौ, पांच संख्यासहितपनेकी कल्पना है, तो भी प्रकरणमें इष्ट की गयी इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाका विरह होनेसे वे सब कल्पातीत हैं। क्योंकि भवनवासीपन, इन्द्रसामानिकपन आदि झगडोंसे रहित होते हुये वे कल्पातीत देव सबके सब अहमिन्द्र हैं। अहमेव इन्द्रः, अहमेव इन्द्रः, मैं ही इन्द्र हूं, मैं ही इन्द्र हूं, मेरे ऊपर कोई प्रभु नहीं है, यों उनकी आत्मामें सर्वदा प्रतिभास होता रहता है। अहमिन्द्रपनका विघातक वहां कोई प्रसंग भी नहीं है।

वैमानिका विमानेषु निवासादुपवर्णिताः।
द्विधा कल्पोपपन्नाश्च कल्पातीताश्च ते मताः॥ १॥

पूर्ववर्ती अधिकार सूत्रको मिलाकर इस सूत्रका अर्थ यों होजाता है कि उन विमानोंमें निवास करनेसे वे देव वैमानिक कहे जाते हैं। तथा वे देव कल्पोपन्न और कल्पातीत यों दो प्रकार माने गये हैं। यह अर्थ सूत्रकारको अभीष्ट है। यद्यपि दश प्रकारकी कल्पना भवनवासी देवोंमें है और कल्पनासे अतीत मनुष्य तिर्यंच नारकी जीव भी हैं। फिर भी रूढिशब्दके होनेसे या इन विशेष कर्मोंकी अधीनतासे अर्थघटना करनेमर कोई अतिव्याप्ति नहीं होती है।

न वैमानिकास्त्रिधा चतुर्धा वान्यथा वा संभाव्यंते द्विविधेष्वेवान्येषामंतर्भावात्।

वैमानिक देव तीन प्रकार या चार प्रकार अथवा अन्य पांच, छह, विकल्प अन्य या पटलोंकी अपेक्षा त्रेसठ ६३ आदि अन्य प्रकारोंके नहीं सम्भावित होरहे हैं। क्योंकि इन दो प्रकारोंमें ही अन्य सम्पूर्ण समुचित प्रकारोंका अन्तर्भाव होजाता है।

ते च कथमवस्थिताः ?

वे कल्पोपन्न और कल्पातीत विमान या विमानवासी देव किस प्रकार अवस्थित होरहे हैं! बताओ, ऐसी विनीत शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर अनके विशेष अवस्थानोंको समझाते हुये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

सौधर्म, ऐशान, आदि कल्प और कल्पातीतोंके विमान ऊपर ऊपर वर्त रहे हैं। आगमकी व्यवस्था अनुसार विमानोंकी या पटलोंकी अवस्थिति है।

सामीप्येऽधोऽध्युपरीति द्वित्वं तेषामसंख्येययोजनांतरत्वेपि तुल्यजातीयव्यवधानाभावात् सामीप्योपपत्तेः।

व्याकरणके " सामीप्येऽधोऽध्युपरि " इस सूत्र द्वारा उपर्युपरि यहां समीपपन अर्थको द्योतन करनेपर उपरि अव्ययका दो बार प्रयोग किया गया होनेसे द्वित्व होगया है। यद्यपि उन कल्पवासी या अहमिन्द्रोंके विमानोंका ऊपर नीचे अन्तर अथवा त्रेसठि पटलोंमें प्रत्येक दो पटलोंका अन्तर असंख्याते योजनोंका है, तो भी तुल्यजातिवाले पदार्थोंका व्यवधान नहीं होनेसे समीपपना बन जाता है। अर्थात्—सौधर्म, ईशान, स्वर्गोंके अधस्तन विमानोंसे कुछ कमती डेढ राजू प्रमाण असंख्यात योजनों ऊपर चलकर सनत्कुमार, माहेन्द्र नामक दो स्वर्ग हैं। सनत्कुमार माहेन्द्रके नीचले विमानोंसे कुछ कम डेढ राजू ऊपर चलकर ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्ग हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर सम्बन्धी आधा राजूका अन्तराल देकर ऊपर लान्तव, कापिष्ठ, स्वर्ग हैं। यों ही आगम अनुसार ऊपर भी समझ लेना। सानत्कुमार माहेन्द्रके अधोभागसे ऊपर डेढ राजूतक सानत्कुमार, माहेन्द्र, देवोंका ही अधिराज्य है, और सानत्कुमार माहेन्द्रके प्रारम्भसे बालाग्र कमती आकाशसे आदि लेकर नीचे कुछ कम डेढ राजू तक सौधर्म ईशानोंका अधिकार है। सौधर्म, ईशान, स्वर्गमें ऋतु विमल आदि इकतीस पटल हैं " एक्केक्क इंदयस्स य विच्चालयसंखजोयणपमाणं " एक एक पटल या इन्द्रक विमानोंका अन्तराल असंख्याते योजन है। किन्तु जगत्में तुल्यजातिवाले पदार्थोंको ही व्यवधायक माना जाता है। मान, अपमान, लज्जा, प्रतिष्ठा सब समान जातिवालोंमें समझी जाती हैं। वृक्षोंकी पंक्तिमें या घोडे, मनुष्य आदिकी पंक्तियोंमें भले ही बीचमें आकाश, तृण, वायु, आतप, वज्र, खम्भे, आज्ञायें फिर भी तुल्यजातिवाले पदार्थोंका मध्यमें समावेश नहीं होनेसे उनमें अन्तराल नहीं माना जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा हुये प्रतिभासमें भले ही अन्य उत्पादक कारणोंका व्यवधान होय, किन्तु ज्ञान जातीय अन्य प्रतीतिओंका व्यवधान नहीं पडनेसे विशदपना आरूढ माना गया है। इसी प्रकार कल्पोपपन्न और कल्पातीत वैमानिकोंमें अन्य वैमानिकोंका या पटलोंका व्यवधान नहीं पडनेसे समीपपना बन जाता है।

किमत्रोपर्युपरीत्यनेनाभिसंबध्यते! कल्पा इत्येके। कल्पोपपन्ना इत्यत्र कल्पग्रहणस्योपसर्जनीभूतस्यापि विशेषणेनाभिसंबंधात्। राजपुरुषोऽयं, कस्य राज्ञ इति यथा प्रत्यासत्तेर्बुद्ध्यपेक्षितत्वादिति। तन्न युध्यामहे, वैमानिका इत्यधिकारार्थं वचनमित्येतस्य व्याघातात्। यथा हि वैमानिका देवाः कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्चेति संबध्यते तथोपर्युपरीत्यपि त्र एवेति

युक्तं । न हि देवा एव निर्विशेषणा उपर्युपरीत्युच्यते येनानिष्टप्रसंगः । किं तर्हि ? मध्यस्थेंद्रकतिर्यगवस्थितश्रेणीप्रकीर्णकविमानलक्षणकल्पोपपन्नत्वविशेषणाक्रांताः कल्पातीतत्वविशेषणाक्रांताश्च यथोपवर्णितसन्निवेशाः संबध्यंते । तथा च निरवद्यो निर्देशः सर्वानिष्टनिवृत्तेः । तथाहि—

कोई विद्यार्थी प्रश्न करता है कि यहां ऊपर ऊपर इस कथन करके किसी पदार्थका चारों ओरसे सम्बन्ध किया जाता है ? बताओ । क्या देव अथवा क्या विमानोंको एवं कल्पोंको या कल्पातीतोंको ही यहां ऊपर ऊपर अवस्थित बताया है ? या मनमानी रचना समझ ली जाय ? इसके उत्तरमें कोई एक विद्वान् यों झट उत्तर दे बैठते हैं कि यहां कल्प ऊपर ऊपर रच रहे विवक्षित हैं । क्योंकि पूर्वके कल्पोपपन्ना इस पदमेंसे गौणभूत होरहे भी कल्प शब्दके ग्रहणका विशेषणपने करके अभिसंबंध कर लिया जाता है । अर्थात्-पूरे पद कल्पोपपन्नाःकी अनुवृत्ति होनी चाहिये थी । कल्पोपपन्न पदमें उत्तरपदप्रधान सप्तमीतत्पुरुष वृत्ति द्वारा उपपन्न शब्द प्रधान है । कल्प शब्द गौण है, फिर भी प्रयोजनवश गौण होरहे कल्प शब्दकी भी अनुवृत्ति की जासकती है, जैसे कि यह राजपुरुष (राजाका पुरुष) है । पुनः "किसका" प्रश्न होनेपर राजाका यह सम्बन्ध विवक्षित हो जाता है । राजपुरुष पदमें गौण हो रहे भी राजा शब्दकी अनुवृत्ति कर ली जाती है । इसी प्रकार यहां भी निकटवर्तिता होनेसे बुद्धि द्वारा गौणभूत भी " कल्प " अपेक्षित हो रहा है । कल्पातीतोंमें विमानका सम्बन्ध कर लिया जायगा, यों कह चुकनेपर आचार्य कहते हैं कि सर्वार्थसिद्धिकार श्री पूज्यपाद स्वामी या राजवार्तिककार श्री अकलंक देवके उस समाधानको हम अच्छा नहीं समझ रहे हैं । क्योंकि कल्पशब्दकी अनुवृत्ति कर लेनेसे यहां " वैमानिकाः " इस प्रकार अधिकारके लिये चला आ रहा जो वचन है, इसका व्याघात हो जायगा । वैमानिकाःका अधिकार कर फिर दूसरे ही सूत्रमें " कल्पाः " का सम्बन्ध कर बैठनेसे स्ववचन व्याघात होता है । अतः जिस प्रकार कि पूर्वसूत्रमें अधिकार प्राप्त हो रहे वैमानिक देवोंका ही उद्देश्य कर कल्पोपपन्न और कल्पातीत यों विधेय दलके साथ सम्बन्ध जोड दिया गया है । उसी प्रकार यहां भी वे वैमानिक ही सम्बन्धित हो रहे यों समुचित प्रतीत होते हैं । अकेले कल्प ही तो ऊपर ऊपर नहीं हैं । प्रत्युत कल्पातीत भी ऊपर ऊपर विन्यस्त हैं । हम जैन विशेषणसे रहित हो रहे देवोंका ही ऊपर ऊपर निवास करना नहीं कह रहे हैं, जिससे कि अनिष्टका प्रसंग हो जाय । यानी देव तो ऊपर ऊपर ठहर जांय, स्वर्ग या पटल तिरछे भी व्यवस्थित हो जांय, तो हम विद्यामें आनन्दको माननेवाले जैनोंको क्या अभीष्ट है ? इसका उत्तर यह है कि मध्यमें स्थित हो रहे इन्द्रक विमान, तिरछे अवस्थित हो रहे श्रेणीविमान और पुष्पप्रकीर्णक विमानस्वरूप कल्पोंसे सहितपन विशेषण करके आक्रान्त हो रहे तथा कल्पातीतपन विशेषणसे आक्रान्त हो रहे एवं उक्त वर्णना अनुसार सन्निवेशको धार रहे विशेष्य देव ही यहां सम्बन्धित हो रहे हैं । और तैसा होनेपर यह सूत्रका निर्देश निर्दोष है । क्योंकि सम्पूर्ण अनिष्ट प्रसंगोंकी यों निवृत्ति हो जाती है । उसीको स्पष्ट कर अग्रिम वार्त्तिक द्वारा ग्रन्थकार दिखाये देते हैं ।

उपर्युपरि तद्धाम नाधस्तिर्यक् च तत्स्थितिः ।
यथा भवनवास्यादिदेवानामिति निर्णयः ॥ १ ॥

उन वैमानिक देवोंके निवास स्थान ऊपर ऊपर व्यवस्थित हैं । अधोभागोंमें या तिरछे रूपसे उन निवास स्थलोंकी स्थिति नहीं है । जिस प्रकार कि भवनवासी आदि देवोंके धाम नीचे, तिरछे, रचे हुये हैं, ऐसे वैमानिकोंके अकृत्रिम विमानोंकी रचना नहीं है । यह उक्त सूत्र द्वारा निर्णय कर दिया गया है । भावार्थ—चार निकायके देवोंमें पहिले तीन निकायके देव अधः या तिर्यग्रूपसे रचे गये भवन, नगर या विमानोंमें निवास करते हैं । किन्तु इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और पुष्प प्रकीर्णक रूपसे व्यवस्थित हो रहे कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवोंके विमान तो ऊपर ऊपर रचे हुये हैं । यद्यपि सातवीं पृथिवीसे लगा कर पहिली पृथिवीतक नारकियोंके बिले भी इन्द्रक बिल श्रेणीबद्ध बिल, पुष्पप्रकीर्णक बिल रूपसे विन्यस्त हैं । किन्तु ये विमान नहीं हैं । भूमिस्थ बिले हैं । इसी प्रकार ज्योतिष्क देवोंके निवासस्थान विमान हैं । किन्तु वे पुष्पप्रकीर्णक रूपसे भले ही व्यवस्थित होंय इन्द्रक श्रेणीबद्ध और उनके मध्यवर्ती पुष्पप्रकीर्णक रूपसे आकाश प्राङ्गणमें व्यवस्थित नहीं हैं । तथा वे बिले और ज्योतिष्क विमान वे कल्पोपपन्नत्व और कल्पातीतत्व विशेषणोंसे आक्रान्त भी नहीं हैं । अतः इन्द्रक, श्रेणीबद्ध, प्रकीर्णक, विमान स्वरूप होते हुये कल्पोपपन्नत्व और कल्पातीतत्व विशेषणोंसे आक्रान्त हो रहे पदार्थ ऊपर ऊपर रचे हुये हैं । यह उक्त सूत्रका पदकीर्तिपुरःसर निर्दोष समन्वय कर दिया गया है ।

न हि यथा भवनवासिनो व्यंतराश्चाधस्तिर्यक् समवस्थितयो ज्योतिष्कास्तिर्यक् स्थितयस्तथा वैमानिका इष्यंते, तेषामुपर्युपरि समवस्थितत्वात् उपर्युपरि वचनेनैव निर्णयात् ।

जिस प्रकार कि भवनवासी और व्यंतर देव अधोलोकमें और तिर्यक्लोकमें नीचे या तिरछे रूपसे बने हुये अपने निवासस्थानोंमें भले प्रकार अवस्थितिको कर रहे हैं, रत्नप्रभाके खरभाग और पंकभागमें भवनवासियोंके नीचे और तिरछे सुन्दर भवन बने हुये हैं, और व्यन्तरोंके असंख्याते द्वीपसमुद्रोंमें भी रत्नप्रभाके उपरिम भागमें तिरछे फैले हुये असंख्य नगर या आवास बने हुये हैं, तथा नीचे पंकभागमें असुर और राक्षसोंके असंख्याते हजार नगर हैं, एवं असंख्यातासंख्याते ज्योतिष्क देव तो इस समतल भूमिसे ऊपर सात सौ नब्बे योजनसे प्रारम्भ कर केवल एक सौ दश योजनतक मोटे देशमें असंख्यात योजनोंतक एक राजू लम्बे, चौडे, प्रदेशमें तिरछे फैले हुये असंख्य विमानोंमें स्थितिको कर रहे हैं, तिस प्रकार उक्त तीन निकायोंके समान वैमानिक देव स्थिति करते हुये नहीं माने गये हैं । क्योंकि उन वैमानिकोंकी तीन निकायोंसे विभिन्न रूप रेखाकी ऊपर ऊपर भले प्रकार स्थिति हो रही है । वे यहां वहां अस्त व्यस्त नहीं निवस रहे हैं । कारण कि "वैमानिकाः"

इस सूत्रके अग्रिम सूत्रमें उनके भेदोंको दिखाते हुये सूत्रकारने तीसरे स्थानपर अठारहवें " उपर्युपरि " इस सूत्ररूप वचन करके ही उक्त सिद्धान्तका निर्णय कर दिया है।

कोई जिज्ञासु प्रश्न उठाता है कि यदि इस प्रकार वे वैमानिक देव ऊपर ऊपर व्यवस्थित हो रहे हैं तो बताओ कितने विमानोंमें वे वैमानिक देव हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेंद्रब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयंतजयंतापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

सौधर्म ऐशान, सानत्कुमार माहेन्द्र, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र, शतार सहस्रार, इन स्वर्गोंमें और आनत, प्राणत, एवं आरण, अच्युत, स्वर्गोंमें कल्पोपपन्न वैमानिक देव निवास करते हैं। तथा नवग्रैवेयक और नौ अनुदिश विमानोंमें असंख्याते कल्पातीत वैमानिक देव निवस रहे हैं। अर्थात्—केवल सर्वार्थसिद्धि विमानमें द्विरूप वर्गधाराको पांचवीं कृतिके घनस्वरूप मनुष्य संख्याके त्रिचतुर्थ प्रमाण स्त्रियोंसे तिगुने या सतगुने सर्वार्थसिद्धिके देव मात्र संख्याते हैं। जघन्य संख्या कभी रह जाय तो मानव स्त्रियोंसे तिगुनी और उत्कृष्ट संख्या होजाय तो सतगुनी इन एक भवतारी देवोंकी गणना है। शेष सम्पूर्ण कल्प और कल्पातीतवर्त्ती संख्यातविमानोंमें असंख्याते देव निवास कर रहे हैं।

सुधर्मा नाम सभा सास्मिन्नस्तीति सौधर्मः कल्पः " तदस्मिन्नस्तीत्यण् " तत्कल्पसाहचर्यादिंद्रोपि सौधर्मः, ईशानो नामेंद्रः स्वभावतः ईशानस्य निवासः कल्प ऐशानः " तस्य निवास " इत्यण् तत्साहचर्यादिंद्रोप्यैशानः, सानत्कुमारो नामेंद्रः स्वभावतः तस्य निवासः कल्पः सानत्कुमारः तत्साहचर्यादिंद्रोपि सानत्कुमारः. महेंद्रो नामेंद्रः स्वभावतः तस्य निवासः कल्पो माहेंद्रः तत्साहचर्यादिंद्रोपि माहेंद्रः, ब्रह्मनामेंद्रः तस्य लोको ब्रह्मलोकः कल्पो ब्रह्मोत्तरश्च लांतवादयोच्युतांता इन्द्रास्तत्साहचर्यात् कल्पा अपि लांतवादयः, इन्द्रलोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वाद्ग्रीवाः ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयकाणि विमानानि तत्साहचर्यादिंद्रा अपि ग्रैवेयकाः, विजयादीनि विमानानि परमाभ्युदयविजयादन्वर्थसंज्ञानि तत्साहचर्यादिंद्रा अपि विजयादिनामानः सर्वार्थानां सिद्धेः सर्वार्थसिद्धिविमानं तत्साहचर्यादिंद्रोपि सर्वार्थसिद्धः।

पहिले स्वर्गमें सुधर्मा संज्ञक सभाका एक बहुत विशाल भवन बना हुआ है, जिस स्वर्गमें वह सुधर्मा सभा बनी हुई है वह कल्प सौधर्म स्वर्ग है " तदस्मिन्नस्ति " इस तद्धितके सूत्र करके यहां सुधर्मा शब्दसे अण् प्रत्यय कर सौधर्म शब्दको साधु बना लिया जाता है, उस सौधर्म कल्पके सहचर पनेसे पहिले स्वर्गका इन्द्र भी सौधर्म कहा जाता है अथवा स्वभावकरके अनादिकालसे इन्द्र या स्वर्ग का नाम सौधर्म पड रहा है। इसी प्रकार स्वभावसे ही ईशान नामका इन्द्र है, ईशान इन्द्रका निवास हो रहा दूसरा कल्प ऐशान है। यहां " तस्य निवासः " इस तद्धित सूत्रसे अण् प्रत्यय कर ऐशान शब्द उत्पन्न कर लिया गया है। उस स्वर्गके सहचरपनेसे इन्द्रको भी ऐशान कह दिया जाता है। तृतीय स्वर्गमें अनादिकालीन संज्ञाके वश स्वभावसे ही सनत्कुमार इन्द्र चला आ रहा है। उसका निवासभूत कल्प सानत्कुमार है। यहां भी " तस्य निवासः " इस सूत्रकरके अण् प्रत्यय कर लेना चाहिये। उस सानत्कुमार स्वर्गके सहचरपनेसे इन्द्र भी सानत्कुमार कहे जा सकते हैं। मत्वर्थीय अच् प्रत्ययकरके भी यहां निर्वाह किया जा सकता है। महेन्द्र नामका इन्द्र स्वभावसे ही है। उसका निवासस्थान कल्प माहेंद्र है। उस माहेन्द्र स्वर्गमें धाराप्रवाहरूपसे जो इन्द्र होते चले आ रहे हैं उस स्वर्गके सहचरपनेसे वे इन्द्र भी माहेन्द्र हैं। ब्रह्म नामक इन्द्र हैं उस इन्द्रका लोक पांचवां ब्रह्मलोक नामका कल्प है और ब्रह्मोत्तर नामका छठा कल्प है। इसी प्रकार लान्तवको आदि लेकर अच्युतपर्यन्त इन्द्रोंकी व्यवस्था स्वभावसे ही होती चली आ रही है। उसके सहचरपनेसे लांतव आदिक कल्प भी अनादि सिद्ध संज्ञाओंको धार रहे हैं। स्वर्ग या कल्प तो अनादिसे अनन्तकालतक प्रवर्त रहे हैं। किन्तु उनमें देव या इन्द्र निवास कर रहे अपने आयुष्यको नियतकालतक सुखपूर्वक बिता रहे हैं। उन उन स्वर्गोंमें जन्म लेनेवाले इन्द्र धारा प्रवाहसे उन्हीं नामोंको धारते हैं। इस चौदह राजू ऊंचे लोकको या केवल ऊपरले सात राजूके इन्द्र लोकको यदि पुरुषाकार नियत कर लिया जाय तो उसकी ग्रीवा (नार) के स्थानापन्न होनेसे लोकके तेरह राजूके ऊपरके कतिपय स्थान ग्रीवायें कही जायंगी। ग्रीवाओंमें विन्यस्त हो रहे विमान ग्रैवेयक हैं। उन विमानोंके साहचर्यसे इन्द्र भी ग्रैवेयक हैं। इनके ऊपर नौ अनुदिश हैं। विजय आदिक विमान अन्य लौकिक उत्कृष्ट अभ्युदयका विजय करनेसे यथार्थ नामा कहे जाते हैं। यानी विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित ये नाम दूसरेको जीतने और किसीसे नहीं पराजित होनेकी अपेक्षासे अपने ठीक अर्थको लेकर घटित हो रहे हैं। उन विमानोंके साहचर्यसे उनमें रहनेवाले असंख्याते अहमिन्द्र भी विजय, वैजयंत आदि नामोंको धार रहे हैं। सम्पूर्ण लौकिक अर्थोंकी परिपूर्ण सिद्धि हो जानेके कारण सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमान भी अन्वर्थ संज्ञक है। उसके साहचर्यसे इन्द्र भी सर्वार्थसिद्ध है। ऐसे अहमिन्द्र सर्वार्थसिद्धि विमानमें संख्याते हैं। अर्थात्—" मेरुतलादु दिवड्ढं दिवड्ढ दलछक्क एक्करज्जुम्हि, कप्पागमइज्जुगला गेवेज्जादी य होंति कमे " (त्रिलोकसार) मेरुके तलसे एक लाख चालीस योजन अथवा इस समतल भूमिसे निन्यानवे हजार चालीस योजन और बालाग्र

ऊपर उछल कर सौधर्म, ऐशान, ये दो कल्प दक्षिण और उत्तर दिशाओंमें व्यवस्थित हैं। इनमें ऋतु आदिक इकतीस पटल हैं। दक्षिण दिशाका अधिपति सौधर्म इन्द्र है और उत्तर दिशाके श्रेणी विमान और पुष्पप्रकीर्णकोंका अधिकारी ऐशान इन्द्र है। सबसे ऊपरले प्रभा संज्ञक पटलमें इन्द्रक विमानसे दक्षिणदिशामें अठारहवें श्रेणी बद्ध विमानमें सौधर्म इन्द्र रहता है। उसी प्रकार बत्तीस श्रेणीबद्ध विमानवाली उत्तर दिशाके अठारहवें विमानमें ऐशान इन्द्रका निवास है। एक एक पटलमें असंख्याते योजनोंका अन्तर है। समतल भूभागसे ऊपर डेढ राजू स्थानतक सौधर्म, ऐशान, इन्द्रोंका आधिपत्य है। सौधर्म ऐशान स्वर्गोंसे अनेक योजन ऊपर अथवा मेरुतलसे ठीक डेढ राजू ऊपर सानत्कुमार, माहेन्द्र स्वर्गोंका प्रारम्भ है। अंजन आदि सात पटलवाले ये दो स्वर्ग दक्षिण उत्तर समान तुलामें रचे हुये हैं। कुछ कम डेढ राजूतक इनका अधिकार है। मेरुतलसे तीन राजू ऊपर समतुला स्थानमें ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग बने हुये हैं। इन दोका अधिपति ब्रह्मा नामका एक इन्द्र है। आधे राजू ऊपर तक इनका साम्राज्य है। मेरुतलसे साडे तीन राजू ऊपर चलकर लांतव और कापिष्ठ स्वर्ग बराबरमें रचे हुये हैं। इन दोका अधिपति एक ही लांतव इन्द्र है। इसके ऊपर कुछ कम आधा राजू चलकर शुक्र, महाशुक्र दो स्वर्ग दक्षिण और उत्तरकी ओर विन्यस्त हैं। इनका अधिपति एक शुक्र इन्द्र है। इसके ऊपर कुछ कम आधा राजू यानी मेरुतलसे साडे चार राजू ऊपर उछल कर सतार और सहस्रार ये स्वर्ग समानभागमें रचे हुये हैं। इन दोका अधिपति सतार नामका एक इन्द्र है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और ऊर्ध्व इन पांचों दिशाओंमें आधे आधे राजूतक इसका अधिराज्य है। सतार, सहस्रारसे कुछ कम आधा राजू ऊपर आनत, प्राणत, दो स्वर्ग हैं। इनके दक्षिण दिशा सम्बन्धी और उत्तरदिशासम्बन्धी अधिपति दो इन्द्र हैं। इनसे आधे राजू ऊपर उछल कर यानी मेरु तलसे साडे पांच राजू ऊपरसे आरण अच्युत स्वर्ग प्रारम्भ हो जाते हैं, जो कि दक्षिण उत्तर दिशामें समतुला कोटिपर व्यवस्थित हैं। मेरुतलसे छह राजू ऊपर उपरिम एक राजूके निचले भागमें नौ ग्रैवेयक विमानोंके नौ पटल हैं। इनके ऊपर नौ अनुदिश विमानोंका एक पटल है जिसमें कि चार दिशाओं और चार विदिशाओं तथा एक मध्यमें यों नौ विमान रच रहे हैं। इसके ऊपर पांच अनुत्तरोंके पांच विमान हैं। सर्वार्थसिद्धिसे बारह योजन ऊपर सिद्ध क्षेत्र है। सर्वार्थसिद्धि और सिद्धलोकके अन्तरालमें एक राजू चौडी सात राजू लम्बी आठ योजन मोटी लोकान्तस्पर्शिनी आठवीं "ईषत्प्राग्भारा" नामकी पृथिवी है। इस पृथिवीके ठीक बीचमें मनुष्यक्षेत्रबराबर लम्बी चौडी आठ योजन मोटी गोल सिद्धशिला जड रही है, जो कि सिद्धलोक नामसे कही जा रही आधे डड्डूके समान नीचे समतल और ऊपर क्रमसे घटती हुई ढलाऊ होकर उठी हुई है। उस सिद्ध प्रतिष्ठान क्षेत्रके ऊपरले या लोकमें सबसे ऊपर बडे धनुषोंसे नपे पन्द्रहसौ पिचत्तर १५७५ धनुष मोटे तनुवातके पन्द्रहसौवें या नौ लाखवें भागमें उत्कृष्ट और जघन्य अवगाहनावाले अनन्तानन्त सिद्धपरमेष्ठी विराजमान हैं। उनको वियोगसे हम नमस्कार करते हैं। एक सही एक बटे बीस महाधनुषमें बडी अवगाहनाके सिद्ध हैं।

और सात बटे चार हजार महाधनुषमें छोटी अवगाहनाके सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। मध्यमें अवगाहनाओंके अनेक भेद हैं। वहां भी अनन्तानन्त सिद्ध हैं।

तस्य पृथग्ग्रहणं द्वन्द्वे कर्तव्येपि स्थित्यादिविशेषप्रतिपत्त्यर्थं। सर्वार्थसिद्धस्य हि स्थिति रुत्कृष्टा जघन्या च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा विजयादिभ्यो जघन्यतो द्वात्रिंशत्सागरोपमस्थितिभ्यो विशिष्टा प्रभावतश्च ततोल्पप्रभावेभ्यः इति श्रूयते।

उस सर्वार्थसिद्धिका यद्यपि विजय आदिकके साथ द्वन्द्व समास कर देना चाहिये था। फिर भी स्थिति, प्रभाव, आदि विशेषोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सर्वार्थसिद्धिका पृथक् स्वतंत्र ग्रहण किया है। सर्वार्थसिद्धि विमानमें रहनेवाले सर्वार्थसिद्ध देवकी उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति दोनों तेतीस सागरोपम हैं। बत्तीस सागर जघन्य और तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिको धारनेवाले विजय आदि चार वैमानिकोंसे यह जघन्य, उत्कृष्ट, विकल्पोंसे रीती हो रही सर्वार्थसिद्ध देवोंकी स्थिति विशिष्ट है। तथा प्रभावसे भी उन अल्प प्रभाववाले विजय आदि अहमिन्द्रोंकी अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि देवोंका प्रभाव अत्यधिक है। ऐसा शास्त्रों द्वारा आम्नायपूर्वक सुना जा रहा है। विजय आदि चार विमानोंमें रहनेवाले सम्पूर्ण असंख्याते देवोंका जितना मिलकर प्रभाव है, उससे अधिक सर्वार्थसिद्धिके एक देवका है। इत्यादि विशेषोंको दिखलानेके लिये सर्वार्थसिद्धौ ऐसा सूत्रमें पृथक् असमासितपद पड़ा हुआ है। क्तिन् प्रत्ययान्त होनेसे स्त्रीलिंग माना गया सर्वार्थसिद्धि शब्द भी इन्द्रकी संज्ञा पड जानेसे पुल्लिङ्ग कर दिया जाता है। सर्वार्थसिद्धि और सर्वार्थसिद्ध दोनों शब्द अभीष्ट हो रहे दीखते हैं।

ग्रैवेयकाणां पृथग्ग्रहणं कल्पातीतत्वज्ञापनार्थं, नवशब्दस्यावृत्तकरणमनुदिशसूचनार्थं। दिश आनुपूर्व्येणानुदिशं विमानानीति पूर्वपदार्थप्रधाना वृत्तिः दिक्शब्दस्य शरदादित्वात् आकारांतस्य वा दिग्शब्दस्य भावात् तत्साहचर्यादिंद्रा अप्यनुदिशास्ते च नव संति ग्रैवेयकाणामुपरीति श्रवणात्।

"ग्रैवेयकेषु" इस पदका पूर्व या उत्तरपदोंके साथ द्वन्द्व समास नहीं कर जो पृथक् ग्रहण कर दिया गया है, वह तो ग्रैवेयकोंके कल्पातीतपनको समझानेके लिये है। अर्थात्—सौधर्मको आदि लेकरके अच्युतपर्यन्त बारह इन्द्रोंकी अपेक्षा बारह कल्प हैं। उनसे न्यारे ऊपरले विमान सब कल्पातीत हैं। इस सिद्धान्तको समझानेके लिये ग्रैवेयकेषु यह पद पृथक् कर दिया है। सूत्रकारकी एक एक मात्रा अपरिमित अर्थको झेल रही है। यद्यपि ग्रैवेयक नौ हैं। ऐसी दशामें "नव च ते ग्रैवेयका नवग्रैवेयका" यों समास कर "नवग्रैवेयकेषु" कह देना चाहिये था। फिर जो सूत्रकारने नव और ग्रैवेयक पदोंमें समासवृत्ति नहीं की है, वह नौ अनुदिश विमानोंका सूचन करनेके लिये है। यानी ग्रैवेयकसे ऊपर नौ अनुदिश विमान भी हैं। दिशाओंके अनुपूर्वीपने करके बने हुए विमान

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नव अनुदिश हैं। यहां दिश् शब्दकी अनुपदके साथ पूर्वपदके अर्थको प्रधान रखनेवाली समासवृत्ति कर दी गई है। दिश् शब्दका शरदादि शब्दोंमें पाठ होनेसे " अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः " इस सूत्र करके यहां समासान्त टच् कर दिया जाता है। अथवा आकारान्त दिशा शब्दका सद्भाव होनेसे " अव्ययीभावश्च और नपोऽचो ह्रस्वः " सूत्रोंद्वारा अनुदिश शब्द बनाया जा सकता है। उन अनुदिश विमानोंके सहचरपनेसे इन्द्र भी अनुदिश कहे जाते हैं और वे अनुदिश विमान ग्रैवेयकोंके ऊपर एक पटलमें नौ हैं। यों आर्षशास्त्रोंद्वारा ज्ञात किया जा रहा है। नवसु शब्दका ग्रैवेयकोंमें एक वार अन्वय कर पुनः आवृत्त किये गये दूसरे नवसुका अर्थ नौ अनुदिश विमान कर लिया जाता है। " व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणं "।

ननु च सौधर्मैशानयोः केषांचिदप्युपरिभावाभावादव्यापकतोपरिभावस्य स्यादित्याशंकायामिदमाह।

यहां किसीकी शंका है कि " उपरि उपरि " शब्द षष्ठ्यन्त पदकी अपेक्षा रखता है। अतः सनत्कुमार, माहेन्द्र, आदिको सौधर्म, ऐशानके ऊपर ऊपरपना एवं नीचे नीचेके विमानोंसे ऊपर ऊपरपना सर्वार्थसिद्धितक सुलभतया घट जाता है। किन्तु सबसे नीचेके सौधर्म और ऐशानको किन्हींके भी ऊपर ठहरनेका अभाव हो जानेसे ऊपर ऊपर सद्भावकी सर्वत्र वैमानिकोंमें व्यापकता नहीं हो सकी? इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा इस समाधानको कहते हैं।

सौधर्मैशानयोर्देवा ज्योतिषामुपरि स्थिताः।
नोपर्युपरिभावस्य तेनाव्यापकता भवेत् ॥ १ ॥

जब कि सौधर्म और ऐशानमें रहनेवाले देव ज्योतिषियोंके ऊपर व्यवस्थित हो रहे हैं। तिस कारणसे ऊपरले ऊपरले भागोंमें ठहरनेके परिणामकी अव्यापकता नहीं होवेगी। ज्योतिष्क विमानोंसे अठानवे हजार एक सौ चालीस ९८१४० योजन और बालाग्र ऊपर सौधर्म ऐशान विमान व्यवस्थित हैं। अर्थात्—ज्योतिष्क विमानोंकी अपेक्षा वैमानिकोंके त्रेसठ पटलोंका ऊपर ऊपर वर्तना सर्वत्र व्याप जाता है। यद्यपि ज्योतिष्कोंमें भी समतल चित्रा भूभागके ऊपर सात सौ नब्बे ७९० योजनसे प्रारम्भ कर ९०० योजनतक एक सौ दस ११० योजनोंमें ज्योतिष्कोंका तारे, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमण्डल, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मंगल, शनि, इस क्रम अनुसार ऊपर ऊपर वर्तना पाया जाता है। फिर भी हमें यहां वैमानिकोंके ऊपर ऊपर कथन प्रकरणमें ज्योतिष्कोंका घसीटना अभीष्ट नहीं हो रहा है। अव्यापकताका समूल उच्छेद करनेके लिये उदारोदर (बडा पेट) नीति अनुसार ज्योतिष्कोंका भी ऊपर ऊपर ठहरना बढा कर लिख दिया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कुतः पुनर्द्वयोरुपर्युपरिभावः प्राग्ग्रैवेयकेभ्य एवेत्याह ।

किसी प्रतिवादीका कटाक्ष है कि उक्त व्याख्यान करनेसे प्रतीत हुआ है कि सौधर्म आदि कल्पोंमें दो दो स्वर्ग बराबर ठहरते हुये ऊपर ऊपर सौलह स्वर्ग वर्त रहे हैं। किन्तु सूत्र द्वारा यह अर्थ नहीं निकलता है। ग्रैवेयकोंसे पहिले ही यह व्यवस्था होय। पुनः ग्रैवेयकों, अनुदिशों, या विजयादिकोंमें दो दो का युगल ऊपर ऊपर नहीं व्यापे यह भी मूलसूत्रसे ध्वनित नहीं होता है। अतः बताओ कि ग्रैवेयकोंसे ही पहिले दो दो स्वर्गोंका ऊपर ऊपर वर्तना है, यह कैसे निर्णीत किया जा सकता है ? टीकाकारोंको मूलसूत्रके अनुसार ही चलना चाहिये। सिद्धान्तको न्यून अधिक कथन करनेसे तत्त्वोंका कूपपतन या आकाशमें फेंक दिया जाना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार सामिमान जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्त्तिकोंको समाधानार्थ कहते हैं।

सौधर्मेत्यादिसूत्रे च द्वंद्ववृत्तिर्विभाव्यते ।
सौधर्मादिविमानानामुपर्युपरि नान्यथा ॥ २ ॥
आनतप्राणतद्वंद्वमारणाच्युतयोरिति ।
सूचनादंतशः सा च कल्पेष्वेवैकशस्ततः ॥ ३ ॥
ग्रैवेयकेषु नवसु नवस्वनुदिशेष्वियं ।
ततोनुत्तरसंज्ञानां पंचानां सेष्यतेर्थतः ॥ ४ ॥

" सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तर " इत्यादि सूत्रमें कहे गये सौधर्म आदि विमानोंका ऊपर ऊपर द्वन्द्व यानी युगलरूपसे वर्तना विचार लिया जाता है। अन्य प्रकारोंसे यानी एक एकके ऊपर वर्तते हुये यों सोलह पटल होंय या चार चारका चतुष्क समभागमें बनाकर सोलह स्वर्गोंके चार ही चतुष्क या पटल कर दिये जांय इत्यादिक ढंगोंसे ऊपर ऊपर वर्तना नहीं है। क्योंकि अन्तमें पडे हुये आनत प्राणतका द्वन्द्व कर पुनः आरण और अच्युतोंका द्वन्द्व किया गया है। अतः सूचित होता है कि जैसे आनत, प्राणत, और आरण अच्युतोंके युगल समानभागोंमें रचे होकर ऊपर ऊपर हैं, उसी प्रकार सौधर्म, ऐशान, आदिके युगल भी दो दो स्वर्गोंकी समतुला होकर ऊपर ऊपर रच रहे हैं। अन्यथा लाघवके लिये आनत आदि चारोंका द्वन्द्व कर एक ही योग किया जा सकता था। हां, पहिले बारह स्वर्गोंका लाघवार्थ द्वन्द्व समास कर दिया है। और उनके ऊपरके दो युगलोंका समास नहीं करनेसे युगलरूपसे सब स्वर्गोंका वर्तना सूत्रकार द्वारा सूचित कर दिया गया है। वह युगलरूपसे हो रही वृत्ति बारह कल्प यानी सोलह स्वर्गोंमें ही है। उससे परली ओर नौ ग्रैवेयकोंमें नौ अनुदिशोंमें और उससे ऊपर पांच अनुत्तर संज्ञक विमानोंमें यह वर्तना एक

एकरूपसे है। अर्थात्—नवग्रैवेयक अकेले अकेले होकर ऊपर ऊपर नौ पटलोंमें वर्त रहे है। नव अनुदिशोंका एक ही पटल उपरिम नौमे ग्रैवेयकके ऊपर है। उसके ऊपर पांचों अनुत्तरोंका एक ही समतुलावाला पटल है। सूत्रोक्त शब्दोंकी शक्तिसे और अर्थसम्बन्धी न्यायसे भी वह सौधर्म आदि कल्पोंकी या कल्पातीतोंकी युगल रूपसे या एक एक रूपसे इस प्रकार वृत्ति होना प्रतीत होरहा है। सहस्रारतक दो दो कल्पोंका पहिले इतरेतर द्वन्द्व समास कर पश्चात् छह युग्मोंका द्वन्द्व कर लेना। आगे स्पष्ट ही है।

सौधर्मेत्यादिसूत्रे निर्दिष्टानां सौधर्मैशानदीनां श्रेणीद्रकप्रकीर्णात्मकपटलभावापन्नानां विमानानामुपर्युपरि द्वंद्ववर्तनं विभाव्यते आनतप्राणतद्वंद्वमनन्तरमारणाच्युतयोरिति सूचनादन्यथा वृत्त्यकरणे प्रयोजनाभावात्। तच्च द्वंद्ववर्तनं कल्पेष्वेव विभाव्यते। तदंते वृत्त्यकरणात् प्रागेव सौधर्मैशानयोः सानत्कुमारमाहेन्द्रयोरित्यवृत्त्यकरणात्।

सौधर्मैशान इत्यादि सूत्रमें कथन किये गये चारों दिशाओंमें पंक्तिबद्ध फैले हुये श्रेणीबद्ध विमान और श्रेणीबद्धोंके ठीक बीचमें ठहर रहा इन्द्रक विमान एवं दो दो श्रेणीयोंके बीच बीचके चार तिकोने बिखेरे हुये पुष्पोंके समान फैल रहे पुष्पप्रकीर्णक विमान यों श्रेणीजातीय, इन्द्रक और प्रकीर्णक जातीय, विमानों स्वरूप पटलभावको प्राप्त होरहे सौधर्म, ऐशान, आदि विमानोंका ऊपर ऊपर युग्म रूपसे वर्तना निर्णीत कर लिया जाता है (प्रतिज्ञा) क्योंकि आनतप्राणतके द्वन्द्व पश्चात् आरण अच्युतोंका पृथक्रूपसे सूत्रमें कथन किया है। सूत्रकारने अन्तिम चारों स्वर्गोकी समासवृत्ति जो नहीं की है, उसका यही प्रयोजन है कि सोलह स्वर्ग दो दो होकर यमल रूपसे ऊपर ऊपर आठ द्वय वर्त रहे हैं। सूत्रकारका समासवृत्ति नहीं करनेमें अन्य प्रकारका कोई प्रयोजन नहीं है। और वह द्वन्द्व रूपसे दो दोका बराबर होकर वर्तना कल्पोंमें ही विचारा जाता है। क्योंकि उन कल्पोंमें ही अन्तके चार कल्पोंमें द्वन्द्व समासवृत्ति नहीं की गई है। उनके पहिले ही सौधर्म आदिक बारह कल्पोंमें वृत्ति यों की गई है कि सौधर्मश्च ऐशानश्च सौधर्मैशानौ और सानत्कुमारश्च माहेन्द्रश्च सानत्कुमारमाहैन्द्रौ तथा ब्रह्मा च ब्रह्मोत्तरश्च ब्रह्मब्रह्मोत्तरौ इत्यादिरूपसे छह युगलोंके छह द्वन्द्व समास किये गये हैं। पुनः सौधर्मैशान पदकी और सानत्कुमारमाहेन्द्र आदि पांच युग्म पदोंकी अवृत्ति नहीं की गई है। यानी आठ कल्प या बारह स्वर्गोका द्वन्द्व समास कर दिया गया है। इसीसे कल्पोंमें युगलवृत्तिका सिद्धान्त निर्णीत होजाता है।

तत एव नवसु ग्रैवेयकेष्वेकशो वर्तनं विभाव्यते। नवस्वनुदिशेषु च तत्र दिग्विदिग्व-त्येकैकविमानमध्यगस्येंद्रकविमानस्यैकत्वात्। तत एवानुत्तरसंज्ञानां पंचानामेकशो वर्तनं विभाव्यते दिग्वर्त्येकैकविमानमध्यगस्येंद्रकस्य सर्वार्थसिद्धस्यैकत्वात्। अर्थतश्चैवं विभाव्यते अन्यथोक्तनिर्देशक्रमस्य प्रयोजनानुपपत्तेः।

तिस ही कारणसे यानी नवपद और ग्रैवेयकपदमें वृत्ति नहीं करनेसे नौ ग्रैवेयकोमें एक एक होकर नौ पटलोंमें एक एक ग्रैवेयकका वर्तना निर्णीत कर लिया जाता है। नव शद्वको ग्रैवेयकपदके साथ समास वृत्ति नहीं करनेसे नौ अनुदिश भी प्राप्त हो जाते हैं। नव अनुदिशोंमें सम्पूर्णोंका एक पटल है। उनमें दिशा और विदिशाओंमें एक एक वर्त रहे यों आठ विमान और एक मध्यमें प्राप्त हो रहा इन्द्रक विमान यों न्यारे, न्यारे समतुलावाले विमानोंको वहां एकपना प्राप्त है। नवसु शद्वका योग विभाग या आवृत्ति कर एक नव शद्वको ग्रैवेयकके साथ और दूसरे नवको अनुदिशमें जोड लेना। तिस ही कारणसे यानी पांचों अनुत्तरोमे एकशः वृत्तिका अन्वय कर देनेसे अनुत्तर संज्ञक विजयादि पांचों विमानोंकी एकवार समतुला (लेविल) में वृत्ति हो रही निश्चित कर ली जाती है। क्योंकि चार दिशाओंमें वर्त रहे एक एक विमान और मध्यमें प्राप्त हो रहे सर्वार्थसिद्धि नामक एक इन्द्रक विमानको एकपना प्राप्त है। शद्व शक्तिसे ये बात व्याकरण मुद्रया प्राप्त हो जाती है। तथा अर्थ संबंधी न्यायसे भी इस प्रकार उक्त सिद्धांत विचार लिया जाता है कि सूत्रकारके यथोक्त प्रकार सूत्रमें कथन कर दिये गये क्रमका अन्य प्रकार कोई प्रयोजन नहीं बन रहा है। जो कह दिया गया प्रयोजन है वही न्याय युक्तियोंसे निर्णीत है। इस प्रकार सौधर्म ऐशान स्वर्गके इकत्तीस पटल, सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गोंके सात पटल, ब्रम्हयुग्मके चार पटल, लांतव युग्मके दो, शुक्र युगलका एक, शतार द्वन्द्वका एक पटल एवं आनतादि चार कल्पोंमें छह पटल, नौग्रैवेयकोंके नौ पटल, नौ अनुदिशोंका एक पटल, पांच अनुत्तरोंका एक पटल यों ऊर्ध्व लोकमें असंख्याते योजनोंका व्यवधान लिये हुये त्रेसठ पटल है। सबसे नीचेके ऋतु पटलके मध्यवर्ती ऋतु इन्द्रक विमानसे चारों दिशाओंमें बासठ बासठ विमानोंकी पंक्ति बद्ध श्रेणी त्रसनालीतक चली गयी है। ऊपर ऊपर पटलमें चारों दिशाओंसे एक एक विमान कमती होती गयीं चारों श्रेणियां व्यवस्थित हैं। बासठसें अनुदिश संबंधी पटलमें एक एक विमान दिशाओंमे वर्त रहा है। यहां विदिशाओंमें भी चार विमान हैं ऊपरके अनुत्तर विमान सम्बन्धी त्रेसठिवें पटलमें विदिशाओंमें असंख्यात योजन व्यासवाले चार श्रेणी बद्ध विमान और मध्यमें एक लाख योजन व्यासवाला सर्वार्थसिद्धि इंन्द्रक विमान यों पांच विमान हैं। यह रचना थालीमे रखे हुये ऊपर पंक्तियोंमें क्रमबद्ध कमती कमती हो रहे लड्डुओंके ढेर समान अनादि अनन्त अकृत्रिम बन रही है। श्रेणियोंके बीच चार तिकोनोंमें पुष्प प्रकीर्णक विमान अवस्थित हैं। इन्द्रक श्रेणी, बद्ध पुष्प प्रकीर्णक विमानोंकी संख्या, उनका संख्यात या असंख्यात योजनका व्यास, और मोटाई, वर्ण, आदिका निरूपण त्रिलोकसार राजवार्त्तिक, ग्रन्थोंमें दृष्टव्य है। सम्पूर्ण विमानोंमें एक एक अकृत्रिम जिन मन्दिर विराजमान हैं। विमानोंकी संख्या परिमाण जिन मन्दिरोंको नमस्कार होओ।

ते च सूत्रितेषु सौधर्मादिषु कल्पेषु कल्पातीतेषु च वैमानिका देवाः।

उक्त सूत्रमें कहे जा चुके सौधर्म आदि कल्पोंमें और ग्रैवेयक आदि कल्पातीतोंमें निवास कर रहें वे देव परस्परमें किन किन विशेषताओंको धारते हैं ? इसकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकार अगले सूत्रको कहते हैं।

स्थितिप्रभवासुखद्युतिलेश्याविशुद्धींद्रियावधि-विषयतोधिकाः ॥ २० ॥

आयुष्य प्रमाण स्थिति, निग्रहानुग्रह करना स्वरूप प्रभाव, इन्द्रियजन्य लौकिक सुख, दीप्ति स्वरूप द्युति, लेश्या, इन्द्रियोंका विषय, अवधिज्ञानका विषय इन करके ऊपर ऊपरके वैमानिक देव अधिक हो रहे हैं। यानी त्रेसठ प्रस्तारोंमें ऊपर ऊपर स्थिति आदिक बढ रहे पाये जाते हैं।

स्वोपात्तायुष उदयात्तस्मिन् भवे तेन शरीरेणावस्थानं स्थितिः, शापानुग्रहलक्षणः प्रभावः, संद्यद्योदये सतीष्टविषयानुभवनं सुखं, शरीरवस्त्रालंकारदीप्तिर्द्युतिः, कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्योक्ता तस्या विशुद्धिर्लेश्याविशुद्धिः, इन्द्रियस्यावधेश्च विषयो गोचरः प्रत्ययः, विषयशब्दस्येंद्रियावधिभ्यां प्रत्येकमभिसंबंधात् अन्यथोपर्युपरि देवानामिंद्रियाभिवृद्धिप्रसंगात् सिद्धांतविरोधापत्तेः।

अपने करके पूर्व जन्ममें उपार्जित किये गये आयुष्य कर्मका उदय हो रहे उस भवमें उस गृहीत शरीरके साथ अवस्थान बना रहना स्थिति है। क्रुद्ध होकर अपने अधिकृत प्राणियोंमेंसे किसीको अनिष्ट प्राप्त करा देना शाप स्वरूप प्रभाव है। और किसीके ऊपर प्रसन्न होते हुये इष्ट प्राप्त करा देना स्वरूप अनुग्रह नामक प्रभाव है। अन्तरंगमें साता वेदनीय कर्मका उदय होते सन्ते इष्ट विषयोंका अनुभव करना सुख है। शरीर, वस्त्र, अलंकार, गंध, द्रव्य, मुकुट आदिकी दीप्तिको द्युति कहते हैं। कषायोंसे अनुरंजित हो रही योगोंकी प्रवृत्ति लेश्या है। जो कि " गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शना, इत्यादि सूत्रकी ग्यारहवीं वार्तिकमें कही जा चुकी है। उस लेश्याकी विशुद्धि हो जाना लेश्या विशुद्धि है। इन्द्रियोंका और अवधि ज्ञानका विषय यानी ज्ञातव्य प्रमेय इन्द्रिय विषय और अवधि विषय समझ लेना चाहिये। विषय शब्दका इन्द्रिय और अवधि इन प्रत्येकके साथ पीछे संबंध कर दिया जाता है। अन्यथा यानी इन्द्रियोंके साथ विषयका यदि संबंध नहीं किया जायगा तो ऊपर ऊपर देवोंके इन्द्रियोंकी अभिवृद्धिका प्रसंग हो जानेसे सिद्धांतसे विरुद्ध कथनकी आपत्ति हो जायगी अर्थात्–सभी देवोंके इन्द्रियां पांच ही हैं। छह, सात, पच्चीस, पचास आदि इन्द्रियां नहीं हैं। अवधिज्ञान भी देशावधिके मध्य भेद वहां पाये जाते हैं। देशावधिके अतिरिक्त कोई परमावधि, सर्वावधि, या अन्य भेद वहां नहीं है।

सिद्धान्त शास्त्रोंमें ऐसा ही उल्लेख है। अतः इन्द्रिय और अवधि शब्दका पहिले द्वन्द्व समास कर 'इन्द्रियावधी' पद बनालो। पुनः षष्ठी तत्पुरुष द्वारा 'इन्द्रियावधिविषय' पदको व्युत्पन्न कर लेना चाहिये।

स्थित्यादीनां द्वंद्वे स्थितिशब्दस्यादौ ग्रहणं तत्पूर्वकत्वात् प्रभावादीनां। तेभ्यस्ततः इत्यत्रा 'पादाने ह्रीयरुहोरिति तसिः तैर्वा ततस्तसि प्रकरणे "आद्यादिभ्य उपसंख्यान" मिति तसिः।

स्थिति आदिक शब्दोंका स्थितिश्च प्रभावश्च सुखं च द्युतिश्च लेश्याविशुद्धिश्च इन्द्रियावधि विषयश्च, यों निरुक्ति द्वारा द्वन्द्वसमास करनेपर स्थिति शब्दका आदिमें ग्रहण हो जाता है। क्योंकि आयुष्य कर्म द्वारा जीवन स्थिति नियत होनेपर जीवके प्रभाव, सुख, आदि हो सकते हैं। अतः प्रभाव आदिक सब उस स्थितिको पूर्ववर्त्ती मानकर पीछे उपजनेवाले पदार्थ हैं। स्थिति शब्दका स्वन्त भी है किन्तु स्वन्तपना द्युतिमें भी पाया जाता है। लेश्या विशुद्धिमें अच् अत्यधिक हैं। अतः ग्रंथकारने स्थिति पद आदिमें ग्रहण करनेके लिये सबके पूर्वमें वर्तना यही पुष्ट हेतु प्रयुक्त किया है। द्वन्द्व समास कर चुकनेपर स्थिति प्रभाव सुख द्युति लेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषया इस पदसे तेभ्यः ततः इतिः यानी स्थिति प्रभाव सुख द्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयेभ्य इति स्थिति प्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतः यह सूत्रोक्तपद बना लेना चाहिये। यहां "अपादानेऽहीयरुहोः" इस सूत्र करके तसि प्रत्यय करना चाहिये। पंचमी विभक्तिवाले अपादान अर्थकी विवक्षा होनेपर तसि प्रत्यय हो जाता है। किंतु 'स्वपदात् हीयेत' 'पर्वतात् अवरोहति, ऐसे पदोंमें हीय और रुहका योग होनेपर तसि प्रत्यय नहीं हो पाता है। अथवा विषयैः यों तृतीयांत इन स्थिति आदि पदसे विषयतः बनालो तद्धित संबंधी तसि प्रत्ययके प्रकरणमें 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानं' आदि, मध्य, अन्त, पृष्ठ पार्श्व आदि आकृति गणपतित शब्दोंसे पंचमीके अतिरिक्त अन्य विभक्तियोंके अर्थमें भी तसि प्रत्यय हो जाता है। ऐसा वार्त्तिक द्वारा उत्सर्ग सूत्रसे अधिक उपसंख्यान किया गया है। इस कारण यहां तृतीयांत पदसे भी तसि प्रत्यय किया जा सकता है। पंचमी विभक्त्यन्त पदमें इतनी प्रेरकता नहीं है, जितनी कि तृतीयांतपद द्वारा प्रेरककारणता ध्वनित हो जाती है।

उपर्युपरि वैमानिका इति चानुवर्तते तेनैवमभिसंबंधः क्रियते उपर्युपरि वैमानिकाः प्रतिकल्पं प्रतिप्रस्तारं च स्थित्यादिभिरधिका इति।

इस सूत्रमें 'उपर्युपरि' और वैमानिकाः' इन दोनों सूत्रोंकी अनुवृत्ति हो रही हैं। तिस कारण दो सूत्रोंको मिलाकर इस सूत्रका अर्थ यों कर लिया जाता है कि ऊपर ऊपर वैमानिक देव प्रत्येक कल्प और प्रत्येक प्रस्तारमें स्थिति, प्रभाव, आदिकोंसे अधिक अधिक हो रहे विराजते हैं।

द्युतस्ते तथा सिद्धा इत्याह ।

वे वैमानिक देव तिस प्रकार स्थिति आदिकसे अधिक हैं, यह सूत्रोक्त कथन भला किस प्रमाणसे सिद्ध किया गया है ? बताओ, ऐसी तर्कणा उपस्थित होनेपर ग्रन्थकार वक्ष्यमाण कारिकाको कहते हैं।

सप्तभिस्ते तथा ज्ञेयाः स्थित्यादिभिरसंशयं ।
तेषामिह मनुष्यादौ तारतम्यस्य दर्शनात् ॥ १ ॥

वे वैमानिक देव (पक्ष) तिस प्रकार स्थिति, प्रभाव, आदि सात विशेषताओं करके ऊपर ऊपर अधिक हो रहे निस्संशय जान लेने चाहिये (साध्य) । क्योंकि इस दृश्यमान लोकमें उन स्थिति आदिकोंका सेठ, राजा, महाराजा, मल्ल, अध्यापक, आदि मनुष्यों या अनेक पक्षियों अथवा बंदर, सिंह, आदि तिर्यंचोंमें हो रहा तरतम भाव देखा जाता है। (हेतु) अर्थात्–पुण्यशाली व्यापारी सेठ, राजा, मल्ल, योगाभ्यासी, आदिकी आयु अधिक अधिक देखी जाती है। सिपाही, थानेदार, कलक्टर, कमिश्नर, लार्ड, वायसराय, आदिमें उत्तरोत्तर प्रभाव अधिक है, भिक्षुक, किसान, दुकानदार, जमीदार, सेठ आदिमें उत्तरोत्तर सुख भी बढ रहा है । रोगी, अल्परोगी, दास (मजूर) अध्यापक, व्यापारी, मल्ल, महाभट आदि निश्चिन्त पुरुषोंकी शरीर कान्ति भी उत्तरोत्तर बढ रही दीखती है। स्वच्छतासे प्रेम रखनेवाले वैद्य, डाक्टर, कप्तान, कलक्टर, प्रभु, इनमें शरीर, वस्त्र, गहने, आदिकोंकी कान्ति भी बढ रही देखी जा रही है। नारकी क्रूर, तिर्यंच, मनुष्य, देव, भोगभूमियां, सर्वार्थसिद्ध, श्रावक, मुनि, इनमें कषाय और योगकी मिश्रण परिणति स्वरूप लेश्याकी विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ रही प्रतीत होती है। इसी प्रकार रोगी, निर्धन, अधमर्ण, (कर्जदार) घृतभोजी, निश्चिन्त पशु, पक्षी, मण्डलेश्वर चक्रवर्ती, देव इनमें स्पर्शन, घ्राण, चक्षु, आदि इन्द्रियोंके द्वारा विषय ग्रहण करना उत्तरोत्तर बढते चले जा रहे देखे जाते हैं। तथा तिर्यंच, नारकी, भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिष्क, असुरकुमार, सौधर्म, इन्द्र, आनत प्राणतवासी अनुत्तर विमानवासी, मुनि, चरमशरीरी. इनमें अवधिज्ञान उत्तरोत्तर बढता जा पाया रहा शास्त्रों द्वारा ज्ञात हो रहा है। इसी प्रकार तिर्यंच योनिम विशेष रूपसें भी पक्षियोंकी चिरैया, नीलकंठ, चील, गृद्ध आदिकी आयु बढती हुई है। पशुओंमें कुत्ता, छछिया, गधा, घोडा, ऊंट हाथी अथवा बिल्ली, चीता. रींछ, बघेरा, सिंह, अष्टापद, इनकी आयु ऊपर ऊपर अधिक है। जल चरोंमें मेंडक मछली, कछुआ, मगर, घडियाल, इनकी आयु बढ रही पायी जाती है। बन्दर, कुत्ता, भेडिया सिंह, बडे मच्छ, चील, गृद्ध, आदिके प्रभाव, सुख, दीप्ति लेश्या, इन्द्रियोंके विषय इनमें घटती बढतीका हो रहा तारतम्य देखा जाता है। बस, इसी तारतम्य हेतुकी सामर्थ्यसे देवोंके ऊपर ऊपर स्थिति आदिक अधिक हो रहे साध लिये जाते हैं।

मनुष्यादौ स्थितेस्तावत्तारतम्यस्य दर्शनादेवानामुपर्युपरि स्थित्याधिक्यं दृष्टं संभाव्यते। येषामपि समाना स्थितिः तेषामपि गुणतोधिकत्वसिद्धेः। प्रभावस्य च तारतम्यदर्शनं तेनाधिकं। यः प्रभावः सौधर्मकल्पे निग्रहानुग्रहपराभियोगादिषु तदनंतगुणत्वादुपर्युपरि देवानां केवलं मंदाभिमानतयाल्पसंक्लेशतया च न प्रवर्तनं।

मनुष्य, तिर्यंच, आदिमें सबसे पहिली स्थितिके तरतम भावका दीखना होनेसे देवोंके ऊपर ऊपर स्थिति करके अधिकपना देखा जा चुका सम्भावित हो रहा है। सर्वज्ञ देव या दिव्यज्ञानी महात्मा, जिन अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रत्यक्ष कर लेते हैं, उनमेंसे कतिपय पदार्थोंकी वादी, प्रतिवादी पुरुष युक्तियों द्वारा सम्भावना कर लेते हैं। उनकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिको आगे कह देंगे। हां, जिन देवोंकी स्थिति समान भी है, उनके भी अन्य गुणों करके अधिकपना सिद्ध हो रहा है। जैसे कि सौधर्म, ऐशान, स्वर्गोंमें कुछ अधिक दो सागर उत्कृष्ट आयु है। सनत्कुमार, माहेन्द्र, की भी इतनी ही जघन्य आयु है। एक समय अधिक कोई अधिक नहीं समझी जाती है। विजय, वैजयंत, जयंत, की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और सर्वार्थसिद्धिकी तेतीस सागर बराबर है एवं इन्द्रकी आयुके समान ही सामानिक देवोंकी भी आयु है। फिर भी इनमें गुणोंकी अपेक्षा अधिकता है। दश सागर उत्कृष्ट आयुवाले ब्रम्होत्तर स्वर्गवासी देवोंकी अपेक्षा आठ सागर प्रमाण आयुष्यधारी लौकान्तिक देव गुणोंसे अधिक है। जैसे कि निर्धन मूर्ख या रोगीके साठ वर्षतक जीवनकी अपेक्षा नीरोग विद्वान्का पचास वर्षतक जीवन सुचारु (बेहतर) है। दस दिनके काल कोठरी निवास नामक दण्डसे दो माहका कारावास कहीं अच्छा है। फांसीकी अपेक्षा जन्म पर्यन्त द्वीपान्तवास (कालापानी) दण्ड हलका है। तथा प्रभावका भी तरतम रूपसे दीखना होनेसे देवोंमें उस प्रभाव करके ऊपर ऊपर अधिकपना सम्भावित हो रहा है। सौधर्म कल्पमें देवोंका जो निग्रह करना, अनुग्रह करना, दूसरोंको ललाडना, आश्रितोंपर अपराध नियत कर देना, आज्ञा चलाना आदि नियोगोंमें प्रभाव है। ऊपर ऊपर उससे अनंत गुणा होनेसे देवोंका प्रभाव अधिक हो रहा है। केवल अभिमान या अन्य कषायोंकी मन्दता होनेसे और अल्प संक्लेशवान् होनेसे ऊपर ऊपरके देव विचारे आश्रित-देवोंपर निग्रह, अनुग्रह, आदि नियोग चलानेमें प्रवृत्ति नहीं करते हैं। जैसे कोई प्रधानाध्यापक अपनी सज्जनता, मन्द कषाय, औपाधिक क्षणिक पदवियोंमें अनादर आदि कारणोंसे अपने आश्रित अध्यापक, छात्र मंडल या कर्मचारियोंपर स्वकीय पूर्ण प्रभाव नहीं डालता है। भले ही छोटी पदवीवाला प्रबंधक (सुप्रिन्टेन्डेन्ट) छात्रोंपर भारी प्रभाव गांठ लेवें। बात यह है कि गम्भीर प्राणी अपने पूरे प्रभावका व्यय नहीं करते हैं। जो अपने प्रभावोंका अधिकता या अनुचित रूपसे उपयोग करते हैं, वे गम्भीर जीवोंमें निंदाके पात्र होकर छोटे समझे जाते हैं। दूसरोंके उपकार करनेमें अपने प्रभावका भले ही उपयोग किया जाय, किन्तु दूसरोंके निग्रह, अभियोग संचालनमें जो पुरुष जितना भी अपने प्रभावका अल्प व्यय करेगा वह पुरुष उतना ही

उदात्त गम्भीर, महामना, समझा जायगा। हां, साधु अनुग्रह और दुर्जन दण्ड करनेवाले राजवर्गके प्रभुओं (अफसरों) की बात निराली है। देवोंमें ऊपर ऊपर ऐसी निग्रह करानेवाली प्रभुताके उपयोगकी सामग्रीकी भरमार नहीं है।

एवमिह सुखस्य तारतम्यदर्शनात्तेषां सुखेनाधिक्यं। द्युत्या तारतम्यदर्शनादिति द्युत्याधिक्यं। लेश्याविशुद्धेस्तारतम्यदर्शनात्तयाधिक्यं, समानलेश्यानामपि कर्मविशुद्ध्यधिकत्वसिद्धेः। इंद्रियविषयस्य तारतम्यदर्शनादिंद्रियविषयेणाधिक्यं। तद्देवधिविषयेण तथा संभावनायां बाधकाभावात्।

इसी प्रकार यहां मनुष्योंमें सुखके तारतम्यका दर्शन होनेसे उन कल्प और कल्पातीत देवोंके भी लौकिक सुखों करके अधिकपना सिद्ध कर दिया जाता है। द्युति यानी दीप्ति करके भी यह तारतम्य देखा जाता है। इस कारण आगमगम्य, परोक्ष, देवोंमें इस दृष्टान्तको सामर्थ्य अनुसार द्युति करके अधिकपना साध दिया जाता है। लेश्याओंकी विशुद्धिका तारतम्य यहां मनुष्य या तिर्यंचोंमें देखा जाता है। इस कारण उस लेश्याविशुद्धि करके अधिकपना देवोंमें सम्भावने योग्य है। " पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु " इस सूत्र द्वारा वैमानिक देवोंमें लेश्याविधि कह दी जायगी, किन्तु जिन देवोंकी लेश्या समान है, उनके भी उत्तरोत्तर प्रस्तारोंमें कर्मोंकी विशुद्धिका अधिकपना सिद्ध है। जैसे कि सौधर्ममें पीत लेश्या हैं, सानत्कुमार स्वर्गमें भी पीत लेश्या है। तथा आरण, अच्युत, ग्रैवेयक, अनुदिश, अनुत्तर विमानवासी देवोंमें सबके एकसी शुक्ल लेश्या है। फिर भी कर्मोंके मन्द, मन्दतर, मन्दतम, उदय अनुसार लेश्याकी विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ रही है। योंही यहां मनुष्य तिर्यंचोंमें छह इन्द्रियोंके विषयका तरतम भाव देखा जाता है। अतः देवोंमे भी इन्द्रियोंके विषय करके अधिकपना अनुमित हो जाता है। उन्हींके समान देशावधिके अधिक अधिक हो रहे विषय करके तिस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक हो रहे देशावधिके विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी सम्भावना करनेमें बाधक प्रमाणोंका अभाव है। ' असंभवद्बाधकत्वाद्धस्तुसिद्धिः '।

गत्यादिभिरधिकत्वप्रसंगे तन्निवृत्त्यर्थमाह।

कोई प्रतिवादी कटाक्ष करता है कि जिस प्रकार स्थिति, प्रभाव, आदि करके ऊपर ऊपर अधिकपना है, उसी प्रकार वैमानिक देवोंमें गति, शरीर, आदि करके भी अधिकपनका प्रसंग प्राप्त हो जायगा ? ऐसी दशामें उस अनिष्ट प्रसंगकी निवृत्तिके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥

गति, शरीर, अवगाहना, परिग्रह और अभिमानसे वे वैमानिक देव उत्तरोत्तर प्रस्तारोंमें हीन हीन होकर विराज रहे हैं।

आर्शिवाद : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उभयनिमित्तवशादेशांतरप्राप्तिनिमित्तः कायपरिस्पंदो गतिः, शरीरमिह वैक्रियिकमुक्तलक्षणं ग्राह्यं, लोभकषायोदयान्मूर्छा परिग्रहो वक्ष्यमाणः, मानकषायोदयात् प्रतियोगिष्वप्रणतिपरिणामोऽभिमानः गतिशरीरपरिग्रहाभिमानैर्गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः उपर्युपरि वैमानिकाः प्रतिकल्पं प्रतिप्रस्तारं च हीनाः प्रत्येतव्याः ।

अन्तरंग और बहिरंग दोनों निमित्त कारणोंके वशसे एक देशसे अन्य देशोंकी प्राप्तिका निमित्त हो रही शरीरके परिस्पन्दरूप क्रियाको गति कहते हैं। कार्योंके उपादान तथा अन्तरंग, बहिरंग, प्रेरक, उदासीन, निमित्त ये कारण जब जुड जाते हैं, तब कार्यकी उत्पत्ति हो जाती है । आकाशमें गति होनेके उपादान और बहिरंग अन्तरंग निमित्त कारण नहीं हैं। सिद्धक्षेत्रमें विराज रहे सिद्ध परमेष्ठियोंमें गतिका बाहिरंग कारण गति नाम कर्मका उदय नहीं है। छातीमें वेग या अश्ववार इन प्रेरक कारणोंके नहीं मिलनेपर घोडा गमन नहीं करता है। उदासीन कारण समान मानी गयी कीलके नहीं होनेसे चाक शीघ्र भ्रमण नहीं कर पाता है। अतः शरीरधारी देवोंकी गतिमें उपादान कारण जीव और शरीर तथा निमित्त कारणोंमें प्रेरक निमित्त छातीके वेग, मनका उत्साह, गति कर्मका उदय ये अन्तरंग हैं। वाहन, विमान, पांव, भूमि आकाश, भ्रमणेच्छा, प्रभुकी आज्ञाका पालन, ये बहिरंग हैं। धर्मद्रव्य, आकाश, उदासीन कारण हैं। यों अन्तरंग, बहिरंग, कारणोंसे देवोंकी गति पर्याय बनती है। यहां देवोंके प्रकरणमें वैक्रियिक शरीर ग्रहण करना चाहिये, जिसका कि लक्षण हम द्वितीयाध्यायमें कर चुके हैं। लोभ कषायके उदयसे संकल्प, विकल्प, स्वरूप मूर्च्छा होकर विषयोंमें आसक्ति हो जाना परिग्रह है। यह मूर्छा स्वरूप परिग्रह स्वयं सूत्रकार द्वारा आगे सातवें अध्यायके ' मूर्च्छा परिग्रहः ' सूत्रमें परिभाषित कर दिया जावेगा। चारित्र मोहनीय कर्मकी उत्तर प्रकृति मान कषायके उदयसे प्रतिस्पर्धा रखनेवालों या साथवाले प्रतियोगी मनुष्योंमें प्रणाम नहीं करना, नहीं दबना, स्वरूप परिणाम अभिमान है। उक्त चार पदोंका द्वन्द्व समासकर पुनः तृतीय विभक्तिके गति शरीर परिग्रहाभिमानों करके इस अर्थमें तसि प्रत्यय कर " गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः " यह पद बना लेना चाहिये। प्रत्येक कल्प और प्रत्येक प्रस्तारमें ऊपर ऊपर वैमानिक देव इन गति, शरीर, परिग्रह, और अभिमान करके हीन हो रहे समझ लेने चाहिये। यह सूत्रका मूल अर्थ है ।

कुतस्ते तथेत्याह ।

वे वैमानिक देव भला किस कारणसे ऊपर ऊपर तिस प्रकार गति आदिक करके हीन हो रहे हैं ? बताओ, इस प्रकार आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान वचनको कहते हैं।

उपर्युपरि ते हीना गत्यादिभिरसंभवात् ।
तत्कारणप्रकर्षस्य परिणामविशेषतः ॥ १ ॥

गति, शरीर, आदिकों करके वे देव ऊपर ऊपर हीन हो रहे हैं (प्रतिज्ञा) । क्योंकि ऊपर ऊपर तिस जातिके परिणाम विशेष होते रहनेसे उन गति आदिकोंके कारणोंकी प्रकर्षताका असम्भव है (हेतु) । अर्थात्-पूर्वजन्ममें उपात्त शुभ कर्मोंके अनुसार विशुद्धिका अध्यवसाय बढता बढता रहनेसे और अत्यल्प संक्लेशभाव होनेसे वैमानिक देव सामर्थ्य, सुख, सन्तोष, आदिके अधिक होनेपर भी गति आदि करके हीन हैं ।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गत्या तावदुपर्युपरि हीना देवास्तत्कारणस्य विषयाभिष्वंगाद्रेकस्य हीनत्वात् तथा परिणामेनोत्पत्तेः । शरीरेणापि हीनास्तत्कारणस्य प्रवृद्धशरीरनामकर्मोदयस्य हीनत्वात् । सौधर्मैशानयोर्देवानां शरीरं सप्तारत्निप्रमाणं, सानत्कुमारमाहेंद्रयोरत्निहीनं कापिष्टांतेषु, ततोपि सहस्रारांतेष्वरत्निहीनं, ततोप्यानतप्राणतयोर्धारत्निहीनं, ततोप्यारणाच्युतयोः, ततोप्यधोग्रैवेयकेषु, ततो मध्यग्रैवेयकेषु, ततोप्युपरिमग्रैवेयकेष्वनुदिशविमानेषु च, ततोनुत्तरेषु तत्रारत्निमात्रत्वादेवशरीरस्येति हि श्रुतिः ।

सबसे प्रथम कही गयी गति करके तो ऊपर ऊपरके देव हीन हो रहे हैं । क्योंकि उस गतिके कारणभूत हो रही विषयोंमें तीव्र आसक्तिकी अधिकता (चाव) के हीन हीन होनेसे तिस प्रकार अल्प गति परिणाम करके वैमानिकोंकी देव पर्याय उपजती रहती है । अर्थात्-क्रीडा, गमनविनोद (शैल सपाटा) करनेके लिये सौधर्म, ऐशान, स्वर्गके देव जितना यहां वहां असंख्याते द्वीप समुद्रोंमें बार बार गमन करते हैं, उतना ऊपर ऊपरके देव यहां वहां नहीं घूमते फिरते हैं । विनोदकी बात दूर है । धार्मिक क्रियाओंके लिये भी ऊपर ऊपरके देव अत्यल्प आते जाते हैं । वैमानिक अहमिन्द्र देव तो नन्दीश्वर पर्व पूजा, सुमेरु चैत्यालय पूजन, जिन जन्म महोत्सव आदिमें भी वहां नहीं आते जाते हैं । गतिके समान ही शरीर करके भी वैमानिक देव ऊपर ऊपर हीन हैं । क्योंकि उस लम्बे, चौडे, मोटे, शरीरके कारणभूत शरीर नामक नामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रही ' प्रवृद्ध शरीर ' संज्ञक नामकर्मके उदयकी हीनता है । अर्थात्--महामत्स्य, हाथी, छठवें सातवें नरकके नारकी, भोगभूमियां, नन्दीश्वर द्वीपकी वावडियोंके कमल, बारह योजनका शंख, स्वयंप्रभपर्वतके बाह्य भागमें पाये जा रहे उत्कृष्ट अवगाहनाके त्रस जीव, इन स्थूल अवगाहनावाले जीवोंके देहविपाकी शरीर प्रकृतिकी विशेष भेद हो रही प्रवृद्धशरीर नामक प्रकृतिका उदय विद्यमान है । किन्तु वैमानिक देवोंके प्रवृद्ध शरीर नाम कर्मका उदय नहीं है, किन्तु ' क्षुल्लक शरीर ' संज्ञक नाम कर्मका उदय है । शरीर प्रकृतिके अवगाहनाओंके भेद अनुकूल असंख्याते भेद हैं । वैमानिकोंमें उत्तरोत्तर छोटे छोटे हो रहे शरीरोंके अन्तरंग कारण वैसी वैसी स्तोक शरीर प्रकृतिका उदय पाया जा रहा

है। तदनुसार सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें देवोंका शरीर सप्त अरत्नि प्रमाण है। 'प्रकोष्ठे विस्तृतकरे हस्तो मुष्टचा तु बद्धया। स रत्निः स्यादरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिना' इस अमरकोष अनुसार कोनीसे लेकर पसारी हुई छोटी अंगुलीतक अरत्नि नामका नाप है। कपडे, भींत, आदिके नापमें बहुत स्थानोंपर इतने ही हाथका उपयोग प्रचलित है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गोंमें एक हाथ हीन यानी छह हाथ प्रमाण लम्बा शरीर है। उन माहेन्द्र देवोंसे भी ऊपर ब्रम्हलोक, ब्रह्मोत्तर, और कापिष्ठ पर्यन्त देवोंमें एक हाथ हीन यानी पांच हाथ परिमाण ऊंचा शरीर है। उनसे भी ऊपर सहस्रार पर्यन्त शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार इन चार स्वर्गोंमें देवोंका एक अरत्नि हीन यानी चार हाथ ऊंचा शरीर है। उससे भी ऊपर आनत प्राणत, स्वर्गोंमें आधा अरत्नि हीन अर्थात्-साढे तीन हाथका शरीर है। उससे भी ऊपर आरण अच्युत स्वर्गोंमें आधा अरत्नि हीन यानी तीन हाथका शरीर है। उस अच्युतसे भी ऊपर तीन अधो ग्रैवेयकोंमें आधा अरत्नि कम यानी ढाई हाथ लम्बा शरीर है। उससे भी ऊपर तीन मध्य ग्रैवेयकोंमें आधा हाथ कम अर्थात्-दो हाथ ऊंचा शरीर है। उन मध्यग्रैवेयकोंसे भी ऊपर ऊपरले तीन उपरिम ग्रैवेयकोंमें और तदुपरि नौ अनुदिश विमानोंमें यों बारह स्थानोंपर देवोंका डेढ हाथ प्रमाण ऊंचा शरीर है। उन अनुदिशोंसे ऊपरले वहां अनुत्तर विमानोंमें देवोंका शरीर केवल एक अरत्नि (हाथ) प्रमाण ऊंचा है। यों आप्तोक्त सिद्धांत शास्त्रों द्वारा सुना जा रहा है।

परिग्रहेणापि विमानपरिवारादिलक्षणेन हीनाः तत्कारणस्य प्रकृष्टस्याभावात्। सौधर्मादिषु हि देवानामुपर्युपरि नामकर्मविशेषोल्पाल्पतराल्पतमविमानपरिवारहेतुरंतरंगो बहिरंगस्तु क्षेत्रविशेषादिरिति कारणापकर्षतारतम्यात् कार्यापकर्षतारतम्यसिद्धिः।

विमान संख्या, सामानिक आदि परिवार, सेना, भूषण, वाहन आदि स्वरूप परिग्रह करके भी वैमानिक देव ऊपर ऊपर हीन हो रहे हैं। क्योंकि उस परिग्रहके कारणभूत होरहे मध्यमजातीय पुण्यके प्रकर्षका अभाव है। अर्थात्-दरिद्र पुरुषोंके तीव्र पापका उदय होनेसे सुखोपयोगी परिग्रह नहीं मिल पाता है। परिस्थितिवश अल्पसंतोषी पुरुषोंके या जघन्य भोगभूमियोंके जघन्यपुण्यका उदय होनेसे सुखोत्पादक थोडा परिग्रह एकत्रित हो जाता है। मध्यम जातिके पुण्य अनुसार राजा, महाराजाओं, भवनत्रिक देव, सौधर्म स्वर्गी आदिके अत्यधिक परिग्रह जुड रहा है। किंतु उत्तम जातीय पुण्यका उदय होनेसे ऊपरले देव या अहमिंद्र अथवा उत्तम भोगभूमि के जीवों के अत्यल्प परिग्रह है। कारण कि सौधर्म आदि मे देवोंके ऊपर ऊपर अल्प विमान परिवार आदि का हेतु हो रहे और अल्पतर विमान परिवार आदि का हेतु हो रहे तथा उससे भी थोडे अल्पतम विमान परिवार आदि परिग्रह के हेतु हो रहे विशेष नामकर्म का उदय यह अन्तरंग कारण विद्यमान है और सौधर्म स्वर्ग, आनत, प्राणत, ग्रैवेयक, अनुत्तर ये क्षेत्रविशेष ऊपर ऊपर अल्पकषाय, लौकिकभावोंकी त्रुटि आदिक तो परिग्रह की हीनता में बहिरंग कारण हैं। इस प्रकार अन्तरंग कारण और बहिरंग कारणों के अपकर्षका ऊपर ऊपर तरतम भाव होने से परिग्रह जुड जाना स्वरूप कार्य के तरतम द्वारा होरहे अपकर्ष की सिद्धी

होजाती है अर्थात् ऊपर ऊपर देवों के लोभ कषाय का मन्द, मन्दतर मन्दतम, उदय है तथा अल्प अल्पतर, अल्पतम परिच्छदों के कारण उन उन स्तोक, स्तोकतर, स्तोकतम, विशिष्ट पुण्य प्रकृतियों के उदय अनुसार वैसे वैसे कार्य होजाते हैं।

कुतोभिमानेन हीनास्ते ? तत्कारणप्रकर्षस्याभावादेव । किं पुनरभिमानकारणं ? शरीरिणामप्रतनुकषायत्वं मनसः संक्लेशोवधिशुद्धिविरहादतत्वावलोकनमसंवेगपरिणामश्च तस्य हानितारतम्यादुपर्युपरि देवानामभिमानहानितारतम्यं तत्पुनरभिमानकारणस्य हानितारतम्यं तत्प्रतिपक्षभूतानां प्रतनुकषायत्वाल्पसंक्लेशावधिविशुद्धितत्वावलोकनसंवेगपरिणामाधिक्यानां तारतम्यादुपपद्यते पूर्वजन्मोपात्तविशुद्धाध्यवसायप्रकर्षतारतम्यादुपर्युपरि तेषामुपपादस्य घटनाच्च ।

वे वैमानिक देव अभिमान से हीन होरहे भला किस कारण से हैं ? इस प्रश्नपर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि उस अभिमान के कारणभूत कषायों के प्रकर्ष का अभाव होजाने से ही वे अभिमानहीन हैं। फिर कोई पूछता है कि अभिमानका कारण क्या है ? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि शरीरधारी जीवों का अत्यल्प कषायों से रहितपना मन का संक्लेश, अवधिज्ञान की विशुद्धि की विकलता होजाने से तात्त्विकदृष्टि द्वारा यथार्थतत्त्वों का अवलोकन नहीं होना, स्वकीय परिणामों में संवेग या वैराग्य भाव नहीं जगना, ये सब अभिमान के कारण हैं। गर्व के उन कारणों की हानिका तरतम भाव होने से ऊपर ऊपर देवों के अभिमान की न्यूनता का तरतम भाव सध जाता है। वह अभिमान के कारणों की हानिका तरतमभाव तो फिर उसके प्रतिपक्षभूत होरहे विशेष सूक्ष्मकषाय यानी मन्दकषाय परिणाम, अल्प संक्लेश, अवधि ज्ञान की विशुद्धि, वास्तविक जीव आदि तत्त्वों का अवलोकन, गर्व, क्रोध, आदि विभाव परिणामों के औपाधिकपने पर पहुंचकर ज्ञप्ति कर लेना, संसारभीरुता या लौकिक कार्यों में निरुत्साह, अरुचिरूप परिणाम इनकी अधिकता के तारतम्य से बन जाता है। क्योंकि पूर्व जन्मों में पुरुषार्थ द्वारा गृहीत हुये विशुद्ध अध्यवसायों की प्रकर्षता के तारतम्य से ऊपर ऊपर स्थानों में उन देवों का उत्पाद घटित होरहा है। भावार्थ–सौधर्म से ऊपर ग्रैवेयकतक भले ही वे देव सम्यग्दृष्टि होय चाहे मिथ्यादृष्टि होय, उनके कषायों की मन्दता या अल्प संक्लेश आदि हेतु पाये जा सकते हैं। वर्तमान में भी अनेक अजैन विचारे कतिपय जैनों की अपेक्षा मन्दकषाय देखे जाते हैं। प्रधानाध्यापकपन, सेठियापन, जमीदारी, राज्याधिकार, राजपदवियां, चौधरायत, पंचपना, सुन्दरता, जातिगर्व, ज्ञानमद, तपस्या आदि का गर्व जब कि दूसरे दूसरे मनुष्यों में अत्यल्प पाया जाता है किन्तु स्वयं को धर्मात्मापनका गर्व कररहे किसी किसी व्यक्ति में उन पदों का अभिमान चकाचक भर रहा है। अल्प संक्लेश भी मिथ्यादृष्टियों के पाया जाता है। समीचीन अवधिज्ञान द्वारा जैसे विशुद्धि होती है विभंग द्वारा भी विलक्षण जाति की विशुद्धि होना सम्भव है अनेक अजैन साधुओं में कुश्रुतज्ञान द्वारा होरही विशुद्धि इसका दृष्टान्त है। इसी प्रकार तत्वावलोकन भी समझलिया जाय। ग्यारह अंग नौ पूर्वपाठी मिथ्यादृष्टि के ज्ञानसे एक अक्षरको भी शुद्ध नहीं बोलने समझनेवाले सम्यग्दृष्टि के तत्वावलोकन को ज्ञानदृष्टया हीन कहने में लज्जा

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्या है ? सम्यग्दर्शन के बिना भी यथोचित तत्वोंका आलोचन होसकता है, भलें ही उसको औपाधिक सम्यग्ज्ञान नहीं कहो। इसी प्रकार संसार से भीति कराने वाले संवेग परिणाम मिथ्या दृष्टि के भी होसकते हैं। रूप,धन, विद्या, कुल, बलके अभिमान, को सहस्रों अजैन कुचल डालते हैं। क्रोध, गर्व, ये सब औपाधिक भाव हैं, दुःखकारण हैं, इन सब बातों को सैकडों फकीर, भिक्षुक आदिक समझते हुये गारहे हैं। लाखों अजैन साधु संवेगवश अभिमानके कारणों को लात मारते हुये मन्दकषाय, अल्प संक्लेश, आत्मविशुद्धि, तत्वपर्यालोचना, संवेग, वैराग्य परिणामों को धाररहे बनों या पर्वत, गुफाओं, मे निवस रहे हैं। अतः ऊपर ऊपर के देव चाहे सम्यग्दृष्टि होंय अथवा मिथ्यादृष्टि होंय, परिग्रह और अभिमानसे हीन हीन होरहे हैं। नौ अनुदिश और पांच अनुत्तरों में तो सम्यग्दृष्टि ही हैं। उनकी परिग्रहहीनता और अभिमानहीनता के अन्तरंग कारण मन्दकषायपन आदि को सुलभतासे समझाया जा सकता है। श्रद्धालु जैन या भक्त पुरुषों के प्रति इसमे अधिक युक्तियों के दिखलाने की आवश्यकता नहीं है। मन्द कषाय होने से अल्पसंक्लेश होता है। अल्प संक्लेश से विशुद्ध अवधि उपजती है। उससे ऊपर ऊपर देव शारीरिक,मानसिक, दुःखों से घेरे जारहे असंख्य नारकी तिर्यंच या मनुष्यों को तात्त्विक रूप से देखते हैं। उसको निमित्त पाकर संवेग परिणाम होता है। उस संवेगसे अनन्त दुःख के हेतु परिग्रहोंमें अभिमान नष्ट होजाता है। यों उक्त पदों की एक वाक्यता करली जाती है।

कथं पुनरुपर्युपरिभावो वैमानिकानां संगच्छत इत्याशंकायामिदमाह।

कोई प्रतिवादी पण्डित आशंका उठाता है कि वैमानिक देवों का फिर ऊपर ऊपर उपपाद जन्म होना भला किस प्रकार संगत होजाता है ! ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री. विद्यानन्द स्वामी समाधानार्थ उत्तर वार्त्तिक को कहते हैं।

स्थित्यादिभिस्तथाधिक्यस्यान्यथानुपपत्तितः।
नोपर्युपरिभावस्य तेषां शंकेति संगतिः ॥ २ ॥

स्थिति, प्रभाव, आदि कों करके तिस प्रकार अधिकपन की अन्यथा यानी ऊपर ऊपर उपपाद के विना अन्य प्रकारों से सिद्धि नहीं होसकती है। अतः उन वैमानिक देवों के उक्त ऊपर ऊपर स्वर्गों, पटलों या कल्पातीत विमानों में उपपाद जन्म लेनेकी शंका नहीं करनी चाहिये अर्थात् इस प्रकार यहां विशुद्ध परिणामों को निमित्त पाकर हुये पुण्यकर्म भेदोंके अनुसार देव ऊपर ऊपर उपज जाते हैं। स्थिति, प्रभाव, आदि की अधिकता होनेसे ही देवों में ऊपर ऊपर गति शरीर, आदि की हीनता स्वयमेव सिद्ध होजाती है। जैसे कि किसी धर्मात्मा पुरुष में जिनेन्द्रभक्ति, दयाभाव, व्रतपालन, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, आचरण, की वृद्धि होते संते स्वयं वहां यहां व्यर्थ गमन, शरीरवृद्धि, परिग्रह अहंकार इन की त्रुटि निर्णीत होजाती है। सम्यग्दर्शन, सदाचार आदि गुणों की अधिकता से सज्जन पुरुषों में उस पुरुष की उत्तरोत्तर ख्याति बढती है। अथवा देश में सुराज्य होने पर सुभिक्षा, शिक्षा, नीरोगता, समृद्धि, वाणिज्य

स्वात्मगौरव आदि की वृद्धि होते हुये बिना ही प्रयत्न के दरिद्रता, पराधीनता, पद पद पर अपमान सहना, दुर्भिक्ष आदि की हानि होजाती है। यों पूर्वापर सूत्र वाक्यों की संगति कर लेनी चाहिये।

पूर्वजन्मभाविस्वपरिणामविशेषविशुद्धितारतम्योपात्तशुभकर्मविशेषप्रकर्षतारतम्यात् स्थित्यादिभिराधिक्यं तावद्वैमानिकानां सूत्रितं सर्वथा बाधकविधुरत्वात्तदन्यथानुपपत्त्या च तेषामुपर्युपरिभावस्य संगतिः। पूर्वजन्मभाविस्वपरिणामविशेषविशुद्धितारतम्योपात्तशुभकर्मतारतम्यात् स्थित्यादिभिराधिक्यस्य दर्शनात्, क्षीणान्यथानुपपत्तिरिति चेन्न, तदाधिक्यविशेषस्य तेषामुपर्युपरिभावेनान्यथानुपपत्तिसिद्धेः।

पूर्व जन्म मे होनेवाले स्वकीय परिणाम विशेषों की विशुद्धि के तरतमभाव करके उपार्जित किये गये शुभ पुण्य कर्म विशेषों को प्रकर्षता के तारतम्य से स्थिति, प्रभाव, आदि कों करके वैमानिक देवों का अधिकपना तो सूत्रकार द्वारा पूर्व सूत्र में सूचित कर दिया गया ठीक है। क्योंकि बाधक प्रमाणों की सभी प्रकारों से विकलता होजाने के कारण उन स्थिति आदिकों करके अधिकपना वस्तुतः सिद्ध होजाता है। और उस स्थिति आदि के अधिकपन की अन्यथानुपपत्ति करके उन देवों के ऊपर ऊपर उपपाद लेने की निश्शंक संगति होजाती है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि पूर्व जन्ममें हो चुके स्वकीय परिणामविशेषों की विशुद्धि के तारतम्य अनुसार उपार्जित किये गये शुभ पौद्गलिक कर्मों के उदय की तरतमता से स्थिति आदि करके अधिकपना देखा जाता है। अतः अन्यथानुपपत्ति क्षय को प्राप्त हो चुकी समझनी चाहिये अर्थात् स्थिति आदि के आधिक्य का शुभपरिणामों द्वारा उपात्त किये गये शुभकर्मों के तारतम्य के साथ अविनाभाव है। स्थिति आदि की अधिकता का देवों के ऊपर ऊपर जन्म होने के साथ अविनाभाव नहीं है। ऐसी अविनाभावविकलदशा में उस पूर्वसूत्रोक्त स्थिति आदि के आधिक्य से वैमानिक देवों का ऊपर ऊपर उपपाद सिद्ध नहीं हो सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उन स्थिति आदिकों के अधिकपन स्वरूप विशेष की उन देवों के ऊपर ऊपर उपपाद होने के साथ अन्यथानुपपत्ति सिद्धि होरही है। यहाँ भी निजपुण्य अनुसार कुलीनता, अधिक स्थिति, ऊंचा प्रभाव, विशिष्ट सुख, सुन्दर कान्ति, उत्तम लेश्या, वाले पुरुष उच्च स्थानों में जन्म लेते हैं। पुण्यशाली, धर्मात्मा श्रावक, या मुनियों में तो गति, शरीर परिग्रह और अभिमानकी हीनता भी देखी जाती है। अतः कारिका मे कही गयी अन्यथानुपपत्ति निर्बल नहीं है।

अथाद्येषु त्रिषु निकायेषु लेश्याविधानमुक्तं वैमानिकनिकाये संप्रत्युच्यते।

आदि की भवनवासी, व्यन्तर,ज्योतिष्क इन तीन निकायों में लेश्या का विधान सूत्रकार करके "आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः, इस सूत्र द्वारा पहिले कहा जा चुका है। अब प्रकरण अनुसार चौथी वैमानिक निकाय में लेश्या का विधान सूत्रकार द्वारा इस समय कहा जाता है।

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

दो, तीन, और शेषयुगलों में पीत, पद्म, और शुक्ल लेश्या को धारनेवाले देव निवास कर रहे विराजते हैं। अर्थात् सौधर्म ऐशान और सनत्कुमार माहेन्द्र इन दो युगलों में पीत लेश्या है। ब्रह्मब्रह्मोत्तर, लांतव कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र, इन तीन युगलों में पद्मलेश्या है। और शेष ऊपर के विमानों में देवोंके शुक्ललेश्या है।

ननु च पूर्वमेतद्वक्तव्यं तत्र पुनर्लेश्याभावात् सूत्रस्य लाघवोपपत्तेः "आदितस्त्रिषु पीतांतलेश्याः,, ततः " पीतपद्मशुक्ला द्वित्रिशेषेष्विति,,। तदसत्, तत्र सौधर्माविग्रहणे सूत्रगौरवप्रसंगादग्रहणेऽभिसंबंधानुपपत्तेः संक्षेपार्थमिहैव वचनोपपत्तेः।

यहाँ कोई पण्डित आक्षेप करता है कि इस सूत्र को पहिले ही कहना चाहिये था। वहाँ लेश्या शब्द विद्यमान है। फिर लेश्या शब्दके नहीं उपादान करने से सूत्रका लाघव गुण बन जाता है। देखो, आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः, आदि से तीन निकायों में पीत पर्यंत लेश्या वाले देव हैं। इस सूत्र के लगे हाथ ही उससे पीछे " पीतपद्मशुक्लाद्वित्रिशेषेषु, यों सूत्र बनाकर पुनः लेश्या शब्द नहीं देना पड़ा। अतः गुणकृत और परिमाणकृत लाघव सेंत मेंत प्राप्त होजाता है। ग्रन्थकार कहते हैं वह आक्षेप करना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि वहाँ तीसरे सूत्र से आगे ही सौधर्मैशान आदि वैमानिकों के प्रतिपादक लम्बे सूत्रका निरूपण कर देनें पर सूत्र के गौरव दोष का प्रसंग होता है। यदि सौधर्मैशान आदि सूत्रका वहाँ तीसरे, चौथे, सूत्र के अवसर पर कण्ठोक्त उपादान नहीं किया जायगा तो लाघवार्थ वहां किये जाने योग्य " पीतपद्मशुक्ल लेश्या द्वित्रिशेषेषु " इसका ठीक ठीक सम्बन्ध कर देना नहीं बनसकेगा। इस कारण बढ़िया संक्षेप के लिये सौधर्म ऐशान आदि का निरूपण करचुकने पर यहाँ ही संक्षेप के लिये इस सूत्र का निरूपण करना सधता है। वस्तुतः विचारा जाय तो आक्षेपकार की अपेक्षा सूत्रकार को संक्षेपविधान का अधिक लक्ष्य है। अतिथिको सम्पूर्ण मिष्ट भोजनों का आद्य बीज समझाते हुये पोंडे की एक पमोली परोस देने से उसकी अनेक स्वादपूर्वक क्षुधानिवृत्ति नहीं होजाती है। तथा सभी प्रकार के वस्त्रों का मूल कारण विनौलेको दे देने से जामाता का शरीराच्छादन पूर्वक शोभा बढाते हुये शीतबाधा निवारण नहीं होसकता है। ऐसा लाघव भी ओछेपन का सम्पादक है।

पीतपद्मशुक्लानां द्वंद्वे पीतपद्मयोरौत्तरपदिकं ह्रस्वत्वं द्रुतायान्तपरकरणान्मध्यमविडंबितयोरुपसंख्यानमित्याचार्यवचनदर्शनात् मध्यमाशब्दस्य विडंबितोत्तरपदे द्वंद्वेपि ह्रस्वत्वसिद्धेः। ततः पीतपद्मशुक्ललेश्याः येषां देवानां ते पीतपद्मशुक्ललेश्या इति द्वंद्वपूर्वान्यपदार्था वृत्तिः।

पीता च पद्माच शुक्ला च यों पीता और पद्मा तथा शुक्ला पदों का इतरेतर द्वन्द्व-समास करने पर पीता और पद्मा पदों का उत्तरपद की अपेक्षा ह्रस्व होना बन जाता है। अतः द्वन्द्व समास में पुंवद्भाव नहीं होसकने का कटाक्ष नहीं करना चाहिये। जैसे कि संगीत

शास्त्र में आचार्य का यह वचन देखा जाता है कि द्रुता यानी शीघ्रता की मात्रा होनेपर तपर करने से मध्यम और विडम्बिता का सूत्रमार्ग से बाहर उपरिष्ठात् वैसा ही कथन कर देना चाहिये। अतः मध्यमा शब्द का विडम्बिता इस उत्तर पद के परे रहते सन्ते द्वन्द्व में भी ह्रस्व होना सिद्ध है। भावार्थ–द्रुतमात्रा मध्ययात्रा और विलम्बितमात्रा यानी शीघ्र बोली गयी या मध्यम रूप से बोली गयी और विलम्ब से बोली गयीं मात्रायें " द्रुतमध्यमविलम्बिता मात्रा कही जाती है। यहाँ उत्तर पद की अपेक्षा स्त्रीलिंग द्रुता और मध्याशब्द को समास कर चुकने पर ह्रस्व होजाता है। आज कल के इन पश्चात् भावी पुरुषों को शब्दशास्त्र अनुसार साधु शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। किन्तु व्याकरण के नियम पूर्वआचार्यों के वचन अनुसार बनाने चाहिये। भले ही व्याकरण में कोई सूत्र नहीं मिले, ऐसी दशामें ऋषियोंके केवल वाक्य पद्धति अनुसार उपसंख्यान कर लिया जाता है अर्थात् "तपरस्तत्कालस्य,, अत इत् उत् इनसे केवल अकार इकार उकारका ही बोध हो सकता है। इस नियम अनुसार द्रुता मात्रा में तपर करने पर द्रुता को ही शीघ्र बोल सकते हैं। मध्या और विलम्बिता का शीघ्र उच्चारण नहीं कर सकोगे। किन्तु गाने की अवस्थामे शीघ्र शीघ्र उच्चारण करते हुये तपर करने पर मध्यमा और विडम्बिता मात्राओं का भी शीघ्र उच्चारण कर लेना चाहिये। तभी राग या रागिनी ठीक गाये जा सकेंगे। तिस कारण पूर्व पदों को ह्रस्व होजाने से " पीतपद्मशुक्ललेश्याः ,, यह द्वन्द्व समासान्त पद बन जाता है। जिन देवों के पीतपद्मशुक्ललेश्यायें पायीं जाती हैं, वे देव पीत-पद्मशुक्ल लेश्यावाले हैं। इस प्रकार पूर्व में सर्व पदार्थ प्रधान द्वन्द्व नामक समास वृत्ति कर चुकने पर पुनः अन्य पदार्थ को प्रधान करने वाली बहुव्रीहि वृत्ति कर ली गयी है। यहां यह भी कहना है कि " पूज्यापादा वृत्तिकारास्तु अथवा पीतश्च पद्मश्च शुक्लश्च पीत-पद्मशुक्लाः वर्णवन्तोऽर्थाः तेषामिव लेश्या येषां ते पीतपद्मशुक्ललेश्या इत्याहुः " इन पुल्लिग शब्दों द्वारा वाच्य होरहे पीतपद्म और शुक्ल वर्णवाले किन्ही किन्हीं पदार्थोंकीसी लेश्या जिन वैमानिक देवों की है, वे पीतपद्मशुक्ललेश्यावाले देव हैं। सर्वार्थसिद्धिकार यों द्वन्द्व गर्भित बहुव्रीहि समास करके ह्रस्व करनेके झगडे को ही मिटा देते हैं। उपमान, उपमेय का वाचक कोई विशिष्ट शब्द नहीं होने से ग्रन्थकार को उक्त विग्रह करने में अस्वरस प्रतीत होरहा है।

द्वित्रिशेषेष्वित्यधिकरणनिर्देशाद्द्व्यादिकल्पादीनामाधारत्वसिद्धेः।

"द्वित्रिशेषेषु" यानी दो तीन और शेष वैमानिकों में इस प्रकार सप्तमी विभक्ति वाले अधिकरणका सूत्रकार द्वारा निर्देश कर देने से दो आदि कल्प और आदि पदसे ग्रहण किये गये ग्रैवेयक आदि कल्पातीतों के आधारपन की सिद्धि होजाती है। अर्थात् ऊपर ऊपर कल्प आदि में रहने वाले देव दो, तीन, शेष, अधिकरणों में पीत आदि लेश्या वाले हैं।

कथं पुनः पीतादयो लेश्यापदार्थपक्षा देवानां विज्ञेया इत्यावेद्यते ।

फिर उन कल्प और कल्पातीत अधिकरणों के आधेयभूत होरहे देवों के भला पीत आदि लेश्यायें हैं, यह किस प्रकार प्रमाण द्वारा समझ लेना चाहिये ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्रीविद्यानन्द आचार्य करके अग्रिमवार्त्तिक में समाधान का निवेदन किया जा रहा है ।

लेश्याः पीतादयस्तेषां सूत्रवाक्यप्रभेदतः ।
प्रत्येतव्याः प्रपंचेन यथागममसंशयं ॥ २ ॥

उन चौथी निकाय के वैमानिक देवों के पीतादि लेश्यायें हैं । इस सिद्धान्त को आगम मार्गका अतिक्रमण नहीं कर उक्त सूत्र के वाक्यों का प्रभेद कर देने से विस्तृतरूप करके संशयरहित प्रतीति कर लेनी चाहिये अर्थात् दो दो, तीन तीन, शेष शेष, यों उक्त सूत्र से कतिपय वाक्यों का उपप्लव कर आम्नाय अनुसार देवों के लेश्या का विधान कर लेना चाहिये ।

द्वयोः सौधर्मैशानयोः सानत्कुमारमाहेंद्रयोश्च पीतलेश्याः द्वयोर्ब्रह्मलांतवकल्पयोः शुक्रशतारकल्पयोश्च पद्मलेश्याः द्वयोरानतप्राणतयोरारणाच्युतयोश्च शुक्ललेश्याः, त्रिष्वधोग्रैवेयकेषु त्रिषु मध्यमग्रैवेयकेषु त्रिषूपरिग्रैवेयकेषु च शुक्ललेश्याः । शेषेष्वनुदिशेषु पंचस्वनुत्तरेषु च शुक्ललेश्या इति सूत्रवाक्यप्रभेदतः प्रत्येतव्याः ।

प्रथम ही "द्विशब्द का पीत पद्म और शुक्ल इन तीन स्थानों के साथ तीन वार कथन कर यों भिन्न भिन्न वाक्यों को बनालो कि "द्वयोः पीतलेश्याः" दो युगलों में यानी सौधर्म और ऐशान तथा सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्पों में बस रहे देव पीतलेश्यावाले हैं । फिर "द्वयोः पद्मलेश्याः" दो में अर्थात् दो इन्द्र युगलों द्वारा अधिकृत कल्पों की अपेक्षा दो में यानी ब्रह्मब्रह्मोत्तर स्वर्ग वाले ब्रह्मकल्प में और लांतव कापिष्ठ स्वर्ग वाले लांतव कल्प में इसी प्रकार इन्द्र अपेक्षया शुक्र महाशुक्र स्वर्गवाले शुक्र कल्प या शुक्र इन्द्र अधिकृत जीवों और शतार, सहस्रार, स्वर्ग वाले शतार कल्प में इन दो में पद्म लेश्याधारी देव निवास करते हैं । पुनः 'द्वयोः शुक्ललेश्याः" अर्थात् आनत प्राणत तथा आरण और अच्युत इन दो युगलों में देव शुक्ललेश्यावाले हैं । अब त्रि शब्द की केवल शुक्ललेश्या के साथ तीन वार आवृत्ति कर यों न्यारे न्यारे तीन वाक्य बनालो । " त्रिषु शुक्ललेश्याः " यानी तर ऊपर तीन निचले ग्रैवेयकों में देवों के शुक्ललेश्या है । और "त्रिषु शुक्ललेश्याः " यानी तर ऊपर बने हुये तीन मध्यम ग्रैवेयकों में इनसे कुछ अच्छे शुक्ललेश्याः वाले देव हैं तथा " त्रिषु शुक्ललेश्या " अर्थात् तर ऊपर बने हुये तीन उपरिम ग्रैवेयकों में इस शुक्ललेश्या से कुछ अच्छी शुक्ललेश्या को धारनेवाले देव हैं । अथानन्तर शेष शब्द का शुक्ललेश्या के साथ दो बार आवृत्ति कर शेष नौ अनुदिशविमानोंमें और शेष पांच अनुत्तर विमानों में निवास कर रहे देव शुक्ललेश्या वाले

हैं। यों अर्थ कर लेना चाहिये। इस प्रकार सूत्र वाक्यों के आठ प्रभेद कर देने से वार्तिकोक्त प्रतिज्ञा अनुसार प्रतीति कर लेने योग्य अर्थ निकल आता है।

चतुश्चतुःशेषेष्वितिवक्तव्यं स्पष्टार्थमिति चेत् न, अविशेषेण चतुर्षु माहेंद्रांतेषु पीतायाः प्रसंगात् चतुर्षु च सहस्रांतेषु कल्पेषु पद्मायाः प्रसक्तेः शेषेषु चानतादिषु शुक्ललेश्यायाः समनुषंगात् तथा चार्षविरोधः स्यात्। तत्र हि सौधर्मैशानयोः देवानां पीता लेश्येष्यते, सानत्कुमारमाहेंद्रयोः पीतपद्मा, ततः कापिष्ठांतेषु पद्मा, ततः सहस्रारांतेषु पद्मशुक्ला, ततोऽच्युततांतेषु शुक्लाः ततः शेषेषु परमशुक्लेति।

कोई पण्डित यहां अपनी भोली बुद्धि अनुसार कह रहे हैं कि सूत्रकार को "पीतपद्मशुक्ललेश्याश्चतुश्चतुः शेषेषु" इस प्रकार स्पष्ट अर्थ का प्रतिपादक सूत्र कह देना चाहिये। चार स्वर्गों में पीत लेश्या और चार में पद्म लेश्या तथा शेष स्थानोंपर शुक्ललेश्या को धारने वाले देव हैं। यों अर्थकी स्पष्ट प्रतीति करा दी जा सकती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों सूत्र गढनेपर तो सामान्यरूपसे माहेंद्र पर्यन्त चार स्वर्गों में पीत लेश्या पाये जाने का प्रसंग आवेगा और सहस्रार पर्यन्त आठ स्वर्गों में किन्तु इन्द्र अपेक्षा ब्रम्ह ब्रम्होत्तर लान्तव कापिष्ट, शुक्र महाशुक्र, शतार सहस्रार इन चार कल्पोंमें पद्म लेश्या होने का प्रसंग आवेगा तथा इन से ऊपर के शेष आनत आदि सत्रह पटलों में शुक्ल लेश्या का भले प्रकार प्रसंग बन बैठेगा और तिस प्रकार इन तीन अनिष्ट प्रसंगों के लग जानेसे आम्नाय अनुसार चले आरहे ऋषि प्रोक्त सिद्धान्त से विरोध ठन जायगा। क्योंकि उस आर्ष सिद्धान्त में सौधर्म और ऐशान में रहनेवाले देवों के पीतलेश्या इष्ट की गयी है। तथा सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गों में पीत लेश्या और पद्मलेश्या मानी गयी हैं। उन से ऊपर कापिष्ठ पर्यन्त चार स्वर्गों में पद्मा लेश्या है। इनके ऊपर सहस्रार पर्यन्त चार स्वर्गोंमें पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या अभीष्ट की गयी हैं। उनसे ऊपर अच्युत पर्यन्त स्वर्गों में शुक्ल लेश्या बखानी है। तथा उन सोलह स्वर्गोंसे भी ऊपर शेष ग्रैवेयक, अनुदिश, और अनुत्तर यों ग्यारह पटलोंमें परमशुक्ललेश्या सिद्धान्त ग्रन्थोंमें वर्णित की गयी है। अतः "चतुश्चतुः शेषेषु" कह देनेसे अर्थ तो स्पष्ट हो गया, किन्तु अपसिद्धान्त दोष क्रूर चेष्टा पूर्वक भ्रकुटीको चढाये हुये सन्मुख हो जाता है। सिद्धान्त मार्गसे स्खलित होकर कोरे स्पष्ट कथन करनेकी शेखी मारना समुचित नहीं है। "बच्चा भलेही मरजाय किन्तु दोरा (गंडा) नहीं टूट जावे" तांत्रिकोंको ऐसा निंद्य भाषण नहीं करना चाहिये।

कथं सूत्रेणानभिहितोयं विशेषः प्रतीयते ?। पीताग्रहणेन पीतपद्मयोः संग्रहात् पद्माग्रहणेन पद्मशुक्लयोः इत्याहुः।

यहां कोई कटाक्ष करता है कि श्री उमास्वामी महाराजने सूत्र करके यह विशेष जब कण्ठोक्त नहीं कहा है, तो किस प्रकार आप ग्रंथकारने यों प्रत्यय कर लिया है कि सनत्कुमार

माहेन्द्रमें पद्मलेश्या पायी जाती है। और शतार सहस्रारोंमें शुक्ललेश्या भी देवों के सम्भव रही है। इसके उत्तरमें श्री. विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि पीताके ग्रहण करनेसे निकटवर्ती पद्माको मिला कर पीता और पद्माका संग्रह होजाता है। इसी प्रकार पद्मालेश्याके ग्रहण करके परली ओर शुक्लाको खेंचकर पद्माशुक्ला दोनों लेश्याओं का संग्रह कर लिया जाता है। यों हम और अन्य विद्वान भी ऐसे अवसरोंपर सन्धि स्थानोंमें निवास करनेवाले जीवोंके लिये इसी ढंगसे कहते हैं। अर्थात् जैसे कि भिन्न भिन्न भाषाओंको बोलने वाले प्रान्तोंके बीचमें बस रहे मनुष्य कुछ इस प्रान्त और कुछ उस प्रान्तकी मिश्रित भाषाको बोलते हैं। दिन और रात्रिके मध्यमें कुछ अंधेरा और कुछ प्रकाशकी मिश्रण अवस्था पायी जाती है, उसी प्रकार पीतलेश्या-शब्द सौधर्म, ऐशान, देवोंके लिये स्वतंत्र है। और ब्रम्ह, ब्रम्होत्तर, लांतवकापिष्ठोंके लिये शुद्ध पद्मलेश्या रक्षित है। फिर भी मध्यवर्ती सानत्कुमार, माहेन्द्रोंमें बहुभाग पीतके साथ अल्प भागमे पद्मलेश्याका भी विधान किया गया सै। एवं कापिष्ट पर्यन्त चार स्वर्गोंमें शुद्ध पद्मलेश्या और आनत आदि अच्युत पर्यन्तोंमें शुद्ध शुक्ललेश्याकी विधि होते हुये भी मध्यवर्ती शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रारोंमे बहुभाग पद्मलेश्या और अल्प भागमें शुक्ललेश्याकी विधि कर दी जाती है। संक्षेप कथन करने वाले सूत्रकार भला छोटेसे सूत्रमें अनेक सन्धिस्थानोंका निरूपण कैसे कर सकते हैं? पूर्व निषधसे उदय होकर भ्रमण करते हुये सूर्यका पश्चिम निषद्य पर अस्त होजानेकी दिवसीय अवस्थाओं अनुसार होने वाले अनेक प्रकाशोंके तारतम्यका स्थूल दृष्टिसे वर्णन किया भी जासके, किन्तु दिन और रात की मिश्रण अवस्थाओंका प्रकाश और अन्धकारसे मिश्रित निरूपण तो आपाततः ही किया जासकता है। "तन्मध्यपतितस्तज् ग्रहणेन गृह्यते,, संख्यात, असंख्यात, अनन्त, भेद प्रभेद वाले परिणामोंकी मध्यम अवस्थाओंको कहाँ तक कहा जाय। बिना कहे ही अर्थापत्या उनको समझ लिया जाता है।

कथं! तथा लोके शब्दव्यवहारदर्शनात्। छत्रिणो गच्छंतीति यथा छत्रिसहचरितानामछत्रिणामपि छत्रिव्यपदेशात्। पाठांतरेपि यथा व्याख्यानाददोष इति चेत् न, अनिष्टशंकानिवृत्यर्थत्वात् द्वित्रिशेषेष्विति पाठस्य, चतुःशेषेष्विति तु पाठे चतुर्णां चतुर्णामुपर्युपरिभावेऽनिष्टः शंक्येत तन्निवृत्तिर्यथान्यासवचने कृता भवति। यथासंख्यप्रसंगादत्राप्यनिष्टमिति चेन्न, द्व्यादिशब्दानामंतर्नीतवीप्सार्थत्वाद्विभोजनादिवत्। दिने दिने द्विभोजने यस्य स द्विभोजन इत्यादयो यथान्तर्नीतवीप्सार्थास्तथोपर्युपरि द्वयोर्द्वयोस्त्रिषु त्रिषु शेषेषु शेषेष्वित्यंतर्नीतवीप्सार्था व्यादिशब्दा इह व्याख्यायंते, ततो न यथासंख्यप्रसंगो वाक्यभेदाद्व्याख्यानाच्च।

कोई तर्की प्रश्न करता है कि पीता ग्रहण करके पीतासे न्यारी पद्माका या पद्मा कह देनेसे पद्मा भिन्न शुक्लाका भी ग्रहण भला किस प्रकार होसकता है? घटका निरूपण कर देने मात्रसे घटभिन्न पदार्थका प्रतिपादन कथमपि नहीं होसकता है। इस प्रश्नके उत्तरमें ग्रन्थकार कहते हैं कि हम क्या करें। लोकमें तिस प्रकारके शब्दजन्य व्यवहार हो रहे देखे जाते हैं। जिस प्रकार कि छत्रों (छतरी)को धारने वाले जारहे हैं, यों कह देनेसे छत्र धारियोंके साथ

गमन कर रहे छत्र रहित कतिपय जनोंका भी छत्रधारीपन करके प्ररूपण कर दिया जाता है। उसी प्रकार यहां भी बहुभाग पीत लेश्यावाले जीवोंके साथ अल्पभाग पद्मलेश्या वाले देवोंका प्रतिपादन होजाता है। पद्मलेश्या वालोंके साथ शुक्ललेश्या वाले अल्प देवोंका ग्रहण होजाना बन जाता है। मिश्रित अवस्था पूर्वकी ओर झुक जाती है। लोक या शास्त्रमें अन्य प्रकार प्रसिद्ध होरहे शब्दों को यौगिक अर्थानुसार स्वबुद्धिसे सुधारकर बोलनेवाला नवशिक्षित अज्ञ ही समझा जायगा । घोडे को पानी दिखा दे । छतरी वाले जारहे हैं। बम्बई बचोगे। गली मचान गारहे हैं। इन शब्दोंके स्थानपर घोडे को पानी पिलादे। छतरीवाले और कुछ छतरी रहित मनुष्य जा रहे हैं। बम्बईमें सिकरने वाली हुंडी बचोगे। गली मचान पर बैठे मनुष्य गारहे हैं। यों कहने वाला स्याना छोकरा मूर्ख ही समझा जायगा। यदि यहां कोई यों शंका करे कि यों तो सूत्रकार द्वारा "चतुश्चतुश्शेषेषु" इस प्रकार न्यारा पाठ करने पर भी उक्त व्याख्यान कर देनेसे कोई दोष नहीं आता है। फिर जो हमने पहिले कहा था कि चार चार और शेषोंमें पीत लेश्या वाले पद्मलेश्यावाले और शुक्ललेश्या-वाले देव निवसते हैं, इसका आपने खण्डन क्यों किया ? व्याख्यान कर देनेसे आर्ष मार्गका कोई विरोध नहीं आता है। यहां भी तो आपको व्याख्यान करना ही पडा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि दो युगल तीन युगल और शेष शतार आदिकों में यथाक्रमसे पीत लेश्यावाले और शुक्ललेश्यावाले देव हैं। यों पाठकरना तो अनिष्ट शंकाकी निवृत्तिके लिये सूत्रकारने किया है। "चतुश्शेषेषु" इस प्रकार पाठ करने पर तो चार चार का ऊपर सद्भाव मानने पर अनिष्ट अर्थ होजानेकी शंका होसकेगी। हां, उक्त सूत्र अनुसार 'द्वित्रि-शेषेषु" यों ठोक रचनापूर्वक कथन करनेपर तो उस शंकाकी निवृत्ति की जाचुकती है। फिर भी कोई यों कटाक्ष करे कि इस प्रकार न्यास करने पर भी यथासंख्यका प्रसंग होजानेसे यहां भी अनिष्ट अर्थकी शंका होना तदवस्थ है। आपत्तिका निवारण करते हुये भी आपत्तियोंसे छुटकारा नहीं मिला। दो युगलोंमें पीत लेश्या कहने पर सनत्कुमार माहेन्द्रोंमें पूर्णरूपसे पीत लेश्याका विधान होगा। वहां कतिपय देवोंके पायी जारही पद्मलेश्याकी विधि नहीं होसकेगी। इसी प्रकार शतार, सहस्रार, स्वर्गोंमें शुक्ललेश्यावाले कतिपय देवोंको भी पद्मलेश्याधारी बनना पडेगा। यह अनिष्ट शंकापिशाची खडी हुई है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सूत्रमें पडे हुये दो आदिक शब्दोंके भीतर वीप्सा अर्थ गर्भित होरहा है। जैसे कि द्विभो-जन, द्विपठन त्रिजपन आदि शब्दोंके भीतर वीप्सा अर्थका समावेश है। दिन दिनमें जिस मनुष्यके दो भोजन हैं, या जो छात्र प्रतिदिन दो दो पाठ पढता है, अथवा जो धर्मात्मा प्रतिदिन तीन तीन बार जाप देता है, वे द्विभोजन, द्विपठन, त्रिजपन, पुरुष हैं। अतः द्विभोजन इत्यादिक शब्द वीप्सा अर्थको अन्तरंगमें गर्भित कर बखाने जाते हैं। उसी प्रकार दो, तीन, आदिक शब्द भी यहां ऊपर दो दो कल्पोंमें तीन तीन कल्पोंमें और शेष शेष स्थानोंमें इस प्रकार वीप्सा अर्थ को गर्भित किये हुये बखाने जाते हैं। तिस कारण केवल पीताका द्विके साथ और पद्माका केवल त्रिके साथ तथा शुक्लाका अकेले शेषोंमें ही अन्वय होजाना यों यथासंख्यका प्रसंग नहीं

होपाता है। दूसरी बात यह है कि सूत्रके वाक्य प्रभेदसे व्याख्यान कर दिया गया होनेसे यथा-संख्य का प्रसंग तुम्हारा चाहा नहीं हो पाता है।

पीतमिश्रपद्ममिश्रशुक्ललेश्या द्विद्विचतुश्चतुःशेषेष्विति पाठन्तरमन्ये मन्यंते, तत्र सूत्र-गौरवं तदवस्थं। अथवास्तु यथासंख्यमभिसंबंधस्तथापि नानिष्टप्रसंगः। कथं ? द्वयोः युगलयोः पीतलेश्याः सानत्कुमारमाहेंद्रयोः पद्मलेश्यायाः अविवक्षातः, ब्रह्मलोकादिषु त्रिषु कल्पयुगलेषु पद्मलेश्या शुक्रमहाशुक्रयोः शुक्ललेश्यायाः अविवक्षातः, शेषेषु सतारादिषु शुक्ललेश्या पद्म-लेश्यायाः अविवक्षातः इत्युक्तौ अभिसंबंधात्। ततो न कश्चिदार्षविरोधः।

कोई अन्य विद्वान् निराले प्रकारके पाठको यों मान रहे हैं कि दो स्वर्गोंमें और दो स्वर्गोंमें तथा चार स्वर्गोंमें एवं चार स्वर्गोंमें तथा शेष स्थानोंमें पीतलेश्या और पीतामश्रलेश्या तथा पद्मलेश्या एवं पद्ममिश्रलेश्या तथा शुक्ललेश्याको धारनेवाले देव विराजते हैं, आचार्य कहते हैं कि उस मान्यतामें सूत्रका गौरव दोष हो जाना वैसाका वैसा ही अवस्थित रहा। कोई लाभ नहीं निकला। अथवा एक बात यह है कि उक्त सूत्रका भले ही यथासंख्य तीनों ओरसे सम्बन्ध होजाओ तो भी हमारे सिद्धान्त अनुसार किसी अनिष्ट के होजानेका प्रसंग नहीं होता है। किस प्रकार सम्बन्ध करने पर अनिष्ट का प्रसंग नहीं होता है ? इसका समाधान यों है कि दो युगलोंमें पीतलेश्या है। किन्तु सानत्कुमार, माहेन्द्र, इन दो स्वर्गोंके कतिपय देवोंमें पायी जारही पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं की गयी है। तथा ब्रम्हलोक आदिक तीन कल्प युगलोंमें पद्मलेश्या है। शुक्र और महाशुक्रमें कतिपय देवोंके पायीं जारही शुक्ललेश्याकी विवक्षा नहीं करनेसे पद्मलेश्या ही कह दीगयी है। शेष ऊपरले शतार आदि वैमानिकोंमें शुक्ललेश्या पायी जाती है। शतार और सहस्रारमें कितन एक देवोंके पायी जारही पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं करनेसे शुक्ल ही लेश्या कह दी गयी है। इस प्रकार सूत्र का कथन कर चुकनेपर क्रम अनुसार सम्बन्ध हो जानेसे कोई अनिष्टापत्ति नही है। तिस कारण ऋषिप्रोक्त सिद्धान्त आम्नायसे कोई विरोध नहीं आता है।

लेश्यानिर्देशतः साध्याः कृष्णेत्यादिस्वरूपतः।
वर्णतो भ्रमरादीनां छायां बिभ्रति वाह्यतः ॥ २ ॥
अनंतभेदमामां स्याद्वर्णांतरमपि स्फुटं।
एकद्वित्रिकसंख्यादिकृष्णादिगुणयोगतः ॥ ३ ॥

अब ग्रन्थकार सोलह अनुयोगोंके द्वारा लेश्याओं को साधने योग्य बताते हैं। १ निर्देश २ वर्ण ३ परिणाम ४ संक्रम ५ कर्म ६ लक्षण ७ गति ८ स्वामित्व ९ साधन १० संख्या ११ क्षेत्र १२ स्पर्शन १३ काल १४ अन्तर १५ भाव १६ और अल्पबहुत्व इन सोलह अधिकारों द्वारा छहों लेश्याओं को साधलिया जाता है। प्रथमनिर्देशसे कृष्णा, नीला, कपोत,

लेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या, इस प्रकार स्वरूपसे लेश्यायें साधने योग्य हैं। दूसरे वर्ण यानी रंगसे द्रव्य लेश्यायें वा स्वरूपसे भौंरा आदिकोंकी छाया को धारती हैं। अर्थात् –शरीरविपाकी वर्ण नाम कर्म प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुआ कायका रंग द्रव्यलेश्या है। भौंराके रंगके समान काली कृष्णलेश्या है। नीलमणि या मयूर कण्ठके रंगको धार रही नील लेश्या है। कबूतरके समान रंगको प्राप्त होरही कापोती लेश्या है। सुवर्णकीसी छाया पीत लेश्याकी है। कमलके समान रंगलेश्याका रंग है। चंदरे तुल्य शुभ्र कांतिवाली शुक्ललेश्या है। इन लेश्या ओं के तारतम्यको लिये हुये अन्य अनन्त भेदवाले वर्ण भी स्पष्ट रूपसे होजाते हैं। जो कि एक, दो, तीन, आदि संख्यात या असंख्यात आदि अविभाग प्रतिच्छेदस्वरूप गुणोंके योगसे इन द्रव्यलेश्या ओं के अनन्त भेद हैं। भावार्थ–लेश्या नामक पर्यायोंमें संख्याते, असंख्याते, और अनन्ते अविभाग प्रतिच्छेदों की हानि वृद्धि अनुसार अवान्तर भेद अनन्त होजाते हैं। एक समयमें होनेवाली एक पर्याय एक भेद गिना जायगा। चक्षु इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष योग्य होनेकी अपेक्षा लेश्याओंके संख्याते भेद हैं। और स्कन्ध जातिकी अपेक्षा असंख्याते भेद हैं। किन्तु रंगीली परमाणुयें या अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा लेश्याओं के अनन्तानन्त वर्णभेद हैं।

तथातः परिणामेन साध्या जीवस्य तत्त्वतः।
स चासंख्यातलोकात्मप्रदेशपरिमाणकः ॥ ४ ॥
तत्कषायोदयस्थानेष्वियत्सूत्कृष्टमध्यम-।
जघन्यात्मकरूपेषु क्लेशहान्या निवर्तनात् ॥ ५ ॥
कृष्णादयोऽशुभास्तिस्रो विवर्तते शरीरिणः।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टेष्वंशांशेषु विवृद्धितः ॥ ६ ॥
विशुद्धेरुत्तरास्तिस्रः शुभा एवं विपर्ययात्।
विशुद्धिहान्या संक्लेशवृद्ध्या चैव शुभेतराः ॥ ७ ॥
एकका चाप्यसंख्येयलोकात्माध्यवसायभृत्।
लेश्याविशेषतो ज्ञेयाः कषायोदयभेदतः ॥ ८ ॥

तिसी प्रकार तीसरे अनुयोग परिणाम करके लेश्यायें साधने योग्य हैं। वस्तुतः विचारा जाय तो जीवके अभ्यन्तर वर्त रहे परिणाम करके लेश्यायें साधी जाती हैं। और वह जीवके परिणाम असंख्याते लोकाकाशोंके प्रदेश स्वरूप असंख्यातासंख्यात नामक परिमाणको

लिये हुये हैं। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरको धार रहे जीवोंकी कृष्ण आदिक तीन अशुभ-लेश्यायें इतने असंख्यात लोक प्रमाण उत्कृष्ट, मध्यम, और जघन्य आदिक स्वरूपवाले उन कषायोंके असंख्यातासंख्यात उदय स्थानोंमें संक्लेशकी हानि करके परिणमन होजानेसे परिणतियाँ करतीं रहतीं हैं। अर्थात् कर्मोंके उदयकी जाति अपेक्षा असंख्यातासंख्यात औदयिक कषाय स्थानोंमें संक्लेश की हानि होजानेसे उत्कृष्ट अंशसे मध्यम अंशमें और मध्यम अंशसे जघन्य अंशमें अशुभलेश्याओं का परिणमन होता रहता है। तथा जीवों की उत्तरवर्त्ती पीत आदि तीन शुभ लेश्यायें विशुद्धिकी विशेषतया वृद्धि होजानेसे असंख्यात लोक प्रमाण कषाय सम्बन्धी औदयिक जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, अंश उपांशोंमें परिणमती रहती हैं। भावार्थ—शुद्धि की वृद्धि होजानेसे तेजो लेश्याके जघन्य अंशोंका अतिक्रमण कर मध्यम अंशोंमें आत्मा परिणत होजाता है। और मध्यमसे शुद्धिकी वृद्धि अनुसार पीत लेश्या सम्बन्धी उत्कृष्ट अंशोंमें परिणमन कर लेता है। पद्मा और शुक्ललेश्यामें भी यही व्यवस्था है। इसी प्रकार विपर्यय करनेसे यों निर्णय कर लेना कि विशुद्धिकी हानिसे शुभलेश्यायें उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य अंशोंमें क्रम से परिणमेंगीं और इतर यानी अशुभलेश्यायें संक्लेशकी वृद्धि होजानेसे स्वकीय जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अंशोंमें परिणतियां करेंगीं। एक एक कोई भी लेश्या असंख्यात लोक प्रमाण औदयिक कषायाध्यवसाय स्थानोंको धार रही है। बात यह है कि कषायोंके उदयागत भेदोंकी विशेषता से लेश्याओंमें विशेषतायें समझ लेनी चाहिये। "कषायोदयानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या" लेश्यापरिणति में कषायोंके उदयकी प्रधानता है। कार्मणस्कन्ध या कर्मपरमाणुओं की अपेक्षा अनन्तानन्त जीवोंके यद्यपि अनन्त लेश्यायें हैं। फिर भी जातिकी अपेक्षा उनके असंख्यात लोक प्रमाण भेद कर दिये जाते हैं। असंख्यात लोकोंके प्रदेश बराबर प्रमाणको धार रहे अध्यवसाय स्थानोंमें जिनदृष्ट असंख्यात लोकप्रमाण राशिका भाग देने पर जो लब्ध आता है, उसके बहुभाग प्रमाण संक्लेशरूप स्थान हैं। और एक भाग प्रमाण शुभ लेश्याओंके विशुद्धिस्थान है। फिर भी सामान्यसे ये सभी असंख्यात लोकप्रमाण संख्यावाले हैं। इन अध्यवसाय स्थानोंमें लेश्यारूप परिणतियां होती रहती हैं।

तथा संक्रमतः साध्या लेश्याः क्लेशविशुद्धिजात्।
क्लिश्यमानस्य कृष्णायां न लेश्यांतरसंक्रमः ॥ ९ ॥
तस्यामेव तु षट्स्थानपतितेन विवर्धते।
हीयते च पुमानेष संक्रमेण निजक्रमात् ॥ १० ॥
कृष्णा प्राथमिकक्लेशस्थानाद्धि परिवर्धते।
संख्येयादप्यसंख्येयभागतः स्वनिमित्ततः ॥ ११ ॥

संख्येयादिगुणाद्वापि नान्यथेति विनिश्चयः ।
लेश्यांतरस्य कृष्णातोऽशुभस्यान्यस्य बाधनात् ॥ १२ ॥
तत्कृष्णलेश्यतः स्थानाद्धीयमानो विहीयते ।
कृष्णायामेव नान्यस्यां लेश्यायां हेत्वभावतः ॥ १३ ॥
चानन्तादिभागाद्वा संख्यातादिगुणात्तथा ।
हीयते नान्यथा स्थानषट्कसंक्रमतोसुभृत् ॥ १४ ॥
यदानंतगुणा हानिः कृष्णायाः संक्रमस्तदा ।
नीलाया उत्तमस्थाने तल्लेश्यांतरसंक्रमः ॥ १५ ॥

तथा संक्रमणसे छहों लेश्यायें साधने योग्य हैं। संक्लेश और विशुद्धिसे उत्पन्न हुये स्थानोंसे लेश्याओं का संक्रमण होता है। स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण यों संक्रमणके दो भेद हैं। कृष्ण लेश्यामें बढते हुये क्लेशको प्राप्त होरहे जीवके स्वस्थान संक्रमण ही होगा। अन्य लेश्याओंमें संक्रमण नहीं होसकता है। उस कृष्णलेश्यामें ही अनन्तभागवृद्धि, असंख्येय भागवृद्धि, संख्येय-भागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि और अंनत गुणवृद्धी इस प्रकार छह स्थानोंमें पडी हुई वृद्धि करके कृष्णके भीतर ही अंश उपांश बढते रहते हैं। कृष्ण लेश्यासे कोई निकृष्ट स्थान नहीं हैं। जिसमें संक्लेशकी वृद्धि होजाने पर परस्थान संक्रमण होजाता। तथा यह जीव अपनी गृहीत कृष्ण लेश्याके अभ्यन्तर क्रमसे उत्कृष्टसे मध्यम या जघन्य अंशोंमें संक्रमण करके हानिको प्राप्त होता है। अर्थात् कृष्णलेश्या सम्बन्धी उत्कृष्ट संक्लेशस्थानसे अनन्तभागहानि, असंख्येयभागहानि, संख्येयभागहानि, संख्येय गुणहानि, असंख्येयगुणहानि, अनन्तगुणहानि करके कृष्णलेश्याके जघन्य स्थानोंतक स्वस्थान संक्रमण होता है। हां, संक्लेशकी विशेष हानि होजानेपर अनन्त गुणहाणि अनुसार कृष्णलेश्यावाला जीव नीललेश्याके उत्कृष्ट स्थान पर सक्रमण कर लेता है। वार्त्तिकों का अर्थ यह हुआ कि सबसे पहिले नियत होरहे कृष्णलेश्याके जघन्य संक्लेश स्थानसे अनन्तभाग, असंख्यातभाग और संख्यात भाग वृद्धियों अनुसार कृष्णलेश्या अपने निमित्त कारणों करके बढती जाती है। अथवा संख्यातगुण, असंख्यातगुण, आदि क्रमसे भी स्वकीय निमित्त कारणों अनुसार उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त बढ़ती है। अन्य प्रकारोंसे नहीं बढ़ती है। यों विशेष रूपसे निश्चय कर लेना। कृष्णलेश्यासे भिन्न कोई निकृष्ट जाति की दूसरी अशुभलेश्याके होनेकी बाधा है। अतः संक्लेशकी वृद्धि होनेपर कृष्णलेश्यामें स्वस्थान संक्रमण ही हुआ तथा कृष्णलेश्याके उत्कृष्ट स्थानसे संक्लेश की हानिको अनुभव रहा जीव हीन होता जाता है। तब भी उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य अंशोंमें प्राप्त होरहा कृष्णलेश्यामें ही संक्रमण करता है। कारणोंका अभाव होजानेसे अन्य लेश्यामें संक्रमण नहीं करपाता है। अनन्तभाग आदि अथवा संख्यातगुण आदि

स्थानों करके यह प्राणी तिसी प्रकार छह स्थानोंमें पतित हानिओं द्वारा संक्रमणसे हीन होता जायगा, अन्य प्रकारों करके हीन नहीं होता है। हां, जिस समय कृष्णलेश्या की अनन्तगुणी हानि होते हुये संक्रमण होगा, तब नीललेश्याके उत्कृष्ट स्थानमें प्राप्त होरहा उससे न्यारी अन्य लेश्यामें परस्थान संक्रमण होजाता है। अन्य प्रकारोंसे नहीं।

एवं विशुद्धिवृद्धौ स्याच्छुक्ललेश्यस्य संक्रमः।
शुक्लायामेव नान्यत्र लेश्या एवावसानतः॥ १६॥
तथा विशुद्धिहान्यां स्यात्तल्लेश्यांतरसंक्रमः।
अनन्तगुणहान्यैव नान्यहान्या कदाचन॥ १७॥
मध्ये लेश्याचतुष्कस्य शुद्धिसंक्लेशयोर्नृणां।
हानौ वृद्धौ च विज्ञेयस्तेषां स्वपरसंक्रमः॥ १८॥

इसी प्रकार विशुद्धिकी वृद्धि होने पर शुक्ललेश्यावाले जीवका संक्रमण शुक्ललेश्याम ही होगा, अन्यत्र नहीं होगा। क्योंकि शुक्लसे बढ़िया कोई दूसरी शुभलेश्या ही नहीं है। शुक्लसे उत्तम लेश्याओं का विराम होजानेसे बढ़ रहे शुभ परिणामोंका पलटना उसी शुक्ललेश्यामें ही हुआ करता है। हां, तिस प्रकार छह स्थानोंमें पडे हुये क्रमसे विशुद्धिकी हानि होने पर अन्य लेश्याओंमें भी संक्रमण होजाते हैं। किन्तु विशुद्धिकी अनन्तगुणी हानि करके ही शुक्ललेश्या से पद्मलेश्यामें परिवर्तन होगा। अन्य संख्यातभाग हानि आदि पांच हानियों करके कभी नहीं परस्थान संक्रमण होसकता है। यों कृष्णलेश्या और शुक्ललेश्या के विषयमें स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमणका विचार कर दिया है। मध्यमें विराज रही नील, कापोत, पीत, और पद्म इन चार लेश्याओंका स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण तो उन जीवोंके विशुद्धि और संक्लेश की हानि या वृद्धिके होने पर अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ढंगोंसे समझ लेना चाहिये। भावार्थ–नील लेश्यामें संक्लेशकी वृद्धि होजाने पर जघन्य अंशसे मध्यम अंश होजानेकी दशामें स्वस्थान संक्रमण है। और उत्कृष्ट अंशसे कृष्णलेश्यामें पहुंचने पर परस्थान संक्रमण है। यों ही संक्लेशकी हानि होनेपर नील लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मध्यम अंश होजानेकी दशामें स्वस्थान संक्रम है। और नीललेश्याके जघन्य अंशसे संक्लेश हानि दशामें कापोतीकी दशा प्राप्त होने पर परस्थान संक्रमण हैं। यही दशा अन्य लेश्याओंमें लगा लेना। छह वृद्धियोंमें संख्यात पदसे उत्कृष्ट संख्यात पकड़ना और असंख्यात पदसे असंख्याते लोकोंके प्रदेशों प्रमाण संख्या का ग्रहण करना तथा अनन्त पदसे जीवराशिका अनन्तगुणा और पुद्गल राशिका अनन्तवां भाग स्वरूप अनन्तसंख्या लेनी चाहिये। ये छहों वृद्धियां लेश्या परिणतियोंके अविभाग प्रतिच्छेदों में होती रहती हैं। अविभागप्रतिच्छेदोंकी कितनी ही संख्यायें ऐसी हैं, जिनको कि कोई लेश्या परिणति नही धार सकी है। "अविभागपडिच्छेओ जहण्ण उद्दी पएसाणं" (गोम्मटसार) यह यह अविभाग प्रतिच्छेद का सिद्धान्त लक्षण है॥

तथैव कर्मतो लेश्याः साध्याः षडपि भेदतः ।
फलभक्षणदृष्टांतसामर्थ्यात्तत्त्ववेदिभिः ॥ १९ ॥
आद्या तु स्कन्धभेदेच्छा विटपच्छेदशेमुषी ।
परा च शाखाछेदीच्छादनुशाखच्छिदैषणा ॥ २० ॥
पिंडिकाछेदनेच्छा च स्वयं पतितमात्रक- ।
फलादित्सा च कृष्णादिलेश्यानां भक्षणेच्छया ॥ २१ ॥

तिस ही प्रकार कर्म यानी क्रिया की अपेक्षासे छहों भी लेश्याओंका भिन्न भिन्नपने करके साध लेना चाहिये । तत्ववेत्ता विद्वानों करके उन लेश्यावाले जीवोंके कर्त्तव्य होरहे फल भक्षण स्वरूप दृष्टान्तोंकी सामर्थ्यसे यों निर्णय करना चाहिये । वनके मध्य देशमें मार्ग भ्रष्ट होगये छह पथिक एक फलपूर्ण वृक्ष को देख करके यों विचार करते हैं। पहिली कृष्णलेश्याके अनुसार एक मनुष्यके स्कन्ध (पेड) को छेद डालनेकी इच्छा होजाती है। अर्थात् कृष्णलेश्यावाला स्कन्धको उखाड डालकर फल खाना चाहता है। और दूसरी नीललेश्याके अनुसार गुट्टेको काट डालनेकी बुद्धि दूसरे मनुष्यको होजाती है। तीसरे मनुष्यको कापाती लेश्याके अनुसार डाली को काटनेकी इच्छा उपज जाती है। चौथे के पीतलेश्या अनुसार लघुशाखाको काटकर फल खानेकी वांछा उपजती है। पांचवें पुरुषको पद्मलेश्या अनुसार डांठला या फल ही को तोड़ने की इच्छा होती है। छठे मनुष्य को शुक्ललेश्या अनुसार केवल अपने आप नीचे गिर गये फलोंको ग्रहण करनेकी अभिलाषा उपजती है। यों कृष्ण आदिक लेश्याओंके अनुसार फलभक्षणकी इच्छा करके कर्त्तव्य क्रियाओंकी अपेक्षा छहों अतीन्द्रिय भावलेश्यायें अनुमित होजाती हैं।

तथा लक्षणतो लेश्याः साध्याः सिद्धाः प्रमाणतः।
परानुनयादिः स्यात्कृष्णायास्तत्र लक्षणम् ॥ २२ ॥
आलस्यादिस्तु नीलाया मात्सर्यादिः पुनः स्फुटं ।
कापोत्या दृढमैत्र्यादिः पीतायाः सत्यवादिता ॥ २३ ॥
प्रभृति पद्मलेश्यायाः शुक्लायाः प्रशमादिकं ।
गत्या लेश्यास्तथा ज्ञेयाः प्राणिनां बहुभेदया ॥ २४ ॥

तिस ही प्रकार लक्षण यानी चिन्होंसे छहों लेश्यायें प्रमाणोंसे सिद्ध होरही साधलेनी चाहिये । उन छहों में पहिली कृष्णलेश्याका चिन्ह तो दूसरोंका अनुनय (विनय) नहीं करना,

वैर नहीं छोडना, प्रचण्ड कोपी होना, दया धर्म रहितपना, अपरिताप, तीव्र दुष्टता, आदिक हैं। तथा नीललेश्याके लक्षण तो आलस्य, विषयलोलुपता, भीरुता, तृष्णा, ठगना, अतिलुब्धता, रूक्ष अभिमान, आदिक हैं। फिर तीसरी अशुभलेश्या कापोतीके स्फुट रूपसे मत्सरता, ईर्ष्या, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, युद्धमरण, अविचारिता, शोक, भयबहुलता आदि हैं। एवं चौथी पीत लेश्याके दृढ़मित्रता, विचारशीलता, दानदयारति, कार्यसम्पादनपटुता आदि बहिरंग चिन्ह हैं। तथा पद्मलेश्याले सत्यवादी पनको आदि लेकर क्षमा, सात्विकदान, ऋजुता, गुरुदेवता पूजाकरणतत्परता, भद्रता आदि शुभ लक्षण हैं। छठी शुक्ललेश्याके प्रशम, रागद्वेषरहितपन, निदानवर्जन, श्रेयोमार्गानुष्ठान, आदि लक्षण हैं। यों व्यावर्तक चिन्होंसे अन्तरंग लेश्यायें पहिचान ली जाती हैं। तथा सातवें गति अधिकार करके लेश्यायें समझ लेनी योग्य हैं। स्वकीय कारणों अनुसार बहुत भेदवाली प्राणियोंकी गति होजानेसे लेश्यायें साध ली जाती हैं।

प्रत्यंशकं समाख्याताः षड्विंशतिरिहांशकाः।
तत्राष्टौ मध्यमास्तावदायुषो बंधहेतवः॥ २५॥
आर्षोपदेशतः सिद्धाः शेषास्तु गतिहेतवः।
पुण्यपापविशेषाणामुपचाययका हि ते॥ २६॥

प्रत्येक लेश्याके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट और मध्यवर्ती आठ अंशोंको मिलाकर यहाँ प्रकरणमें लेश्याओंके छब्बीस अंश बढ़िया बखाने गये हैं। उनमें कृष्ण और कापोतके मध्यवर्ती तथा पीत और शुक्लके मध्यमवर्ती आठ मध्यम अंश तो परभवकी आयुके बन्धके कारण हैं। यह सिद्धान्त ऋषिप्रोक्त उपदेशोंसे प्रसिद्ध है। अर्थात् कर्मभूमिके मनुष्य या तिर्यंचकी भुज्यमान आयुके तीन भागोंमें से दो भाग बीत चुकने पर अन्तर्मुहूर्त तक पहिला अपकर्षकाल माना जाता है। यदि पहिले इस अपकर्ष कालमे उत्तर भवकी आयु न बंधे तो शेष आयुके त्रिभाग करते हुये दो भाग बीत जानेपर अन्तर्मुहूर्त कालतक आयुष्य कर्मका बन्ध होता है। यदि यहांपर भी आयुष्य का बन्ध नहीं होवे तो तीसरे, चौथे, पांचवें, छठवें, सातवें, और आठवें त्रिभाग स्वरूप अपकर्ष कालमें आयुका बन्ध होजाता है। पूर्वके अपकर्षमें आयुका बन्ध होजाने पर उत्तर अपकर्षोंमें तदविरुद्ध उसी आयुका बन्ध होगा, न्यारी आयुका नहीं। यदि आठोंमें किसी भी अपकर्षमें आयु न बंधे तो मृत्युके अव्यवहित पूर्व अन्तर्मुहूर्तमें परभव की आयुका बन्ध अवश्यक होजाता है। देव और नारकी जीवोंकी भुज्यमान आयुके छहमास शेष रहनेपर आठ अपकर्षकाल आयुके बन्धके योग्य रचे जाते हैं। भोगभूमियां मनुष्य या तिर्यंचके स्वकीय आयुके नौ महीना शेष रहनेपर आयुके बन्ध योग्य आठ अपकर्षकाल प्राप्त होते हैं। अपकर्षकालमें जैसा लेश्याका अंश होता है वैसा आयुष्यका बन्ध होजाता है। आयुका बन्ध फल दिये बिना छूटता नहीं है। स्थिति कमती बढ़ती भले ही होजाय। लेश्याओं के कारण इन आठ अंशों को

मध्यवर्त्ती इसलिये कहा है कि कृष्णलेश्या के कतिपय तीव्र अंशों में और कापोत के कतिपय-जघन्य अंशों में आयु नहीं बंधती है। इसी प्रकार शुभलेश्याओं में पीत के कतिपय जघन्य अंशों में और शुक्ललेश्या के कुछ उत्कृष्ट अंशों में आयुष्य कर्मको बन्धवाने की योग्यता नहीं है। अतः अशुभ लेश्याओं के मध्यमें पडे हुये चार अंश और तीनों शुभलेश्याओं के बीच में पडे हुये चार अंश यों आठ अंश मध्यम कहे जाते हैं। हां, शेष अठारह अंश तो परभवके लिये गति कराने के कारण हैं। अवश्य वे अठारह अंश पुण्य विशेष और पापविशेषोंकी वृद्धिके कारण होरहे हैं। यद्यपि जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टके अपेक्षा लेश्याके अठारह भेदोंमें सभी भेद गर्भित हैं। इनसे न्यारे कोई आठ भेद नहीं होसकते हैं। फिर भी संसारमें संसरण कराने वाले कर्मोंमें प्रधान होरहे आयुष्य कर्म को बंधवाने की अपेक्षा अठारहों के मध्य में से ही कुछ पृथग्भूत कर लिये गये आठ अंश मध्यवर्ती माने जाते हैं। शेष अंश तो गतिके उपयोगी पुण्य, पापों को वृद्धि कराते रहते हैं। योग और कषाय की मिश्रितपरिणति ही लेश्या है। जो कि पुण्य पाप-स्वरूप प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग इन चारों बन्धों की कारण हैं।

भवायुर्गतिभेदानां कारणं नामभेदवत्।
शुक्लस्योत्कृष्टांशकादात्मा भवेत्सर्वार्थसिद्धिगः ॥ २७ ॥
कृष्णोत्कृष्टांशकात्तु स्यादप्रतिष्ठानगाम्यसौ।
शेषांशकवशान्नानागतिभागवगम्यताम् ॥ २८ ॥

लेश्याओं के अंश ये नामकर्मके प्रभेदोंके उदयसे युक्त होरहे विशेष भवकी आयु और गति भेदोंके कारण बन रहे हैं। आत्मा शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मर कर सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त करने वाला होगा कृष्णके उत्कृष्ट अंशसे तो वह आत्मा सातवे नरकके इन्द्रक बिल अप्रतिष्ठान नरकमें जानेवाला होजाता है। शुक्लके मध्यम अंशको आदि लेकर कृष्णके मध्यम अंशोंतककी परवशतासे यह जीव नाना गतियों को जाने वाला समझ लेना चाहिये।

यथागमं प्रपंचेन विद्यानंदमहोदया-।
त्स्वामित्वेन तथा साध्या लेश्या साधनतोपि च ॥ २९ ॥
संख्यातः क्षेत्रतश्चापि स्पर्शनात्कालतोंतरात्।
भावाच्चाल्पबहुत्वाच्च पूर्वसूत्रोक्तनीतितः ॥ ३० ॥

किस लेश्यासे मरकर किस गति को प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त को विस्तार करके समझना होय तो सदागम अनुसार समझलेना चाहिये अथवा सिद्धान्तमर्यादा का उल्लंघन नहीं कर रचे गये हमारे "विद्यानन्द महोदय" नामक ग्रन्थ से निश्चय कर लेना चाहिये। जिस

प्रकार निर्देश, वर्ण, आदि सात अधिकारों करके लेश्यायें साध थी गयी हैं, उसी प्रकार स्वामिपने करके और साधनसे भी छहों लेश्याओं का विचार कर लेना चाहिये। एवं संख्या से, क्षेत्र से, स्पर्शन से, कालसे, अन्तरसे भावसे और अल्पबहुत्वसे भी लेश्याओं की सिद्धि करलेनी चाहिये। अर्थात् उमास्वामी महाराजके अति संक्षिप्त सूत्रोंमें अनन्त प्रमेय भरा हुआ है। जो कि उपरिष्ठात् टीका या व्याख्यानों से समझ लिया जाता है। उसी पूर्व सूत्रोंमें कही जाचुकी नीतिके अनुसार इस सूत्र में भी अधिक प्रमेय तत्ववेत्ताओं करके समझ लेने योग्य है। अथवा सर्वज्ञधाराप्राप्त पूर्वऋषियोंके सूत्रोंमें कही जा चुकी स्याद्वाद सिद्धान्त नीतिसे स्वामित्व आदिकों करके यथाम्नाय लेश्याओंके अधिकार समझ लिये जाय। ग्रन्थकारने यहां परम सूक्ष्म अतीन्द्रिय विषयों में आगमपरिपाटीका अनुसरण करने के लिये तत्ववेत्ताओं को उद्युक्त किया है। राजवार्त्तिक गोम्मटसार ग्रन्थोंमें भी उक्त सोलह अधिकारोंका विशेष निरूपण किया है।

वैमानिक देवों में लेश्या का वर्णन कर अब भगवान् सूत्रकार कल्पोंका परिज्ञान कराने के लिये अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

सौधर्म से आदि लेकर नवग्रैवेयकोंसे पहिले जो वैमानिक हैं, वे सब कल्प हैं, अर्थात् सौधर्म से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त स्थान या उनमें रहने वाले देव कल्प कहे जाते हैं।

सौधर्मादिग्रहणमनुवर्तते, तेनायमर्थः–सौधर्मादयः प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पा इति। सौधर्मादिसूत्रानंतरमिदं सूत्रं वक्तव्यमिति चेन्न, स्थितिप्रभावादिसूत्रत्रयस्य व्यवधानप्रसंगात्। सति व्यवधानेऽनेन विधीयमानोर्थः कल्पेष्वेव स्यादनंतरत्वात्।

परली ओर की अभिविधि (अवधि) तो कह दी गयी। किन्तु उरली ओर की मर्यादा नहीं कही, इसके लिये सौधर्म आदि का जो तीन सूत्र पहिले ग्रहण किया है, उसकी अनुवृत्ति करली जाती है। तिससे इस सूत्रका यह अर्थ लब्ध होजाता है कि सौधर्मको आदि लेकर और ग्रैवेयकोंसे पहिले विमान स्थान या वैमानिक देव कल्प हैं। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि "सौधर्मैशान" इत्यादि सूत्रके अव्यवहित उत्तर काल में ही यह सूत्र श्री उमास्वामी महाराजको कहना चाहिये था। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सौधर्मके अनन्तर ही कल्पोंका विधान किया जाता तो स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु" इस प्रकार के तीनों सूत्रों का "प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः" इस सूत्रसे व्यवधान होनेका प्रसंग होजाता। अर्थात् "प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पा,, इस सूत्रसे पीछे स्थिति प्रभाव आदि तीनों सूत्र पढे जाते, ऐसी दशामें व्यवधान होजाने पर इन तीन सूत्रों करके विधान किया जारहा अर्थ कल्पवासी देवोंमें ही प्राप्त होता। क्योंकि ये बारह कल्प ही

अव्यवहित पूर्व में उपात्त होरहे हैं। " व्यवहिताव्यवहितयोरव्यवहितस्यैव ग्रहणं " इस परिभाषा अनुसार कल्पोंमें ही स्थिति आदिकसे अधिकता और गति आदिकसे हीनता तथा दो तीन शेषोंमें पीतपद्मशुक्ललेश्याका विधान होसकेगा। सौधर्मको आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त सम्पूर्ण वैमानिकों में उक्त तीन सूत्रोंका अर्थ लागू नहीं हो सकेगा। इस कारण यहां इस सूत्र के कह देने से सब बखेडा मिट जाता है।

के पुनः कल्पातीता इत्याह।

सूत्रकारने कल्पों का तो कण्ठोक्त निरूपण कर दिया है। किन्तु कल्पातीत देवों की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्र नहीं रचा है। अतः यह बताओ कि फिर वे कल्पातीत देव कौनसे हैं ? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वार्त्तिकको कहते हैं।

कल्पाः प्रागेव ते बोध्या ग्रैवेयकविमानतः।
तदादयस्तु सामर्थ्यात् कल्पातीताः प्रतीतितः ॥ १ ॥

इस सूत्र का अर्थ यह है कि ग्रैवेयक विमानसे पहिले ही वे कल्प रच रहे समझ लेने चाहिये। हां, बिना कहे ही शब्दसामर्थ्य से यह प्रतीत होजाता है कि उन ग्रैवेयकों को आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त स्थान तो कल्पातीत हैं।

ननु च परिशेषाद्ग्रैवेयकादीनां कल्पातीतत्वसिद्धौ भवनवास्यादीनां कल्पातीतत्वप्रसंग इति चेन्न, उपर्युपरीत्यनुवर्तनात्।

यहां कोई प्रतिवादी आशंका उठाता है कि परिशेषन्यायसे यदि ग्रैवेयक आदिकों के कल्पातीतपन की सिद्धि की जायगी, तब तो भवनवासी आदिकों को भी कल्पातीतपने का प्रसंग आता है। सोलह स्वर्ग या बारह कल्पोंसे शेष बच रहे देव तो अहमिन्द्रोंके समान भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क,देव भी हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि 'उपर्युपरि' इस पदकी अनुवृत्ति होरही है। अर्थात् ऊपर ऊपर वैमानिक देवोंके लिये उक्त पांच सूत्रोंका सम्बन्ध किया जाता है। नीचे के भवनवासी आदिकों का ग्रहण नहीं है। इस कारण अहमिन्द्र देव ही कल्पातीत हैं।

सूत्रकार के प्रति किसी का प्रश्न उठ सकता है कि तब तो लौकान्तिक देव वैमानिक देव होरहे सन्ते भला किन कल्पोपन्न या कल्पातीत देवोंमें ग्रहण किये जायेंगे ? इस प्रकार प्रश्नके उत्तर में सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं

ब्रह्मलोकालया लौकांतिकाः ॥ २४ ॥

पांचवे स्वर्ग ब्रम्हलोक में निवास स्थान कर रहे लौकान्तिक देव हैं अर्थात् पांचवे स्वर्ग में निवस रहे लौकान्तिक देव कल्पोपन्न हैं।

एत्यास्मिल्लीयत इत्यालयो निवासः। ब्रह्मलोक आलयो येषां ते ब्रह्मलोकालयाः। सर्व-ब्रह्मलोकदेवानां लौकांतिकत्वप्रसंग इति चेन्न, लोकांतोपश्लेषात्। ब्रह्मलोकस्यांतो हि लोकांतः लोकांते भवा लौकांतिका इति न सर्वत्र ब्रह्मलोकदेवास्तथा। अथवा लोकः संसारः जन्मजरामृत्युसंकीर्णः तस्यांतो लोकांतः तत्प्रयोजना लौकांतिकाः। ते हि परीतसंसाराः ततश्च्युत्वा एकं गर्भवासमवाप्य परिनिर्वांति।

चारों ओर या छहों ओरसे प्राप्त होकर इस स्थानमें जीव या पुद्गल लीन होजाया करते हैं। इस यथार्थ निरुक्ति द्वारा आलयका अर्थ निवास स्थान है। बाहरसे आता जाता हुआ मनुष्य स्पष्ट दीखता रहता है। किन्तु घरमें घुसकर न जाने कहां झट लीन होजाता है। बाहरसे देखनेवाले केवल ताकते ही रह जाते हैं। जिन देवोंका निवास स्थान ब्रह्मलोक है, वे ब्रह्मलोकालय देव कहे जाते हैं। यहां कोई प्रश्न करता है कि तब तो पांचवें स्वर्ग ब्रम्हलोकमें रहने वाले सभी देवोंको लौकान्तिकपनेका प्रसंग आता है। जगत् श्रेणीके नौमे वर्गमूलका उसी श्रेणिमें भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसकी आधी संख्या प्रमाण असंख्यातासंख्यात ब्रम्हलोकवासी सभी देव तो लौकान्तिक नहीं माने गये हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि लौकान्तिक शब्दमें लोकान्त इस प्रकृतिका संसर्ग होरहा है। चूंकि ब्रम्हलोकका जो अन्तिम स्थान है, वह लोकांत है लोकान्तमें होनेवाले देव लौकान्तिक हैं। इस कारण ब्रम्हलोकमें सर्वत्र निवास कर रहे अन्य असंख्याते देव तिस प्रकार लौकान्तिक नहीं हैं। किन्तु चार लाखसे कुछ अधिक ही देव लौकान्तिक हैं। अथवा दूसरी निरुक्ति यों की जा सकती है कि लोकका अर्थ यह जन्म, जरा, मृत्युओंसे संकीर्ण होरहा संसार है। उस संसारका जो अन्त है, वह लोकान्त है। जिन देवोंका लक्ष्यभूत प्रयोजन वह लोक का अन्त करना है, ऐसे देव लौकान्तिक हैं। वे लौकान्तिक देव नियमसे संसारसे निष्क्रान्त हुये समझने चाहियें। कारण कि उस अपने स्थान ब्रम्हलोकसे चय कर कर्मभूमिमे एक मनुष्य जन्मरूप गर्भवासको प्राप्त कर समनन्तर शुभ होरही मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं।

किं पुनरनेन सूत्रेण क्रियत इत्याह।

कोई प्रश्न करता है कि इस सूत्र करके फिर सूत्रकारने क्या लक्ष्य सिद्ध किया ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर वार्तिकको कहते हैं।

तत्र लौकांतिका देवा ब्रह्मलोकालया इति।
सूचनात् कल्पवासित्वं तेषां नियतमुच्यते ॥ १ ॥

उन वैमानिक देवोंके प्रतिपादक सूत्रमें श्री. उमास्वामी महाराजने ब्रह्मलोक में निवास करने वाले देव लौकान्तिक हैं। यों इस सूत्र द्वारा की गयी सूचनासे उन लौकान्तिक देवों का कल्पवासीपन नियत होरहा कह दिया है।

लौकांतिकानां कल्पोपपन्नकल्पातीतेभ्योन्यत्वं मामूदिति तेषां कल्पवासिनियमोऽनेन क्रियते न ततो देवानां चतुर्णिकायत्वनियमो विरुध्यते ।

लौकान्तिक देवों को कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवोंसे भिन्नपना नहीं होवे इस कारण उन लौकान्तिकोंके कल्पवासीपने का नियम इस सूत्र करके किया गया है। तिस कारण देवों की चार निकाय होनेका नियम विरुद्ध नहीं पड़ता है । अर्थात् लौकान्तिक देव चार निकायसे बाहिर नहीं हैं। किन्तु वैमानिक देवोंके कल्पोपपन्न भेदमें गर्भित होजाते हैं।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अब ग्रन्थकार अग्रिमसूत्रका अवतरण हेतु यों कहते हैं कि सामान्य करके उपदिष्ट किये गये उन लौकान्तिकोंके विशेष भेदोंकी शिष्योंको प्रतिपत्ति करानेके लिये सू कार अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥

१ सारस्वत २ आदित्य ३ वन्हि ४ अरुण ५ गर्दतोय ६ तुषित ७ अव्याबाध ८ अरिष्ट ये आठ लौकान्तिक देवों के गण हैं। समुच्चय अर्थ वाचक च शब्द करके अग्न्याभ, सूर्याभ, आदिक सोलहगण अन्य भी समझ लेने चाहिये।

क्व इमे सारस्वतादयः पूर्वोत्तरादि दिक्षु यथाक्रमं। तद्यथा अरुणसमुद्रप्रभवो मूले संख्येययोजनविस्तारस्तमसः स्कंधः समुद्रवद्वलयाकृतिरतितीव्रांधकारपरिणामः स ऊर्ध्वं क्रमवृध्या गच्छन् मध्येऽंते वा संख्येययोजनबाहुल्यः अरिष्टविमानस्याधोभागे समेतः कुक्कुटकुटीवदवस्थितः। तस्योपरि तमोराजयोष्टावुत्पत्यारिष्टेंद्रकविमानसमप्रणिधयः। तत्र चतसृष्वपि दिक्षु द्वन्द्वं गतास्तिर्यंगालोकांतात् तदंतरेषु पूर्वोत्तरकोणादिषु सारस्वतादयो यथाक्रमं वेदितव्याः।

ये सारस्वत आदिक लौकान्तिकोंके देवगण भला कहां स्थित होरहे हैं? इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि पूर्व और उत्तर दिशाके मध्य कोण होरहे ईशान आदि दिशाओं में अर्थात् ईशान विदिशामें सारस्वत देवोंके विमान हैं। पूर्व दिशामें आदित्य का विमान है। पूर्वदक्षिण यानी आग्नेय विदिशा में वन्हिजातीय लौकान्तिकों के विमान हैं। दक्षिण दिशा में अरुण का विमान है। दक्षिण पश्चिम कोण यानी नैऋत्य विदिशामें गर्दतोयोंके विमान हैं। पश्चिम दिशामें तुषितोंके विमान हैं। पश्चिम उत्तर कोण यानी वायव्य विदिशामें अव्याबाधों के विमान हैं। उत्तर दिशामें अरिष्ट जातीय लौकान्तिकों के विमान हैं। उसी को स्पष्ट रूपसे इस प्रकार समझना चाहिये कि नौमे अरुण समुद्रसे उत्पन्न हुआ और मूल मे संख्यात योजन विस्तार वाला अन्धकारका स्कन्ध ऊपर की ओर उठ रहा है। जो कि समुद्रके समान होरहा कंकणकी आकृति को धार रहा है। अत्यन्त तीव्र अन्धकार परिणाम स्वरूप हैं। अर्थात् चौमासे में वर्षायुक्त होरही अमावस्या की रात्रिके निबिड अन्धकार से भी अत्यधिक गाढ

अन्धकार का पिण्ड उभर रहा है। वह ऊपर की ओर क्रमक्रमसे वृद्धि करके बढ़ता जा रहा मध्य में और अन्त में संख्यात योजन मोटा होजाता है। पुनः शिखर के समान घट कर ब्रह्म स्वर्ग सम्बन्धी पहिले पटलके मध्यवर्ती अरिष्ट विमान के नीचे भागमें एकत्रित होता हुआ मुर्गेकी कुटी (कुडला)के समान अन्धकार स्थित होगया है। भावार्थ-मसजिदों की शिखर या भुसभरने की बुरजी जैसे नीचे गोल होकर क्रमसे ऊपर को फैलकर बढ़ती हुई पुनः शिखाऊ ऊपर जाकर घट जाती है। उसी प्रकार इस अन्धकारस्कन्ध की रचना समझना। धूम या काजल के समान अन्धकार भी पुद्गल की काले रंगवाली पर्याय विशेष है। कतिपय अन्धकार तो प्रकाशक पदार्थोंसे नष्ट होजाते हैं। किन्तु पुद्गल की सुमेरु, सूर्य, कुलाचलों आदिके समान यह अन्धकारका पिण्ड स्वरूप अनादि अनिधन पर्याय है। उष्ण पदार्थ शीतस्पर्शका नाशक है। परन्तु शीतद्रव्य भी उष्णता को समूल नष्ट कर सकता है। इस अन्धकार परिणति पर सूर्य या अन्य विमान आदि के प्रकाशोंका प्रभाव नहीं पडता है। वैशेषिकों के यहां अन्धकार जैसे कोई भाव पदार्थ नहीं होकर तेजका अभाव पदार्थ तुच्छ माना गया है। वैसा जैन सिद्धांत नहीं है। धूली पटल, काजल, धूमरेखा, बाष्प आदिके समान अन्धकार भी पुद्गल की विशेष परिणति है। मसालके ऊपर निकल रहे काले धूंयेंको जैसे मसाल की ज्योति नष्ट नहीं कर देती है, अथवा आंधीके आने पर लाल पीले रेत को सूर्यप्रभा कोई नष्ट नहीं कर देती है, प्रत्युत प्रकाशक पदार्थ उन काले पीले, धौले पदार्थोंको उन्हीं के ठीक रंग अनुसार प्रकाशित कर देते हैं। उसी प्रकार काली स्याही को धूलके समान फैल रहे इस गाढ़ अन्धकार को प्रकाशक पदार्थ नष्ट नहीं कर पाते हैं। भले ही उसके ठीक रूप अनुकूल उसको जतादें। काले रंग की भींत या कपडे पर जो प्रकाशक पदार्थ का प्रभाव है, वही दशा यहां समझना। अरुण समुद्रके सूर्य या चन्द्रमा इस अन्धकारका बालाग्र भी खण्डन नहीं कर सकते हैं। पुनः उन एकत्रित हुये अन्धकार के ऊपर अरिष्ट नामक इन्द्रक विमान के निकटवर्तिनी होती संती अन्धकार की आठ पंक्तियां उठ कर झुकतीं हुई फैल रहीं हैं। वहां चारों भी दिशाओं में दो दो होकर द्वन्द्व को प्राप्त हुई तिरछी लोक पर्यन्ततक चलीं गयी हैं। उन अन्धकार पंक्तियोंके अन्तरालमें पूर्वोत्तर दिशाके कोने ईशान आदि विदिशा या दिशाओं में सारस्वत आदिक विमान या देवगण यथाक्रमसे व्यवस्थित होरहे समझलेने चाहिये।

च शब्दसमुच्चिताः सारस्वताद्यंतरालवर्तिनः परेऽग्न्याभसूर्याभादयो द्वंद्ववृत्त्या स्थिताः प्रत्येतव्याः, तद्यथा। सारस्वतादित्ययोरंतराले ऽग्न्याभसूर्याभाः, आदित्यवन्ह्योश्चंद्राभसत्याभाः, वन्ह्यरुणयोः श्रेयस्करक्षेमंकराः, अरुणगर्दतोययोर्वृषभेष्टकामचाराः, गर्दतोयतुषितयोर्निर्माणरजो दिगंतरक्षिताः, तुषिताव्याबाधयोरात्मरक्षितसर्वरक्षिताः, अव्याबाधारिष्टयोर्मरुद्वसवः, अरिष्टसारस्वतयोरश्वविश्वाः,। तान्येतानि विमानानां नामानि तन्निवासिनां च देवानां तत्साहचर्यात्।

सूत्र में पडे हुये समुच्चय अर्थवाचक च शब्दकरके दूसर दूसरे अग्न्याभ सूर्याभ, आदिक देव गणों का समुच्चय कर लिया जाता है। सारस्वत आदिकों के आठ अन्तरालोंमें वर्त रहे अग्न्याभ, सूर्याभ आदिक देवगण दो दोकी द्वन्द्ववृत्तिसे स्थित होरहे विश्वास कर लेने योग्य हैं। उसी बात को स्पष्ट रूपसे इस प्रकार जानलो कि सारस्वत और आदित्य के अन्तरालमें दो अग्न्याभ और सूर्याभजाति के कई विमान विरचित हैं। तथा आदित्य और वन्हि के मध्यमें चन्द्राभ और सत्याभ देवगण हैं। वन्हि और अरुणोंके अन्तराल में श्रेयस्कर और क्षेमंकर इन दो जातिके लौकान्तिक भेद बस रहे हैं। अरुण और गर्दतोय के अन्तराल में वृषभेष्ट और कामचार इन दो मण्डलियोंका निवास है। गर्दतोय और तुषित के बीचमें निर्माणरजः और दिगन्तरक्षित देवगणों के स्थान हैं। तुषित और अव्याबाधके बीच में आत्मरक्षित और सर्वरक्षित जातिके लौकान्तिक देव मण्डल हैं। अव्याबाध और अरिष्टके अन्तर स्थान में मरुत् और वसु निवास कर रहे हैं। अरिष्ट और सारस्वत के अन्तराल में अश्व और विश्व जातिके देवगण बस रहे हैं। वे सारस्वत, अग्न्याभ आदिक ये सब विमानोंके नाम हैं, उन विमानोंका सहचरपना होनेसे उनमें निवास करने वाले देवों के भी प्रवाहमुद्रया सारस्वत आदिक नाम कहे जाते हैं।

तत्र सारस्वताः सप्तशतसंख्याः, आदित्याश्च सप्तशतगणनाः, वन्हयः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि, अरुणाश्च तावंत एव, गर्दतोया नवसहस्राणि नवोत्तराणि, तुषिताश्च तावंत एव. अव्याबाधा एकादशसहस्राण्येकादशानि,अरिष्टा अपि तावंत एव। च शब्दसमुच्चितानां संख्योच्यते- अग्न्याभे देवाः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि,सूर्याभे नवनवोत्तराणि,चन्द्राभे एकादशैकादशोत्तराणि, सत्याभे त्रयोदश त्रयोदशोत्तराणि, श्रेयस्करे पंचदशपंचदशोत्तराणि, क्षेमंकरे सप्तदश सप्तदशोत्तराणि वृषभेष्टे एकोनविंशत्येकोनविंशत्यधिकानि, कामचारे एकविंशत्येकविंशत्यधिकानि, निर्माणरजसि त्रयोविंशतित्रयोविंशत्यधिकानि, दिगंतरक्षिते पंचविंशतिपंचविंशत्यधिकानि, आत्मरक्षिते सप्तविंशतिसप्तविंशत्यधिकानि, सर्वरक्षिते एकान्नत्रिंशदेकान्नत्रिंशदधिकानि, मरुति एकत्रिंशदेकत्रिंशदधिकानि, वसुनि त्रयस्त्रिंशत्त्रयस्त्रिंशदधिकानि, अश्वे पंचत्रिंशत्पंचत्रिंशदधिकानि विश्वे सप्तत्रिंशत्सप्तत्रिंशदधिकानि। त एते चतुर्विंशतिर्लौकान्तिकगणाः समुदिताः चत्वारिंशतसहस्राणि अष्टसप्ततिश्च शतानि षडुत्तराणि।

अब लौकान्तिक देवों की संख्याको गिनाते हैं। उन चौबीस गणोंमें सारस्वत देवोंकी संख्या सात सौ है। और आदित्यों की गणना भी सात सौ ही समझनी चाहिये। वन्हिगण के देवों की संख्या सात अधिक सात हजार है। अरुण जाति के देव भी उतने ही यानी सात हजार सात हैं। गर्दतोय विमानों में रहनेवाले देव नौ ऊपर नौ हजार हैं। तथा तुषित भी उतने ही यानी नौ हजार नौ हैं। अव्याबाध देवगण में ग्यारह हजार ग्यारह देवगण हैं। अरिष्ट भी उतने ही यानी ग्यारह हजार हैं। च शब्द से समुच्चय कर लिये गये अग्न्याभ आदि देवों की संख्या अब कही

जाती है। अग्न्याभमें देव सात अधिक सात हजार हैं। सूर्याभविमानमें नौ अधिक नौ हजार हैं। चन्द्राभ में ग्यारह अधिक ग्यारह हजार हैं। सत्याभ में तेरह हजार तेरह देव बसते हैं। श्रेयस्कर में पंद्रह ऊपर पन्द्रह हजार देव निवसते हैं। क्षेमंकर में सत्रह अधिक सत्रह हजार देव निवास करते हैं। वृषभेष्टमें उनईस हजार उनईस अधिक देव वस रहे हैं। कामचारमें इकईस हजार इकईस अधिक देव ठहरे हुये हैं। निर्माणरजाः में तेईस हजार तेईस अधिक अमर विराजते हैं। दिगन्तरक्षित में पच्चीस हजार पच्चीस सुर निवसते हैं। आत्मरक्षित में सत्ताईस अधिक सत्ताईस हजार देव स्थित हैं। सर्वरक्षितमें उन्तीस सहस्र उन्तीस देवों का निवास है। मरुत्में इकत्तीस हजार इकतीस अधिक देव शोभते हैं। वसुमें तेतीस हजार अधिक तेतीस देव वस रहे हैं। अश्व में पैंतीस अधिक पैंतीस हजार देव राजते हैं। विश्व में सैंतीस अधिक सैंतीस हजार देव निवास करते हैं। वे सब इन संख्याओं को धार रहे ये चौवीस लौकान्तिकोंके गण एकत्रित कर दिये जांय तो सम्पूर्ण लौकान्तिक देवो की संख्या चारलाख सात हजार आठसौ ऊपर छह होजाती है। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारोंके मन्तव्य अनुसार उक्त संख्या ही ठीक है। हां, त्रिलोकसार की "सारस्सद आइच्चा सत्तसया सगजुदाय वण्हरुणा। सगसगसहस्समुवरि दुसु दुसु दो दुग सहस्स वड्ढिकमा" इस गाथाके अनुसार सारस्वत और आदित्यों की सातसौ सात संख्या मानकर पुनः वृद्धि होजानेसे चार लाख सात हजार आठसौ वीस यह लौकान्तिक देवों की संख्या चोखी जचती है।

सर्वे स्वतंत्राः हीनाधिकत्वाभावात्। विषयरतिविरहाद्देवर्षयः तत एवेतरेषां देवानामर्चनीयाः चतुर्दशपूर्वधराः सततं ज्ञानभावनावहितमनसः नित्य संसारादुद्विग्नाः अनित्याशरणाद्यनुप्रेक्षावहितचेतसः तीर्थकरनिःक्रमणप्रबोधनपराः नामकर्मविशेषोदयादुपजायंते।

ये सभी लौकान्तिक देव अहमिन्द्रोंके समान स्वतंत्र हैं। किसी इन्द्र, प्रतीन्द्र आदिका इन पर कोई कुत्सित अधिकार नहीं चलता है। परस्परमें भी हीनपना या अधिकपना नहीं होनेसे कोई किसीके परधीन नहीं है। इन्द्रियसम्बन्धी विषयोंमें रागभावका विरह होजानेसे देवोंमें ऋषितुल्य होरहे ये देवर्षि कहे जाते हैं। तिस ही कारणसे अन्य देवोंके पूजनीय हैं। चौदह पूर्वको धार रहे ये द्वादशांगवेत्ता हैं। इनका चित्त सर्वदा ज्ञानाभ्यास की भावना करते हुये उसीमें एकाग्र लगा रहता है। नित्य ही संसारसे उद्वेगको प्राप्त होरहे वैराग्यतत्पर रहते हैं। अनित्य, अशरण, संसार आदि बारह अनुप्रेक्षाओं के भावने में इनकी चित्तवृत्ति रुकी रहती है। तीर्थंकर भगवान्के तपःकल्याणके अवसरपर नियोग साधते हुये भगवान् को तत्वप्रबोध कराने के लिये तत्पर रहते हैं। निष्क्रमणके सिवाय अन्य किन्ही भी कल्याणोंमें या नन्दीश्वर-

द्वीप अथवा अन्य अकृत्रिम चैत्यालयोंकी वन्दना आदिमें इनको जाने आने की उत्सुकता नहीं है। देवगति नाम कर्मके भेद प्रभेद होरहे लौकान्तिक देव नामक प्रकृति विशेषके उदयसे उक्त ढंग के ये देव उपज जाते हैं। नामकर्म की उत्तरोत्तर प्रकृतियां असंख्याती हैं। यह जीव पहिले शुभ, अशुभ, कर्मोंके अनुसार विभिन्न पर्यायोंमें उपज जाता है। पश्चात् स्वकीय पुरुषार्थ द्वारा विलक्षण कार्योंको साधलेता है। सिद्धान्त ग्रन्थों में संसारी जीवों की अवस्थाओं का कर्मजनित और पुरुषार्थजनित न्यारा न्यारा स्वरूप दरसादिया गया है।

तेन्वर्थसंज्ञतां प्राप्ता भेदाः सारस्वतादयः।
तेनैकचरमास्तद्वच्छक्रद्याश्चोपलक्षिताः ॥ १ ॥

लौकान्तिक देवगणोंके वे सारस्वत आदिक भेद अन्वर्थसंज्ञापनको प्राप्त हो रहे हैं। तिस कारण ये लौकान्तिक देव एकचरम हैं। यानी एक मनुष्य भव लेकर चरमशरीर अवस्था से निर्वाण प्राप्त कर लेंगे। अतः शब्दमेंसे निकले हुये अर्थके अनुसार इसका नाम यथार्थ है। उमास्वामी महाराजने इन दो न्यारे सूत्रों करके एक भवतारी लौकान्तिक देवोंका स्वतंत्र निरूपण किया है। यह उपलक्षण है। जैसे "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" यहां काक पद दहीके उपघातकों का उपलक्षण है। छह दक्षिण दिशाके इन्द्र, सौधर्म इन्द्रकी इन्द्राणी, सौधर्म स्वर्गके लोकपाल, सर्वार्थसिद्धिके देव ये भी एक भवतारी हैं। अतः उन लौकान्तिकों के समान इस सूत्र द्वारा सौधर्म इन्द्र आदि सभी एक भवतारी जीवों का उपलक्षण कर दिया गया समझ लेना

येऽप्येकचरमा लौकांतिकाः सर्वेन्वर्थसंज्ञां प्राप्ताः सुत्रिताः तथा शक्रादयश्च तेषामुपलक्षणत्वात्।

जिस प्रकार कि एक चरम होरहे सभी लौकन्तिक देव परले जन्म में संसार का अन्त करने वाले होते हुये सत्य अर्थके अनुकूल होरही संज्ञाको प्राप्त होरहे सूत्र द्वारा उमास्वामी महाराजने कह दिये हैं, उसी प्रकार सौधर्म इन्द्र आदिक भी एक चरम शरीर को प्राप्त कर दूसरे जन्म में संसार का अन्त कर देने वाले सूचित कर दिये गये हैं। क्योंकि उन सारस्वत आदिकों का एक भवतारी जीवों में उपलक्षणपना है। अतः "ब्राह्मणवशिष्ट" न्याय से इन एक भवतारी जीवोंका न्यारे सूत्रों द्वारा निरूपण करना समुचित है।

क्व पुनर्द्विचरमा इत्याह।

जब कि ये लौकान्तिक या शक्र आदिक एक चरम हैं, तो फिर महाराज यह बताओ कि द्विचरम यानी दो भवतारी जीव कौनसे हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

विजय आदि विमानों में दो चरम वाले देव निवास करते हैं। अर्थात् विजय, वैजयन्त, अपराजित और नौ अनुदिश विमानोंके देव अधिकपनेसे अन्तिम दो मनुष्य भवोंको प्राप्त कर मोक्षको चले जाते हैं। यहां विजय और आदि शब्दके साथ बहुव्रीहि समास तथा तत्पुरुष समास कर देनेसे वैजयन्त, अपराजित, और अनुदिशोंका इष्टग्रहण सिद्ध होजाता है। ये तेरह विमानोंके निवासी पल्यके असंख्यातवें भाग स्वरूप असंख्याते देव आयुष्य पूर्ण होते सन्ते सम्यक्त्वसे नहीं छूटते हुये मनुष्योंमें उपज कर पुनः संयमकी आराधना करते हुये फिर विजयादिकों में उपज कर वहां से च्युत होते हुये यहां कर्म भूमिमें मनुष्य भवको प्राप्त कर सिद्ध होजाते हैं। यों दो मनुष्य भवोंकी अपेक्षा द्विचरमपना होजाता है ॥

आदिशब्दः प्रकारार्थः। कः प्रकारः? सम्यग्दृष्टित्वे निर्ग्रंथत्वे च सत्युपपादः। स च विजयस्येव वैजयंतजयन्तापराजितानामनुदिशानामप्यस्तीति तत्रादिशब्देन गृह्यंते। सर्वार्थशब्दस्य ग्रहण प्रसंग इति चेन्न,तस्यान्वर्थसंज्ञाकरणात् पृथगुपादानाच्च लौकान्तिकवदेकचरमत्वसिद्धेः।

यहां सूत्रमें पडे हुये आदि शब्दका अर्थ प्रकार है। वह प्रकार क्या है? इसका उत्तर यह है कि सम्यग्दृष्टि होते हुये और निर्ग्रन्थपना होते हुये जो देवोंमें उपपाद जन्म लेना है। हां, वह सम्यग्दृष्टि और निर्ग्रन्थ महाव्रतों का उपपाद [illegible] विजय, वैजयन्त, जयन्त अपराजित, और अनुदिश विमानवासियोंके भी विद्यमान है। इस कारण यहां आदि शब्द करके बारह विमानोंका ग्रहण कर लिया जाता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि होरहे महाव्रती का ही मरकर जहां जन्म लेने का नियम है, वे स्थान विजय आदिक कहे जाते हैं। जन्मके आदिमें सम्यग्दृष्टि होते हुये अहमिन्द्रपनका अकलंक नियम भी इससे प्रतिकूल नहीं पडता है। यदि यहां कोई यों कहे कि सम्यग्दृष्टि महाव्रती पुरुषोंका ही उपपाद जन्म होना तो सर्वार्थसिद्धि विमानोंमें भी है। अतः आदि पदसे यहां मानुषियोंसे तिगुने या उत्कृष्टतया सात गुने सर्वार्थसिद्धि वाले संख्यात देवोंके ग्रहण होजानेका प्रसंग होगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस सर्वार्थसिद्धि की ठीक ठीक वाचक शब्दके अनुसार अर्थ घटित होजानेवाली संज्ञा की गयी है। भावार्थ–सम्पूर्ण अर्थों की सिद्धि प्राप्त करनेवाले ये देव हैं। अगले भव में ही मोक्ष की सिद्धि करलेवेंगे। दूसरी बात यह है कि सौधर्मैशान आदि सूत्रमें "सर्वार्थसिद्धि" का पृथग् रूपसे उपादान किया गया है। अतः लौकान्तिक देवोंके समान एक चरमशरीरपना सिद्ध है। अतः यह सूत्र सम्यग्दृष्टि महाव्रती ही मनुष्योंके उपपाद स्थान होरहे विजय आदि तेरह विमानोंमें रहने वाले अहमिन्द्रोंके लिये चरितार्थ है।

कथं पुनर्विजयादीनां द्विचरमत्वं ? मनुष्यभवापेक्षाया तथैव व्याख्याप्रज्ञप्तिदंडकेऽभिधानात्। देवभवापेक्षायामपि त्रिचरमत्वप्रसंगात्।

विजयादिक अहमिन्द्रोंके द्विचरमपना किस प्रकार व्यवस्थित है ? इसका समाधान यह है कि दो मनुष्य भवोंकी अपेक्षा करते सन्ते द्विचरमपना। यानी विजयादिकसे च्युत होकर मनुष्योमें उपज कर संयम लेते हुये, पुनः विजयादिकमें उपपाद कर पुनः मनुष्य जन्म लेकर सिद्ध हो जाते हैं। तिस ही प्रकार व्याख्याप्रज्ञाप्तिदण्डक नामक महा अधिकारमें कहा गया है। यदि मध्यवर्त्ती देवभवकी अपेक्षा भी की जायगी तब तो त्रिचरमपनका प्रसंग होगा। दो मनुष्यभव और एक देवभव यों तीन भवतारी ये हो जायंगे। व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकमें अन्तर प्रकरणके अनुसार आये हुये, विरोधका भी निवारण कर दिया है। अन्य कल्पमें उत्पत्ति हो जानेकी अपेक्षा नहीं रखकर किये गये, गौतम महाराजके प्रश्नपर भगवान्का उत्तर यह है, जो कि सूत्रमें कहा गया है।

मनुष्यभवस्य पुनरेकस्य मुख्यचरमत्वं येनैव निर्वाणप्राप्तेः। अपरस्य तु चरमप्रत्यासत्तेरुपचरितं चरमत्वं सजातीयस्य व्यवधायकस्याभावात् तस्य तत्प्रत्यासत्तिसिद्धेः। द्वौ चरमौ मनुष्यभवौ येषां ते द्विचरमाः देवाः विजयादिषु प्रतिपत्तव्याः।

यदि कोई यों कटाक्ष करे कि कितने ही थोडे या बहुत पदार्थ क्यों न हों उनमें चरम एक ही हो सकता है। अनन्तानन्त पदार्थमें भी चरम एक ही होगा। फिर यहां दो को चरमपना कैसे कहा ? ग्रन्थकार इसका समाधान यों कर देते हैं कि भाई तुम्हारा कहना ठीक है। एक ही अन्तिम मनुष्य भवको मुख्य रूपसे चरमपना है, जिस ही करके निर्वाणकी प्राप्ति होती है। किंतु उसके निकटवर्त्ती दूसरे या तीसरे न्यारे भवको चरमपना तो चरमके निकटवर्त्ती होनेके कारण उपचरित है। कोई दूसरा समान जातिवाला पदार्थ व्यवधान करनेवाला नहीं है। अतः उस दूसरे या तीसरे भवको उस मुख्यचरमकी निकटवर्त्तिता सिद्ध है। जिनके दो मनुष्य भव अन्तिम लेने शेष हैं, वे देव द्विचरम हो रहे विजय आदिकमें निवास कर रहे समझ लेने चाहिये।

अथान्यत्र सौधर्मादिषु कियच्चरमा देवा इत्यावेदयितुमाह।

अब महाराज यह बताओ कि अन्य सौधर्म, आदिक विमानोंमें निवास कर रहे देव भला कितने चरम भवोंको ग्रहण कर निर्वाण प्राप्त करेंगे ? इस प्रश्नके समाधानका प्रज्ञापन करनेके लिये ग्रन्थकार उत्तरवार्त्तिकको कहते हैं।

तथा द्विचरमाः प्रोक्ता विजयादिषु यतोऽमराः।
ततोन्यत्र नियामोस्ति न मनुष्यभवेष्विह ॥ १ ॥

जिस कारणसे कि विजय आदिकोंमें तिस प्रकार दो मनुष्य भवोंकी अपेक्षा द्विचरम देव अच्छे कहे गये हैं, तिस कारण अन्य वैमानिकोंमें यहां मनुष्य भवोंमें नियम करानेवाला कोई नहीं है। अर्थात्–सौधर्म आदिके देव सौ भव या अनन्त भव लेकर मोक्ष जायेंगे ऐसा कोई नियम नहीं है। ग्रैवेयकों तकमें उपजनेवाले अनन्तवार ग्रैवेयक या मनुष्य भवोंमें संसरण करते रहते हैं। अनेक जीव तो मुक्तिको कथमपि प्राप्त नहीं कर सकेंगे। अतः लौकान्तिक आदिकोंका एक चरमपना और विजयादिकोंका दो चरमपना प्रसिद्ध है। क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंका त्रिचरमपना यानी उत्कृष्टतया चौथे भवमें मोक्ष जाना निर्णीत है। तीर्थंकर प्रकृतिवाला जीव भी उत्कृष्ट तया द्विचरम है। तीसरे जन्ममें अवश्य मोक्ष पावेगा। अन्य जीवोंके लिये कोई मुक्ति प्राप्त करनेके लिये भवोंका नियम नहीं बखाना गया है। भले प्रकार सल्लेखना करनेवाला जीव सात, आठ, जन्मोंमें मुक्तिको प्राप्त कर लेता है, ऐसा चरणानुयोगका सिद्धांत है। "जेसिं होइ जहण्णा चउव्विहाराहणा दु भवियाणं। सत्तट्ठभवे गंतुं ते विय पावन्ति णिव्वाणं" इनके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्त करनेके लिये भवोंका नियम नहीं किया गया है। भले ही न्यारे न्यारे जन्मोंकी अपेक्षा यह जीव महाव्रतोंको अधिकसे अधिक बत्तीस बार धारण कर सकता है। एक भवमें अधिकसे अधिक दो बार लेता हुआ उपशम श्रेणीको चार वार ले सकता है। किन्तु इसमें तो कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परिवर्त्तन काल भी पूरा होकर अनन्ते जन्म हो सकते हैं। अनन्त कल्पकाल भी समाजाय। अतः यह कोई चरमभवोंकी गणनाका नियम नहीं समझा जाता है।

यतो लौकांतिकानां सर्वार्थसिद्धस्य शक्रस्य च तदग्रमहिष्या लोकपालादीनामेकचरमत्व-मुक्तं तथा विजयादिदेवानां द्विचरमत्वं, ततोन्यत्र सौधर्मादिषु नियमो नास्तीति गम्यते।

जिस कारणसे कि लौकान्तिक देवोंका और सर्वार्थसिद्धिवाले देवोंका तथा सौधर्म इंद्रका एवं उसकी अग्रमहिषी हो रहीं इन्द्राणीका तथैव लोकपाल आदिकोंका एकचरमपना सिद्धांत ग्रन्थोंमें कहा गया है, तिस प्रकार विजय, आदिक देवोंका द्विचरमपना निर्णीत है। उनके सिवाय सौधर्म आदिकोंके अन्य देवोंमें कोई द्विचरमपन आदिका कोई नियम नहीं है। यों अर्थापत्त्या जान लिया जाता है। लोकपाल आदि यहां आदिशब्दसे दक्षिण दिशाके इन्द्रोंका ग्रहण कर लेना, त्रिलोकसारमें "सोहम्मो वरदेवी सलोगपाला य दक्खिणमरिंदा। लोगंतिय सव्वट्ठा तदो चुदा णिव्वुदिं जन्ति" यों कहा है।

इत्येकादशभिः सूत्रैर्वैमानिकनिरूपणं।
युक्त्यागमवशादात्तं तन्निकायचतुष्टयम् ॥ २ ॥

इस प्रकार 'वैमानिकाः' इस सूत्रसे प्रारम्भ कर 'विजयादिषु द्विचरमाः' यहांतक ग्यारह सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने वैमानिक देवोंका निरूपण किया है। युक्ति और आगमके वशसे उन देवोंकी चारों निकायोंको उक्त चौथे अध्याय द्वारा ग्रहण कर लिया जा चुका

है। अर्थात्--यहांतक इस अध्यायके छब्बीस सूत्रोंमें चारों देवनिकायोंका समीचीन युक्तियों और सर्वज्ञ द्वारा प्राप्त आगमके अनुसार कथन किया जा चुका है।

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारे चतुर्थाध्यायस्य प्रथममान्हिकम्।

यहांतक तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक महाग्रंथमें चौथे अध्यायका
पहिला आन्हिक (प्रकरण समूह) परिसमाप्त हुआ।

—०—

प्राग्जन्मार्जितकर्मनित्यगतिकज्योतिष्कनिघ्नं क्षपा-
घस्रादिव्यवहारकालमचलास्थैर्य्यंञ्च मुक्त्यै विदन्।
सूर्येन्द्वोरुपरागिताग्रहकृतानेन्दुक्षितिच्छायया
धर्म्यध्यानरतो भुवं समतलां पश्येदगोलां सुधीः ॥ १ ॥

—०—

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अथ द्वितीयमान्हिकम्

जीवके औदयिक भावोंमे तिर्यक् योनिकी गतिको औदयिक भावोंमें गिनाया है। फिर स्थितिके प्रकरणमें " तिर्यग्योनिजानां च " इस सूत्र द्वारा तिर्यंचयोनिवाले जीवोंकी स्थितीको समझाया है। वहां हम यह नहीं समझे कि तिर्यग्योनि जीव कौनसे हैं ? इस प्रकार सन्देह होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको समाधानार्थ प्रतिपादन करते हैं।

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥

औपपादिक अर्थात्–उपपाद जन्मवाले देव और नारकी जीव तथा मनुष्य इनसे शेष बच रहे सम्पूर्ण संसारी जीव तिर्यग्योनि यानी तिर्यंच हैं। तीन गतिओंके जीव असंख्यातासंख्यात हैं। किन्तु तिर्यंच जीव अनन्तानन्त है।

औपपादिकाश्च मनुष्याश्चौपपादिकमनुष्या इत्यत्र द्वंद्वेभ्यर्हितत्वादौपपादिकशब्दस्य पूर्वनिपातः। मनुष्यशब्दस्याल्पाक्षरत्वेपि तस्मादुत्तरत्र प्रयोगः, अभ्यर्हितत्वस्याल्पाक्षरापवादत्वात्। तेभ्योन्ये शेषाः संसारिणः तिर्यग्योनयः प्रत्येयाः, तिर्यग्नामकर्मोदयसद्भावात्। न पुनः सिद्धाः संसारिप्रकरणे तदप्रसंगात्।

औपपादिक और मनुष्य यों इतरेतर द्वन्द्व कर ' औपपादिकमनुष्याः ' यह पद बनाना चाहिये। इस पदमें द्वन्द्व समास करनेपर अभ्यर्हित (पूज्य) होनेसे ' अव्यवहितं पूर्वं ' इस सूत्र अनुसार बहुत अच्वाले भी औपपादिक शब्दका पूर्वमें निपात हो जाता है। मनुष्य शब्दका अल्प अक्षरवाला या अत्यल्प अच्वाला होनेपर भी उस औपपादिकसे पीछे प्रयोग किया है।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

क्योंकि 'अल्पाच् तरं पूर्वं' इस सूत्रका अपवाद करनेवाला 'अभ्यर्हितं च' है। अतः अभ्यर्हितपना अल्पाक्षरपनेको बाध लेता है। औपपादिकोंमें देव आ जाते हैं। और देव स्थिति, प्रभाव, आदि करके पूज्य कहे जा चुके हैं। उन औपपादिक और मनुष्योंसे अतिरिक्त शेष संसारी जीव तिर्यंच समझ लेने चाहिये। क्योंकि उनके तिर्यग्गति नामक नाम कर्मका उदय विद्यमान रहता है। औपपादिक और मनुष्योंसे शेष रहे सिद्ध फिर नहीं ग्रहण किये जाते हैं। क्योंकि संसारी जीवोंके प्रकरणमें उन शुद्ध परमात्माओंका प्रसंग नहीं है। सिद्धोंमें गति कर्मका उदय नहीं पाया जाता है।

कस्मात्पुनर्हि तेभिधीयंते ? तिर्यंग्प्रकरणे तेषामभिधानार्हत्वात् इत्याशंकमानं प्रत्याह।

कोई शिष्य आशंका कर रहा है कि किस कारणसे फिर वे तिर्यंच जीव यहां विना प्रकरण कहे जा रहे हैं। जब कि दूसरे अध्यायमें तिर्यंचोंके प्रकरणमें उन तिर्यग्योनि जीवोंका कथन करना योग्य प्रतीत होता है ? इस प्रकार आशंका कर रहे शिष्यके प्रति ग्रन्थकार समाधान वचनको कहते हैं।

सर्वलोकाश्रयाः सिद्धास्तिर्यंचोप्यर्थतोंगिनः।
सन्त्यौपपादिकेभ्यस्ते मनुष्येभ्योपि चापरे ॥ १ ॥
इति संक्षेपतस्तिर्यग्योनिजानां विनिश्चयः।
कृतोत्र सूत्रकारेण लक्षणावासभेदतः ॥ २ ॥

आधारभूत संपूर्ण लोकके आश्रित हो रहे तिर्यंच प्राणी भी वास्तविक रूपसे प्रसिद्ध हो रहे हैं। तथा वे औपपादिक जीवोंसे और मनुष्य जीवोंसे भी न्यारे भिन्न प्रकारके विद्यमान हैं। इस प्रकार सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्रमें लक्षण और निवास स्थानकी विशेषता अनुसार संक्षेपसे तिर्यंच जीवोंका विशेष निश्चय करा दिया है। भावार्थ—तिर्यंच जीव तीनों लोकोंमें भरे हुये हैं। तीनों लोकोंका निरूपण कर चुकनेपर तिर्यंचोंका प्रतिपादन करना सुगम है। अतः इस सूत्र द्वारा तिर्यंचोंके लक्षण और अर्थापत्या निवासस्थान भूत तीनों लोककी प्रतिपत्ति करा देना सूत्रकारको आवश्यक पड गया है।

अधोलोकं मध्यलोकमूर्ध्वलोकं चाभिधाय यदत्र प्रकरणाभावेपि तिर्यग्योनिजानां निरूपणं सूत्रकारेण कृतं तत्तेषां सर्वलोकाश्रयत्वप्रतिपत्त्यर्थं च। तिर्यक्प्रकरणेस्य सूत्रस्याभिधाने सर्वतिर्यग्भेदवचने सति सूत्रस्य गौरवप्रसंगात्। सर्वलोकाश्रयत्वं पुनरेषां परिशेषात् योज्यते।

पार्श्वनाथ - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तीसरे अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन कर तथा चतुर्थ अध्यायमें छब्बीस सूत्रतक ऊर्ध्व लोकका निरूपण कर, प्रकरण नहीं होनेपर भी सूत्रकारने जो यहां तिर्यंच जीवोंका प्रतिपादन किया है, वह तो उन तिर्यंचोंके सर्व लोकके आश्रितपनकी प्रतिपत्ति करानेके लिये और संक्षेप करनेके लिये है। यदि दूसरे अध्यायमें तिर्यंचोंके प्रकरणमें इस सूत्रका कथन किया जाता तो सम्पूर्ण तिर्यंचोंके भेदोंका वचन करते सन्ते सूत्रके गौरव दोष हो जानेका प्रसंग आता। दूसरे अध्यायमें तबतक नारकी, मनुष्य और देवोंका निरूपण भी नहीं किया गया था। वहां नारकी जीवों या मनुष्यों अथवा देवोंके प्रतिपादक सूत्र भर दिये जाते तो अर्थकृत और प्रमाणकृत भारी गौरव हो जाता। तीनों लोक और तीनों गतियोंके जीवोंका वर्णन कर चुकनेपर यहां लघुतासे तिर्यंचोंका लक्षण और उनका निवास स्थान समझा दिया है। इन तिर्यंचोंके अधिकरणभूत संपूर्ण लोकमें आश्रित रहनेकी तो फिर परिशेष न्यायसे योजना कर ली जाती है। यानी तीन लोकका निरूपण कर चुकनेपर तिर्यंचोंका यहां कथन करना उनके सर्व लोकमें व्याप कर ठहरनेको ध्वनित करता है।

तिर्यग्योनयो द्विविधाः सूक्ष्मा बादाराश्च, सूक्ष्मबादरनामकर्मद्वैविध्यात्। तत्र सूक्ष्माः सर्वलोकवासिनः, बादरास्तु नियतावासा इति नियतावासाभेदनिरूपणं तिर्यग्योनिशब्दनिरुक्त्या लक्षणनिरूपणं तिरश्चीन्यग्भूतोपबाह्या योनिर्येषां ते तिर्यग्योनय इति। मनुष्यादीनां केषांचित् परोपबाह्यत्वात् तिर्यग्योनित्वप्रसंगादिति चेन्न, तिर्यग्नामकर्मोदये सतीति वचनात्।

तिर्यंच जीव दो प्रकारके हैं। नाम कर्मकी सूक्ष्म प्रकृति और बादर प्रकृति इन दो प्रकारके कर्मोंके उदय अनुसार हुये सूक्ष्म और बादर ये दो प्रकारके तिर्यंच हैं। उन दो भेदोंमें पृथिवी अप्, तेज, वायु, वनस्पतिकायिक सूक्ष्म तिर्यंच संपूर्ण लोकमें निवास कर रहे हैं। और बादर हो रहे पृथिवी, तेज, अप्, वायु, वनस्पति, और विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय तिर्यंच तो नियत हो रहे क्वचित् स्थानोंपर निवास करते हैं। इस प्रकार तिर्यंचोंके नियत हो रहे निवास-स्थान और भेदोंका निरूपण कर दिया गया है। तिर्यग्योनि इस शब्दकी निरुक्ति करके तिर्यंचोंके लक्षणका निरूपण कर दिया जाता है। यौगिक शब्दोंकी निरुक्ति कर देनेसे वाच्यार्थका लक्षण सम्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार कि पाचक, पालक, पालक, शब्दोंके निर्वचनसे ही रसोइया आदिके इतर व्यावर्त्तक लक्षण हो जाते हैं, इसी प्रकार यहां भी तिरश्ची न्यग्भूता यानी छिपी हुई जिनकी योनि उपजी है, वे जीव तिर्यग्योनि हैं। अथवा उपबाह्या यानी तिरस्कृत हो रही योनिको धारनेवाले जीव तिर्यग्योनि जीव हैं। भावार्थ–तिर्यंचोंमें एकेन्द्रियोंकी संख्या अत्यधिक है। इन एकेन्द्रियोंकी योनि संवृत (ढकी हुई) है। अथवा स्वयं तिर्यंचों करके अथवा मनुष्यों करके जो पद पदपर तिरस्कारको प्राप्त हो रहे हैं, वे तिर्यग्योनी जीव हैं। यहां कोई अतिप्रसंग दोष हो जानेकी शंका करता है कि किन्हीं किन्हीं मनुष्य, देव, आदिकोंका भी दूसरोंके द्वारा तिरस्कार हो रहा है। अतः उनको भी तिर्यग्योनिपनका प्रसंग हो जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह

तो नहीं कहना। क्योंकि अन्तरंगमें तिर्यग् नाम कर्मका उदय होते सन्ते जो उपबाह्य हैं, वे तिर्यंच हैं। इस प्रकार वचन कर देनेसे कोई दोष नहीं आता है। जिसके साथ थोडा विशेषण और लगा दिया जाता है।

संप्रति भवनवासिनां तावदुत्कृष्टस्थितिप्रतिपादनार्थमाह।

उमास्वामी महाराजके प्रति किन्हींका पृष्टव्य है कि भगवन्! अब इन जीवोंकी स्थिति कहनी चाहिये। नारकी, मनुष्य, तिर्यंचोंकी स्थिति तो आपने कह दी। देवोंकी नहीं कही है। अतः देवोंकी आयु किस प्रकार है? यों पृष्टव्य होनेपर सबसे पहिले भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिको प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रकार इस अवसरपर अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषणां सागरोपम-त्रिपल्योपमार्धहीनमिता ॥ २८ ॥

भवनवासियोंमें असुरकुमारोंकी एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। नागकुमारोंकी तीन पल्योपम परिमित है। सुपर्णकुमारोंकी आधा पल्यहीन यानी ढाई पल्योपम परा स्थिति है। द्वीपकुमारोंकी उससे आधे पल्य हीन यानी दो पल्योपम है। शेष छह प्रकारके भवनवासियोंकी उससे भी आधापल्य कम अर्थात्—डेढ अद्धापल्योपम काल परिमित उत्कृष्ट स्थिति है।

असुरादीनां सागरोपमादिभि रभि संबंधो यथाक्रमं।

असुरकुमार, नागकुमार, आदिको सागरोपम, त्रिपल्योपम, आदिके साथ क्रमका अतिक्रम नहीं कर उद्देश्य विधेय अनुसार संबंध कर लेना चाहिये। यों इस सूत्रके छोटे पांच वाक्य बना लिये जाय।

सूत्रकार अब क्रमप्राप्त हो रही व्यन्तर और ज्योतिष देवोंका उल्लंघन कर वैमानिक देवोंकी स्थितिको कहते हैं। क्योंकि भविष्यमें सरल उपायसे उनकी स्थिति कह दी जायगी। उन वैमानिकोंके आदिमें कहे गये पहिले युगलकी स्थितिको समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥ २९ ॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें देवोंकी उत्कृष्ट आयु दो सागरसे कुछ अधिक है।

द्विवचननिर्देशाद्द्वित्वगतिः, अधिके इत्यधिकार आसहस्रारात्।

सागरोपमें यह शब्द द्विवचन "औ" विभक्तिका रूप है। अतः द्विवचनका कथन कर देनेसे द्वित्व संख्याकी ज्ञप्ति हो जाती है, यानी दो सागर यह अर्थ निकल आता है। जैसे घटों का अर्थ दो घट है। इस सूत्रमें "अधिके" यह अधिकार पद है, जो कि सहस्रार स्वर्गतक जान लेना चाहिये। क्योंकि "त्रिसप्त" आदि सूत्रमें अधिकारका निवर्तक तु शब्द पडा हुआ है।

सूत्रकारके व्यर्थ सारिखे पडे हुये शब्द न जाने किन किन अनेक अर्थोंका ज्ञापन करते हैं। भावार्थ–यह उत्कृष्ट स्थिति इन्द्र प्रतीन्द्र आदि देवोंकी है। सौधर्म ऐशान स्वर्गके देवोंकी देवियोंकी स्थिति तो " साहियपल्लं अवरं कप्पदुगित्थीण पणग पढमवरं । एक्कारसे चउक्के कप्पे दो सत्त-परिवड्ढी " इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार प्रथम युगल सम्बन्धी देवियोंकी जघन्य आयु साधिक पल्य है और सौधर्म देवियोंकी उत्कृष्ट आयु पांच पल्य एवं ऐशानमें सात पल्य है। सोलहवें स्वर्गमे देवियोंकी आयु पचपन पल्य है। "दक्खिण उत्तर देवी सोहम्मीसाण एव जायंते। तद्देवीओ पच्छा उपरिम देवा णयन्ति सगठाणं "। दक्षिण उत्तर बारह कल्पोंमें रहनेवाले कल्प-वासी देवोंकी देवियां सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें ही उपजती है। पीछे उन देवियोंको नियोग अनुसार ऊपरके देव अपने अपने स्थानको ले जाते हैं।

अब श्री उमास्वामी महाराज दूसरे कल्प युगलकी स्थितिको विशेषतया समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

सानत्कुमार और माहेंद्र नामक तीसरे, चौथे, स्वर्गोंमें निवास कर रहे देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक सात सागर की है। घातायुष्क सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा आधा सागर आयु अधिक हो जाती है। यह व्यवस्था सौधर्मसे लेकर सहस्रार पर्यन्त तक समझनी चाहिये। उसके ऊपर घातायुष्क जीव उपज नहीं पाता है।

अधिकारात् सागरोपमाधिकानि चेति संप्रत्ययः।

अधिकार चला आरहा होनेसे सागरोपम और अधिक शब्दोंकी अनुवृत्ति हो जाती है। इस कारण सानत्कुमार और माहेन्द्रोंमें कुछ अधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट आयु है। यह समीचीन प्रत्यय हो जाता है। " अर्थवशात् विभक्तेर्विपरिणामः " इस नीतिके अनुसार यहां " सागरोपम " और " अधिक " पदोंको बहुवचनान्त कर लिया जाता है।

श्री उमास्वामी महाराज ब्रह्मलोक स्वर्गसे आदि लेकर अच्युत पर्यन्त स्वर्गोंमें निवास कर रहे देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु ॥ ३१ ॥

ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, स्वर्गोंमें तीनसे अधिक हो रहे सात सागर यानी दस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गोंमें सात करके अधिक हो रहे सात सागर यानी चौदह सागरकी स्थिति है। शुक्र महाशुक्रमें नौ सागरसे अधिक हो रहे सात सागर यानी सोलह सागरकी आयु है। शतार सहस्रार स्वर्गोंमें ग्यारह सागरसे अधिक होरहे सात सागर अर्थात् अठारह सागरकी स्थिति है। यहांतक अधिक शब्दका अधिकार चला आ रहा है। अतः

उक्त स्थितियोंको घातायुष्क सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा आधा सागर अधिक समझना । आनत, प्राणत स्वर्गोंमें तेरह अधिक सात सागर यानी बीस सागरोपम काल उत्कृष्ट स्थिति है । तथा आरण और अच्युत स्वर्गमें पन्द्रह करके अधिक सागर अर्थात्–बावीस सागरकी स्थिति है। तु शब्दका प्रयोजन सहस्रारतक ही अधिक शब्द की अनुवृत्ति करना है ।

सप्तेत्यनुवर्तते, तेन सानत्कुमारमाहेंद्रयोरुपरि द्वयोः कल्पयोः सप्तसागरोपमाणि त्रिभिरधिकानि इति दश साधिकानि स्थितिः, तयोरुपरि द्वयोः कल्पयोः सप्त सप्ताधिकानीति चतुर्दशाधिकानीति, तयोरुपरि द्वयोः सप्तनवभिरधिकानीति षोडशाधिकानि, तयोरुपरि द्वयोः सप्तैकादशभिरधिकानीत्यष्टदशाधिकानि, तयोरुपरि द्वयोरानतप्राणतयोः सप्त त्रयोदशभिरधिकानीति विंशतिरेव, तयोरुपरि द्वयोरारणाच्युतयोः सप्तपंचदशभिरधिकानीति द्वाविंशतिरेव । तु शब्दस्य विशेषणार्थत्वात् । आसहस्रारादधिकारात् परत्राधिकानीत्यभिसंबंधाभावः ।

पूर्व सूत्रसे सप्त इस शब्दकी अनुवृत्ति कर ली जाती है । तिस कारणसे यह अर्थ हो जाता है । सानत्कुमार, माहेंद्र, स्वर्गोंके ऊपर दो कल्पोंमें तीनसे अधिक सात सागर स्थिति है । इस कारण उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक दस सागर की है । उन दो ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर स्वर्गोंके ऊपर दो कल्पोंमें सात अधिक सात सागर इस प्रकार साधिक चौदह सागर इतनी उत्कृष्ट स्थिति हैं । उन लान्तव कापिष्ठोंके ऊपर वर्त्त रहे दो शुक्र महाशुक्र स्वर्गोंमें नौसे अधिक सात सागर यों कुछ अधिक सोलह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । उन शुक्र महाशुक्रोंके ऊपर ठहर रहे शतार सहस्रार, स्वर्गोंमें ग्यारहसे अधिक हो रहे सात सागर यों आधा सागर अधिक अठारह सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है । पुनः उन शतार सहस्रार दो स्वर्गोंके आधा राजू ऊपर वर्त्त रहे दो आनत, प्राणत स्वर्गोंमें तेरहसे अधिक हो रहे सात सागर यों केवल बीस ही सागरकी उत्कृष्ट आयु है । उन आनत प्राणतोंके आधा राजू ऊपर वर्त्त रहे दो आरण, अच्युत, स्वर्गोंमें देवोंका आयुष्य पन्द्रह करके अधिक सात सागर इस प्रकार शुद्ध बाईस ही सागर उत्कृष्ट आयुष्य हैं । सूत्रमें पडे हुए तु शब्दका अर्थ कुछ विशेषण लगाकर विशेषता कर देना है । अतः सहस्रारपर्यंत अधिक शब्द का अधिकार होनेसे परली ओर आनत आदिमें बीस, बाईस, इन दो स्थलोंपर सागरके साथ अधिकानि शब्दके सम्बन्ध करनेका अभाव हो जाता है । बात यह है कि घातायुष्क सम्यग्दृष्टि की आयु यदि साडे सात सागर होगयी है तो वह सानत्कुमार माहेंद्र स्वर्गोंमें उपजेगा । हां, अन्य साडेसात सागर आयुवाला जीव ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, स्वर्गोंमें जायगा । इसी प्रकार जिस घातायुष्क सम्यग्दृष्टि मनुष्यके साडे अठारह सागर स्थितिवाली देवायुष्यका सद्भाव है, वह शतार, सहस्रार स्वर्गोंमें जन्मेगा और शेष साडे अठारह सागर देवायुष्यवाला जीव आनत प्राणत स्वर्गोंमें जायगा ।

यहांसे छह राजू ऊपरतक निवस रहे उन आरण, अच्युत, स्वर्गोंके ऊपर अहमिन्द्र-वैमानिक देवोंकी स्थिति कितनी है ? इसकी प्रतिपत्ति करानेके लिए उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

आरण और अच्युत स्वर्गोंसे ऊपर नवग्रैवेयकोंमें प्रत्येकमें एक एक सागरसे अधिक हो रही स्थिति समझ लेनी चाहिये। अर्थात्–तीन अधोग्रैवेयकोंमें पहिले सुदर्शन ग्रैवेयकमें तेईस सागरकी स्थिति है। दूसरे अमोघ ग्रैवेयकमें चौबीससागरकी तीसरे सुप्रबुद्ध नामक ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र देवोंकी पच्चीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। तीन मध्यम ग्रैवेयकोंमें पहिले यशोधर नामक ग्रैवेयकमें छब्बीस सागर स्थिति है। दूसरे सुभद्र नामक ग्रैवेयकमें सत्ताईस सागर और तीसरे सुविशाल ग्रैवेयकमें अट्ठाईस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। ऊपरले तीन ग्रैवेयकोंमेंसे सुमनस नाम ग्रैवेयकमे उन्तीस सागर और दूसरे सौमनस ग्रैवेयकमें तीस सागरकी तथा तीसरे प्रीतिकर ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है। नौ अनुदिश विमानोंमें एकसे अधिक इकतीस यानी बत्तीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। विजयादिकमें एक करके अधिक बत्तीस अर्थात्–तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य, उत्कृष्ट, दोनों भी स्थितियां परिपूर्ण तेतीस सागरोपम हैं।

अधिकारादधिकसंबंधः। ग्रैवेयकेभ्यो विजयादीनां पृथग्ग्रहणमनुदिशसंग्रहार्थं। प्रत्येकमेकैकवृद्ध्यभिसंबंधार्थं नवग्रहणं। सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं विकल्पनिवृत्त्यर्थं।

" सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके " इस सूत्रके अधिक शब्दका अधिकार तो पूर्व सूत्रके समासगर्भित चार पदोंतक ही लागू होता है। किन्तु " त्रिसप्त " आदि सूत्रमें पडे हुए अधिक शब्दका अधिकार हो जानेसे यहां उसका सम्बन्ध कर लिया है। तिस करके उक्त अर्थ निकल आता है। ग्रैवेयक और विजय आदि दो पदोंका समास नहीं कर ग्रैवेयकसे विजय आदिका पृथग् ग्रहण करना तो नौ अनुदिश विमानोंका संग्रह करनेके लिये है। अनुदिशके नौऊ विमानोंमें केवल एक सागरकी ही वृद्धि होती है। हां, ग्रैवेयकोंमें प्रत्येक ग्रैवेयकके साथ एक एक सागरकी वृद्धि हो जानेका नौऊ ओर सम्बन्ध करनेके लिये नव शब्दका ग्रहण है। अर्थात्–नव शब्द नहीं कह कर केवल ग्रैवेयकेषु इतना ही कह देते तो विजय आदिके समान नौऊ ग्रैवेयकोंमे एक ही सागर अधिक बढता। नवसु कह देनेपर तो नौ स्थानोंपर प्रत्येकमें एक एक सागरका अधिकपना प्रतीत हो जाता है। सर्वार्थसिद्धिका पृथक् ग्रहण करना तो जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिके विकल्पोंकी निवृत्तिके लिये है।

का पुनरियं भवनवास्यादीनां स्थितिरुक्तेत्याह।

भवनवासी आदि देवोंकी फिर यह उत्कृष्ट या जघन्य स्थिति क्या कही जा चुकी है? बताओ तो सही। इस प्रकार आशंका होनेपर ग्रंथकार उत्तरवार्त्तिकको कहते हैं।

स्थितिरित्यादिसूत्रेण योक्ता भवनवासिनां ।
विशेषेण स्थितिर्या च तदनंतरकीर्तिता ॥ १ ॥
सूत्रैश्चतुर्भिरभ्यासाद्यथागममशेषतः ।
परा वैमानिकानां च सोत्तरत्रावरोक्तितः ॥ २ ॥

" स्थितिरसुरनाग " इत्यादि सूत्र करके उमास्वामी महाराजने भवनवासी देवोंकी विशेष रूपसे जो स्थिति कह दी है और उसके अव्यवहित पश्चात् आगमपरिपाटीका अतिक्रम नहीं कर स्वकीय धारणानुरूप अभ्याससे इन चार सूत्रोंकरके जो सम्पूर्ण वैमानिक देवोंकी स्थितिका कीर्तन किया है, वह स्थिति उत्कृष्ट समझ लेनी चाहिये । क्योंकि उत्तरवर्ती पिछले ग्रन्थमें भवनवासी या वैमानिक देवोंकी जघन्यस्थितिका निरूपण किया जानेवाला है । भावार्थ–आयुष्यका निरूपण करते हुए सूत्रकारने इन पांच सूत्रोंमें परा या जघन्या कोई शब्द नहीं डाला है । ऐसी दशामें उक्त स्थिति उत्कृष्ट समझी जाय ? या जघन्य ? इसका कोई निर्णायक नहीं है । विना स्वामीके मालको जिसके हाथ पडे वही हडप ले जाता है । इस विषयका निर्णय ग्रंथकार यों कर देते हैं । जब कि जघन्यस्थितिका वर्णन भविष्यमें किया जायगा तो अर्थापत्त्या सिद्ध है कि यह देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति है । पुण्य अनुसार प्राप्त हुए हृदयसे काम लेना चाहिये । हृदयके सहकारी हो रहे मस्तिष्कके अवयव भला फिर किस रोगकी औषधि है ?

अवरायाः स्थितेरुत्तरत्र वक्ष्यमाणाया इह भवनवासिनामेकेन सूत्रेण वैमानिकानां च चतुर्भिः सूत्रैर्विशेषेण या स्थितिः प्रोक्ता सा परोत्कृष्टेति गम्यते ।

जघन्य स्थितिका उत्तरवर्ती ग्रंथमें जब निरूपण किया जायगा, इससे सिद्ध है कि यहां एक सूत्र करके भवनवासियोंकी और चार सूत्रों करके वैमानिक देवोंकी जो विशेष करके स्थिति ठीक कही गयी है, वह परा यानी उत्कृष्टा समझनी चाहिये । यह अनुमानसे जान लिया जाता है ।

का पुनरवरेत्याह ।

फिर जघन्य स्थिति क्या है ? इस प्रकार विनीत शिष्योंकी जिज्ञासा होनेपर सूत्रकार अग्रिम सूत्रको विशदरीत्या कहते हैं ।

अपरा पल्योपममधिकम् ॥ ३३ ॥

देवोंकी जघन्य स्थिति तो कुछ अधिक एक पल्योपम है । यह जघन्य स्थिति सौधर्म ऐशान स्वर्गवासी देवोंकी समझी जाती है ।

परिशेषात्सौधर्मैशानयोर्देवानामवरा स्थितिरिह विज्ञायते, ततोन्येषामुत्तरत्र जघन्यस्थितेर्वक्ष्यमाणत्वात् ।

परिशेष न्यायसे सौधर्म और ऐशान कल्पोंमें ठहरनेवाले देवोंकी यह जघन्य स्थिति विशेषतया समझी जाती हैं। तिस कारणसे कि उत्तरवर्ती ग्रंथमें अन्य सानत्कुमार माहेंद्र आदिक अपराजित पर्यन्त देवोंकी जघन्यस्थिति कही जानेवाली है। अतः यह शेष रहे प्रथम कल्पयुगलके देवोंकी ही जघन्यस्थति परिशेष न्यायसे ज्ञात कर ली जाती है। अर्थात् "प्रसक्तप्रतिषेधे शिष्यमाणसंप्रत्ययहेतुः परिशेषः" अन्यत्र प्रसंग प्राप्तोंमें विधेयान्तरका सद्भाव या प्रकृत अर्थकी बाधा होनेपर शेष बच रहे उद्देश्यमें ही अनुमानस्वरूप परिशेष प्रमाणसे प्रकृत अर्थका विधान अनुमित कर लिया जाता है।

पल्योपममतिरिक्तमवरास्थितिमब्रवीत्।
सौधर्मैशानयोः सेह सूत्रेर्थात्संप्रतीयते ॥ १ ॥

सूत्रकार उमास्वामी महाराज कुछ अधिक पल्योपम परिमाण जघन्य स्थितिको जो इस सूत्रद्वारा कह चुके हैं वह जघन्य स्थिति इस सूत्रमें सौधर्म और ऐशानवासी देवोंकी है, यह बात कहे विना ही अर्थापत्ति करके भले प्रकार प्रतीत हो जाती है। क्योंकि अगले सूत्रमें सानत्कुमारमाहेन्द्र देवोंसे लेकर विजयादि पर्यन्त देवोंकी जघन्य स्थिति कण्ठोक्त करदी जाने वाली है।

तत एवानंतरसूत्रेण सानत्माकुमारादिषु जघन्या स्थितिरुच्यते।

तिस ही कारण यानी इस सूत्रद्वारा पहिले कल्पयुगलकी जघन्यस्थितिका निरूपण हो जानेसे ही अव्यवहित अगले सूत्र करके सानत्कुमार माहेन्द्र आदि स्वर्गोंके देवोंमें पायी जारही जघन्य स्थिति अब कही जा रही है। उसको सुनो।

परतः परतः पूर्वा पूर्वानंतरा ॥ ३४ ॥

"आद्यादिभ्य उपसंख्यानं" इस नियम करके परतः यहां सप्तमी अर्थमें तसि हुआ है। पर परदेशमें अव्यवहित पूर्व पूर्वकी उत्कृष्ट स्थिति जघन्य हो जाती है अर्थात्–अव्यवहित पहिले कल्प युगलोंमें या प्रस्तारोंमें जो उत्कृष्ट स्थिति है वह परले परले कल्प युगलों या प्रस्तारोंमें जघन्य हो जाती है। नीचेवालोंकी जघन्यस्थिति एक समय अधिक होती हुई ऊपरले प्रस्तार या कल्पोंमें जघन्य जान लेनी चाहिये।

अपरेत्यनुवर्तते, तेन परतः परतो या च प्रथमा स्थितिः सा पूर्वापूर्वानंतरा परस्मिन्नवरा स्थितिरिति संप्रत्ययः। अधिकग्रहणानुवृत्तेः सातिरेकसंप्रत्ययः। आविजयादिभ्योधिकारः। अनंतरेति वचनं व्यवहितनिवृत्त्यर्थं। पूर्वेत्येतावत्युच्यमाने व्यवहितग्रहणप्रसंगस्तत्रापि पूर्वशब्दप्रवृत्तेः।

पूर्वसूत्रसे यहां अपरा इस पदकी अनुवृत्ति हो जाती है। तिस कारण इस प्रकार समिचीन प्रतीति हो जाती है कि परली ओर परली ओरसे या परले परले प्रस्तारों या कल्पयुगलोंमें जो प्रथमा स्थिति

वह अव्यवहित पूर्व पूर्वकी स्थिति उपर उपर परले परले प्रस्तारो या कल्पयुगलोंमे जघन्या स्थिति हो जाती है, इस सूत्रमें पूर्व सूत्रसे अधिक शब्दके ग्रहणकी अनुवृत्ती चली आ रही है। इस कारण साधिक का समीचीनज्ञान हो जाता है। यह अधिकका अधिकार विजय आदि अनुत्तरोंतक जान लेना चाहिये। अर्थात्-सौधर्म और ऐशानमें जो साधिक दो सागर स्थिति कही जा चुकी है वह स्थिति कुछ अधिक यानी एक समय अधिक होकर सानत्कुमार माहेन्द्र कल्पोमें जघन्यस्थिति हो जाती है। बारहमे स्वर्गतक एक तो साधिकपना गाँठका ही है, दूसरा एक समय अधिकपना यह संपूर्ण वैमानिकों की जघन्य स्थितियोंमें लागू करलिया जाता है। इस सूत्रमें अव्यवहित इस अर्थका वाचक "अनन्तरा" इस पदका कथन करना तो व्यवहित पूर्वोकी निवृत्तीके लिये है। यदि "पूर्वापूर्वा" यों इतना ही कथन कर दिया जायगा तब तो व्यवधान युक्त हो रहीं पूर्वस्थितियोंके ग्रहण होजानेका भी प्रसंग होगा। क्योंकि व्यवधानयुक्त उन पहिले पदार्थोंमें भी पूर्व शब्दकी प्रवृत्ति होरहीं देखी जाती है। जैसे कि मथुरासे पटना पूर्वदेशवर्त्ती है। यहां सैकडों कोसका व्यवधान पडरहे पदार्थको भी पूर्व कह दिया गया है। अतः व्यवहित पूर्व सौधर्म, ऐशानोंमें जो उत्कृष्ट स्थिति है वह लान्तवकापिष्टोंकी जघन्य स्थिति हो जायगी। इस प्रकारके अनिष्ट अर्थोंकी प्रतीतियां नहीं होने पातीं हैं। तब तो अनन्तरा शब्दका सूत्रमें उपादान करना सफल है।

नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति कही जा चुकी है। जघन्य स्थितिको अभीतक सूत्रमें नहीं कहा गया है। अतः लघु उपाय करके प्रकरणप्राप्त नहीं भी होरहीं नारकियोंकी स्थितिको समझानेकी इच्छा रख रहे सूत्रकार अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

दूसरी वंशा तीसरी मेघा आदि सातवीतक छह पृथिवियोमें नारकी जीवोंकी अव्यवहित पूर्वपूर्वकी स्थिति परले परले प्रस्तारों और नरकोंमें जघन्य हो जाती है। अर्थात्-पहिली पृथिवीकी उत्कृष्ट होरही एक सागरोपम आयु दूसरे नरकमें जघन्य समझी जाती है। इसी प्रकार नीचे नीचेकी ओर लगा लेना। एक समय अधिक जोड लिया तो अच्छा है। अन्यथा भव परिवर्तनमें कठिन समस्या उपस्थित होजायगी।

किमर्थं नारकाणां जघन्या स्थितिरिह निवेदितेत्याह।

यहां किसीका कटाक्ष है कि प्रकरणके विना ही नारकियोंकी जघन्यस्थितिका यहाँ किसलिये निवेदन किया गया है अर्थात् कतिपय प्रकरणकी बातें छूटीं जा रही हैं और अप्रकृतोंको स्थान दिया जा रहा है। यह कौनसा न्याय है ? व्रती या आश्रित जनोंको आहार दान नहीं देकर ठलुआ भरपिट्टो मनुष्योंको सादर भोजन कराना उचित नहीं है। इस प्रकार सूत्रकारके ऊपर आक्षेप प्रवर्तने पर श्रीविद्यानंद स्वामी समाधानकारक वार्तिकको कहते हैं।

सानत्कुमारमाहेंद्रप्रभृतीनामनंतरा ।
यथा तथा द्वितीयादिपृथिवीषु निवेदिता ॥ १ ॥
नारकाणां च संक्षेपादत्रैव तदनंतरा ॥

जिस प्रकार उपरले सूत्रमें निचले देवोंकी अव्यवहित पहिली पहिली उत्कृष्ट स्थिति सानत्कुमारमाहेन्द्र आदि उपरिम देवोंकी जघन्य स्थिति कह दी गयी है, उसी प्रकार द्वितीया आदि पृथिवियोंमें उपरिम नारकियोंकी अव्यवहित पूर्ववर्तिनी उत्कृष्ट स्थितिका परली ओर निचले नारकीयोंकी जघन्यस्थिति हो जाना, यहां ही संक्षेपसे निवेदन कर दिया गया है। सर्वत्र जघन्य स्थितिको पूर्व पटलकी अपेक्षा एक समय अधिक समझना चाहिये।

देवस्थितिप्रकरणेपि नारकस्थितिवचनं संक्षेपार्थं ॥

देवोंकी स्थितिके निरूपणका प्रकरण होने पर भी यहां नारकियोंकी जघन्यस्थितिका सूत्र कथन करना संक्षेपके लिये है। भावार्थ—जिससे कि दो बार अपरा इन तीन अक्षरोंको नहीं कहना पडा। "सूत्रं हि तन्नाम यतो न लघीयः" सूत्र तो वही है जिससे कि छोटा या पतला दूसरा वाक्य नहीं बन सके। तीसरे अध्यायमें नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थितिको कहते समय यदि जघन्यस्थितिको कहा जाता तो वहा "अपरा" शब्दका प्रयोग करना पडता "परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा" का भी बोझ बढ जाता तथा पहिली पृथिवीमे जघन्य स्थितिका निरूपण करते समय भी अपरा शब्द कहना पडता। अतः रंगबिरंगे धारीदार कपडेमें जैसे एकरंगके कई सूत उसी स्थानपर पिरो दिये जाते है अथवा व्याकरणमें णत्व विधायक या दीर्घविधायक कई सूत्र जैसे एक स्थलपर पढदिये जाते हैं, उसी प्रकार यहां भी आयुष्यविधायक कई सूत्र रचे गये हैं, जिससे ग्रन्थ अत्यल्प और अर्थ उतना ही प्राप्त हो जाता है।

शर्कराप्रभा आदिमें जघन्यस्थिति यदि कही जा चुकी है तब तो लगे हाथ पहिली नरकभूमिमें वर्तरहे जघन्यस्थितिका भी निरूपण कर दिया जाय, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

पहिली नरकभूमिमें नारकीयोंकी दश हजार वर्ष जघन्य स्थिति है, जो कि तेरहपटल वाली घम्मा पृथिवीके पटलसीमंतकमें प्रवर्त रही है।

पृथिव्यां नारकाणामवरास्थितिरिति घटनीयं ।

" सोपस्काराणि वाक्यानि भवन्ति " इस नीतिके अनुसार कुछ इधर उधरके चार पदोंको मिलाकर इस प्रकार सूत्रका अर्थ घटित कर लेना चाहिये कि पहिली पृथिवीमे नारकियोंकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष है।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अब भवनवासियों की जघन्य स्थिति क्या है ? ऐसी बुभुत्सा होनेपर उमास्वामि महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

भवनवासी देवोंकी जघन्य स्थिति भी दश हजार वर्ष है। पूर्वोक्त विधेय दलका च शब्द करके समुच्चय कर लिया जाता है।

दशवर्षसहस्राणि देवानामवरा स्थितिरिति संप्रत्ययः।

भवनोंमें निवास कर रहे देवोंकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष है, यों कतिपय पदोंका उपस्कारकर भली प्रतीति कर ली जाती है।

तब तो व्यन्तर देवोंकी जघन्य स्थिति क्या है ? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

व्यंतराणां च ॥ ३८ ॥

व्यंतर देवोंकी भी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी समझ लेनी चाहिये।

अपरा स्थितिर्दशवर्षसहस्राणीति च शब्देन।

इस सूत्रमें पडे हुये च शब्द करके अपरा स्थिति, दशवर्षसहस्राणि, इस प्रकार तीन पदोंका समुच्चय यानी अनुकर्षण कर लिया जाता है। अतः व्यंतरोंकी जघन्य स्थिति दशसहस्र वर्ष है, यह वाक्यार्थ बन जाता है।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायामुदीरिता।
भवनेषु च सा प्रोक्ता व्यंतराणां च तावती ॥ १ ॥

उक्त तीन सूत्रों करके उमास्वामी महाराजने पहिली पृथिवीमें जघन्य आयु दस हजार वर्ष कह दी है और भवनवासियोमें भी वह जघन्य स्थिति उतनी ही बहुत अच्छी निरूप दी है तथा व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति भी उतनी ही यानी दशहजार वर्ष कही जा चुकी है। यह उक्त तीनों सूत्रोंकी एकत्रित एक वार्तिक है।

अथ व्यन्तराणां परा का स्थितिरित्याह।

अब महाराज यह बताओ कि व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति क्या है ? इस प्रकार तत्त्व जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज उत्तरवर्ती सूत्रको उतारते हैं।

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

किन्नर आदि व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्योपम काल है।

स्थितिरिति संबंधः।

इस सूत्रमें कहे गये परा शब्दके साथ "स्थिति" इस शब्दका सम्बन्ध जोड लेना चाहिये। जिससे कि व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक पल्यसे कुछ अधिक है। यों अर्थ घटित हो जाता है।

इस अवसरपर आयुष्कके प्रकरण अनुसार ज्योतिष्क देवोंकी स्थिति कह दी जाय तो सुगम होगी। यों आकांक्षा प्रवर्तनेपर मूल सूत्रकार अग्रिम सूत्रका निरूपण करते हैं।

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

चन्द्रमा, सूर्य, आदि ज्योतिष्कोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्य है।

पल्योपममधिकं परा स्थितिघटना।

यहां भी च शब्द करके प्रकरण प्राप्त पल्योपम, अधिक, परा, स्थिति, इन शब्दोंका समुच्चय कर यों अर्थ घटित कर लेना चाहिये कि ज्योतिष देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्योपम है।

अब ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थितिका परिज्ञान करानेके लिये सूत्रकार अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

ज्योतिष देवोंकी जघन्य स्थिति उस पल्योपमके आठमें भाग है जो कि असंख्यात वर्षोंकी समझनी चाहिये।

स्थितिर्ज्योतिष्काणामिति संप्रत्ययस्तेषामनंतरत्वात्।

स्थिति और ज्योतिष्काणाम्, इन पदोंका अनुकर्षण कर समीचीन प्रत्यय कर लिया जाता है। क्योंकि वाक्यार्थके सम्पादक वे पद अव्यवहित पूर्व सूत्रोंमें उपात्त हो रहे हैं।

परेषामधिकं ज्ञेयं पल्योपममवस्थितिः।
ज्योतिष्काणां च तद्वत्तदष्टभागोऽपरोदिता ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने उक्त तीन सूत्रोंमें दूसरे व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्य समझने योग्य बता दी है और उन्हींके समान ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक पल्य कह दी है। तथा तीसरे " तदष्टभागोपरा " सूत्र करके उन ज्योतिषियोंकी जघन्य स्थिति उस पल्यके आठवें भाग कह दी है। जैसे कि " दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् भवनेषु च व्यन्तराणां च " इन तीन सूत्रोंको मिलाकर एक वार्तिक श्लोक बना दिया गया है उसी प्रकार " परा पल्योपममधिकं, ज्योतिष्काणां च, तदष्टभागोऽपरा " इन तीन सूत्रोंको मिलाकर यह एक वार्तिक श्लोक बना दिया है।

यथा व्यन्तराणां पल्योपममधिकं परा स्थितिः तद्वत् ज्योतिष्काणामपि तद्ज्ञेयं तदष्टभागः पुनरवरा स्थितिर्ज्योतिष्काणां प्रतीता।

जिस प्रकार व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पल्य उन्तालीसवें सूत्रमें कह दी है, उसी प्रकार ज्योतिष्कोंकी भी वह साधिक पल्य उत्कृष्ट स्थिति चालीसवें सूत्रमें कह दी गयी समझ लेनी चाहिये। पुनः इकतालीसवें सूत्रमें उस पल्यके आठवें भाग ज्योतिष देवोंकी जघन्य स्थितिकी प्रतीति कराई है।

अथ मध्यमा स्थितिः कुतोवगम्यत इत्याह।

अब किसीका आक्षेप है कि मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थितिका हमने परिज्ञान कर लिया है। किन्तु सूत्रकारने मध्यम स्थितियोंका निरूपण नहीं किया है। अतः बताओ कि मध्यम स्थितिको किस ढंगसे समझ लिया जाय ? ऐसा आक्षेप प्रवर्तनेपर आचार्य विद्यानंद स्वामी वार्तिक द्वारा यों समाधान कहते हैं।

सामर्थ्यान्मध्यमा बोध्या सर्वेषां स्थितिरायुषः।
प्राणिनां सा च संभाव्या कर्मवैचित्र्यसिद्धितः ॥ २ ॥

" तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " इस नियम अनुसार चारों गति सम्बन्धी संपूर्ण प्राणियोंके आयुष्यकी मध्यमस्थिति तो विना कहे ही अर्थापत्या सामर्थ्यसे समझ ली जाती है। अर्थात् जिस पदार्थका आदि और अन्त होता है, उसका मध्य अवश्य होता है। अनन्त भूतकाल और उससे भी अनन्त गुणा अनन्त भविष्यकालका मध्यवर्ती वर्त्तमानकाल एक समय है। फिर भी आपेक्षिक वर्तमानपना बहुत समयोंको प्राप्त है। यथार्थमें एक आदिके पदार्थ और एक अन्तके पदार्थको छोडकर सभी स्थानोंको मध्यमपना सुलभ है। अतः अधिक सम्मतियों (वोटों) अनुसार ग्रहण किये गये मध्यम स्थानोंका वाचक शब्दोंके विना ही आवश्यक रूपसे उपादान हो जाता है। और वह अनेक प्रकारकी स्थितियोंका सद्भाव तो पौद्गलिक कर्मोंके विचित्रपनकी सिद्धि हो जानेसे सम्भावना करने योग्य है। अर्थात्–अपने अपने परिणामों करके उपार्जित किये गये विचित्र कर्मों अनुसार जीवोंकी नाना प्रकार आयुःस्थितियां बन बैठती हैं।

मानिकचंद दिगंबर जैन ग्रंथमाला समिति

नन्वेवं यद्वदुत्पत्तौ कर्मापेक्षा स्थितिरिष्यते ।
कर्मानपेक्षिणां तद्वद्देहिनामिति ये विदुः ॥ ३ ॥
तेनऽनभिज्ञा घटादीनामपि तद्भोक्तृकर्मभिः ।
स्थितेर्निष्पादनाद्दृष्टे कारणव्यभिचारतः ॥ ४ ॥

पौद्गलिक सूक्ष्म कर्मोंको नहीं माननेवाले चार्वाक यहां स्वकीय पक्षका अवधारण करते हुये आमंत्रण करते हैं कि जिस प्रकार कर्मोंके सम्बन्धकी नहीं अपेक्षा रख रहे घट, पट, शकट आदि जड पदार्थोंकी विचित्र स्थितियां हो रहीं इष्ट कर ली जाती हैं। उसी प्रकार शरीरधारी प्राणियोंकी भी कर्मोंकी नहीं अपेक्षा रखती हुई जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, आयुः स्वरूप स्थितियां बन जाओ । इस प्रकार जो नास्तिक समझ बैठे हैं, आचार्य कहते हैं कि वे चार्वाक विचारे कार्यकारणभावकी पद्धतिको स्वल्प भी नहीं समझते हैं। क्योंकि घडा, कपडा, छकडा आदिकी भी विचित्र स्थितियोंका उनके भोगनेवाले जीवोंके कर्मोंकरके उत्पादन किया जाता है। लोकमें आबालवृद्ध प्रसिद्ध देखे जा रहे परिदृष्ट कारणोंका व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात्–एक घडा दो दिन भी चलता है। जब कि उसी कुम्हार उसी मट्टी आदि कारणोंसे निष्पन्न हुआ दूसरा घडा पांच वर्षमें भी नहीं फूटता है। चाक, अवा, खान, कुलाल, जल, अग्नि, ये दृष्ट कारण जब वे ही हैं, तब फिर दो घडोंकी " टिकाऊ स्थितिमें इतना बडा अन्तर क्यों दीखता है ? इससे सिद्ध है कि घडोंका क्रय, विक्रय, करनेवाले या उसके शीतल जलको पीनेवाले अथवा फूटनेपर दबमिचकर दुःख भुगतनेवाले जीवोंके पुण्य, पाप, अनुसार ही जड पदार्थोंका भी न्यून, अधिक काल तक ठहरे रहनेका अन्वय व्यतिरेक है। इसी प्रकार कपडे चौकी, घडियां, मशीनों, गृहों आदिका स्वल्पकालतक या अधिक कालतक टिके रहनेमें अन्तरंग प्रधानकारण उन पदार्थोंके साक्षात् या परम्परया उपभोग करनेवाले जीवोंका अदृष्ट ही समझा जाता है।

सूक्ष्मो भूतविशेषश्चेद्व्यभिचारेण वर्जितः ।
तद्धेतुर्विविधं कर्मतंत्रः सिद्धं तथाख्यया ॥ ५ ॥

यदि चार्वाक यों कहे कि पृथिवी, जल, तेज, वायु इन स्थूल भूतोंका व्यभिचार भले घटादिकी न्यून अधिक, स्थिति होनेमें आवे किन्तु व्यभिचार दोषसे वर्जित होरहा सूक्ष्म भूत विशेष उन घटादिकोंकी विचित्र स्थितिओंका हेतु मान लिया जाय। यों कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो बहुत अच्छा है। वही सूक्ष्म कार्मण वर्गणाओंका बना हुआ ज्ञानावरण, असाता, साता, शुभगोत्र आदि नाना प्रकार कर्म ही तो हम जैनोंके यहां उन चेतनात्मक या अचेतनात्मक पदार्थोंका प्रेरक हेतु हो रहा सिद्ध है। तिस प्रकार सूक्ष्मभूतविशेष इस नामक

करके तुमने उस हमारे अभीष्ट पौद्गलिक कर्मपिण्डको ही कह दिया है। केवल नाममें ही विवाद रहा अर्थमें कोई टण्टा नहीं है।

परापरस्थितिवचनसामर्थ्यात् मध्यमानेकविधा स्थितिर्देवनारकाणां तिर्यङ्मनुष्याणामिव संभाव्या। सा च कर्मवैचित्र्यसिद्धिं प्राप्य व्यवतिष्ठते ततः कर्मवैचित्र्यमनुमीयते। स्थितिवैचित्र्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तेः। कर्मवैचित्र्याभावेपि घटादीनां स्थितिवैचित्र्यदर्शनादसिद्धान्यथानुपपत्तिरिति येऽभ्यमन्यन्त तेऽनभिज्ञा एव, घटादीनामपि विचित्रायाः स्थितेस्तदुपभोक्तृप्राणिकर्मविचित्रैर्निर्वर्तनात्, कुंभकारादिदृष्टतत्कारणानां व्यभिचारात्। अदृष्टकारणानपेक्षित्वे तदघटनात्। समानकुंभकारादिकारणानां समानकालजन्मनां सदृशक्षेत्राणां समानकारणानां च घटादीनां समानकालस्थितिप्रसंगात्।

उक्त चार वार्तिकोंका भाष्य यों है कि सूत्रकारद्वारा उत्कृष्ट, जघन्य स्थितियोंके प्रतिपादक सूत्रोंके कथन कर देनेकी सामर्थ्यसे तिर्यंच, और मनुष्योंके समान देव नारकियोंकी भी अनेक प्रकार मध्यम स्थितियोंकी सम्भावना कर लेनी चाहिये। तथा वे उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य, स्थितियां तो कर्मोंकी विचित्रता अनुसार सिद्धिको प्राप्त होकर व्यवस्थित हो रहीं हैं। तिन विचित्र स्थितियोंसे कर्मोंकी विचित्रताका अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात्–योग और कषायकी मिश्रपरिणति हो रही लेश्याओं तथा अन्य कर्मोंके अनुसार जीवोंकी अनेक प्रकार आयुष्य स्थितियां बन जाती हैं। कार्यहेतु धूमसे जैसे कारणभूत अग्नि साध्यका अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार विचित्र स्थितियोंके कारणभूत पौद्गलिक कर्मोंकी विचित्रताका कार्यभूत आयुष्य विशेषों करके अनुमान कर लिया गया है। अविनाभावी एक दृश्यसे दूसरे अदृश्य पदार्थका अनुमान हो जाना प्रसिद्ध है। स्थितियोंकी विचित्रताकी सिद्धि हो जाना अन्यथा यानी कर्मोंकी विचित्रताकी सिद्धिके विना नहीं बन पाता है। जो भी कोई वादी यों दोष देते हुये अभिमान कर बैठे हैं कि कर्मोंकी विचित्रताके नहीं होनेपर भी घट आदि जड पदार्थोंकी स्थितिओंका विचित्रपना देखा जाता है तो जीवोंके भी अदृष्ट कर्मोंकी कल्पना क्यों की जाती है? अतः आपकी अन्यथानुपपत्ति असिद्ध हो गई। व्यभिचार दोष उपस्थित हुआ। स्थितिकी विचित्रता होनेपर भी घटादि पदार्थोंमें कर्मोंकी विचित्रता नहीं पायी जाती है। आचार्य कहते हैं कि वे कुचोद्य करनेवाले वादी अशिक्षित ही हैं। क्योंकि घट पट आदिकोंकी भी विचित्र स्थितियां उनके उपभोक्ता प्राणियोंके विचित्र कर्मोंकरके बनायी जातीं हैं। कुंभकार अवा, मट्टी आदि देखे जा रहे उनके कारणोंका व्यभिचार हो रहा है। यदि कोरे दृष्ट कारणोंके ही अधीन माने जा रहे घटादिकोंको अदृष्ट कारणोंकी अपेक्षा नहीं रखनेवालापन माना जायगा तो विचित्र ढंगोंसे ठहरना रूप उन नानास्थितिओंकी घटना नहीं हो सकती है। जिन घटोंके कुम्भकार आदि कारण समान हैं और जिन घटोंका समान कालमें जन्म भी हो रहा है, तथा जिन कतिपय घटोंका क्षेत्र भी सदृश है, एवं चक्र अग्नि आदि अन्य कारण भी जिनके समान हैं, उन घट आदिकोंकी समान कालतक ही स्थिति

रहनेका प्रसंग आवेगा। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। एक साथ बने हुये सौ घड़ोंकी किसीकी तो अवामें ही स्थिति पूरी हो जाती है। कोई चार दिनमें फूट जाता है, कोई दस वर्ष तक टिकाऊ है, यों अनेक प्रकार स्थितियां हो रही हैं।

मुद्गरादिविनाशकारणसंपातवैचित्र्याद्दृष्टादेव घटादिस्थितिवैचित्र्यमिति चेत्, तदेव कुतः ? समानकारणादित्वेपि तेषामिति चित्यं। स्वकारणविशेषाद्दृष्टादेवेति चेन्न, मुद्गरादिविनाशकारणसंपातहेतोः पुरुषप्रयत्नादेः परिदृष्टस्य व्यभिचारात्। समानेपि तस्मिन् क्वचित्तत्संपातदर्शनात्। समानेपि च तत्संपाते तद्विनाशाप्रतीतेः कारणांतरस्य सिद्धेः।

यहां कोई आक्षेप करता है कि विनाशके कारण हो रहे मोगरा, मूसल, मुद्गर, आदिकोंके ठीक ठीक पतन की देखी जा रही विचित्रतासे ही घटकी स्थितिओंमें विचित्रता आ जाती है। अधिक बलसे मोगरा गिर जानेपर एक पल ही ठहरकर घट फूट जाता है, निर्बल आघातोंसे चार छह दिनमें फूटता है। शनैः शनैः भूमिमें सरकाने अथवा छोटी छोटी फटकारोंको वर्षोंतक घट झेल जाता है। अग्निद्वारा पाककी न्यून अधिकतासे भी स्थितिका तारतम्य है। अतः परिदृष्ट कारणोंसे ही विचित्र स्थितिओंको मानलो अदृष्ट कारणोंका बोझ व्यर्थ क्यों लादा जा रहा है। यों कहनेपर तो ग्रंथकार पूंछते हैं कि भाइयो, उन घटादिकोंके कारण आदिकोंके समान होनेपर भी वह मोंगरा आदि विनाशक पदार्थोंका सम्पात ही विचित्र प्रकारका किस कारणसे हुआ ? बताओ। अथवा कारण आदि समान होते हुये भी वे मोंगरा या उनके सम्पात आदि विचित्र कैसे हुये ? इसका उत्तर बहुत कालतक चिन्तवन करो। कर्म चीन ज्ञान प्राप्त होनेपर तुम्हारा लक्ष्य उस अदृष्ट कारणपर संलग्न हो जायगा। यदि झटपट तुम यों बोल उठो कि मोंगरा आदिका अनेक प्रकार गिरना भी उनके दृष्ट हो रहे कारण विशेषोंसे ही बन बैठता है। अर्थात् कुलालका घट बनाते समय भी तरले लट्टू और ऊपरली मोंगरीमें कभी अधिक बलसे हाथ लग जाता है और कभी हलका हाथ पड़ता है अथवा खेलनेवाले बालकोंका किसी घड़ेपर हलका या भारी प्रहार हो जाता है। इसी प्रकार अग्नितप या वायुके झकोरे भी न्यून, अधिक, मात्रामें लग जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि विनाशके कारण मुद्गर आदिकोंके संघातके हेतु हो रहे परिदृष्ट किये गये पुरुषप्रयत्न आदिका व्यभिचार हो रहा है। देखिये, पुरुषोंका समान प्रयत्न होनेपर भी कहीं उन मुद्गरादिकोंका पतन होना नहीं देखा जाता है। तथा उन मुद्गरादिका समान रूपसे सम्पात होनेपर भी उन घटादिकोंका विनाश नहीं प्रतीत हो रहा है। क्वचित् एक डेलके मारे मनुष्य मर जाता है। कभी बन्दूककी गोलीसे भी नहीं मरता है। यों दृष्ट कारणोंका अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेक व्यभिचार दोष हो रहा है। ऐसी दशामें अन्य अदृष्ट कारणोंकी सिद्धि हो जानेसे ही प्रवीण पुरुषोंको धैर्य प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं।

सूक्ष्मो भूतविशेषः सर्वथा व्यभिचारवर्जितो विविधः कारणांतरमिति चेत्, तदेव कर्मास्माकं सिद्धं तस्य सूक्ष्मभूतविशेषसंज्ञामात्रं तु भिद्यते परिदृष्टस्य सूक्ष्मभूतविशेषस्य व्यभिचारवर्जितत्वासंभवात्।

चार्वाक (साइण्टफिक) कहते हैं कि पृथिवी आदि भूतोंका एक विशेष परिणाम सूक्ष्म है, जो कि बहिरंग इंद्रियोंके दृष्टिगोचर नहीं है। स्थूल परिणामकी भले ही बाधा या अन्वय व्यतिरेक-व्यभिचार होय, किन्तु व्यभिचारसे वर्जित हो रहा नाना प्रकारका सूक्ष्मभूत ही उनका न्यारा कारण है। ऐसा कहनेपर तो आचार्य इष्टापत्ति करते हैं कि वही सूक्ष्मभूत तो हम आर्हतोंके यहां कर्म पदार्थ सिद्ध है, उसका सूक्ष्मभूत विशेष यह केवल नामान्तर करना तो निराला है। अर्थमें कोई भेद नहीं है। हां कर्मोंके अतिरिक्त चारों ओर देखे जा रहे सूक्ष्म भूत विशेषको व्यभिचारसे रहितपना असम्भव है। यों ग्रन्थकर्ताने कर्मोंकी विचित्रता अनुसार वहीं जीवोंकी न्यारी न्यारी पर्यायोंकी अनेक प्रकार उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य, स्थितियोंको सिद्ध कर दिया है।

अथ किमेते संसारिणो जीवाः कर्मवैचित्र्यात् स्थितिवैचित्र्यमनुभवंतो नानात्मानः प्रत्येकायत्तैकात्मानः इति ? यदि नानात्मानस्तदाऽनुसंधानाद्यभावः स्यादेकसंतानेपि नानासंतानवत्। अथैकात्मानस्तदानुभवस्मरणादि संक्रमानुपपत्तिः पौर्वापर्यायोगादिति वदंतं प्रत्याह।

अब यहां अनेकान्तसिद्धांतको पुष्ट करनेके लिये प्रकरणका प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम ही किसीका आक्षेप है कि ये संसारी जीव कर्मोंकी विचित्रतासे हो रहे स्थितियोंके विचित्रपनको अनुभव रहे क्या न्यारे, न्यारे अनेक धर्मस्वरूप हैं ? अथवा प्रत्येक धर्मके अधीन हो रहे एक एक धर्मस्वरूप हैं, बताओ ? प्रथमपक्ष अनुसार यदि जीव पदार्थ नाना धर्मस्वरूप हैं, यानी धान्यराशिके समान स्वतंत्र हो रहे अनेक विज्ञानपरमाणु या परस्पर किसीकी अपेक्षा नहीं रखते हुये अनेक धर्म ही जीव पदार्थ हैं, तब तो अनुसंधान, प्रत्यभिज्ञान, देन, लेन, दान दान-फल, हिंसा हिंसाफल, आदि व्यवहारोंका अभाव हो जावेगा। एक संतान होनेपर भी नाना सन्तानोंके समान विमर्षण आदिक नहीं हो सकेंगे। भावार्थ–अनेक विज्ञान परमाणु स्वतंत्र पडे हुए हैं। द्रव्यरूपसे अन्वित होकर ओतप्रोत बने रहना ऐसी सन्तानको हम बौद्ध वस्तुभूत नहीं मानते हैं। अतः जैसे देवदत्तकी धारणा अनुसार जिनदत्त स्मरण नहीं कर सकता है, चन्द्रदत्त उसका अनुसंधान नहीं कर पाता है, इसी प्रकार एक घडी पूर्व देखे जा चुके पदार्थका स्वयं देवदत्त स्मरण या प्रत्यभिज्ञान नहीं कर सकेगा। बाल्य अवस्था या युवा अवस्थाके अनुभवोंका वृद्ध अवस्थामें स्मरण नहीं हो सकेगा। ऋण देना लेना, ब्रह्मचर्य, पिता, पुत्रपन आदि व्यवहार अलीक हो जावेंगे। अब यदि द्वितीय पक्षके अनुसार आप जैन जीव आदि पदार्थोंको एक धर्मस्वरूप ही स्वीकार करेंगे, तब तो अनुभव स्मरण आदिका संक्रमण होना नहीं बन सकेगा। क्योंकि पूर्व अपरपनेका अयोग है। अर्थात्-एक धर्मस्वरूप पदार्थ दूसरे क्षणमें नष्ट होगया तो पहिला पिछलापन, नहीं घटित होनेसे क्षणिक एक धर्मस्वरूप जीवके अनुभव अनुसार स्मृति होना या प्रत्यभिज्ञान होना अथवा अनेक विचारोंका परिवर्तन होते हुए संक्रमण होना इत्यादिक परिणतियां नहीं बन सकती हैं। इस प्रकार एकान्त पक्षका परिग्रह कर बोल रहे वादीके प्रति ग्रंथकार अब समाधानको स्पष्ट कहते हैं।

ततः संसारिणो जीवाः स्वतत्त्वादिभिरीरिताः ।
नानैकात्मतया संतो नान्यथार्थक्रियाक्षतेः ॥ ६ ॥

जिस कारणसे कि जीवके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, स्वतत्त्व, योनि, जन्म, शरीरधारण, नरकावास, मध्यलोक आवास, देव अवस्था, आदि स्वाभाविक और औपाधिक धर्मोंका चौथे अध्यायतक निरूपण किया है, तिस कारण वे औपशमिक आदि पांच स्वतत्त्व, विग्रहगति आदि परिणामोंकरके निरूपे जा चुके जीव नाना धर्मोंके एक तदात्मकपने करके सद्रूप हो रहे हैं। अन्य प्रकारोंसे जीव पदार्थ सद्भूत नहीं है । क्योंकि केवल एकरूप या स्वतंत्र अनेकरूप अथवा क्षणिक स्वरूप, नित्य स्वरूप आदि ढंगोंसे जीवका सत्व माननेपर अर्थक्रिया होनेकी क्षति हो जाती है। नाना धर्म आत्मक पदार्थको स्वीकार किये विना छोटीसे छोटी अर्थ क्रिया भी नहीं हो पाती है। पूर्व स्वभावोंका त्याग, उत्तर स्वभावोंका ग्रहण और स्थूलपरिणतिकी स्थिरत स्वरूप परिणाम हुये विना जगत्का अत्यल्प कार्य भी नहीं हो सकता है।

यस्माद्द्वितीयाध्याये स्वतत्वलक्षणादिभिः स्वभावैः संसारिणो जीवाः प्रत्येकं निश्चितास्तृतीयचतुर्थाध्याययोश्चाधारादिविशेषैर्नानाविधैरध्यवसितास्ततो नानैकात्मतया व्यवस्थिताः। न पुनर्नानात्मान एवैकात्मान एव वा सर्वार्थक्रियाविरहात्तेषामसत्त्वप्रसंगात्। संश्च सर्वसंसारी जीव इति निश्चितप्रायं, अभावविलक्षणत्वं हि सत्त्वं तच्च नास्तीत्येकस्वभावादभावाद्विलक्षण्यं।

जिस कारण कि उमास्वामी महाराजने दूसरे अध्यायमें जीवके निज तत्त्व, जीवके लक्षण, आदिक स्वभावोंकरके सम्पूर्ण संसारी जीव एक एक होकर निश्चित कर दिये हैं और तीसरे, चौथे, अध्यायोंमें आधार स्थान, आयुः, लेश्या, प्रवीचार, आदि नाना प्रकार विशेषताओंकरके जीवोंका निर्णय करा दिया है, तिस कारण ये जीव नाना एकात्मक स्वभावकरके व्यवस्थित हो रहे हैं। किन्तु फिर न्यारे न्यारे स्वतंत्र नाना धर्मस्वरूप ही अथवा एक धर्म स्वरूप ही जीव नहीं हैं। क्योंकि नानापनका एकान्त या एकपनका एकान्त माननेपर सम्पूर्ण अर्थक्रियाओंका अभाव हो जानेसे खरविषाणवत् उन जीवोंके असत् हो जानेका प्रसंग होगा। अर्थक्रियाको करना ही सद्भूत वस्तुका निर्दोष लक्षण है। अन्य लक्षणोंमें अनेक दोष आते हैं। संसारी जीव सद्भूत पदार्थ हो रहे हैं। इस सिद्धांतका हम पूर्व प्रकरणोंमें अनेक बार निर्णय करा चुके हैं। तुच्छ अभाव पदार्थ भले ही असत् रहो किन्तु अभावोंसे विलक्षणपना ही सत्पना है और वह सत्त्व ही "नहीं है" इस प्रकार सर्वथा एक स्वभाववाले अभावसे विलक्षणपना है। अतः ऐसे अभाव विलक्षणत्व हेतुसे एक एक जीवका अनेक धर्मात्मकपना सिद्ध हो जाता है। अर्थात् अभाव यदि तुच्छ असत् है तो ऐसे अभावका विलक्षणपना वस्तुमें सध नहीं सकता है गौ आदि भावोंसे अश्व आदि भाव विलक्षण हुआ करते हैं। "विसदृशानि लक्षणानि यस्य स विलक्षणः" परस्परमें प्रतियोगिता रखते हुए दो आदि भाव पदार्थ विलक्षण

हो सकते हैं, खरविषाणसे कोई विलक्षण नही है। अतः परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिस्वरूप एक स्वभावसे तदीतरिक्त अनन्तानन्त स्वभावोंका पिण्डभूत भाव यहां उस अभावसे विलक्षण समझा जाय।

नानास्वभावत्वं जीवस्य कुत इत्याह।

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है कि एक जीवके नाना स्वभावोंसे सहितपना भला कैसे सिद्ध हो जाता है ? ऐसी अभिलाषा प्रवर्तनेपर श्री विद्यानंद आचार्य समाधानकारक वचनको कहते हैं।

जन्मास्तित्वं परिणतिं (निर्वृत्तिंच) क्रमाद्वृद्धिमपक्षयं।
विनाशं च प्रपद्यंते विकारं षड्विधं हिते ॥ ७ ॥

जगत्में निवास कर रहें संपूर्ण जीव नियमसे छह प्रकारके विकारोंको प्राप्त हो रहे हैं। अतः वे अनेक स्वभाववाले हैं। एक एक जीव नाना स्वभाव आत्मक है। कारण कि वे जीव जन्मको प्राप्त करते हैं १। अस्तित्वको प्राप्ति कर रहे हैं २। परिणामको धार रहे हैं ३। वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं ४। क्रमसे एकदेश निवृत्तिस्वरूप अपक्षयको प्राप्त होरहे हैं ५। तथा विनाशको प्राप्त हो जाते हैं ६। इस प्रकार प्रतिक्षण हो रहे अनन्ते छह प्रकार विकारोंद्वारा एक एक भाव नाना स्वभाववान् प्रसिद्ध हैं। अर्थात्–जैसे कोई बालक प्रथम उपजता है फिर कुछ दिनतक आत्मलाभ करता हुआ अपना अस्तित्व स्थिर रखता है, अनेक अवस्थाओंको प्राप्त करता है, हड्डी, रक्त, शरीर, बुद्धिबल आदिको बढाता जाता है, पुनः क्रमक्रमसे हीन होता जाता है, अन्तमें वृद्ध अवस्था बीत जानेपर विनाशको प्राप्त हो जाता है। यह क्रमसे होनेवाले छह विकारोंका दृष्टांत है। किन्तु सूक्ष्म परिणतियां या अनेक गुणोंके नाना अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा युगपत् भी अनेक छह विकार हो रहे हैं। उत्पाद व्यय, ध्रौव्य, स्वरूप पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहे द्रव्यमय वस्तुमें ये छऊ विकार अपेक्षाओं द्वारा सुघटित हो जाते हैं।

सर्वो हि भावो जन्म प्रपद्यते निमित्तद्वयवशादात्मलाभमापद्यमानस्य जायत इत्यस्य विषयत्वात्। यथा सुवर्णकटकादित्वेन। अस्तित्वं न प्रतिपद्यते स्वनिमित्तवशादवस्थामबिभ्रतो र्थस्यास्तीति प्रत्ययाभिधानगोचरत्वात् निर्वृत्तिं च प्रपद्यते सत एवावस्थांतरावाप्तिदर्शनात् परिणमते इत्यस्य विषयत्वात्। वृद्धिं च प्रतिपद्यते अनिवृत्तपूर्वस्वभावस्य भावांतरेणाधिक्यं लभमानस्य वर्द्धते इत्यस्य विषयत्वात्। अपक्षयं च प्रपद्यते क्रमेण पूर्वभावैकदेशविनिवृत्तिं प्राप्नुवतो वस्तुनोपक्षीयत इत्यस्य विषयत्वात्। विनाशं च प्रतिपद्यते, तत्पर्यायसामान्यनिवृत्तिं समासादयतोर्थस्य नश्यतीत्यस्य गोचरत्वात्।

चराचर जगत्के सम्पूर्ण सद्भूत पदार्थ जन्मको प्राप्त करते हैं, क्योंकि अन्तरंग, बहिरंग, दोनों निमित्त कारणोंके वशसे आत्मलाभको प्राप्त हो रहा पदार्थ "उपज रहा है" इस ज्ञानका विषय हो जाता है, जैसे कि सोना, कडे, हंपली, आदि स्वरूप करके उपजता है। और सभी पदार्थ अपने अस्तित्वको प्राप्त कर रहे समझे जाते हैं। क्योंकि अपने अपने आत्मलाभके कारण हो रहे निमित्तोंके वशसे अवस्थाको धार रहा अर्थ "है", इस ज्ञान और शब्दका विषय हो रहा है। तथा चाहे कोई पदार्थ विपरिणतिको धारण कर रहा है। क्योंकि सत् पदार्थको ही न्यारी न्यारी अवस्थाओंकी प्राप्ति देखी जा रही होनेसे "परिणमन करता है" इस ज्ञानका विषयपना प्राप्त है। एवं सभी पदार्थ वृद्धिको ही प्राप्त हो रहे है। क्योंकि पूर्वमें प्राप्त हो चुके स्वभावोंको नहीं छोडकर अन्य भावों करके अधिकपनका लाभ कर रहे पदार्थको "बढ रहा है" यों इस ज्ञानका विषयपना नियत है। तथा सभी पदार्थ पांचवें अपक्षय विकारको भी प्राप्त होते हैं। क्योंकि पूर्वमें उपार्जित किये जा चुके भावोंको क्रमसे एक देश निवृत्तिको प्राप्त हो रही वस्तुको "कुछ कुछ क्षीण हो रही है" इस ज्ञान शब्दका विषयपना निर्णीत है। ज्ञेय पदार्थका ज्ञानके साथ विषयविषयिभाव सम्बन्ध है और वाच्यार्थका शब्दके साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध (नाता) है। तथा सभी भाव विनाशको प्राप्त हो रहे जाने जाते हैं। क्योंकि उस पर्यायकी सामान्यरूपसे पूर्णतया निवृत्तिको प्राप्त कर रहे अर्थको "नष्ट हो रहा है" इस ज्ञानका विषयपना निश्चित है। यहां ग्रंथकारने वस्तुके स्थूल सूक्ष्म पर्याय स्वरूप छह विकारोंको साधनेवाली अपेक्षाओंको दिखला दिया है। सायमें जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, विनश्यति, इन वाचक पदोंकी योजनाके लिये अथवा जायते आदिका ज्ञान करनेके लिये शिष्योपयोगिनी शिक्षा दे दी है। उक्त ढंगसे न्यून या अधिक व्यवहार करनेवाला पुरुष पथभ्रष्ट हो जायगा। यों विवक्षित विधिके अनुसार सम्पूर्ण भावोंके यानी द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुके क्रम अक्रम रूपसे हो रहे छह विकारोंको समझ लेना चाहिये।

तथा जीवा अपि भावाः सतः षड्विधं विकारं प्रपद्यते अभावविलक्षणत्वादित्येके, तेषां यद्यवस्तुविलक्षणत्वं सत्त्वं धर्मस्तदा न सम्यगिदं साधनं प्रतिक्षणपरिणामेनैकेन व्यभिचारात् अभावविलक्षणत्वं वस्तुत्वं तदा यस्तं ततो जीवस्य षड्विकारप्राप्तिसाधनं वस्तुत्वस्य तदविनाभावसिद्धेः। अथासत्त्वधर्मविलक्षणत्वं सत्त्वंधर्मस्तदा न सम्यगिदं साधनं प्रतिक्षणपरिणामैकेन ऋजुसूत्रविषयेण व्यवहारनयगोचरेण द्रव्येण च व्यभिचारात् तस्य षड्विकाराभावेपि सत्त्वधर्माश्रयत्वेनाभावविलक्षणत्वसिद्धेरन्यथा सिद्धांतविरोधात्।

तिसी प्रकार जीव भी भाव हो रहे सत् स्वरूप पदार्थ हैं। अतः छह प्रकारके विकारोंको प्राप्त हो रहे हैं। अर्थात्–सत् स्वरूपभाव होनेसे जीवोंके छह विकारोंकी प्राप्ति बन रही है। कोई एक उच्च कोटीके विद्वान् यहां यों कह रहे हैं कि तुच्छस्वरूप अभावोंसे विलक्षण होनेके कारण जीव भाव छह विकारोंको धारते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि उन एक अनुपम विद्वान् अकलंक महाराजके यहां यदि अभाव यानी अवस्तुसे विलक्षणपना ही सत्त्व नामक

धर्म है, तब तो यह हेतु समीचीन नहीं है। प्रत्येक क्षणमें होनेवाला एक परिणाम करके व्यभिचार हो जाता है, अर्थात्–एक क्षणकी एक ही पर्याय खरविषाण आदि अवस्तुओंसे विलक्षण है। किन्तु वह अकेली एकक्षणवर्ती पर्याय से छह प्रकार विकारोंको प्राप्त नहीं होती है। वस्तुके छह विकार हो सकते हैं। एक विकारस्वरूप पर्यायके पुनः छह विकार नहीं हो सकते हैं। अनवस्था हो जायगी। हां यदि वे अकलंक महाराज अभावसे विलक्षणपनको वस्तुत्व स्वीकार करलें तब तो उस अकलंकहेतुमें जीव भावको छह विकारोंकी प्राप्तिका साध्य देना समुचित है। क्योंकि वस्तुत्वका उस छह प्रकार विकारोंकी प्राप्तिके साथ अविनाभाव सिद्ध हो रहा है। अब यदि अकलंक महाराज असत्त्व धर्मसे विलक्षणपन (अभावविलक्षणत्व) को सत्त्वधर्म बखानें तब भी वह अभावविलक्षणत्व हेतु समीचीन नहीं है। क्योंकि सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयका विषय हो रहे प्रतिक्षणवर्ती एक पर्याय करके और व्यवहारनयके विषय हो रहे अन्वित द्रव्य करके व्यभिचार दोष होता है। देखिये उस एक पर्याय या केवल अन्वित द्रव्यके छह प्रकार विकार नहीं हुए हैं। फिर भी सत्त्वधर्मका आश्रय होनेसे उनमें अभाव विलक्षणपना सिद्ध है। अन्य प्रकारोंकी शरण लेनेपर सिद्धांतसे विरोध हो जायगा। भावार्थ–अकलंक महाराज और विद्यानन्द स्वामी जीव आदि सद्भूत भावोंमें छहों विकारोंको स्वीकार करते हैं। अकलंक महाराजने भावोंको छह विकारस्वरूप अनेक आत्मकपना साधते हुए " अभाव विलक्षणत्वात् " इस वार्त्तिकको कहा है और वार्तिकका यह विवरण किया है। " अभूतं नास्तीत्येकरूपो भावः न हि अभावः अभावात्मना भिद्यते तद्विसदृशस्तु नानारूपो भावः इतरथा हि तयोरविशेष एव स्यात्"। फिर भी अभावविलक्षणत्वका स्पष्ट अर्थ नहीं होनेके कारण ग्रंथकारको यह ऊहापोह करना पडा है। अभाव पदसे अवस्तु या असत्त्वका ग्रहण करना अनिष्ट है। जब कि तुच्छ अभावोंकी कोई परिभाषा ही नहीं है तो फिर किस मर्यादाभूत पंचम्यन्तसे वस्तुका विलक्षणपना किया जाय ? अवस्तु, अद्रव्य, अभाव, असत्त्व, इन पदोंका सिद्धांतमर्यादासे कोई अर्थ नहीं निकलता है। अतः इनका विलक्षणपना या इनका रहितपना किसीका ज्ञापक हेतु नहीं बन सकता है। " वस्त्वेवावस्तुनां याति प्रक्रियाया विपर्ययात्। संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्। असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः, असर्वान्तमवस्तु स्याद-विशेष्यविशेषणं " आदिक देवागममें गुरुवर्य श्री समन्तभद्राचार्यके निर्णीत सिद्धांत अनुसार अखंड पूरे " अभावविलक्षणत्वात् " का अर्थ वस्तुत्व किया जायगा, तभी अभावविलक्षणत्व हेतु सद्धेतु बन सकेगा। अन्यथा अभावविलक्षणत्वका खण्ड कर देनेपर वस्तुके एकदेश हो रही अकेली पर्याय और शुद्धद्रव्यकरके व्यभिचार दोष तदवस्थ रहेगा। अष्टसहस्रीमें इस विषयके निर्णीत हो रहे जैनसिद्धांतको स्पष्ट कर लिया गया है। अद्वैत, अनेकान्त, अमाया, अखरविषाण, अभाव, इन सबका विवेचन हो जाता है। बौद्धोंके यहां मानी गई गोशब्दका अर्थ अगोव्यावृत्ति जैसे गौसे भिन्न कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार अभावविलक्षणत्व भी कोई वस्तुसे न्यारा परमार्थभूत नहीं है। ऐसी दशामें यह निर्बल हेतु भला क्या छह विकारोंको साध सकेगा ? इसकी अपेक्षा अकलंक महाराज सरलतया यदि वस्तुत्वहेतु कह देते तो

नानारूप भावकी सिद्धि सुगम हो जाती। अभावविलक्षणत्वका अर्थ करनेमें शिष्योंको सम्हालनेके लिये ग्रंथकारको प्रयत्न नहीं करना पडता। बात यह है कि अकलंक महाराज अकलंक ही हैं और विद्यानन्द आचार्य भी स्वनामधन्य विद्यानन्द ही हैं। महान् गजराजोंके विषयमें छोटे निर्बल जीवोंको समालोचना करनेका कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। उसी प्रकार हम सारिखे अल्पमति पुरुषोंको उद्भट आचार्योंके विषयमें पर्यालोचना करनेका कोई अधिकार नहीं है। न जाने किन किन अतर्क्य अपेक्षाओं अनुसार दोनों आचार्यवर्योंने अनेकान्तकी सिद्धि की है। प्रतिक्षणसे लेकर " न सम्यगिदं साधनं " यहांतक पाठ लिखित पुस्तकमें नहीं है, तब तो अकेले अवस्तुविलक्षणत्वस्वरूप अभावविलक्षणत्वका केवल पर्याय और केवल द्रव्यकरके व्यभिचार दोष दे दिया जाय। ग्रंथकार विद्यानंदस्वामी सद्भूत जीव अथवा वस्तुभूत जीवके छह विकारोंका धारना साधते हैं। अभावविलक्षण हो रहे जीवके छह विकारोंकी प्राप्ति होनेको अन्तरंगसे नहीं चाहते हैं। यों अकलंक महाराजके कहनेसे सिद्धांताविरुद्ध उसका व्याख्यान करते हुये ग्रन्थकारने ज्ञानवयोवृद्ध पुरखाओंकी बातको टाला भी नहीं है। वस्तुस्वरूप अभावविलक्षणपना जीवोंके षड्विध विकार प्राप्तिको साध ही देता स्वीकार कर लिया है।

ननु च वस्तुत्वमप्यभावविलक्षणत्वं न जीवानां षड्विधविकारप्राप्तिं साधयति तस्यास्तित्वव्याप्तेन व्ययपरिणामादिभिरित्याह।

यहां कोई नित्यैकान्तवादी शंका करता है कि वस्तुस्वस्वरूप भी " अभावविलक्षणपना " हेतु जीवोंके जन्मादि छह प्रकार विकारोंकी प्राप्तिको नहीं साध पाता है। क्योंकि उस वस्तुत्वकी केवल अस्तित्वके साथ व्याप्ति बन रही है। जन्म, परिणति, वृद्धि, अपक्षय और विनाशके साथ वस्तुत्व हेतु व्याप्त नहीं है। इस प्रकार मान रहे वादीके प्रति ग्रंथकार कहते हैं।

बिभ्रतेस्तित्वमेवैते शश्वदेकात्मकत्वतः।
नान्यं विकारमित्येके तन्न जन्मादिदृष्टितः॥ ८॥

ये जीव आदि भाव (पक्ष) अस्तिपनको ही धारण करते हैं (साध्य)। क्योंकि सर्वदा स्थिर रहना ऐसे एक नित्यधर्म स्वरूप हो रहे हैं (हेतु) अन्य किसी विकारको नहीं धारते हैं। इस प्रकार कोई एक विद्वान् मान बैठे हैं। आचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना यथार्थ नहीं है। क्योंकि सभी पदार्थोंमें हो रहे जन्म आदि छहों विकार देखे जाते हैं।

एतेष्वस्तित्वादिषु मध्ये अस्तित्वमेवात्मानो बिभ्रति नान्यं पंचविधं जन्मादिविकारं तेषां नित्यैकरूपत्वात् स्वरूपेण शश्वदस्तित्वोपपत्तेरित्येके। तन्न सम्यक् तेषां जन्मादिदर्शनात्। मनुष्यादीनां हि देहिनां बाल्यादिभावेन जन्मादयः प्रतीयंते मुक्तात्मनामपि मुक्तत्वादिना ते संमान्यंत इति प्रतीतिविरुद्धं जीवानां जन्मादिविकारविकलत्ववचनम्।

इन अस्तित्व आदि विकारोंके मध्यमें केवल अस्तित्व को ही जीव पदार्थ धारते हैं अन्य पांच प्रकार जन्म, परिणति, वृद्धि, आदि विकारों को नहीं प्राप्त होते हैं। क्योंकि वे आत्मा पदार्थ एकान्तरूपसे कूटस्थवत् नित्य हैं अतः जीवात्माओंका स्वकीयरूपकरके सर्वदा अस्तिपन ही एक धर्म बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि कूटस्थवादियों का वह कहना समीचीन नहीं है। क्योंकि बालक, बालिकाओंतकको उन जीवों के जन्म, वृद्धि, होने आदिका दर्शन होरहा है। जब कि मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि प्राणियों के बालकपन, युवापन, वृद्धपन, आदि अवस्थाओं द्वारा जन्म विपरिणाम, वृद्धि, आदि विकार होरहे प्रतीत होते हैं तो इसी प्रकार शुद्ध परमात्मा मुक्तआत्माओं के भी मुक्तपने, सिद्धपने, स्वात्मनिष्ठा, अगुरुलघुत्व आदि धर्मों करके वे जन्म आदिक सम्भव रहे हैं। अर्थात्–चौदहमे गुणस्थानके अन्त में मुक्त जीव उपजते हैं। वे सदा शुद्ध चिदानन्द, अवस्थाद्वारा अवतरण (अस्तित्व) करते रहते हैं। सिद्धोंके सम्पूर्ण गुणों में परिणाम होते रहते हैं। अगुरुलघु गुणके द्वारा हानि, वृद्धियां, भी कतिपय गुणों की पर्यायों में होरही हैं। संसारीपन, कर्मसम्बन्ध ऐन्द्रियिकज्ञान, कषायें आदिका नाश होचुका है। अथवा उत्तर समयमें पूर्व परिणतियोंका विनाश हो रहा है। बात यह कि जो पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इनसे युक्त होरहा सत् है। उसमें जन्म आदि छऊ विकार मुख्यतया सम्भव जाते हैं। इस कारण कूटस्थवादी पण्डितों का जीवों के जन्म, अस्तिपन, आदि विकारोंसे रहितपनका निरूपण करना लोकप्रसिद्ध और शास्त्रप्रसिद्ध प्रतीतियों से विरुद्ध है।

जन्मादयः प्रधानस्य विकाराः परिणामिनः ।
तत्संसर्गात्प्रतीयंते भ्रांतेः पुंसीति चेन्न वै ॥ ९ ॥

यहां कपिल मतानुयायियोंका पूर्वपक्ष है कि परिणामों के धारी प्रधानके विकार जन्म आदिक हैं। उस प्रकृतिका संसर्ग हो जानेसे भ्रान्त ज्ञानद्वारा पुरुषमें जन्म आदि प्रतीत हो जाते हैं। भावार्थ-सांख्यों के यहां प्रकृति के विकारों का होना अभीष्ट किया है। कूटस्थ, नित्य, अपरिणामी, आत्माके कोई जन्म आदि विकार नहीं होते हैं। जपाकुसुमकी ललाई जैसे स्फटिकमें प्रतिभास जाती है उसी प्रकार भ्रान्ति के वश संसारी जीवोंको वे जन्मादिक विकार आत्मामें होरहे दीख जाते हैं। " तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनादिवलिङगम्। गुण कर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः (सांख्यकारिका)। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो कथमपि नहीं कहना क्योंकि जब वे पुरुष में निश्चितरूपसे हुये प्रतीत किये जाते हैं, आत्मामें होरहे जन्म आदि विकारों के दर्शकों को भ्रान्त कहने का तुमको कोई अधिकार नहीं है। सम्यग्ज्ञानियों को मिथ्याज्ञानी कहनेवाला स्वयं अनन्त भ्रममें पड़ा हुआ है।

तेषां भावविकारत्वादात्मन्यप्यविरोधतः ।
जन्मादिरहितस्यास्याप्रतीतेर्भ्रांत्यसिद्धितः ॥ १० ॥

वे जन्म आदिक छऊ विवर्तभावों के विकार हैं। अतः भावपदार्थ माने गये आत्मा में उनके होने का कोई विरोध नहीं है। जन्म आदिक से रहित होरहे इस आत्मा की आजतक भी प्रतीति नही होती है। अतः जन्म आदिको धारनेवाले आत्मा के जानन में भ्रान्ति होनेकी असिद्धि है। देवदत्त जन्म लेता है, वह जिनदत्त आनन्द पूर्वक रहता है, भोजन करता है, मोटा होता है, देवदत्त लट जाता है, देवदत्त मर जाता है, इन सच्चे ज्ञानों में भला भ्रान्ति होने की कौनसी बात है ? विपरीत रीतिओंको गढकर तुमने तो अन्धेर नगरी समझरखी है।

विकारी पुरुषः सत्त्वाद्बहुधानकवत्तव ।
सर्वथार्थक्रियाहानेरन्यथा सत्त्वहानितः ॥ ११ ॥

पुरुष (पक्ष) विकरों का धारी है (साध्यदल) सत् होनेसे (हेतु) प्रधानके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-तुम सांख्यों को प्रकृति के सामन पुरुष भी सत् होने से विकार वाला मानना पडेगा। अन्यथा यानी आत्मा में विकार नहीं मानने पर तुम्हारे यहाँ सभी प्रकार अर्थक्रिया होने की हानि हो जावेगी और अर्थक्रिया की हानि हो जानेसे उसके व्याप्य होरहे सत्त्वकी भी हानि हो जावेगी। ऐसी दशामें अश्वविषाणके समान आत्मा असत् पदार्थ हो जाता है।

यथा हि प्रधानं भावस्तथात्मापि सन्नभ्युपगंतव्यः। सत्त्वं चार्थक्रियया व्याप्तं तदभावे खपुष्पवत्सत्त्वानुपपत्तेः। सा चार्थक्रिया क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, तद्विरहेर्थक्रियाविरहात्तद्वत्। ते च क्रमयौगपद्ये विकारित्वेन व्याप्ते, जन्मादिविकाराभावे क्रमाऽक्रमविरोधात्ततः सत्त्वमभ्युपगच्छता पुरुषे जन्मादिविकारोऽभ्युपगन्तव्योन्यथा व्याप्यव्यापकानुपलब्धेरात्मनोऽसत्त्वप्रसक्तेरित्युक्तप्रायं।

जिस ही प्रकार प्रधान " सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः " भावपदार्थ है, उसी प्रकार आत्मा भी सत् पदार्थ स्वीकार करलेना चाहिये और सत्त्व तो अर्थक्रिया करके व्याप्त होरहा है। क्योंकि उस अर्थक्रियाके नहीं होने पर आकाशकुसुमके समान किसी का भी सत्पना नहीं सिद्ध होपाता है तथा वह अर्थक्रिया भी क्रम और यौगपद्य के साथ व्याप्ति को रख रही है यानी कोई भी अर्थक्रिया होगी वह क्रम से या युगपद ही होसकेगी। उन क्रम और यौगपद्य के विना अर्थक्रिया होने का अभाव है, जैसे कि उस आकाशपुष्प में क्रम यौगपद्योंके न होने से कुछ भी अर्थक्रिया नहीं होपाती है और वे क्रमयौगपद्य भी विकारसहितपन के साथ व्याप्त होरहे प्रतीत हैं। क्योंकि जन्म, अस्तित्व, आदि विकारों के नहीं होनेपर क्रम या अक्रम से कुछ भी होने का विरोध है। तिस कारण आत्मा में सत्त्वधर्म को चाहने वाले कापिलों करके जन्म आदि विकार होना अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिये। अन्यथा व्याप्य (के) व्यापकोंकी अनुपलब्धि होजाने से आत्मा के असत्त्व का प्रसंग होजावेगा, इस अनुकूल तर्कका हम कई बार पहिले प्रकरणों में निरूपण करचुके हैं। सत्त्वका व्यापक अर्थक्रिया होना है तथा अर्थक्रिया का व्यापक क्रम और यौगपद्य है तथा उन क्रमयौगपद्योंका व्यापक विकारसहितपना है। जन्म आदि

विकारों को नहीं मानने पर उसके व्याप्यव्यापक होरहे सत्त्वका अभाव होजाता है जहां घडे में जीवत्व ही नहीं है वहां मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, नहीं होते हुये गौडत्व भी नहीं ठहर पाता है। अतः प्रकृति के समान आत्मा के भी छह विकार होरहे मानने पडेंगे।

जायंते ते विनश्यंति संति च क्षणमात्रकं।
पुमांसो न विवर्तंते वृद्ध्यपक्षयगाश्च न ॥ १२ ॥
इति केचित्प्रध्वस्तास्तेप्येतेनैवाविगानतः।
विवर्ताद्यात्मतापाये सत्त्वस्यानुपपत्तितः ॥ १३ ॥

आत्मा को सर्वथा नित्य माननेवाले कापिलों का विचार कर अब आत्माको सर्वथा अनित्य माननेवाले बौद्धों के साथ परामर्श किया जाता है। बौद्ध कहते हैं कि वे पुरुष (जीव) उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होजाते हैं तथा एक क्षणमात्र निवास करते हुये अस्तिस्वरूप भी हैं। किन्तु जीव विपरिणाम नहीं करते हैं तथा वृद्धि और अपक्षय को प्राप्त करनेवाले भी नहीं हैं। अर्थात्-छह विकारों में पहिला जन्म, दूसरा अस्तित्व, और छठा विकारों का नाश इन तीन विकारोंको हम जीव में स्वीकार करते हैं। तीसरे विपरिणाम, चौथी वृद्धि, पांचवां अपक्षय, इन तीन को मानने की आवश्यकता नहीं है आप जैनोंने भी तो सत् पदार्थ में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीन ही धर्मों को स्वीकार किया है। ऐसा यहांपर कोई क्षणिकवादी कह रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि वे भी इस निर्दोष उक्त कथन करके ही भले प्रकार प्रध्वंस को प्राप्त कर दिये गये हैं। क्योंकि विपरिणति स्वरूप विवर्त्त आदि तीन स्वरूप विकारोंका अभाव माननेपर जीवों के अक्षुण्ण सत्त्व की ही अनुपपत्ति है। अर्थात्-छहों विकारोंके होने से जीवों का सद्भाव बन सकता है। अन्यथा वन्ध्यास्तनन्धय के समान जीव असत् होजायेंगे।

यथैव हि जन्मविनाशास्तित्वापाये क्षणमिति न परमार्थसत्त्वं तथा विवर्तनपरिवर्धन-परिक्षयणात्मकत्वापायेपि तथा प्रतीयते, अन्यथा कूटस्थात्मनोव खे पुष्पवद्वा चेतनस्य सत्त्वानुपपत्तेः।

सौगत कहते हैं, चूंकि जिस ही प्रकार जन्म, विनाश, और अस्तित्व का निराकरण माननेपर क्षणिकपन इसप्रकार परमार्थ रूपसे सत्पना नहीं बनपाता है, उस प्रकार विपरिणाम परिवृद्धि, अपक्षय, आत्मकपना नहीं मानने पर भी तिस प्रकार क्षणिकपना वस्तुभूत प्रतीत होजाता है। अन्यथा कूटस्थ आत्मा में जैसे सत्त्व नहीं है अथवा जैसे आकाश में पुष्पका सत्त्व नहीं है, उसी प्रकार चेतन के सद्भाव की असिद्धि बन बैठेगी अथवा इस पंक्ति का अर्थ यों कर लिया जाय। आचार्य कहते हैं कि जिस ही प्रकार जन्म विनाश और अस्तित्व को नहीं माननेपर बौद्धों के यहां क्षणिक पदार्थ में वस्तुभूत सत्पना नहीं आसकता है, उसी प्रकार परिणति वृद्धि, और अपक्षय स्वरूप पदार्थ को नही माननेपर भी तिस प्रकार वास्तविक सत्पना नहीं प्रतीत होरहा है। अन्यथा यानी तीन को माना जाय और विवर्तन, परिवर्द्धन, परिक्षय इन तीन को

नहीं माना जाय तो कूटस्थ आत्मा में जैसे परिणाम सत्व नहीं है, वह असत्व से शून्य की जैसे वस्तुभूत सत्ता नहीं है, वैसे ही चेतन जीव के वास्तविक सत्पना नहीं बन सकता है।

स्वभावांतरेणोपपत्तिरेव परिणामो वृद्धिश्चाधिक्येनोत्पत्तिरपक्षयस्तु विनाश एवेति न षड्विकारो जीव इति चेन्न, अन्वितस्वभावापरित्यागेन सजातीयेतरस्वभावांतरमात्रप्राप्तेः परिणामत्वादाधिक्येनोत्पत्तेश्च वृद्धित्वाद्देशतो विनाशस्यापक्षयत्वात्परिणामादीनां विनाशोत्पादास्तित्वेभ्यः कथंचिद्भेदवचनात्।

बौद्ध कहते हैं कि किसी भी पदार्थ का अन्य न्यारे स्वभावों करके बन जाना ही तो परिणाम है और विद्यमान स्वभावों से अधिकपने करके उत्पत्ति होजाना वृद्धि है। अपक्षय तो विनाश ही है। यों परिणाम तो अस्तित्व में और वृद्धि जन्म में तथा अपक्षय विनाश में गर्भित हो जाते हैं। इस कारण तीन विकारोंवाला ही जीव हुआ। छह विकारोंवाला जीव सिद्ध नहीं होसका। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तुम्हारा किया गया यह परिणाम, वृद्धि, अपक्षयोंका लक्षण बहुत बढिया नहीं है। सिद्धान्तमुद्रा से इनका लक्षण यह है कि माला में सूत के समान ओत पोत होरहे अन्वित स्वभावोंका परित्याग नहीं करके सजातीय और उनसे भिन्न विजातीय ऐसे न्यारे न्यारे स्वभावों की केवल प्राप्ति होजाना परिणाम है और द्रव्यके स्वरूप होरहे स्वभावों का त्याग नहीं कर स्वभावों की अधिकपने करके उत्पत्ति होजाना वृद्धि नामका विकार है तथा ध्रुव स्वभावोंका परित्याग नहीं कर एकदेशसे कतिपय अंशों का विनाश होजाना अपक्षय है। अतः परिणाम आदि तीन विकारों का विनाश, उत्पाद, अस्तित्व, इन तीन विकारों से कथंचित् भिन्नपने से निरूपण किया गया है। अतःजीवके छहों विकार मानना समुचित है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों की साध्य अवस्था और साधन अवस्थाओं पर लक्ष्य देनसे जीववस्तु या अन्यवस्तुओं के छह विकार सुलभतया सध जाते हैं।

जीवस्यान्वितस्वभावासिद्धेर्यथोक्तपरिणामाद्यनुपपत्तिरिति चेन्न, तस्य पुरस्तादन्वितस्वभावस्य प्रमाणतः साधनात्। ततो न जीवस्यैकानेकात्मकत्वे साध्ये सत्त्वादित्ययं हेतुरसिद्धोऽनैकांतिको विरुद्धो वा,जन्माद्यनेकविकारात्मकत्वापायेऽन्वितैकत्वभावानां वै च सर्वथा सत्त्वानुपपत्तेः।

बौद्ध कहते हैं कि सर्वथा क्षणिक होने के कारण जीव के सदा अन्वित होरहे स्वभावों की सिद्धि नहीं हो पाती है। इस कारण पूर्व में कहे अनुसार परिणाम आदिका युक्तिपूर्वक बनना नहीं होता है। अर्थात्-आप जैनोंने अन्वित स्वभावों का परित्याग नहीं करना तो परिणाम आदिकों का घटकावयव बना दिया है। केवल एकक्षण ठहर कर द्वितीयक्षण में समूल चूल नष्ट होजाने वाले क्षणिक पदार्थ में अन्वित स्वभाव नहीं पाये जाते हैं। प्रति दिन दो आने कमाकर दोनोंही आनों का व्यय कर देनेवाले घसखोदा के यहाँ संचित द्रव्य नहीं मिलता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि पूर्वप्रकरणों में उस जीव पदार्थ के अन्वित होरहे स्वभावों की प्रमाणसे सिद्धि कर दी गयी है। अनादि, अनिधन, अन्वेता, भाव, जीवद्रव्य है। इसको अकाटय युक्तियों से साध दिया गया है। तिस कारण जीवके एक अनेक आत्मकपना

साध्य करनेपर दिया गया। सत्त्वात् यह हेतु असिद्ध नहीं है। अथवा अनैकान्तिक या विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। जन्म, अस्तित्व आदि अनेक विकार स्वरूपपना नहीं माननेपर और अन्वित होरहे एकत्व भावका अभाव माननेपर सभी प्रकारोंसे सत्पना नहीं बन सकता है। सर्वथा नित्य पदार्थमें जन्मादिक नहीं होनेसे सत्त्व नहीं है। सर्वथा क्षणिकमें अन्वित एकत्वके नहीं होनेपर सत्त्व नहीं बन पाता है। अतः "नानैकात्मतया सन्तो नान्यथार्थक्रियाक्षतेः" और "विकारी पुरुषः सत्त्वाद्दह्यानकवत्तव" इन वार्त्तिकोंमें कहा गया सत्त्व हेतु निर्दोष है।

एतेनानेकवाग्विज्ञानविषयत्वमात्मनो निवेदितं।

जीवके होरहे छह विकारोंको साधनेवाले इस कथन करके आत्माके अनेक वचन और विज्ञानोंका विषयपना भी निवेदन किया जा चुका समझ लेना चाहिये। अर्थात्-वाच्य अर्थकी अनेक परिणतियों अनुसार एक अर्थके अनेक वाचक शब्द प्रयुक्त कर दिये जाते हैं जैसे कि एक घडेमें "मिट्टीका है" नवीन है, बडा है, सुन्दर है, पुराना है, लाल है। इत्यादिक शब्दप्रयोग अनेक परिणतियोंके अनुसार हो जाते हैं। इनसे भी अधिक परिणतियोंके अनुसार उस घट विषयमें अनेक ज्ञान उपज जाते हैं। अतः अनेक शब्द और नाना विज्ञानोंका गोचर हो जानेसे घटके समान जीवात्मा एकानेक आत्मक है। यह हेतु भी व्यभिचारादि दोषोंसे रहित है।

तथानेकशक्तिप्रचितत्वं, वस्त्वंतरसंबंध्याविर्भूतानेकसंबंधिरूपत्वं, अन्यापेक्षानेकरूपोत्कर्षापकर्षपरिणतगुणसंबंधित्वं, अतीतानागतवर्तमानकालसंबंधित्वं, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वं, अन्वयव्यतिरेकात्मकत्वं च समर्थितं। तस्य जन्मादिविकारषट्कप्रपंचात्मकत्वात्सत्त्वव्यापकत्वोपपत्तेः। सत्त्वान्यथानुपपत्त्या प्रसिद्धं च तत्सर्वमेकात्मकत्वमनेकात्मकत्वं च जीवस्य साधयति तदन्यतरापाये अनेक वाग्विज्ञानविषयत्वाद्यनुपपत्तेः। तदनुपपत्तौ सत्त्वानुपपत्तेश्च जीवतत्त्वाव्यवस्थितिप्रसंगात्।

तथा सत्त्वहेतुकी पुष्टि करनेवाले उक्त कथनसे अनेक शक्ति प्रचितत्व, वस्त्वंतरसम्बन्ध्याविर्भूतानेकसम्बन्धिरूपत्व, अन्यापेक्षानेकरूपोत्कर्षापकर्षपरिणतगुणसम्बन्धित्व, अतीतानागतवर्तमानकालसम्बन्धित्व, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्व, अन्वयव्यतिरेकात्मकत्व इन हेतुओंका भी समर्थन कर दिया गया है। भावार्थः-घृतमें अनेक शक्तियां हैं। घीका खा लेना शरीरको चिकना करता है, तृप्ति करता है, शरीरको बढाता है, चरक संहितामें लिखा है। "स्मृतिबुद्ध्यग्निशुक्रौजः कफमेदो विवर्द्धनं। वातपित्तविषोन्माद शोषालक्ष्मीज्वरापहम्॥ १॥ सर्वस्नेहोत्तमं शीतं मधुरं रसपाकयोः। सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत्। २॥ अथवा अग्नि जैसे दाह, पाक, शोष, स्फोट, आदि अनेक कार्योंको करनेकी स्वात्मभूत शक्तियोंसे खचित हो रहीं है। उसी प्रकार आत्मा चैतन्य, वीर्य, आनन्द, सम्यग्दर्शन आदि गुण स्वरूप शक्तियों करके अथवा सामायिक, ध्यान, अध्यापन, दान, उपभोग, सत्य, ब्रह्मचर्य, योग, पर्याप्ति आदि पर्याय स्वरूप शक्तियोंकरके पिण्डभूत हो रहा है। अतः एक अनेकात्मक है।

तथा जिस प्रकार एक घट दूरवर्ती, निकटवर्त्ती, नवीन, पुराना, देवदत्तसे बनाया गया, यज्ञदत्त का स्वामिपना, आदि न्यारे न्यारे वस्तुओंके सम्बन्धसे अनेक सम्बन्धी स्वरूप प्रकट है, उसी प्रकार आर्यक्षेत्र, म्लेच्छस्थान, पंचमकाल, द्रव्यसहितपना, स्त्रीपुत्रसहितपना, पंचेन्द्रियता, श्रेष्ठकुल, यशः, सुगुरु, कुगुरु, कुभोजन आदि अनेक वस्तुओंके सम्बन्धसे यह आत्मा अनेक सम्बन्धी स्वरूप हो रहा है। इस हेतुसे आत्मका सत्त्वपना सधता हुआ एकानेकात्मकपनको साध देता है। एवं जैसे एक घडा अन्य व्यंजक पदार्थोंकी अपेक्षासे व्यंग्य हो रहा अनेक स्वरूप उत्कर्ष, अपकर्ष परिणतिको धार रहे रूपादि गुणोंका सम्बन्धी हो जानेसे एकानेकात्मक है, उसी प्रकार आत्मा संख्यात, असंख्यात, अनन्ते, उत्कर्ष अपकर्ष आत्मक परिणतिवाले गुणोंका सम्बन्धी होनेसे एकानेकात्मक है तथा यह अनादि अनिधन आत्मा अतीत अनागत, वर्तमान कालोंका सम्बन्धी होनेसे एकानेकात्मक है। अर्थात्- भूतकालकी स्वकीय पर्यायोंसे सम्बन्धी हो चुका है। वर्तमान कालीन पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहा है और भविष्यकालीन निज पर्यायोंके साथ संसर्ग करेगा। बनारसमें गंगा जलको देखनेवाला यों कह देता है, यह जल कानपुरमें बह चुका है, यहां बह रहा है, पटनामें बहेगा। इस प्रकार एक आत्मामें अनेक कालवर्ती परिणतियोंका संसर्ग होते रहनेसे एकानेकात्मकपना है। गम्भीर दृष्टिसे विचार किया जाय तो तीनों कालकी परिणतियोंका किसी भी कालके परिणामपर स्थूल या सूक्ष्म संस्कार बना रहता है। " होनहार विरवानके होत चीकने पात " "पूतके लक्षण पालनेमें ही दीख जाते हैं " ये किंवदन्तियां व्यर्थ नहीं है। " तादृशी जायते बुद्धिर्यादृशी भवितव्यता " यह शिक्षा रहस्यसे रीती नहीं है। बाल्य अवस्थाका पुष्ट, गरिष्ठ भोजन वृद्ध अवस्थातक प्रभाव डालता है। व्यायाम करनेवालेका शरीर अन्ततक दृढ बना रहता है, छोटे हृदयका पुरुष धनवान् होजानेपर भी तुच्छताको नहीं छोडता है। जब कि महामना, उदात्त पुरुष कैसे भी अवस्थामें अपने बडप्पनको विना प्रयत्नके बनाये रखता है। भविष्यमें आंधी या मेघवृष्टि आनेवाली है इसका पूर्वज्ञान वर्तमानमें हो रही पृथिवी, वायु, जल, आदिकी सूक्ष्म परिणतियों अनुसार कीट, पतंग, पशु, पक्षियोंतकको हो जाता है। जहां मनुष्य या तिर्यंचोंका उपद्रव नहीं हुआ, नहीं होरहा है, नहीं होगा, ऐसे स्थलकी परीक्षा कर झींगुर, बर्र, मकडी, मोहार, खटमल, भौंरी, आदि कीट निवासस्थानोंको बनाते हैं। उनमें यहां वहांसे कीट या अन्य पुद्गल लाकर रखते हैं। बच्चोंका शरीर बनाते हैं, इत्यादि अर्थक्रियाओंसे सिद्ध है कि असंख्यात अनन्त वर्षोंतक की पहिली पीछी, पर्यायोंका चाहे किसी भी एक पर्यायपर थोडा प्रभाव उद्रिक्त रहता है। तभी तो अनन्तानुबन्धी कषायकी वासना अनन्तभवोंतक चली जाती है। मोक्ष होनेके पहिले अर्ध पुद्गलपरिवर्तनकाल आदिमें हुये सम्यग्दर्शन परिणामकी मध्यके अनन्त भवोंमें कुछ अनिर्वचनीय वासना छाई रहती है। शब्दकी उत्पादक स्थानसे सैकडों हजारों कोसतक लहरें उठ बैठती हैं। हंसना, मूतना, भोजन करना, शयन करना इन क्रियाओंमें कितनी ही आगे पीछे तक वैसी वैसी परिणति होती रहती हैं। चेतन और अचेतन पदार्थोंकी वर्तमानकालीन परिणतिको देखकर वैद्य या ज्योतिषीय विद्वान् भूत, भविष्यकी परिणतियोंका परिज्ञान करलेते हैं।

बात यह है कि जैनसिद्धांत अनुसार द्रव्यको नित्य माना गया है। इसमें बडा अच्छा रहस्य है। किसी भी पर्यायसे आक्रांत हो रहा द्रव्य अपने परिवारकी शक्तियोंपर अभिमान कर रहा सदा सर्वत्र अन्वित हो रहा है। जैसे कि पचास लाख रुपयोंके अधिपति सेठकी बीस दुकानोंमें किसी भी दुकानपर विशेष समस्याकी अवस्थामें पचास लाखका उत्तरदायित्व झेल लिया जाता है, उसी प्रकार द्रव्यको भूत, वर्तमान, भविष्यकालीन चाहे किसी भी पर्यायमें अनाद्यनन्त द्रव्य अन्वित रहता है। एक एक पर्यायमें अनन्तानन्त स्वभाव विद्यमान हैं। जितना गहरा प्रविष्ट होकरके देखेंगे उतना ही अटूट धन दीख जावेगा। यों एक वस्तुमें तीनों काल सम्बन्धी परिणामोंकी अपेक्षा अनेकात्मकपना है। तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्योंसे युक्त होनेके कारण एक द्रव्य अनेकात्मक है। एक वस्तुमें अनेक उत्पाद हो रहे हैं, उतने ही विनाश हो रहे हैं, स्थितियां भी उतनी ही अनन्तानन्त हैं। उत्पन्न, उत्पद्यमान, उत्पत्स्यमान, आदि भेदोंसे अनेक चमत्कार वस्तुमें हो रहे हैं। वस्तुके संपूर्ण अन्तरंग बहिरंग अभिनयोंको सर्वज्ञदेव जानते हैं। घडा उपजता है, कुशूल विनशता है, मट्टी ध्रुव है, बाल्य अवस्था नष्ट होती है, युवा अवस्था उपजती है। मनुष्यपना स्थिर है, ऐसे स्थूल उत्पाद आदिको गमारतक जानते हैं। इसी प्रकार अन्वय, व्यतिरेक, स्वरूप होनेसे आत्मा एकानेकात्मक है। जीवत्व, ज्ञातापन, दृष्टापन, भोक्तापन, आदि स्वभावोंकरके अन्वय बन रहा है, और वचन विज्ञानोंद्वारा व्यावृत्तिके विषयभूत स्वभाव या जायेत, अस्ति, आदि धर्म, गति, इंद्रिय, काय, इन विलक्षण परिणतियोंसे आत्मा व्यतिरेक स्वरूप है। इस प्रकार विपक्षमें बाधक प्रमाणोंको दिखलाते हुए अनेक शक्ति प्रचितत्व आदि हेतुओंकी एकानेकात्मपन साध्यके साथ व्याप्तिका समर्थन किया जा चुका है। क्योंकि वे "अनेकवाग्विज्ञानविषयत्व" आदिक तो जन्म आदि छह विकारोंके प्रपंच स्वरूप हैं। अतः इनको सत्त्वका व्यापकपना बन जाता। सत्त्वके साथ हो रही अन्यथानुपपत्ति करके प्रसिद्ध हो रहे वह सब हेतु जीव के एकानेकात्मकपनको साथ देते हैं। उन सत्त्व या एकानेकात्मकपन दोनों मेंसे किसी एकका भी अभाव मानने पर "अनेकवाग्विज्ञानविषयत्व" आदि हेतुओंकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी और उस अनेक वचनों या अनेक विज्ञानोंकी गोचरता आदिकी सिद्धि नहीं होने पर सत्त्वकी असिद्धि होजानेसे जीव तत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकनेका प्रसंग आवेगा।

तत्र जन्मादि विकारप्रपंचस्याविद्योपकल्पितत्वे क्रमाक्रमयोरप्यविद्योपकल्पितत्वप्रसक्तिः। ततश्चार्थक्रियाप्यविद्याविजृंभितैवेति न सत्त्वं परमार्थतः प्रसिद्धेत्। तत एव संविन्मात्रं तत्त्वमित्ययुक्तं, तस्य ब्रह्माद्यद्वैतवदप्रतीतेरिति प्रपंचेन समर्थितत्वात्। नानैकात्मतया प्रतीतेरंतर्बहिश्च सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्वसिद्धेश्च सिद्धौ नानैकात्मको जीवः।

उन जीव वस्तुओमें जन्म, अस्तित्व, आदि विकारोंके प्रपंचको यदि बौद्ध मिथ्याज्ञान होरही अविद्यासे कल्पना किया जा रहा मानेंगे, तब तो क्रम और अक्रमको भी अविद्यासे उपकल्पित होनेका प्रसंग आवेगा और उससे फिर अर्थक्रिया भी अविद्याकी ही चेष्टा समझी जावेगी। इस प्रकार परमार्थरूपसे जीवमें सत्पना प्रसिद्ध नहीं हो सकेगा। व्यापक ही यदि मनगढन्त है

तो व्याप्य अवश्य झूंठी कल्पनाका विषय माना जावेगा। इस सद्भाग्यसे मिले हुए अवसरपर योगाचार बौद्ध यदि यों कहे कि तिस ही कारणसे यानी जन्म, क्रम, अक्रम, अर्थक्रिया, आदि बहिर्भूत पदार्थोंकी ठीक ठीक सत्ता नहीं बन सकनेसे हम अंतरंग शुद्ध सम्वेदनको ही वस्तुभूत तत्त्व मानते हैं, कार्य कारण, आधार आधेय, इत्यादि सब व्यर्थका झगडा है। आचार्य कहते हैं यह केवल सम्वेदनाद्वैतका स्वीकार कर लेना भी युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, आदिके समान उस सम्वेदनाद्वैतकी भी कदाचित् प्रतीति नहीं होती है। इस बातका हम पूर्व प्रकरणोंमें विस्तार करके समर्थन कर चुके हैं। वहां देख लो। यहां यह कहना है कि सभी आत्मा आदि और सभी घट आदि अन्तरंग, बहिरंग, पदार्थोंकी एक अनेकात्मकस्वरूपसे प्रतीति हो रही है तथा बाधकप्रमाणोंके असम्भवका अच्छा निश्चय हो चुकना सिद्ध है। अतः यों अनेक धर्मोंके साथ तादात्म्य सिद्ध हो जानेपर जीव एक अनेक आत्मक हो रहा सिद्ध हो जाता है।

ततः स्वतत्त्वादिविशेषचिंतनं घटेत जीवस्य नयप्रमाणतः।
क्रमाद्यनेकांततया व्यवस्थितेरिहोदितन्यायबलेन तत्त्वतः ॥१४॥

तिस कारण जीवके निज तत्त्व आदि विशेषोंका चिन्तन करना नयों और प्रमाणोंसे घटित हो जावेगा। क्योंकि क्रम अक्रम अर्थक्रिया आदि करके अनेकान्त रूपसे जीवकी व्यवस्था हो रही है। इस अनेकान्तका यथार्थरूपसे कहे जा चुके न्यायकी सामर्थ्यसे यहां चौथे अध्यायमें प्रकरण अनुसार विवेचन कर दिया गया है।

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम्।

इस प्रकार चौथे अध्यायका दूसरा आन्हिक यहांतक समाप्त हो चुका है।

—०—

यहां विशेष यों कहना है कि राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धिमें "लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्" इस सूत्रकी व्याख्या की है। मुद्रित श्लोकवार्तिकमें "तदष्टभागोऽपरा" इस सूत्रपर चौदहवार्तिकोंको बनाकर विवरण करते हुए श्री विद्यानन्द आचार्यने पश्चात् चौथे अध्यायको समाप्त कर दिया है। लिखित पुस्तकमें बारहवीं वार्तिकके प्रथम त्रुटिका चिन्ह देकर "लोकान्तिकानां" इस सूत्रको लिखा है। किन्तु वह पीछे क्षेपण किया हुआ प्रतीत होता है। "तदष्टभागोऽपरा" इस सूत्रकी चौदह वार्त्तिक और उनके विवरणमें कहीं भी ऐसा स्थान नहीं मिलता है जहां कि "लौकांतिकानाम्" इस सूत्रको डाल दिया जाय, पहिले पीछेके प्रकरण पूर्वापर सगतिके लिये हुये जकड रहे हैं। ग्यारहवीं और बारहवीं वार्त्तिकके बीचमें इस सूत्रको घुसेडना कथमपि शोभा नहीं देता है। क्योंकि पहिले ग्यारहवी वार्तिकमें नित्यैकान्त वादी सांख्यको आत्माके छह विकारोंका होना समझाकर लगे हाथ बारहवीं कारिकामे क्षणिकवादी बौद्धोंको भी आत्माके छह विकार होना समझानेका प्रकरण चलाया है। अतः यहां लौकान्तिक, सूत्रका डालना अशोभन जचता है। वार्त्तिकोंकी संख्याके अंक भी ठीक आ रहे हैं। यदि मध्यमें सूत्र पड जाता तो वार्तिकोंकी

गणनाके अंक बदल जाते। अनेकान्त सिद्धिके प्रकरणका आरम्भ होनेके प्रथम "व्यभिचार वर्जितत्वासम्भवात्" इस पंक्तिके परली ओर यह सूत्र डालना उचित जचता है। किन्तु यहां भी पूर्व प्रकरणके कर्मवैचित्र्यकी संगति जुड रही होनेसे स्वल्प भी स्थान दृष्टिगोचर नहीं होता है। अतः अनुमित होता है कि यह सूत्र मूलसूत्ररूपसे विद्यानंद स्वामीको अभीष्ट नहीं है। लौकान्तिकानां इत्यादि सूत्रकी अपेक्षा "तदष्टभागोऽपरा" इस सूत्रमें अनेकान्तकी सिद्धि करना अच्छा जचता है, ग्रन्थकारने ऐसा ही ढंग भी डाला है। श्रुतसागरस्वामीने भी इसको मूलसूत्रमें परिगणित नहीं कर टीकामें "तथा च विशेषः लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषां, ये लौकान्तिकास्ते विशेषेण शुक्ललेश्याः पंचहस्तोन्नताः अष्टसागरोपमस्थितयः इति" यों लिख दिया है। जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धिमें या राजवार्तिकमें इस सूत्रका अवतरण दिया गया है, अथवा श्रुतसागर स्वामीने जिस प्रकार अन्य सूत्रोंका अवतरण दिया है, उस प्रकार इस सूत्रका अवतरण नहीं दिया है। ये श्रुतसागर सूरि तत्त्वार्थसूत्रकी टीका करते हुए प्रत्येक अध्यायके अन्तमें और यहां भी "सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य श्रीविद्यानन्दिदेवस्य संछिद्दितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रुतसागरेण सूरिणा विरचितायां श्लोकवार्तिकराजवार्तिकसर्वार्थसिद्धि न्यायकुमुदचन्द्रोदय प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रचण्डाष्टसहस्रीप्रमुखग्रन्थसन्दर्भनिर्भरावलोकनबुद्धि-विरचितायां तत्त्वार्थटीकायां चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः"। यों लिखकर अपनेको राजवार्तिक, श्लोक-वार्तिक आदि ग्रन्थोंका अन्तःप्रवेशी ज्ञाता प्रकट करते हैं। अस्तु कोई विरोध नहीं होनेसे उस त्रुटिको यहां भाषा अर्थ करते हुए अविकल उद्धृत कर दिया जाता है। सम्भव है कि यह श्री विद्यानन्द स्वामीकी कृति होय "ब्रह्मलोकालया" आदि इन दो सूत्रोंमें जैसे लौकान्ति-कोंका स्वतंत्र निरूपण किया है, उसी प्रकार स्थितिके प्रकरणमें सूत्रकारने यह सूत्र भी पढ दिया होय। इस विषयपर विशेषज्ञ विद्वान् और अधिक प्रकाश डाल सकते हैं।

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्।

सम्पूर्ण लौकान्तिक देवोंकी आठ सागरोम स्थिति है।

लौकान्तिकसुराणां च सर्वेषां सागराणि वै।
अष्टावपि विजानीयात्स्थितिरेषा प्रकीर्त्तिता ॥ १ ॥

सम्पूर्ण लौकान्तिक देवोंकी स्थिति भी आठ सागरकी निर्णीत हो रही विशेषतया जान लेनी चाहिये। यों यहांतक स्थितिका बढिया कीर्तन कर दिया गया है।

लौकान्तिकदेवानां समस्तानां सदैव अष्टौ सागराणि स्थितिर्व्यभिचारवर्जिता ज्ञातव्या।

सम्पूर्ण लौकान्तिक देवोंकी सदैव आठ सागरकी स्थिति है जो कि व्यभिचार दोषोंसे रहित हो रही जान लेनी चाहिये। जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति आठ ही सागरकी है। लोकान्तिक देव विशेषताओंसे रहित हो रहे सब एकसे हैं। पांच हाथ ऊंचा इनका शरीर है। शुक्ल लेश्यावाले हैं। त्रिलोकसारमें "चोद्दसपुव्वधरा पडिवोहपरा तित्थयरविणिक्कमणे। एदेसिमट्ठजलहिट्ठिदी अरिट्ठस्स णव चेव ॥ ५४० ॥" इस गाथाद्वारा अरिष्ट जातिके लौकान्तिकोंकी नौ सागरोपम स्थिति कही है।

इति श्रीविद्यानन्दि आचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे
चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यविरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थमें चौथा अध्याय परिसमाप्त हुआ।

—०—

इस चतुर्थ अध्यायके प्रकरणोंकी सारणी संक्षेपसे इस प्रकार है। प्रथम ही देवोंकी चार ही निकायोंको पुष्ट कर आधार नहीं कह कर देवोंका ही कथन करनेमें सूत्रकारका अभिप्राय दिखलाया है। तीन निकायकी लेश्याओंको साधकर कल्पोपपन्नोंमें इंद्रादि भेदोंका अंतरंग कारण कर्मोंकरके होना कहा है। व्यन्तर और ज्योतिषियोंकी विशेषताओंको बताते हुये प्रवीचारोंकी हीनता होनेमें पुण्यके उत्कर्षको प्रधानकारण सिद्ध किया है। तभी तो उपरिमदेव प्रवीचाररहित हैं। भवनवासी व्यन्तरोंके विशेष भेद भी कर्मोदयजनित कहे गये हैं। मांस आदिका भक्षण देवोंमें नहीं है। शब्दनिरुक्तिद्वारा इनके आधार विशेषोंकी प्रतिपत्ति करादी है ज्योतिष्कदेव कर्मोंके आधीन होकर सूर्यविमान चंद्रविमान आदि अनेक विमानोंमें स्थिति कर रहे बताये हैं। कुछ ताराओंको छोडकर मनुष्यलोक सम्बन्धी सभी ज्योतिष्क विमान मेरुकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। यहांसे सात सौ नब्बे योजन ऊंचे स्थानसे प्रारम्भकर एकसौ दस योजन मोटे और एक राजू लम्बे चौडे आकाशमें ज्योतिष्क विमानोंका सद्भाव है। नीचे, ऊपर, भीतर बाहर विराज रहे विमानोंका क्रम दरशा दिया है। "छक्कदिणवतीससयं दससयसहस्सं खवार इगिदालं। गयणति दुगतेवण्णं थिरतारापुक्खरदलोत्ति"। जम्बूद्वीपमें छत्तीस, लवण समुद्रमें एक सौ उनतालीस, धातकी खण्डमें एक हजार दस, कालोदक समुद्रमें इकतालीस हजार एकसौ बीस, और पुष्करार्धमें त्रेपन हजार दो सौ तीस स्थिर तारे हैं। इनके अतिरिक्त ढाई द्वीपमें सम्पूर्ण ज्योतिष चक्र सुदर्शन मेरुकी सदा अपनी नियत गति अनुसार प्रदक्षिणा किया करते हैं। एक चन्द्रमा सम्बन्धी एक सूर्य अट्ठाईस नक्षत्र अट्ठाईस ग्रह और छयासठि संख, सतानवें पद्म, पचास नील, ६६९७५०००००००००००० तारे हैं। एकसौ बत्तीस चन्द्रमा सम्बन्धी इतना इतना ही परिवार ढाई द्वीपमें समझ लेना चाहिये। स्वामीजीने भूमीके भ्रमणका अच्छा खंडन कर नक्षत्र मण्डलकी स्थिरताका प्रत्याख्यान किया है। पृथिवीके विदारण होनेका बडा चम-

त्कारक प्रसंग दिया गया है। ग्यारह सौ बीस योजन पृथिवीकी चौडाई या इससे कुछ कमती बढती नहीं सकती है। यहां नदियोंके प्रभव स्थान और प्रवाह मार्ग अनुसार भूगोलका अच्छा निराकरण किया गया है। और भी अनेक युक्तियां दी हैं। काल आदिके वश भूमीके नीचे, ऊंचे आकार भी जैनोंके यहां माने गये बताये है। जो मनुष्य कुयेमें नीचे ठहरा हुआ है। उस को दुपहरके समय घण्टे दो घण्टे का ही दिन भासता है। गुफा या तिरछी भूमिमें निवास कर रहा मनुष्य वर्षों या महीनोंतक सूर्य दर्शन नहीं कर सकता है। सूर्यके उत्तरायण या दक्षिणायन होनेपर अनेक स्थलोंपर विभिन्न जातिके दिन रात हो जानेका प्रकरण मिल जाता है। जहाजका ऊपरला भाग दिखनेसे या उदय, अस्त, होनेकी वेलापर भूमीसे लगे हुए सूर्यका दर्शन होनेसे पृथिवीको गोल मानना कोरी बालबुद्धि है। क्या आकाशको या स्वच्छजलको नीला देख लेनेसे उनमें नीलरंग घुला हुआ मान लिया जावेगा? कभी नहीं। देखो हम लोगोंकी आंखोंमें भी कतिपय दोष हैं जिससे कि नाना प्रकार भ्रान्तियां हो जाती हैं। दूर देशतक ऊंचा उडता जा रहा पक्षी भी हमें नीचे उतरता हुआ सारिखा दीखता है। किन्तु ऐसा नहीं है। दस पांच कोस लम्बे चौडे एक तिकोने या चौकोने चौंतरापर बीचमें खडा होकर देखनेसे चारों ओर गोल दीखता है। किन्तु एतावता वह चौंकोर चौंतरा कथमपि गोल नहीं हो जावेगा। यदि पृथिवी गोल घूमती हुई मानी जावेगी तो पक्षी उडकर अपने घोसलेपर नहीं आ सकेगा। क्योंकि उसकी छोडी हुई पृथिवी तबतक सैंकडो मील दूर घूम जावेगी। इसके लिए पचास मील या इससे भी कमती बढती वायुका भी भ्रमण पृथिवीके साथ स्वीकार करोगे तो वेगसे चल रही वायुके साथ धुआं या आककी रूईकी क्या दशा होगी। मसाल या दीपककी सीधी लौ नहीं उठ सकेगी। टिमटिमाता हुआ दीपक झट बुझ जायगा। तोपसें निकले हुए बलवान् गोलेको पृथिवी अपने साथ वायुकी सहायतासे ले जाय। किन्तु फटूंदा या छोडे हुए बारूदके बाणके फुलिंगोंपर अपना प्रभाव नहीं जमा देवें यह आश्चर्य है। जो वायु रूई या फुफूंदेको पृथिवी के साथ पूर्वको ले जानेमें समर्थ नहीं है। वह वेगसे दौड रहे डेल या गोलीको कथमपि पृथिवी के साथ नहीं ले जा सकता है। कदाचित् हुए स्वल्प भूकम्पसे शरीर, हृदय, मस्तिष्कमें चक्कर आने लगते हैं। जो इतने प्रबल भूमि भ्रमणसे मानव, पशु, पक्षिओंकी क्या दशा होगी? इसका अनुमान लगाना ही भयंकर है। आकर्षण शक्तिका भी खण्डन हो जाता है। समुद्रका इतना लम्बा चौडा जल केवल आकर्षण शक्तिसे नहीं डटा या चुपटा रह सकता है। हरिद्वारसे कलकत्तेको जारही गंगा नदी आकर्षण शक्तिवश गोल पृथिवी पर उलटी भी बह जाय तो कोन रोक सकता है। गोल पृथिवीपर जैसे हरिद्वारसे कलकत्ता नीचा है। उसी प्रकार कलकत्तेसे हरिद्वार भी नीचा सम्भवता है। अमेरिकासे नीचे भारत वर्षका या भारतवर्षसे नीचे अमेरिकाका आकर्षणवश पृथिवीसे चुपटा रहना कहना असम्भव है। गुरुत्व धर्मके वश भारी पदार्थ सब नीचे गिर पडेंगे। चुम्बक या लोहेका दृष्टान्त सर्वत्र पुद्गलोंमें लागू नहीं होता है। एक वृक्षसे सेवफलका पृथिवीपर गिरना देखकर भूमिमें आकर्षण शक्तिकी न्यूटन पंडितद्वारा कल्पना करना बच्चोंका खेल है। हम आकर्षणका खण्डन नहीं

करते हैं। किन्तु समुद्रका धारण पृथिवी आदि अनेक मण्डलोंका भ्रमण केवल आकर्षण शक्ति से नहीं हो सकते हैं। इस बातपर बल देते हैं। वस्तुतः ज्योतिश्चक्रके भ्रमणसे ही छाया हानि, छायावृद्धि, सूर्यका भूमिसंलग्न होकर दीख जाना, ये सब बन जाते हैं। भूमिमें भी अनेक प्रकारके नैमित्तिक परिणामोंको उपजानेकी शक्ति विद्यमान है। इसके आगे ग्रन्थकारने समरात्र होना आदिको पुष्ट करते हुये सूर्यके एकसौ चौरासी मण्डल बताये हैं। मुहूर्तकी गतिका क्षेत्र तथा उत्तर, दक्षिण, की ओर होरहे उदयके प्रतिमासोंको घटित किया है। अभ्यन्तर मण्डल और बाह्यमण्डलोंपर दिन रातके कमती, बढती हो जानेको साधा है। यहां प्रतिवादियोंके हेतुओंका अच्छा खण्डन किया है। छायाका घटना, बढना कोई भूमीके गोल आकारको नहीं साध देता है। क्षेत्रकी वृद्धिको युक्तियोंसे साधा गया है। सूर्यग्रहणका अच्छा विचार है। छोटीसी पृथिवीकी छाया सूर्य या चन्द्रमापर कुछ प्रभाव नहीं डाल सकती है। छोटेसे खंडको भूमिसे सूरजकी ओर जितना भी बढा दिया जावेगा, त्यों त्यों उसकी छाया नष्ट होती जाती है। ऐसी दशामें सूर्यके निमित्तसे भूमिकी छाया पडना असमंजस है। ग्रहणके अवसरपर उपराग पडना ठीक है। किन्तु वह अधःस्थित राहुके विमानसे कार्य सम्पन्न हो जाता है। पृथिवीकी छायासे चन्द्रग्रहण और चन्द्रकी छायासे सूर्यग्रहण पडना मानना परीक्षाकी कसोटी पर नहीं कसा जा सकता है। सूर्य आदिके विमान मणिमय अकृत्रिम बने हुये हैं। राहु या केतु का पौराणिक कथानक झूंठा है। ढाई द्वीपके ज्योतिष्क विमान आभियोग्य देवोंद्वारा ढोये जाते हैं। पूर्वरक्षी विद्वानोंके भूमीको गोल साधनेमें दिये गये हेतु दूषित हैं। सर्वत्र समतल और क्वचित् नीची, ऊंची, भूमिमें ज्योतिषचक्रकी गतियोंके वश हो रहे समरात्र आदिक सब बन जाते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण और आप्तोपज्ञ आगमसे विरुद्ध मनगढन्त सिद्धान्तका प्रतिपादन करना केवल कुछ दिनोंतक कतिपय श्रद्धालुओंद्वारा मान्य भले ही हो जाय किन्तु सदा सर्वत्र सबके लिये अबाधित नहीं है। किसीने कुछ कह दिया और कदाचित् किसी पण्डितने अन्यथा प्रतिपादन कर दिया, ऐसे क्षणिक मत जुगनूके समान भला स्याद्वाद सिद्धांत सूर्यके सन्मुख कितने दिन ठहर सकेंगे ? स्वयं उन्हीं लोगोंमें परस्पर अनेक पूर्वापर विरोध उठा दिये जाते हैं। अनेकान्तकी सर्वत्र विजय है। तदनन्तर गतिमान् ज्योतिष्कोंद्वारा किये गये व्यवहार काल को साधा है। व्यवहारकालद्वारा मुख्यकालका निर्णय करा दिया है। ढाई द्वीपके बाहर असंख्याते सूर्य, चन्द्रमा, या अन्य विमान जहांके तहां अवस्थित बता दिये हैं। चौथी निकाय वैमानिकोंका वर्णन करते हुए कर्मोदयके वश कल्पोपन्न और कल्पातीत देवोंका विन्यास बताया है। नव शब्दकी वृत्ति नहीं करनेसे अनुदिशोंको सूचित किया है। उत्तरोत्तर स्थिति आदिकोंसे अधिकता और गति आदिकसे हीनताको युक्तियों द्वारा साध दिया है। वैमानिकोंमें लेश्याका निरूपण करते हुये निर्देश आदि सोलह अधिकारोंकरके कृष्णादि लेश्याओंका आम्नाय अनुसार निरूपण किया है। एक भवतारी लौकान्तिक देव और द्विचरिम वैमानिकोंका स्वतंत्रतया निरूपण कर चौथे अध्यायके पहिले आन्हिकको समाप्त किया है। इसके आगे तिर्यंचोंकी व्यवस्था कर देव और नारकियोंकी जघन्य, उत्कृष्ट, स्थितियोंका निरूपण करते हुये कर्मोंकी विचित्रता

अनुसार स्थितियोंकी विचित्रता बताई गयी है । श्री अकलंकदेव महाराजने चौथे अध्यायके अन्तमें राजवार्तिकमें जैसे अनेकान्तका विस्तृत निरूपण किया है, इसी प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यने एक एक द्रव्यको नाना स्वभाव आत्मक साधा है । जन्म अस्तित्व आदि छह विकारोंको सम्पूर्ण पदार्थ धारते हैं । " अभावविलक्षणत्व हेतुका अच्छा विचार किया है । नित्यैकान्त और क्षणिक एकान्तका खण्डनकर द्रव्य, पर्याय, आत्मक वस्तुका नित्यानित्यात्मकपना प्रसिद्ध किया गया है । अन्य भी कतिपय अकलंक हेतुओंसे जीवतत्त्वका एक अनेकात्मकपना साधते हुए चौथे अध्यायतक नय प्रमाणोंद्वारा जीवतत्त्वकी व्यवस्था कर दी गयी समझाई है । चौथे अध्यायके छोटेसे द्वितीय आन्हिकको पूर्ण किया है । 'लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषां' यह सूत्र उमास्वामिकृत है । इस विषयमें श्री विद्यानन्द आचार्यका विशेष आदर नहीं अनुमित होता है । यों तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार महान् ग्रन्थमें दो आन्हिकोद्वारा चौथे अध्यायकी समाप्ति श्री कर दी है ।

लेश्येन्द्रियादिकल्पनास्थितिवपुःसम्याद्यदृष्टस्थली-
संसारस्थचतुर्णिकायसरणो नानास्वभावस्थंचितः ॥
जन्मास्त्यादिविकारभृद्बहुवचो विज्ञानदृग्गोचरोऽ ।
ध्याये तुर्य इलाहितैर्निगदितो जीवः स्युमास्वामिभिः ॥ १ ॥
दृग्ज्ञाननयभावाङ्गभेदवल्लोकसंस्थितं ।
सूत्रितं चतुरध्याय्यां जीवतत्त्वं प्रभेदभृत् ॥ २ ॥

इति श्री विद्यानंदिआचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे
चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

समाप्तोयं पंचमो भागः ।

तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारांतर्गतश्लोकसूची·

—० पंचम खंड ०—

श्लोक	पृष्ठ नं.
अ	
अंत्यं निरूपभोगत्वात्	२४२
अस संगदयः प्रोक्ता	३१२
अनादिपरिणामोस्ति	४२
अनादिमूर्तिभिस्तस्य	४१६
अनित्यो भावबोधश्चेत्	१७६
अनुद्भूतस्वसामर्थ्य	४
अन्यथाभावहेतूनां	३१
अविग्रहा गतिस्तत्र	१९३
अव्याघातिस्वरूपत्वात्	२४९
अष्टभेदा विनिर्दिष्टा	५४०
असंप्राप्तसंयः क्षेत्रा	३७४
अस्रौपपादिकादीनां	२५९
अस्मात्समाद्धराभागात्	५४७
अनंतभेदमासां स्यात्	६२७
आ	
आत्यंतिकक्षयो ज्ञान	१८
आत्मपुद्गलपर्याय	१६१
आद्यं तु सोपभोगाख्यं	२४२
आद्यातु स्कंधभेदेच्छा	६३२
आनतप्राणतद्वंद्वं	६०७
आस्रस्यादिस्तु नीलाया	६३२
आर्षोपदेशतः सिद्धाः	६३३
इ	
इतींद्रियाणि भेदेन	१४८
इति सूत्रद्वयेनाक्ष-	१५४
इति सूत्रत्रयेणाक्ष-	१६८
इति स्वतत्वादिविशेषरूपतो	१६९
इति निग्रह संप्राप्त्यै	१९८
इत्येवं पंचभिः सूत्रैः	२११
इति सति वहिरंगे कारणे केपि मृत्यो	२७१
इति सूत्रद्वयेनाधो	३०३
इह प्रपचेन विचितनीयम्	३१४
इत्येके तदसंबंधं	४११
इति हेतोरसिद्धत्वं	४१७
इत्येके तदसंप्राप्तं	४४८
इति क्रियानुमानानां	४६९
इति कथितविशेषो	४९०
इंद्रादयो दशैतेषां	५१६
इत्येवं नवभिः सूत्रैः	५३४
इत्येकादशभिः सूत्रैः	६४५
इति संक्षेपतस्तिर्यग्	६४७
इति केचित्प्रछवस्ताः	६७१
आहारकं शरीरं तु	२४९
उ	
उक्तिरौदयिकस्यातः	७
उदयः फलकारित्वं	५
उपर्युपरि तद्धाम	६०१
उपर्युपरि ते हीना	६१६
ऊ	
ऊर्ध्वाधो भ्रमणं सर्वं	५५४

श्लोक	पृष्ठ न
ए	
एकं समयमात्मा द्वौ	१९६
एकका चाप्यसंख्येय	६२८
एतत्प्रयोजना भावाः	६
एतत्समुद्भवा भावाः	४३
एवं निश्शेष तत्त्वानां	५०
एवं सूत्रद्वयेनोक्तं	९९
एवं सूत्रत्रयोन्नीत–	३१०
एवमीशस्य हेतुत्व–	४३९
एवं सूत्रचतुष्टयात्	[illegible]
एवं विशुद्धिवृद्धौ स्यात्	६३१
एष एव नभो भागो	५४९
औ	
औपपादिकतासिद्धेः	२४३
क	
कथंचित्तु विरुद्धः स्यात्	४४३
कर्मोदये च तस्यैव	४७
कर्मैव कार्मणं तन्न	२२८
कर्मपुद्गलपर्यायो	२२९
कर्मभूमिभवा म्लेच्छा	३७६
कल्पाः प्रागेव ते बोध्याः	६३६
कषायोदयतो योग	३६
कार्मणांतर्गतं युक्तं	२३३
कार्यत्वं न तथा स्वेष्ट	४४८
कालादेरशरीरस्य	४०६
किंचिदौदारिकत्वेपि	२४४
कुर्वन्क्षित्यादि मूर्तीश्च	४१५
कूटस्थात्मकतापत्तेः	५०
कूटस्थोपि पुमान्नैव	१९७
कृत्स्नकर्मक्षयात्तावत्	४५

श्लोक	पृष्ठ नं.
कृतधीजनकं तद्धि	४१७
कृष्णादयोऽशुभास्तिस्रो	६२८
कृष्णा प्राथमिकक्लेश–	६२९
कृष्णोत्कृष्टांशकात्तु स्यात्	६३४
केवलं सुखमस्तीति	४१६
कालादिपर्ययस्यापि	४२२
ख	
खखंडभेदतः सिद्धा	५६४
ग	
गतिनामोदयादेव	३४
गतौ तु विग्रहार्थायां	१७३
गतिमत्वं पुनस्तस्य	१७४
गतिर्मुक्तस्य जीवस्य	१८७
गत्वा सुदूरमप्येवं	४१५
गत्यभावोपि चानिष्टं	५५१
गुर्वर्थस्याभिमुख्येन	२९४
ग्रैवेयकेषु नवसु	६०७
घ	
घनांबुपवनाकाश	२८३
घनानिलं प्रतिष्ठान	२८७
च	
चतुर्थेसमयेवश्यं	१९६
चतुर्दशभिरित्येवं	२५१
चानंतादि भागाद्वा	६३०
चरंति तादृशादृष्ट	५४९
चक्षुषा तानि वृद्धानि	१५७
चित्स्वभावतया तावत्	४९
चेतनत्व स्वभावत्व	४८
चतुर्ष्वपि निकायेषु	५११
ज	
जगतां नेश्वरो हेतुः	४०७
जन्मास्तित्वं परिणति	६६५

श्लोक	पृष्ठ नं.
जन्मादयः प्रधानस्य	६६९
जायंते ते विनश्यंति	६७१
जंबूद्वीपगवर्षादि	३६७
जीवस्यौदयिकाः सर्वे	४७
जीवाः पृथ्वीमुखास्तत्र	१२५
ज्योतिष्काः पंचधा दृष्टाः	५४४
ज्योतिःशास्त्रमतो युक्तं	५८४
ज्ञानावरणसामान्य	३५
त	
ततस्तु क्षायिकस्योक्तिः	७
ततो मत्यादिविज्ञान	२८
ततः स्याद्वादिनां सिद्धः	५०
ततः सप्तेति संख्यानं	३०१
ततो नैकांतिको हेतुः	४१८
ततः सूर्या दशोत्पत्य	५४८
ततः संसारिणो जीवाः	६६४
ततः स्वतत्वादिविशेषचिंतनं	६७६
तथा क्रोधादिभेदस्य	३४
तथा च नाशिनो भावाः	५०
तथैव पर्यंतैकांते	१५१
तथा भूमिप्रकाराणां	१५७
तथा संस्वेदजादीनां	२११
तथा तैजसमप्यत्र	२४६
तथा तैर्नारकैर्दुःखं	३०७
तथांतर्द्वीपजाः म्लेच्छाः	३७४
तथातः परिणामेन	६२८
तथा संक्रमतः साऽपि	६२९
तथैव कर्मतो लेश्याः	६३२
तथा लक्षणतो लेश्याः	६३२
तथा विशुद्धिहान्यां स्यात्	६३१
तथा द्विचरमाः प्रोक्ताः	६४४
तत्तद्धेतुकविज्ञान	१५७

श्लोक	पृष्ठ नं.
तत्र क्षयोद्भवो भावः	५२
तत्सद्रव्यमनो युक्तं	१६३
तत्क्षेत्रवासिनां नृणां	३५८
तत्र प्राप्तर्धयस्सप्त	३७१
तत्सामान्यविशेषस्य	४५७
तत्रापि व्यंतरा वर्ज्या	५१८
तत्कषायोदय स्थाने	६२८
तत्कृष्ण लेश्यतः स्थानात्	६३०
तत्र लौकांतिका देवा	६३७
तदत्यागे तु मोक्षस्य	४८
तदसंगतमादेश	४९
तद्वैचित्र्यं पुनः कर्म	२०५
तदादीनि शरीराणि	२३९
तदन्यतर दृष्टत्वात्	२६८
तद्घृतश्चांबुवातः स्यात्	२८६
तदप्ररूपणे जीव	३९९
तदयुक्तं महेशस्य	४२४
तद्भोक्तृप्राण्यदृष्टस्य	४२५
तदप्यपास्तमाचार्यैः	५५४
तद्विभागान्तथा मुख्यो	५८५
तनुवातः पुनर्व्योम	२८५
तन्निवासज्ञनादृष्ट	२८७
तन्मध्ये मेरुनाभिः स्यात्	३२१
तन्मध्ये योजनं प्रोक्तं	३३४
तन्निबंधनरक्षुण्णं	३९९
तयोपलक्षिताघाति	३४
त्रसास्ते स्थावराश्चापि	११६
त्रसाः पुनः समाख्याताः	१३१
तस्यापि योनयः संति	२०५
तस्य कार्पासपिंडेन	२२४
तस्यामेव तु षट्स्थान	६२९
तिर्यंचोऽशुभलेश्याया	३०४

श्लोक	पृष्ठ नं.
त्रिंशल्लक्षादिसंख्या च	३०२
त्रिवेदाः प्राणिनः शेषाः	२५५
त्रिष्वाद्येषु निकायेषु	५०९
त्रीणि त्रीणि बुधाः शुक्रा	५४८
तेषामात्यंतिकी हानिः	५
ते तिर्यग्योनिजानां च	३९६
ते स्पर्शादि प्रवीचाराः	५२७
तेभ्यस्तु परे काम	५३२
तेन्वर्थसंज्ञतां प्राप्ताः	६४२
तेनभिज्ञा घटादीनां	६६०
तेषां भावविकारत्वात्	६६९
तेषामौदयिकत्वेन	४९

द

दशवर्ष सहस्राणि	६५७
दशा सुरादयस्तत्र	५३७
द्वावौपशमिकौ भावौ	४६
द्विविधान्येव निर्वृत्ति	१३९
द्वितीये पाणिमुक्तायां	१९६
द्वीद्रा निकाययोर्देवाः	५२०
दृश्यमान समुद्रादि	२९३
दृष्टिमोहोदयात्पुंसो	३५
दृष्टक्षित्यादि हेतूनां	४२०
द्रव्यं गुणः क्रिया नास्य	४४८
द्वयोः सत्यत्वमिष्टं चेत्	२९५
द्रव्यादीनां भेदशब्देन	१०
देव्यः श्रीप्रमुखाः ख्याता	३३५
देशकाल विशेषाव-	४५७
देवाश्चतुर्णिकाया इ-	५०२
देवा कायप्रवीचारा	५२३
धीमद्धेतुत्वसामान्यं	४०८

श्लोक	पृष्ठ नं.
न	
न चैषां द्वंदनिर्देशः	९
न चाभव्यादिकालुष्य	१४
न च तत्प्रशमे किंचित्	१४
न चौपशमिकादीनां	४९
न च द्वीपसमुद्रादि	३९८
न चेत्तामिर्महेशेन	४१६
नन्वौपशमिकादीनां	४८
ननु द्वीपादयो धीमत्	४००
न तस्य पुद्गलत्वेन	४०६
नानात्मपरिणामाख्य	४०८
न देशे व्यतिरेकोस्ति	४२०
नाचरत्वाददृष्टस्य	४२२
नरकेषूदितेकादि	३१२
ननु यद्वद्घटादीनां	६६०
नानार्थकश्च शब्दोसौ	९
नानैकांतिकमप्येतत्	१९
नानादिभवसंभूत	१५९
नारका देहिनस्तत्र	२५३
नापर्याप्ता धराद्योपि	२९८
नाधोधो गतिर्वैचित्र्यं	३००
नाक्रोशतः पलायंते	४४३
नान्यथानुपपन्नत्वं	४७३
नासिद्धिर्मणिमुक्तादौ	४७४
नारकाणां च संक्षेपात्	६५६
निरवयमतः सूत्रं	९
निरुक्तिरर्थसामर्थ्याद्	६
निष्कुटक्षेत्रसंसिद्धेः	१९०
निर्दिष्टेभ्यस्तु शेषाणां	२१०
निमित्तहेतवस्त्वेते	३०७
नित्य सर्वगतामूर्तं	३८२

श्लोक	पृष्ठ नं.
निमित्तकारणं तेषां	४००
नित्यज्ञानत्वतो हेतुः	४०२
निरुक्त्यावासभेदस्य	५४६
नैकांतभेदभृत्सिद्धो	४५४
नैवं प्रयोतुरेकस्य	४६२
नोर्ध्वाधो भ्रमणं भूमेः	२८९
नानाक्षत्रविपाकीनि	३९८
प	
पद्मादयो ह्रदास्तेषां	३३१
परासु गमनाभावात्	३०९
परिवारनदीसंख्या	३४२
परावरे विनिर्दिष्टे	३९३
परापरशरीराणां	४११
पक्षत्यैवानुमानेन	४३९
पल्योपममतिरिक्तं	६५४
परेषामधिकं ज्ञेयं	६५८
प्रत्येकं भेदशब्दस्य	११
प्रज्ञानाद्यात्मका ह्येषा	४६
पंचेंद्रियाणि जीवस्य	१३४
परिणामी यथाकालं	१९८
प्रदेशतोल्पता तार	२२३
प्रबाध्यते प्रमाणेन	२६८
प्रभृतिः पद्मलेश्यायाः	६३२
प्रत्यंशकं समाख्याताः	६३३
पार्थिवादि शरीराणि	२३४
प्रागौपशमिकस्योक्तिः	७
प्राक्साधितात्र सर्वज्ञ	१९
प्राङ्मानुषोत्तराद्यस्मात्	३६९
प्राप्तर्द्धीतरभेदेन	३७१
पिंडिकछेदनेच्छा च	६३२

श्लोक	पृष्ठ नं.
पुंसि सम्यक्त्वचारित्र	१२
पूर्वापरायतास्तत्र	३२९
ब	
बोधो न वेधसो नित्यो	४०३
बुद्धिमद्धेतुकं यादृक्	४१७
बहिर्मनुष्यलोकांते	५९५
बिभ्रतेस्तित्वमेवेते	६६८
भ	
भरताद्या विदेहांताः	३९०
भव्याभव्यत्वयोर्जीव	४८
भवायुर्गतिभेदानां	६३४
भावेंद्रियाणि लब्ध्यात्म	१४१
भूभ्रमागमसत्यत्वे	२९५
भोग्यवासनया भोग्य	२३०
भोगभूम्यायुरुत्सेध	३७६
म	
मध्यमा स्थितिरेतेषां	३९३
मनोमात्रनिमित्तत्वात्	५३
मध्ये लेश्याचतुष्कस्य	६३१
मुक्तस्येव न युज्येत	४१२
मेरुप्रदक्षिणा नित्य	५५१
मरुतो धारकस्यापि	२९६
महेश्वर सिसृक्षाया	४२४
मनुष्यलोक संख्याया	३९७
य	
यथान्योन्याश्रयस्तद्वत्	४१८
यदागमं प्रपद्येन	६३४
यदानंतगुणा हानिः	६३०
युक्तो जरायुजादीनां	२०८

श्लोक	पृष्ठ नं.
येषां च चतुरस्रः स्यात्	१९१
ये ज्योतिष्काः स्मृता देवाः	५८५
यो यत्कालुष्यहेतुः स्यात्	१४
योजनानां शतान्यष्टौ	५४८
ल	
लब्धयः पंच तादृश्यः	२८
लक्ष्या संसारिणो जीवाः	१०१
लिंगं वेदोदयात् त्रेधा	३४
लेश्याः पीतादयस्तेषां	६२३
लेश्या निर्देशतः साध्याः	६२७
लोको कृत्रिम इत्येतत्	४७१
लौकांतिक सुराणां च	६७७
व	
वनस्पत्यंतजीवानां	१५६
वन्ह्यादिबुद्धिकारित्वं	४१७
वर्षवर्षधराबाध्य	३४८
वागादीनामतो भेदा	१३४
वास्यादीनि च तत्कर्तुं	४५६
विकारी पुरुषः सत्वात्	६७०
विभुः पुमानमूर्तत्वे	१७५
विश्वतश्चक्षुरित्यादेः	४७०
विशिष्टसन्निवेशं च	४७२
विशुद्धेरुत्तरास्तिस्रः	६२८
वृत्तमोहोदयात्पुंसो	३५
व्याख्याताश्चेश्वरेणैव	४२५
वैमानिका विमानेषु	५९८
विवादाध्यासितात्मानि	४५६
श	
शरीरमात्मनोदृष्टं	४१३
शुद्धिप्रकर्षमायाति	१९
शुद्धिर्ज्ञानादिकस्यात्र	१९

श्लोक	पृष्ट नं.
ष	
षोढा प्रक्रमयुक्तोयं	१८६
स	
स द्विविधोष्टचतुर्भेद	९३
सदेहबुद्धिमद्धेतुः	४०८
स देहेतरसामान्य	४१०
स घनोदधिपर्यन्तो	५५०
सम्यग्दृग्गोचरो जीवः	१
सम्यग्मिथ्यात्वमेकेषां	३५
समनस्कामनस्कास्ते	११३
संज्ञिनां समनस्कत्वं	१५९
सर्वकारणशून्ये हि	१९७
संमूर्च्छनादयो जन्म	२००
समरात्रं दिवा वृद्धिः	५६४
सन्तभिस्ते तथा ज्ञेयाः	६१२
संयमासंयमोपीति	२९
सर्वगत्वाद्गतिः पुंसः	१७४
संसारिणः पुनर्वक्री	१८९
संभाव्यानि ततोन्यानि	२१५
सर्वतोप्यप्रतीघाते	२२२
सर्वस्यानादिसंबंधे	२३७
संक्लेशतारतम्येन	३०५
सर्वदाधः पतन्त्येताः	२९६
संक्लिष्टैरसुरैर्दुःखं	३०९
संक्षेपादपरात्वग्रे	३१३
सप्ताधो भूमयो यस्मात्	३१७
संख्यायामविष्कंभ	३३२
संभाव्यंते च ते हेतुः	३७२
संप्रदायाव्यवच्छेदात्	३७७
सशरीरः कुलालादिः	४१०

श्लोक	पृ. नं.
समुद्राकरसंभूत	४७२
संभाव्यंते च ते सर्वे	५३२
सर्वाभ्यंतरचारीष्ट:	५५०
सर्वेषामुपरि स्वाति	५५०
संख्येया द्विगुणाद्वापि	६३०
संख्यात: क्षेत्रतश्चापि	६३४
सर्वलोकाश्रया: सिद्धा:	६४७
सानत्कुमार माहेंद्र	६५६
सा यद्यदृष्टसद्भावात्	४१२
सामर्थ्यान्मिध्यमा बोध्या	६५९
सामान्यतोनुमेयाश्च	५४५
स्वयं संविद्यमाना वा	१५
सामर्थ्याद्विगम्यमानस्य	१५२
स्पर्शनादीनि तान्याहु	१४५
स्पर्शादयस्तदर्था स्यु:	१५१
स्वयं संवेद्यमाना च	३७७
सासादनं च सम्यक्त्वं	३५
स्याद्देवनारकाणा[illegible]-	२०९
स्वयोनौ जन्म जीवस्य	२१२
स्वप्नोपभोगसिद्धयर्थं	२३०
स्वाभाविकं पुनर्गात्रं	२३२
स्वं तत्व लक्षणं भेद:	२७२
स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं	२८४
सामर्थ्यतस्ततोन्येषां	२५९
सार्धद्विद्वीपविष्कंभ	३८९
सामर्थ्यादवसीयंते	३९०
सार्धद्वीपद्वये क्षेत्र	३९७
स्थावरादिभिरभ्यस्य	४१९
स्वातंत्र्येण तदुद्भूतौ	४२५
सिद्धा गतिरनुश्रेणि	१८५
सिद्धमौदारिकं तिर्यङ्	२१४

श्लोक	पृष्ठ नं.
सिद्धं सादृश्यसामान्य	३८६
सिसृक्षांतरतस्तस्या:	४२५
सिद्धे कर्तरि निःशेष:	४६२
स्थित्यादिभिस्तथाधिक्यं	६१९
स्थितिरित्यादि सूत्रेण	६५३
स्त्रीपुंससुखसंप्राप्ति	२५३
सूक्ष्मबादरकै[illegible]वै:	१९१
स्थूलमाहारक विद्धि	२०१
सूत्रकारस्तदेतेषां	५०२
सूत्रैश्चतुर्भिरभ्यासात्	६५३
सूक्ष्मो भूतविशेषश्चेत्	६६०
स्तोकत्वात्सर्वभावेभ्य:	७
सौधर्मैशानयोरेवा	६०६
सौधर्मेत्यादिपूत्रे च	६०७
सर्वथा यदि कार्यत्वं	४४३
ह	
हेतुरीश्वरबोधेन	१७६
हेतोरीश्वरदेहेन	४००
क्ष	
क्षयोपशम सद्भावे	२८
क्षयोपशमभेदेन	१६३
क्षणिकं निष्क्रियं चित्तं	१९७
क्षायोपशमिकस्यागो	७
क्षायोपशमिकं चांते	९
क्षायिका नव भावा: स्यु:	४५
क्षायोपशमिका दृष्टि	४६
क्षायोपशमिका: शेषा:	४७
क्षित्यादि मूर्तय: संति	४१४
क्षीणाक्षीणात्मतां याति	२७
क्षेत्रावगाहनापेक्षां	२२१
क्षेत्राणि भरतादीनि	३२४

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज